मनोविज्ञान और जीवन

८·।

(तृतीय संस्करण)

प्रो. लालजी राम शुक्ल

तारा पब्लिकेशन्स

वाराणसी

मनोविज्ञान और जीवन

लेखक

लालजीराम शुक्ल

प्राध्यापक—टीचर्स ट्रेनिङ्ग कालेज, काशी विश्वविद्यालय,

संचालक—काशी-मनोविज्ञानशाला

(सरल मनोविज्ञान, शिक्षा-मनोविज्ञान, मानसिक चिकित्सा,

नीतिशास्त्र, बाल-मनोविज्ञान प्रभृति ग्रन्थों के लेखक)

तारा पब्लिकेशन्स

वाराणसी

१९६२

परिवर्द्धित तृतीय संस्करण, १९६२
मूल्य सात रुपये पचास नये पैसे

प्रकाशक: तारा पब्लिकेशन्स, कमच्छा, वाराणसी
मुद्रक: तारा प्रिंटिंग वर्क्स, वाराणसी।

भूमिका

मनुष्य का मन ही उसके सुख और दुःख का कारण है। जिस व्यक्ति का मन अपने वश में है वह सुखी है और जिसका मन उसके वश में नहीं है वह दुःखी रहता है। अतएव मनुष्य का सबसे बड़ा पुरुषार्थ मन को अपने वश में करना है। किसी भी प्रकार की बड़ाई का आधार मन पर विजय प्राप्त करना है। जब मनुष्य का अपने मन पर अधिकार नहीं रहता तो वह न केवल अपने आपमें दुःखी हो जाता है वरन् जगत से भी तिरस्कृत हो जाता है।

मन को वश में करना असाधारण पुरुषार्थ है। इसके लिये मन के स्वरूप, उसकी शक्तियों और क्रियाओं को समझना आवश्यक है। जो व्यक्ति केवल मन से लड़कर उसे अपने वश में करना चाहता है वह मन को अपना शत्रु बना लेता है। इससे मन पर स्वामित्व प्राप्त न होकर मनुष्य मानसिक और शारीरिक रोगों का भागी बनता है। जिस प्रकार बाह्य प्रकृति पर विजय प्राप्त करने के लिये साइन्स (पदार्थ-विज्ञान) की आवश्यकता होती है, इसी प्रकार मन पर विजय प्राप्त करने के लिये मनोविज्ञान की आवश्यकता होती है।

बाह्य प्रकृति पर विजय प्राप्त करने के उपायों का जितना अन्वेषण हुआ है उतना अभी तक आन्तरिक प्रकृति पर विजय प्राप्त करने के उपायों का अन्वेषण नहीं हुआ है। इस ओर संसार के विद्वानों की दृष्टि कम गई है। यही कारण है कि सब प्रकार के सुख-साधनों की वृद्धि होते हुए भी मनुष्य दुःखी ही बना रहता है। यदि मनुष्य जितना समय बाह्य संसार को समझने में देता है उतना ही समय अपने आपको समझने में दे तो वह भोग-सामग्री की कमी होने पर भी अपने आपको प्रसन्न बनाये रखे।

इस ग्रन्थ में प्रस्तुत विचारों का हेतु मनुष्य को अपने मन का ज्ञान इस प्रकार करना है जिससे वह अपने जीवन की सामान्य समस्याओं को सरलता से हल कर सके और अपने आपको प्रसन्न-चित्त रख सके। कितने ही लोग अपने आपसे सदा लड़ा करते हैं और आत्म-भर्त्सना करते रहते हैं। इस प्रकार की लड़ाई का मिटाना और मनुष्य की शक्ति को रचनात्मक उद्योग में लगाना ही इस पुस्तक का लक्ष्य है। "मनोविज्ञान" का जो स्वरूप आजकल हमारे सामने आता है, उससे हम इस विद्या को एक अजनबी विद्या मान लेते हैं। हम सोचते हैं कि मनोविज्ञान को जानने के लिये प्रयोगशालाओं की उसी प्रकार

आवश्यकता है जिस प्रकार पदार्थ-विज्ञान के किसी अंग के लिये प्रयोगशालाओं की आवश्यकता होती है। परन्तु यह मनोविज्ञान का विकृत रूप है। मनोविज्ञान का जन्म उस समय हुआ था, जिस समय प्रयोग-शालाओं का नाम-निशान तक नहीं था। वास्तव में जब से मनुष्य अपने बारे में सोचने लगा तब से वह मनोवैज्ञानिक बन गया। मानव-जीवन ही मनोविज्ञान की प्रयोगशाला है और यह प्रयोग-शाला प्रत्येक मनुष्य के पास सदा रहती है। अतएव प्रत्येक चिन्तन-शील मनुष्य मनोवैज्ञानिक है।

मनोविज्ञान की आवश्यकता मनुष्य-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में है। मनोविज्ञान की सहायता के बिना मनुष्य न तो व्यक्तिगत रूप में सफल हो सकता है और न सामाजिक जीवन के ही रूप में। मनुष्य को अनेक प्रकार के रोग इसलिये होते हैं कि वह अपने स्वभाव को नहीं जानता और उसके प्रतिकूल आचरण करता है। इसी प्रकार मनुष्य समाज में अपने अनेक शत्रु इसलिये बना लेता है कि वह अपने आपके विषय में अनभिज्ञ है और अपनी ही दुःखदायी भावनाओं को दूसरे पर आरोपित कर देता है। मनुष्य के वास्तविक शत्रु और मित्र उसके भीतर ही हैं। जिस व्यक्ति ने अपने भीतरी शत्रुओं को ही अपना मित्र बना लिया है, संसार में उसका कोई शत्रु नहीं रह जाता।

भारतवर्ष के प्राचीन ऋषियों ने मनोविज्ञान के विषय में पर्याप्त चिन्तन किया है। आधुनिक काल की मनोवैज्ञानिक खोजें इस चिन्तन की महत्ता बता रही हैं। हम न अपने देश के पुराने विचारों को भुला सकते हैं और न वर्तमान काल के अन्वेषणों की अवहेलना कर सकते हैं। प्रस्तुत पुस्तक में पूर्वीय और पाश्चात्य विचारों को समन्वयात्मक विधि से प्रस्तुत किया गया है, जिससे पाठकगण पूर्व और पश्चिम दोनों के सर्वोच्च विद्वानों के विचारों से लाभ उठा सकें। हमें उन विचारों को ग्रहण करना चाहिए जो हमारे लिए उपयोगी सिद्ध होते हैं और जो हमारे जीवन को सुखी तथा प्रगतिशील बनाते हैं, चाहे वे आधुनिक हों अथवा प्राचीन, पूर्वी हों अथवा पश्चिमी। इसी सिद्धान्त को ध्यान में रखते हुए इस पुस्तक की रचना की गई है।

आशा है कि विद्वज्जन इन विचारों को अपने जीवन की समस्याओं को हल करने में वैसा ही उपयोगी पावेंगे जैसा उपयोगी स्वयं लेखक ने उन्हें पाया है।

मनोविज्ञान-शाला,
सिद्धगिरि, काशी

लालजीराम शुक्ल

तीसरे संस्करण की भूमिका

'मनोविज्ञान और जीवन' के प्रथम संस्करण का जो स्वागत विद्वज्जनों ने किया, उससे हमें अत्यन्त सन्तोष और प्रोत्साहन मिला। हम उत्तर-प्रदेश के मुख्य मन्त्री डा० सम्पूर्णानन्द के इस दिशा में विशेष आभारी हैं। आपने इस पुस्तक को भारतीय जनता के लिये बहुत ही उपयोगी बताया है। अब हमें द्वितीय संस्करण को इस दृष्टि से सुसज्जित करना पड़ा है, जिससे काशी मनोविज्ञानशाला में होनेवाले नये प्रयोगों के अनुभवों को हम जनता के समक्ष प्रस्तुत कर सकें। अतएव पुस्तक का आकार बढ़ गया है। परन्तु हम समझते हैं इससे जनता की और अधिक सेवा होगी। पुस्तक का उद्देश्य पौवार्त्य और पाश्चात्य विचारों का समन्वय करते हुए हिन्दी-भाषा-भाषी जनता के समक्ष प्रगति का मार्ग प्रस्तुत करना है।

इस पुस्तक का मुख्य आधार अपना निज का अनुभव और भारतीय मनीषियों का सन्देश है। आशा है विद्वज्जन इस प्रयास का पहले से भी अधिक आदर करेंगे।

काशी मनोविज्ञानशाला
२९–७–६२

लालजीराम शुक्ल



विषय-सूची

पहला अध्याय

मनोविज्ञान और मानव-जीवन की सफलता

मानव जीवन की सफलता दो बातों पर निर्भर करती है—एक उसकी बाहरी परिस्थिति के ज्ञान पर और दूसरी अपने आपके विषय के ज्ञान पर। मनुष्य बाहरी परिस्थिति का ज्ञान अनेक प्रकार की लौकिक विद्याओं के द्वारा प्राप्त करता है। भौतिक जगत् की शक्तियों का ज्ञान भौतिक विज्ञान से प्राप्त होता है, समाज का ज्ञान सामाजिक विद्याओं तथा साहित्य के द्वारा प्राप्त होता है और कला-कौशल का ज्ञान उनके विषय में परिचय पढ़ाने से होता है। जो व्यक्ति अपने कार्यक्षेत्र की बातों का जितना ही अधिक ज्ञान रखता है, वह उतनी ही कुशलता के साथ अपने सामने आनेवाली परिस्थितियों से लड़ सकता एवं विजय प्राप्त कर सकता है। जो लोग अपने आपको पदार्थ-विज्ञान से अनभिज्ञ रखना चाहते हैं वे उस विद्या के जाननेवाले लोगों की अपेक्षा कम सामर्थ्य-वान् होते हैं। इसी प्रकार समाज का उचित ज्ञान न रखनेवाले लोग सामाजिक कार्यों में भूलें करते हैं और उद्योग-धन्धे तथा कलाकौशल का परिचय न रखने-वाले व्यक्ति अपने आपको आजीविका कमाने में निकम्मा सिद्ध करते हैं। अपनी समस्याओं को हल करने के लिए मनुष्य को सभी प्रकार का लौकिक ज्ञान होना नितान्त आवश्यक है।

परन्तु इस ज्ञान से भी अधिक आवश्यकता अपने मन के विषय में ज्ञान की है। हमारे सामने आनेवाली अनेक परिस्थितियाँ और समस्याएँ मन की बनाई हुई होती हैं। जैसे-जैसे हम उन्हें हल करने जाते हैं, वे और भी जटिल होती जाती हैं। कितनी ही समस्याएँ एक समस्या के सोचते समय उठ खड़ी होती हैं। यदि हम पहली समस्या के सम्बन्ध में चिन्ता करने से बच जाते तो वे समस्याएँ न उठतीं। कभी-कभी देखा गया है कि मनुष्य किसी काम को बड़ी लगन के साथ करता रहता है, परन्तु वह अचानक अपने भीतर से प्रेरणा पाता है कि उस काम को बन्द कर दे। कितने ही विद्यार्थी अपनी परीक्षा के लिये पूरे मन से पढ़ना चाहते हैं परन्तु न जाने कहाँ से विघ्नप्रद विचार उनके मन में आ जाते हैं। इसके कारण वे हाथ में लिये हुए कार्य को पूरा नहीं कर पाते। वे चित्त को जितना ही एकाग्र करने की चेष्टा करते हैं, उनका मन उतना ही दूसरी ओर भागता है। कभी-कभी किसी काम के करते समय कोई साधारणसी घटना घटित हो जाती है। उस घटना के विषय में एक जाना हमें श्रेयस्कर दिखाई

देता है, परन्तु प्रयत्न करने पर भी हम उसे भूल नहीं पाते। हम जितना ही अपने मन से लड़ते हैं, हमारा मन उतना ही दूसरी ओर जाता है। हम नहीं जानते कि हम ऐसी अवस्था में क्या करें। इसी तरह अनेक प्रकार की विघ्न-बाधाएँ अनायास हमारे काम में पड़ जाती हैं जिनका कारण बाह्य परिस्थितियों में नहीं रहता, वरन् हमारे मन में ही रहता है।

जिन लोगों ने मानसिक रोगियों की मनोवृत्ति का अध्ययन किया है वे इस बात को सरलता से देख सकेंगे कि मनुष्य का मन कैसे अनेक प्रकार की समस्याओं को अपनी कल्पना से ही उत्पन्न कर लेता है, कैसे वह तिल का ताड़ बना लेता है और कैसे वह परोक्षरूप से बाहरी परिस्थितियों से लड़ता हुआ वास्तव में आन्तरिक परिस्थिति से ही लड़ता रहता है। वह अपनी कल्पनाओं में अनेक ऐसे शत्रुओं को देखता है और उन्हें वश में करने की चेष्टा करता है जो वास्तव में शत्रु ही नहीं हैं। लेखक से पत्र-व्यवहार करनेवाला एक मानसिक रोगी एक महिला के प्रति प्रेम होने से परेशान है। वह महिला का तिरस्कार करता है और चाहता है कि किसी प्रकार उससे छुटकारा पा ले, परन्तु जैसे-जैसे वह इसका यत्न करता है महिला उसके प्रति अधिकाधिक प्रेम दर्शाती है और उसके लिये वह दुःखी रहती है। इस व्यक्ति के समक्ष समस्या महिला से छुटकारा पाने की है। इस समस्या का विश्लेषण करके देखने से ज्ञात होता है कि वह कोरी काल्पनिक समस्या है। यह अपनी मनोवृत्ति का दूसरे व्यक्ति पर आरोपण मात्र है। एक ओर वह उस महिला को प्यार करता है और दूसरी ओर उससे मुक्त भी होना चाहता है। उनकी मनोवृत्ति दुविधायुक्त है। यह दुविधा-युक्त मनोवृत्ति ही मनुष्य को जीवन में दुखी बनाती है। जब हम किसी व्यक्ति को बाहरी मन से घृणा करते हैं और भीतरी मन से उससे चिपके रहते हैं तो हम उसे भुलाने का प्रयत्न करने पर भी नहीं भूल पाते। दुविधायुक्त मन से काम करने पर जीवन में सफलता कभी नहीं मिलती। कितने ही लोग किसी अप्रिय कामों को करने के पूर्व अन्धे हो जाते हैं अथवा उन्हें लकवा मार देता है। जब ऊपरी मन से वे इन कामों को करना चाहते हैं, परन्तु आन्तरिक मन से उन्हें नहीं करना चाहते तो वे अनेक प्रकार के रोग से ग्रसित हो जाते हैं।

इस प्रसंग में डाक्टर फ्रायड का दिया हुआ एक उदाहरण उल्लेखनीय है। एक युवक की उसके पुराने मित्र से किसी दुराचार के कारण शत्रुता हो गई थी। इसके कारण वह उसके विषय में अनेक अभद्र कल्पनाएँ मन में लाने लगा था।

अन्त में उसने उसे मार डालने के लिए उसके ऊपर पिस्तौल दागी। परन्तु गोली पिस्तौल से नहीं निकली, उसके हाथ को उसी समय लकवा हो गया और पिस्तौल जमीन पर गिर पड़ी। यहाँ उस व्यक्ति का आन्तरिक मन पुराने मित्र की हत्या का विरोधी था। वास्तव में भीतरी मन से यह व्यक्ति अपने पुराने मित्र को प्यार करता था।

लेखक के एक मित्र मनोविज्ञान पढ़ने के लिए विलायत गये। वे किसी विशेष प्रकार के प्रलोभन में पड़कर इस निर्णय पर पहुँचे थे। परन्तु उनका आन्तरिक मन इसके प्रति विद्रोह करता था अतएव जब वे विलायत पहुँचे तो उनकी मृत्यु हो गई। कई बार किसी काम के लिए हम घर से निकलते हैं, परन्तु घर से वे ही वस्तुएँ लेना भूल जाते हैं जो हमारे निश्चित काम के लिए आवश्यक हैं। कभी-कभी घर से चलते समय कोई असगुन हो जाता है। वह हमारे मन को इतना प्रभावित कर देता है कि उसके कारण हम काम को पूरे मन से नहीं कर सकते।

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि जीवन की सफलता के लिए मनुष्य को न केवल बाह्य परिस्थिति का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है, वरन् उसे अपने आपके विषय में ज्ञान प्राप्त करना उससे भी अधिक आवश्यक है। अपने आप के विषय में ज्ञान न रहने के कारण मित्र शत्रु में, सहायक विनाशक में और सफलता विफलता में परिणत हो जाती है। इतिहास में हम देखते हैं कि बड़े-बड़े महान् शक्तिशाली, पराक्रमी, शूरवीर अपनी प्रभुता और कीर्ति की चरम सीमा पर पहुँच कर अनायास पतनोन्मुख हो गये। जिस लगन और मानसिक दृढ़ता के कारण वे अपने जीवन में सफल हुए, वही उनके विनाश का कारण बन गई। एलक्जेण्डर, नेपोलियन और हिटलर के जीवन में देखा जाता है कि उन्होंने अपनी बौद्धिक कुशलता और पराक्रम से संसार के अनेक राष्ट्रों के ऊपर विजय प्राप्त की, परन्तु उन्होंने अपने आपको पहचानने की चेष्टा नहीं की और इसी कारण वे आत्म-विजय प्राप्त न कर सके; यही उनके विनाश का कारण हुआ। जिस व्यक्ति को अपने मन का ज्ञान नहीं रहता, वह अपनी सफलता के वास्तविक कारण को नहीं समझ पाता। जिस कारण से उसे सफलता प्राप्त हुई, उसे न जानकर उसके बदले किसी ऐसी दूसरी बात को, जिसमें उसकी रुचि है, महत्ता देकर वह अपना आत्मविनाश कर लेता है।

अपने जीवन को सफल बनाने के लिए प्रत्येक मनुष्य को अपनी बाह्य परिस्थितियों से लड़ना पड़ता है। इनपर विजय प्राप्त करने के लिए भी उसे अपनी मानसिक शक्तियों का ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है। हमारे मन का

संगठन बड़ा जटिल है। आधुनिक मनोविज्ञान बताता है कि मनुष्य के चेतन मन के परे उसका अचेतन मन है। मनुष्य को साधारणतः जिस मन का ज्ञान रहता है, वह चेतन मन है। मन का प्रमुख भाग अहंभाव कहलाता है। अहंभाव ही वातावरण से संघर्ष करता है और उस पर विजय प्राप्त करने की आकांक्षा रखता है। अहंभाव को प्रोफेसर चार्ल्स युंग ने अपनी 'कन्ट्रीब्यूशन्स टू एनालिटिकल साइकालोजी' नामक ग्रन्थ में एक सेनानायक के समान माना है। प्रत्येक सेनानायक की सहायता उसके अनेक सलाहकार करते हैं, उनकी सलाह के अनुसार वह सेना का संचालन करता है। मनुष्य के जीवन के उद्देश्य, उसकी महत्त्वाकांक्षाएँ, उसका विवेक इत्यादि बातें सेनानायक के सलाहकार और कार्यकर्त्ताओं के समान हैं। साधारण सिपाही इनके नीचे होता है। मनुष्य की अनेक प्रकार की प्रवृत्तियाँ और मानसिक शक्तियाँ साधारण सिपाही के समान हैं। ये प्रवृत्तियाँ और शक्तियाँ अपना आत्म-प्रकाशन चाहती हैं, परन्तु इनका आत्म-प्रकाशन सेनानायक के कार्यों द्वारा ही हो सकता है। सेनानायक को इनकी शक्ति और रुख को ध्यान में रखना पड़ता है। सेनानायक के लिए यह आवश्यक है कि वह न केवल अपने वातावरण की बातों को जाने, वरन् वह साधारण सिपाही की शक्ति और इच्छाओं को भी भली प्रकार से जाने। इसके अतिरिक्त उसे यह भी ज्ञान होना चाहिए कि उसकी लड़ाई का अन्तिम उद्देश्य क्या है। लड़ाई का अन्तिम उद्देश्य निर्णय करने के लिए सम्पूर्ण स्वत्त्व और उसकी क्रियाओं के लक्ष्य को जानना आवश्यक है। जब कोई मनुष्य अपने अधिकार में कार्य करनेवाली मानसिक शक्तियों का ज्ञान नहीं प्राप्त करता तथा अपनी प्रबल प्रवृत्तियों की अवहेलना करता है तब वे उसके जीवन की सफलता में भीतर से बाधा डालने लगती हैं। इस तरह उसके मन में अनेक प्रकार के उत्पात उत्पन्न हो जाते हैं, उसका मन बेचैन हो उठता है और उसके विचार तितर-बितर हो जाते हैं, उसमें आत्मविश्वास नहीं रहता। वह एक बात करना चाहता है परन्तु उसके विचार चले जाते हैं दूसरी ओर। इसी प्रकार जब मनुष्य को अपने जीवन के लक्ष्य का ज्ञान नहीं रहता अर्थात् जब उसका कोई दार्शनिक दृष्टिकोण नहीं होता तब भी उसके विचारों में संगठन नहीं होता और वह उचित मार्ग पर नहीं चल पाता। किसी भी सेनानायक के लिए न केवल अपनी बाह्य परिस्थिति और सेना के सिपाहियों तथा उनके संगठन का ज्ञान होना आवश्यक है, वरन् उसे देश के राजनीतिक नेताओं और सरकार को चलानेवाले लोगों के विचारों का जानना भी आवश्यक है। जबतक कोई सेनानायक देश की राजनीतिक परिस्थिति से अवगत नहीं रहता तबतक वह भी लड़ाई लड़ने में सफल नहीं होता। कभी

कभी सेनानायक को लड़ाई एक प्रकार से न लड़कर दूसरी प्रकार से लड़नी पड़ती है। इस प्रकार का अपनी चाल में परिवर्तन का कारण सेना की आवश्यकताएँ नहीं होतीं, वरन् राजनीतिक परिस्थितियाँ होती हैं।* इसी प्रकार मनुष्य के जीवन का दर्शन उसके कार्यों की गतिविधि को प्रभावित करता है। इस दर्शन को बनाने के लिये मनुष्य को अपने आप का पूरा ज्ञान होना नितांत आवश्यक है।

जब हम अपनी समस्याओं को मनोविज्ञान के ज्ञान होने के पूर्व और उसके पश्चात् समझने की चेष्टा करते हैं तो उन्हें भिन्न-भिन्न प्रकार का पाते हैं। हमारी बहुत-सी बाह्य समस्याएँ, जो हमें असाध्य दिखाई देती हैं, वे मनोविज्ञान का ज्ञान प्राप्त करने पर कोरी कल्पनाएँ सिद्ध होती हैं। जिस प्रकार स्वप्न में पड़ा हुआ मनुष्य अनेक प्रकार की कठिनाइयों में पड़ा रहता है और उनसे निकलने के लिये बहुत यत्न करता है, परन्तु इन यत्नों के होते हुए भी वह अपनी कठिनाइयों का अन्त नहीं देखता, परन्तु जब वह जाग जाता है तो वे सारी कठिनाइयाँ शून्य में विलीन हो जाती हैं, इसी प्रकार मनोविज्ञान के अभाव में मनुष्य के सामने असाध्य समस्याएँ आती हैं, ये समस्याएँ हल करने का यत्न करने पर भी हल नहीं होतीं, वरन् वे भीमकाय हो जाती हैं, परन्तु जब मनुष्य अपने आपका ज्ञान करता है और जब वह अपनी गुप्त मानसिक क्रियाओं को समझने लगता है तो ये सारी समस्याएँ बाहर न दिखाई देकर अपने भीतर ही दिखाई देने लगती हैं। बाहरी समस्याएँ आन्तरिक समस्याओं का आरोपण मात्र सिद्ध होती हैं।

मन की असाधारण अवस्था में देखा गया है कि मनुष्य जिन-जिन बातों के लिए दूसरे लोगों को दोषी मानता है, वे वास्तव में उसी में रहती हैं। कितने लोग दूसरे लोगों की निन्दा करने की आदत की शिकायत किया करते हैं, कितने ही लोग अपने साथियों की विषय-लोलुपता, ईर्ष्या, धूर्तता आदि बातों की शिकायत करते हैं तथा इन बातों से परेशान रहते हैं। परन्तु जब उनके आचार-व्यवहार और मनोभावों को समझने की चेष्टा की जाती है तो पता चलता है कि

---

* विगत कोरिया के युद्ध में अमेरिकन सेनानायक जनरल मेकआर्थर इसलिये ही असफल रहा कि वह अमेरिकी जनता और सरकार का संचालन करनेवाले नेताओं की भावनाओं की अवहेलना करने लगा था। वह सफल सेनानायक अवश्य था पर कुशल राजनीतिज्ञ नहीं था। इनके प्रतिकूल आइजनहावर दोनों बातों में पटु था।

वे दूसरों से परेशान नहीं हैं, वरन् अपने आपसे ही परेशान हैं। जिन अवगुणों को वे दूसरों में देखते हैं, वे उनमें ही वर्तमान हैं। अपने आपको समझने की शक्ति के अभाव में ही मनुष्य अपने अवगुणों को अपने से बाहर दूसरे लोगों में देखता है। मनुष्य जैसा होता है, वह वैसा ही वातावरण अपने आस-पास तैयार कर लेता है। यदि वह एक स्थान को छोड़ दूसरे स्थान पर चला जाय तो उसकी समस्याएँ भी उसके साथ चली जाती हैं। पहले वातावरण में उसकी जैसी समस्याएँ होती हैं, उसी प्रकार की समस्याएँ दूसरे वातावरण में भी तैयार हो जाती हैं। अतएव स्थान अथवा बाहरी वातावरण का परिवर्तन मनुष्य की समस्याओं को सुलझाने में सहायक नहीं होता।*

मनुष्य अपने स्वत्व से इतना बँधा हुआ है कि वह अपने से सम्बन्ध रखने वाली किसी भी वस्तु को निरपेक्षता से देखने में असमर्थ होता है। कभी-कभी कुशल से कुशल चिन्तक अपने से सम्बन्ध रखनेवाली बातों में भारी भूल करते हैं। इन लोगों में अपने आपको समझने की शक्ति नहीं होती। जिन व्यक्तियों में यह शक्ति नहीं है वे मनोवैज्ञानिक दृष्टि से बच्चे ही हैं, वे उम्र में चाहे जितना ही बढ़ जायँ, विद्या प्राप्त कर लें, समाज में ऊँचा स्थान पा लें, परन्तु जबतक उनमें अपने आप पर निरपेक्ष रूप से विचार करने की शक्ति नहीं आती तबतक उन्हें हम प्रौढ़ व्यक्ति नहीं कह सकते। ऐसे व्यक्तियों के विचारों का भरोसा नहीं किया जा सकता। जिन व्यक्तियों में आत्म-निरीक्षण की शक्ति नहीं होती, जो व्यक्ति अपने आपका मनोवैज्ञानिक अध्ययन करने से भागते हैं, वे सरलता से भावों के प्रवाह में वह जाते हैं। उनके राग-द्वेष उन्हें जिधर ले जाते हैं, वे उधर ही चले जाते हैं। इस प्रकार वे अपने जीवन में अनेक प्रकार की समस्याओं को तैयार करते रहते हैं और उनके हल करने में अपना सारा समय व्यर्थ खर्च कर डालते हैं।

---

* We see things not as they are but as we are—Woodworth : *Psychology, A Study of Mental Life*— प्रत्यक्ष ज्ञानको समझाते हुए वुडवर्थ ने अपनी साइकोलाजी नामक पुस्तक में लिखा है कि हम पदार्थों को वैसा नहीं देखते जैसे वे हैं, वरन् जैसे हम हैं। जब संसार की आँख की देखी वस्तु के विषय में यह सही है तो तद्विषयक कल्पनाओं और स्मृतिओं के बारे में वह कितनी अधिक सही होगी यह विवेकशील व्यक्ति स्वयं सोच सकता है। कोई भी मनुष्य अपने स्वभाव से विरुद्ध न देख सकता और न सोच सकता है। इस बात को जो जितना समझता है, वह सत्य के उतने ही समीप पहुँच सकता है।

जब मनुष्य अपने आपको जानकर और अपने जीवन के वास्तविक लक्ष्य को पहचानकर अपने विचारों का संचालन करता है तो वह अपने जीवन में किसी भी असाध्य कठिनाई की अनुभूति नहीं करता। उसके मनसूबे ऐसे नहीं होते जो उसे खन्दक में डाल दें, वह सब काम सहज भाव से करता है और कठिन से कठिन परिस्थिति में वह प्रसन्नचित्त रहता है।

दूसरा अध्याय

अन्तर्मुखी बनने की आवश्यकता

आधुनिक मनोविज्ञान का गम्भीर अध्ययन हमें किसी न किसी समय अन्त-र्मुखी बनने की आवश्यकता दर्शाता है। मनुष्य का अन्तर्मुखी होना उसके मानसिक स्वास्थ्य और शान्ति तथा अन्य सामाजिक विषमताओं को नष्ट करने के लिये भी आवश्यक है। मनुष्य की चेतना साधारणतः बहुर्मुखी होती है। वह जो कुछ भलाई करता है, उसे वह अपने से बाहर खोजने की चेष्टा करता है; संसार के सभी मूल्यों को वह बाहर खोजता है; बाह्य-जगत् में सत्य प्राप्त करने की चेष्टा करता है। परन्तु यदि वह सतर्क है और अपनी धुन का पक्का है तो वह कुछ काल की खोज के पश्चात् इस निष्कर्ष पर आ जाता है कि ये मूल्य उसके मनके बाहर नहीं हैं, वरन् उसके भीतर ही हैं। जब उसे अपनी बहि-र्मुखी मनोवृत्ति में बार-बार धोखा खाना पड़ता है तो उसे बाध्य होकर अन्तर्मुखी बनना पड़ता है।

प्रत्येक मनुष्य को किसी न किसी समय सांसारिक सुखों और विभूतियों से निराश होना पड़ता है। जो व्यक्ति जितनी ही जल्दी सांसारिक प्रलोभनों के मिथ्यात्व को जान जाय वह उतना ही भाग्यवान् है। कुछ लोग जन्म से ही इस प्रवृत्ति को लेकर आते हैं कि वे संसार के सुखों के मिथ्यात्व को समझ जायँ और उनकी आकर्षिता को अपने को भुलाने को जालमात्र पहचान लें और कुछ लोग अनेक प्रकार के कष्टों को सहकर ही यह नहीं पहचानते कि सांसारिक व्यापारों में सदा लगे रहना, मित्रों के आमोद-प्रमोद में, धन कमाने में, विद्याध्ययन अथवा अपना मान-ऐश्वर्य बढ़ाने में अपने आपको खोये रखना एक भारी भूल है। यह एक प्रकार का बचपन है। इससे मनुष्य मानसिक स्वावलम्बन प्राप्त नहीं करता, वह अपने स्वराज्य को खोये रहता है और वह वातावरण के झकोरों में इधर से उधर भागता है। मानसिक स्वावलम्बन उसी व्यक्ति को मिलता है जो अपने आपको निरावलम्बी बनाने की चेष्टा करता है, अपने मन को बाहरी प्रलोभनों से सदा दूर रखकर अपने आप को समझने में ही अपना अधिक समय देता है। आत्म-ज्ञान के अभाव की अवस्था में मनुष्य परावलम्बी रहता है। स्वावलम्बन आत्मज्ञान होने के साथ-साथ आता है। कितने ही लोग शरीर से वृद्धावस्था को प्राप्त हो जाते हैं, परन्तु वे मन से बच्चे ही बने रहते हैं। ऐसे लोगों का जीवन अपनी वृद्धावस्था में भी किसी प्रकार की शक्ति को प्रदर्शित न करके

दुःखी ही रहता है। वे अन्त में इस बात को पहचानते हैं कि उन्होंने आत्म-ज्ञान प्राप्त न करके और अपने आपको संसार के कामों में खोकर अपना भारी अनर्थ किया है। संसार ऐसे व्यक्तियों को जबरदस्ती ढकेलकर बाहर निकाल देता है।

आधुनिक मनोविज्ञान दर्शाता है कि यदि मनुष्य अपने जीवन को स्वाभाविक रूप से व्यतीत करे तो वह जैसे-जैसे अवस्था में बढ़ता है अपने भीतर एक ऐसी अन्तःप्रेरणा की अनुभूति करता है जो उसे बाह्य-जगत् से निकालकर आन्तरिक जगत् की ओर जाने के लिए आदेश देती है। इस सम्बन्ध में आधुनिक काल के सबसे बड़े मनोवैज्ञानिक प्रो॰ चार्ल्स युङ्ग के विचार उल्लेखनीय हैं, जिन्हें उन्होंने अपनी पुस्तक 'दी माडर्न मैन इन सर्च आफ ए सोल' में प्रकाशित किये हैं।

युङ्ग महाशय का कथन है कि मनुष्य के मानसिक विकास की दो भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ हैं। एक अवस्था में मनुष्य का मन स्वभावतः ही बहिर्मुखी होता है; वह बाहरी संसार में रमण करने में आनन्द की अनुभूति करता है; वह अनेक प्रकार के कार्यों में उत्साह से लगता है। वह जैसे जैसे इन कार्यों में अपने आप को लगाता है, वैसे-वैसे वह अपने में नये जोश के उत्पन्न होने की अनुभूति करता है। मानसिक विकास की दूसरी अवस्था में मनुष्य स्वभावतः ही सांसारिक व्यापारों से विरत हो जाता है। वह अपने आपकी ओर जाना चाहता है, परन्तु पुराने अभ्यास के कारण तथा इस प्रकार की नयी शिक्षा के अभाव के कारण वह इस अन्तर्मुखी वृत्ति का सदुपयोग करने में असमर्थ रहता है। अतएव जहाँ उसका मन स्वभावत: अन्तर्मुखी बनना चाहता है वह अपने आपको अभ्यासवश बहिर्मुखी ही बनाये रखता है। इसी कारण मनुष्य को अपनी आधी अवस्था के बाद अनेक प्रकार की अकारण मानसिक अशांतियां और मानसिक रोग होते हैं। जो व्यक्ति इन मानसिक अशांतियों के वास्तविक अर्थ को समझ जाता है वह अपनी चेतना को अन्तर्मुखी बनाने का अभ्यास करने लगता है, परन्तु साधारणतः इस प्रकार के कार्य में संसार के बहुत से लोग समर्थ नहीं होते, अतएव जब उन्हें अपना अधिक समय आत्म-ज्ञान में लगाना चाहिए, वे अपना मन उन्हीं कार्यों में लगाये रहते हैं जो उनकी मानसिक विकास की पहली अवस्था के उपयुक्त हैं। कितने ही लोग ६० वर्ष की अवस्था में भी वही पुराने नाच-रंग, ठाट-बाट और शान-शौकत में अपने आपको भुलाये रहते हैं जो एक नवयुवक को शोभा देते हैं, परन्तु जो उनकी अवस्था के लोगों के लिये मूर्खता के सूचक हैं। उनमें यह विचार आता ही नहीं कि शीघ्र ही उन्हें अपने जीवन का अन्त करना होगा और इसके लिये उन्हें पर्याप्त तैयारी करने की आवश्यकता है। यदि उनमें मृत्यु का विचार आता भी है तो

वे इस विचार को दबाने की चेष्टा करते हैं और किसी प्रकार अपने आपको सांसारिक सुख और वैभव में भुलाये रखने का प्रयत्न करते हैं। इस अवस्था में ये सुख और वैभव निरानन्द तो हो जाते हैं, तिस पर भी वे उन्हें छोड़ते नहीं, जिसका प्रधान कारण उचित शिक्षा अथवा सत्संग का अभाव होता है।

युंग महाशय का कथन है कि मानव-जीवन की प्रगति सूर्य की प्रगति के समान है। सूर्य मध्याह्न काल तक ऊपर को चढ़ता है, उसका तेज धीरे-धीरे बढ़ता जाता है, इसके पश्चात् सूर्य ढलने लगता है। चढ़ते समय हुए सूर्य की प्रगति एक प्रकार की होती है और उतरते हुए सूर्य की प्रगति दूसरे प्रकार की। इसी तरह जब जीवन चढ़ती हुई अवस्था में रहता है तब उसके कर्त्तव्य एक प्रकार के होते हैं और जब अवस्था उतरती हुई होती है तो उसके कर्त्तव्य दूसरे प्रकार के हो जाते हैं, जब मनुष्य अपनी किशोरावस्था अथवा युवावस्था में रहता है तो अपने आपके विषय में अधिक चिन्तित रहना उसके लिये एक प्रकार का पाप है और इससे उसे हानि भी होती है, जब वह जीवन की दूसरी अवस्था में आ जाता है तो अपने आध्यात्मिक जीवन की ओर जाना उसके लिये कठिन तो हो जाता है, परन्तु इसके लिये चेष्टा करना अनिवार्य होता है। कुछ लोग सारे जीवन भर बहिर्मुखी ही बने रहते हैं। वे मानों अपने बाल्यकाल और युवावस्था को छोड़ना ही नहीं चाहते। ऐसे लोगों को अनेक प्रकार के मानसिक रोग हो जाते हैं। संसार के कार्यों में संलग्न रहना युवक को शोभा देता है और उनसे विरत हो जाना ढलती हुई अवस्था के व्यक्ति के लिए आवश्यक होता है। इस काल में यह आवश्यक होता है कि मनुष्य अपनी शक्ति का संचय करके अपने आत्म-ज्ञान को बढ़ाने में उसे लगा दे। बाह्य बातों में मनुष्य जितनी ही रुचि दिखाता है उसकी मानसिक शक्ति का उतना ही ह्रास हो जाता है। अपनी मानसिक शक्ति के ह्रास हो जाने पर मनुष्य को केवल दुःखमय जीवन बिताने के अतिरिक्त और कुछ नहीं रह जाता।

मनुष्य की चेतना ज्ञानमय और आनन्दमय है। जिस पदार्थ पर उसका प्रकाश पड़ता है उसका हमें भली प्रकार से ज्ञान हो जाता है और जिस ओर उसका प्रकाश नहीं जाता उसका हमें ज्ञान नहीं होता है। हम साधारणतः संसार की बातों के विषय में सोचा करते हैं, अतएव हमें इनका भली प्रकार से ज्ञान हो जाता है परन्तु हम अपने आपके ज्ञान से वंचित रह जाते हैं। जब हम अन्तर्मुखी बनते हैं अर्थात् जब हम अपने व्यक्तित्व की बनावट और आन्तरिक मन के विषय में सोचने लगते हैं तभी हमें अपने आपका ज्ञान होता है। यही ज्ञान हमें मानसिक उलझनों से मुक्त करता है और जीवन की प्रमुख समस्याओं

को हल करने में सहायक होता है। हमारी चेतना जिस प्रकार ज्ञानमय है उसी प्रकार वह आनंदमय भी है। जिस बात के बारे में हम चिन्तन करते हैं वह हमें प्यारी भी लगने लगती है और जिसके बारे में हम नहीं सोचते वह नीरस हो जाती है। मनुष्य की बहिर्मुखी चेतना बाहरी पदार्थ को तो उसे प्रिय बना देती है परन्तु उसके स्वत्व को नीरस ही नहीं वरन् भयानक भी बना देती है। इसी के कारण संसार के अधिक लोग कहीं अकेले ठहर ही नहीं सकते। कुछ लोग अकेले रहने से इतने घबड़ाते हैं कि वे किसी न किसी प्रकार बाहरी बातों में अपने को लगाये रखते हैं। यह अपने स्वत्व को भूलने का उपाय है। रोग मनुष्य को इसलिये ही होते हैं जिससे वह अपने स्वत्व की गरीबी को दूर करे। ये हमें अन्तर्मुखी बनाते हैं और जब हम अपनी चेतना का प्रकाश अपने से बाहर न फेंक कर अपने भीतर ही डालनें लगते हैं, तब हमारे मन की गरीबी और कुरूपता अपने आपही समाप्त हो जाती है। आत्मा ही सभी मूल्यों का स्रोत है। आत्मा की बहिर्मुखता बाहरी पदार्थों को मूल्यवान बनाती है और निज के मूल्य को घटाती है। उसकी अन्तर्मुखता ठीक उल्टा काम करती है।

युंग महाशय का कथन है कि यदि मनुष्य के जीवन के दूसरे भाग का कोई विशेष उपयोग न होता तो प्रकृति उसे आधी आयु के बाद जीने ही न देती। मनुष्य अपने जीवन के दूसरे काल में उसी जोश-खरोश के साथ लौकिक काम नहीं करता, जितने जोश से वह अपने जीवन के पहले काल में करता है। परन्तु यदि वह लौकिक काम में इतना प्रवीण नहीं होता तो इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि उसका जीवन ही व्यर्थ है। अब उसके जीवन का अर्थ अपने अपको समझने में और अपने आप पर नियंत्रण प्राप्त करने में है। मनुष्य के जीवन के पूर्वार्द्ध में उसकी मनोवृत्ति प्रवृत्त्यात्मक रहती है और उसके उत्तरार्द्ध में वह निवृत्त्यात्मक रहती है। अतएव जहां मनुष्य के पूर्वार्द्ध जीवन का मुख्य कर्त्तव्य प्रेम करना, बच्चे पैदा करना, उनका पालन करना तथा धन और यश इत्यादि कमाने में हैं, वहां उसके उत्तरार्द्ध का मुख्य कर्त्तव्य सांस्कृतिक बातों की वृद्धि करने में है।

मनुष्य के जीवन के दो अंग हैं—एक प्रकृति और दूसरा संस्कृति। धन-ऐश्वर्य कमाना, संतति उत्पादन और उसका पालन करना, अनेक प्रकार की लौकिक सफलता प्राप्त करने की चेष्टा करना, ये सब बातें प्रकृति ही हैं और इनसे विरत होकर आध्यात्मिक चिन्तन में मन को लगाना, अपने मन को वश

में करने की चेष्टा करना यह संस्कृति है। प्रकृति-परायण व्यक्ति, संस्कृति-परायण नहीं होता और संस्कृति-परायण व्यक्ति प्रकृति-परायण नहीं होता। प्रगतिशील जीवन वह है जिसमें मनुष्य प्रकृति से धीरे-धीरे विरत होकर संस्कृति की ओर जाता है और अपने जीवन के अन्तिम काल में वह अपने आपको पूरा संस्कृतिमय बना देता है। ऐसी अवस्था में उसे लौकिक सुख और वैभव की इच्छा ही नहीं रह जाती।

जब संसार के प्रमुख लोगों की मनोवृत्ति सदा प्रकृति-परायण बने रहने की होती है तब न केवल संसार में मानसिक रोगों की वृद्धि होती है, वरन् संसार में भारी अशान्ति और क्षोभ फैल जाता है। जिस प्रकार मनुष्य का मन अशांतिमय रहता है उसी प्रकार उसका बाहरी संसार भी दुःख और अशांति से भर जाता है। ऐसी अवस्था में द्वेष और मारकाट की वृद्धि होती है। सांसारिक सफलता में अधिक मन लगानेवाले मनुष्य को सांसारिक सफलता न मिलकर सांसारिक विफलता मिलती है। आधुनिक काल में देखा जाता है कि बूढ़े लोग न तो पैसे का प्रेम छोड़ना चाहते हैं और न पदों का। कितने ही लोग ९९ या ६० वर्ष की अवस्था में नई शादी करते हैं। इस प्रकार की मनोवृत्ति के परिणामस्वरूप वर्तमान काल में सारे संसार में भारी असन्तोष फैला हुआ है और मनुष्य-मनुष्य को मारने के लिए ध्वंसकारी अस्त्र-शस्त्रों के आविष्कार में संलग्न है। आज हमारे समाज के प्रमुख चिन्तक अपने विचारों को लोक-कल्याण के चिंतन में न लगाकर लोकविनाश की खोज में लगे हुये हैं। इस प्रकार विचारों की विनाशात्मक प्रवृत्ति का होना, यह दर्शाता है कि जीवन जिस लक्ष्य के लिए बना था वह उस लक्ष्य की प्राप्ति में असफल रहा। स्वयं प्रकृति यह चाहती है कि मनुष्य—जो उसकी सर्वोत्तम रचना है—आत्मज्ञान को प्राप्त करे और इस प्रकार वह उसकी युग-युगान्तर की क्रिया को सफल बनावे। स्वयं प्रकृति ही मानव-जीवन के रूप में अवतीर्ण होकर आत्मचेतना को प्राप्त करती है; परन्तु जब मानव-जीवन को प्राप्त करने के पश्चात् भी मनुष्य उन्हीं क्रियाओं को करता रहता है जो प्रकृति के अन्य प्राणियों को शोभा देती है तो प्रकृति अपने कार्य से निराश हो जाती है और वह मानव-समाज को विध्वंस करने के कार्य में लग जाती है। इससे यह स्पष्ट है कि मानव-समाज को जीवित रखने के लिए यह आवश्यक है कि शक्ति रहते हुये मनुष्य आत्मज्ञान की ओर अपने को अग्रसर करे और इसके लिए वह अपनी मनोवृत्ति को अन्तर्मुखी बनाये। इससे न केवल उसे आध्यात्मिक शांति मिलेगी वरन् वह समाज को नष्ट होने से भी बचावेगा। एक ओर

इससे उसका वैयक्तिक जीवन सुखी और समभावपूर्ण होगा और दूसरी ओर उसका सामाजिक जीवन भी सुखी और शान्त होगा। समाज में ऐसी-ऐसी विषम समस्याएँ उत्पन्न न होंगी जैसी वर्त्तमान काल में पूँजीवादी देशों में उपस्थित हैं।

मनुष्य का अन्तर्मुखी होना उसकी इच्छा-शक्ति को दृढ़ बनाने और उसके चरित्रगठन के लिए नितान्त आवश्यक है। जिस व्यक्ति का मन बहिर्मुखी रहता है उसका मन सरलता से डाँवाडोल हो जाता है। वह केवल बाहरी पदार्थों का मूल्य करता है, उसे अपने विचारों के मूल्य में विश्वास नहीं होता। इससे जब उसे कहीं बाहर से किसी प्रकार का धक्का लगता है तो वह कातर हो जाता है और आत्म-भर्त्सना करने लगता है। वह समझता है कि उसका सभी कुछ खो गया। अपने सुख को इस प्रकार बाहरी पदार्थों के ऊपर आधारित कर देना बालू की भीत बनाना है जो किसी भी समय ढह जा सकती है। स्थायी शांति उसी व्यक्ति को मिलती है जो अपने विचारों को दृढ़ बनाता है और अस्थायी वस्तुओं की कीमत न करके स्थायी तत्त्व की कीमत करता है। यह स्थायी तत्त्व मनुष्य का ज्ञान ही है। मनुष्य जबतक बाहरी पदार्थों के बारे में सोचता रहता है उसके विचार सुसम्बद्ध होकर एक दूसरे से गुथे हुये नहीं रहते। वे इधर-उधर बिखरे पड़े रहते हैं। कितने ही विरोधी सिद्धांत मनुष्य के मन में एक साथ रहते हैं और वह इन सिद्धान्तों के विरोध को समझ भी नहीं पाता। जबतक किसी मनुष्य के विचारों की व्यवस्था इस प्रकार की रहती है उसके विचार निर्बल रहते हैं और उसका चरित्र भी ढीला रहता है। ऐसे व्यक्ति के कार्य भी अधूरे ही होते हैं। जिस व्यक्ति का चरित्र नहीं, वह न दूसरों का कोई कल्याण कर सकता है और न अपना ही। परन्तु चरित्र लाभ करने के लिए अपने विचारों को ठीक बनाना पड़ता है और इसके लिए मनुष्य को अन्तर्मुखी होने की आवश्यकता होती है। जो मनुष्य जितना ही अन्तर्मुखी होता है उसकी इच्छा-शक्ति उतनी ही दृढ़ होती है।

इच्छा-शक्ति का बल बाहरी पदार्थों की आसक्ति से घटता और उनसे अनासक्त होने से बढ़ता है। किसी विषय पर बार-बार सोचने से ही आसक्ति बढ़ती है और उस पर चिन्तन न करने से उसमें आसक्ति घट जाती है। फिर उसके नष्ट होने से मनुष्य को मानसिक उद्विग्नता नहीं होती। शोक, भय और क्रोध आदि भाव जो मनुष्य की इच्छा शक्ति को दुर्बल करते हैं ऐसे व्यक्ति के मन में नहीं उठते। यही कारण है कि अन्तर्मुखी व्यक्ति कठिन से कठिन परि-

स्थितियों से नहीं घबड़ाता। वह प्रतिकूल परिस्थितियों का दृढ़ता से सामना करता है।

मनुष्य जब सब समय लौकिक पदार्थों के बारे में चिन्तन करता रहता है तो वह उन्हीं को सच्चा मान लेता है और उसे अपने विचारों की सत्यता में विश्वास नहीं रहता। विचार ही जगत का कारण है, परन्तु जब विचार बहिर्मुखी होता है तब वह अपनी शक्ति को ही भूल जाता है। इस तरह कितने ही लोग अपनी शक्ति की माप उन वस्तुओं से करते हैं जो उनके अधिकार में है, अपने विचारों से नहीं। ऐसे व्यक्तियों की इच्छा-शक्ति निर्बल होती है। मनुष्य का सच्चा बल इस बात पर निर्भर नहीं करता कि उसके पास क्या है तथा क्या नहीं, वरन् वह इस बात पर निर्भर करता है कि उसका निश्चय कैसा है। जिस व्यक्ति का निश्चय दृढ़ है उसके पास यदि बाह्य सामग्री थोड़ी भी उपस्थित है तो वह उससे भी बड़ी-बड़ी बातें करके दिखा सकता है। इसके प्रतिकूल यदि किसी मनुष्य के पास सभी प्रकार की लौकिक सामग्री है परन्तु उसका निश्चय दृढ़ नहीं है तो वह संसार में कुछ भी नहीं कर पाता। निश्चय की परिपक्वता अन्तर्मुखी चिंतन से आती है। इसके लिये सतत अभ्यास होना आवश्यक है।

आधुनिक युग में बहिर्मुखता की प्रशंसा की जाती है और अन्तर्मुखता की निंदा। चार्ल्स युङ्ग के पूर्व किसी भी प्रमुख मनोवैज्ञानिक ने अन्तर्मुखी बनने में कोई भलाई नहीं देखी। अधिकतर इसे एक प्रकार का मानसिक रोग माना जाता था। अन्तर्मुखी व्यक्ति को निकम्मा, रसहीन और स्वार्थी माना जाता था। इसके प्रतिकूल बहिर्मुखी को सजीव, सरस और उदार माना जाता था। इस धारणा को भूल बताने का प्रयास चार्ल्स युङ्ग ने किया है। जो वस्तु जैसी दिखाई देती है वह वैसी नहीं होती, यह सिद्धान्त कहीं ठीक निकलता है तो वह अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी व्यक्तियों के विषय में ही ठीक उतरता है। अन्तर्मुखी व्यक्ति ऊपर से जैसा दिखाई देता है उसके ठीक विपरीत भीतर से होता है। उसका आन्तरिक जीवन गंभीर, सारयुक्त, सरस और उदार होता है। वह बाहर से रूखा रहता है। वह संसार की उलझनों से बचने की चेष्टा करता रहता है, परन्तु जिस काम को हाथ में लेता है उसे लगन से पूरा करता है। बिना अन्तर्मुखी बने मानव-जीवन छिछला ही बना रहता है। अतएव अपने स्वत्व की ओर अपने चेतना का प्रकाश डालने का प्रयत्न करना विवेकी होने का लक्षण है।

तीसरा अध्याय

जीवन का दर्शन और सफलता

प्रत्येक मनुष्य अपने जीवन का विशेष प्रकार का दृष्टिकोण रखता है। यही दृष्टिकोण उसके कार्यों की दिशा को निर्धारित करता है। अँग्रेजी में कहावत है कि किसी व्यक्ति को अपना मकान किराये में देने के पूर्व यह जानना इतना आवश्यक नहीं है कि उसके पास कितना पैसा है वरन् यह जानना आवश्यक है कि उसके दार्शनिक विचार क्या हैं। किसी मनुष्य का ऋण चुकाना इस बात पर निर्भर नहीं करता कि ऋणी के पास कितना पैसा है वरन् इस बात पर निर्भर करता है कि वह अपना ऋण चुकाना अपना कर्तव्य समझता है अथवा नहीं। जिस तरह ऋण की बात है इसी प्रकार जीवन के अन्य कार्यों की बात है। मनुष्य किस काम को हाथ में लेगा और किसको छोड़ेगा यह उसके जीवन के प्रति दृष्टि-विन्दु पर निर्भर करता है। जिस व्यक्ति का जीवन जितना ही सुव्यवस्थित होता है उसके जीवन में दार्शनिक व्यवस्था उतनी ही दृढ़ होती है। वास्तव में मनुष्य के व्यक्तित्व का बल उसके दार्शनिक विचारों पर निर्भर करता है।

संसार के अधिकांश मनुष्य जीवनयापन के साधारण कार्यों में लगे रहते हैं: भोजन उपार्जन करना, विवाह करना, सन्तान का प्रतिपालन करना—इन सब कामों के लिये धन का संग्रह करना, धन-संग्रह में बाधा डालनेवाले लोगों से लड़ना तथा उसमें सहायता देनेवालों से मेल करना आदि कार्य प्रत्येक व्यक्ति करता है। ये कार्य नैसर्गिक हैं। इन्हें सृष्टि के अन्य प्राणी भी करते हैं। मनुष्य-स्वभाव की विशेषता इस बात में है कि वह सभी पदार्थों और क्रियाओं का मूल्य आंकता है और वह उस काम में अपने आपको लगाता है जिसे वह सबसे अधिक मूल्यवान् समझता है। यह मूल्यांकन अपने दार्शनिक दृष्टिकोण पर निर्भर करता है। जिस व्यक्ति ने संसार के विभिन्न पदार्थों के मूल्य के बारे में नहीं सोचा और नैसर्गिक प्रवृत्तियों से प्रेरित होकर जो इनकी प्राप्ति में लगा है, वह पशु के समान ही है। वह कभी एक ओर झुकता है और कभी दूसरी ओर। नैसर्गिक इच्छाओं को तृप्त करनेवाले पदार्थ नश्वर होते हैं। नैसर्गिक परिस्थितियाँ परिवर्तनशील होती हैं, अतएव अपने आपको केवल नैसर्गिक कार्यों में लगाये हुए व्यक्ति का मन दुःखी ही रहता है।

दार्शनिक विचारों की गम्भीरता दार्शनिक चिन्तन से आती है। जो व्यक्ति जिस प्रकार के व्यवसाय में अपने मन को लगाता है वह उस व्यवसाय में उतनी ही योग्यता प्राप्त कर लेता है। पुराने चिन्तन के संस्कार मनुष्य को किसी विशेष ओर ले जाते हैं। मनुष्य का जैसा अभ्यास होता है उसी के अनुसार उसकी रुचि बनती है और उसी के अनुसार काम करने की उसकी क्षमता बढ़ती है। दुनियादारी के विचार में प्रवीण व्यक्ति दुनियादारी में योग्य व्यक्ति बन जाता है और दार्शनिक विचार में अभ्यस्त व्यक्ति दार्शनिक चिन्तन में कुशल होता है। जो लोग सदा व्यावहारिक जीवन के विषय में चिन्तन करने में लगे रहते हैं वे व्यवहार-कुशल तो हो जाते हैं, परन्तु उन्हें तात्विक ज्ञान नहीं हो पाता। ऐसे व्यक्ति कुछ काल तक अपने जीवन में सफल होते हैं, परन्तु अन्त में उनका जीवन क्लेशपूर्ण हो जाता है। अपने जीवन में असफल व्यक्ति मृत्यु का आवाहन करते हैं और उनकी इस प्रकार मृत्यु भी हो जाती है। इस असफलता का कारण तत्त्व-चिन्तन का अभाव ही रहता है।

मनुष्य की कार्यक्षमता दो बातों पर निर्भर करती है—एक उसके प्रेरक सिद्धान्त पर और दूसरे उसकी कार्य करने की योग्यता पर। इनके कारण किसी मनुष्य में काम करने की लगन आती है और यह लगन सफलता लाती है। मनुष्य दो में से किसी भी एक बात की कमी के कारण असफल हो सकता है, कार्य करने की योग्यता की कमी के कारण अथवा प्रेरक सिद्धान्त की कमी के कारण। कितने ही लोगों में कार्य करने की योग्यता नहीं होती, अतएव वे जीवन में असफल हो जाते हैं। कितने ही लोग बाहरी सफलता को ही अपनी सफलता का माप-दण्ड बना लेते हैं। ऐसे लोग कुछ काल तक सफल होते हैं, पीछे वे असफल हो जाते हैं। जो व्यक्ति अपने आन्तरिक जीवन में सफल नहीं होता वह बाहरी जीवन में भी अन्त में सफल नहीं होता।

मनुष्य का सबसे उत्कृष्ट पुरुषार्थ योग्य दर्शन की प्राप्ति है। मनुष्य का दार्शनिक विचार जैसा होता है उसे संसार वैसा ही दिखाई देता है। मनुष्य को सुख और दुःख, उसके जीवन की सफलता तथा विफलता, इस बात पर निर्भर नहीं करते कि उसने क्या काम किया और क्या नहीं किया, वरन् वे इस बात पर निर्भर करते हैं कि उसके दार्शनिक विचार और जीवन के प्रति दृष्टि-कोण क्या है। यह दृष्टिकोण मनुष्य के ज्ञान की वृद्धि के साथ-साथ बदलता जाता है। बाह्य संसार की क्रियाओं का ज्ञान और अपने मन की क्रियाओं का ज्ञान इस दृष्टिकोण को परिवर्तित करते रहते हैं। जिन बातों को हम अपनी

किशोरावस्था में बड़ा ही महत्त्व देते हैं वे ही बातें अपनी युवावस्था में महत्त्व-हीन हो जाती हैं। इसका कारण मनुष्य के ज्ञान की वृद्धि और इस बढ़े ज्ञान के कारण उसके दृष्टिकोण में परिवर्तन होना होता है। मनुष्य जिस विचार के विषय में बार-बार चिन्तन करता है वह उसके प्रति रागात्मक वृत्ति से अनुरंजित हो जाता है। फिर यह विचार उसके कार्यों का प्रेरक बन जाता है।

जब मनुष्य का दार्शनिक दृष्टिकोण बदल जाता है तो उसकी सम्पूर्ण कार्य-प्रणाली में परिवर्तन हो जाता है। मनुष्य का दार्शनिक दृष्टिकोण देश की सर्वोच्च सत्ता के समान है। इस सत्ता के नीचे विभिन्न कर्मचारी कार्य करते हैं। यदि सर्वोच्च राज्यसत्ता बुद्धिमान और सतर्क हुई तो कर्मचारी ठीक से काम करते हैं, अन्यथा वे मनमानी करने लगते हैं। फिर जिस ओर प्रमुख राजसत्ता का अनुकूल रुख होता है उसी ओर अन्य कर्मचारियों का भी रुख होता है। प्रत्येक कर्मचारी की कार्यक्षमता केन्द्रीय सत्ता की दृढ़ता पर निर्भर करती है। जब अपने कर्मचारियों के प्रति उसके आदेश निश्चयात्मक होते हैं तो सरकार का कार्य सुचारु रूप से चलता है। जब यह सत्ता ढीली-ढाली होती है तो न तो अपने कर्मचारियों के प्रति उसके आदेश ही निश्चयात्मक होते हैं और न सरकार का कार्य ही सुचारु रूप से चलता है। राज्य के कमजोर कर्मचारी केन्द्रीय सरकार को धोखा देते हैं और सरकार इन कर्मचारियों को दण्ड देने में अपने आपको असमर्थ पाती है।

जो सम्बन्ध देश की प्रमुख राजसत्ता और उनके कर्मचारियों में है वही सम्बन्ध मनुष्य के दार्शनिक विचार और उसकी विभिन्न मानसिक शक्तियों में है। जिस व्यक्ति का दार्शनिक विचार निश्चित नहीं होता अथवा ढीला-ढाला होता है उसकी मानसिक शक्तियाँ सुचारु रूप से कार्य नहीं करतीं। उसे याद की हुई बातें स्मरण नहीं रहतीं, वह थोड़ा काम करने पर थकावट की अनुभूति करने लगता है, उसे आलस्य अधिक आता है, उसका मन जिन बातों में फँस जाता है उसी में चिपका रह जाता है और प्रयत्न करने पर भी वह अपने आपको उससे बाहर नहीं निकाल पाता। मनुष्य की मानसिक स्थिति सुव्यवस्थित न रहने के कारण उसके सभी कार्य ढीले-ढाले रहते हैं। वह सोचता है कुछ और कर बैठता है कुछ और। इस प्रकार वह अपने आपको कोसता हुआ अपने जीवन को असफल बना लेता है।

योग्य दार्शनिक सिद्धान्त तक पहुँचने में सबसे बड़े बाधक मनुष्य के मन में उपस्थित पुराने भावात्मक संस्कार होते हैं। ये मानसिक ग्रन्थियों के रूप में मनुष्य

के मन में उपस्थित रहते हैं। ये ग्रन्थियाँ मनुष्य के स्वतन्त्र चिंतन में बाधा डालती हैं। ये मनुष्य के विचारों का रुख किसी विशेष ओर मोड़ देती हैं। तब मनुष्य सत्य को एक ही पक्ष में देखता है, दूसरी ओर के सत्य की ओर उसका ध्यान ही नहीं जाता। वास्तव में ऐसे व्यक्ति में यह क्षमता ही नहीं रहती कि वह निष्पक्ष रूप से सत्य को देख सके। ऐसे व्यक्ति को अनेक प्रकार की प्रतिकूल परिस्थितियों से लड़ना पड़ता है। ये परिस्थितियाँ वास्तव में उसी व्यक्ति द्वारा निर्मित होती हैं। यदि इस लड़ाई के परिणामस्वरूप उसकी आँखें खुल गईं तो वह सचेत हो जाता है और अपनी मानसिक ग्रन्थियों को सुलझाकर सच्चे दार्शनिक सिद्धान्त को प्राप्त कर लेता है, परन्तु यदि उसकी आँखें न खुलीं तो उसकी लड़ाई का अन्त किसी भयानक घटना में होता है। ऐसे व्यक्ति के विचार निराशायुक्त हो जाते हैं और वह जानता है कि जिस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये उसने जीवन भर प्रयत्न किया वह उसे प्राप्त न कर सका।

हाल ही में लेखक के पास उसका एक पुराना मित्र आया है। इस समय उसे अनेक प्रकार की अकारण चिन्ता, बाध्य विचार और भय सताते हैं। वह अपनी स्मृति पर भरोसा नहीं करता, वह तुरन्त की बातें भूल जाता है। उसका अपने परिवार के लोगों से झगड़ा है। उसकी माँ और छोटे भाई उसे घर से अलग कर देना चाहते हैं। जिस भाई के लिए उसने अनेक प्रकार का त्याग किया और कष्ट सहे, वही अब उसके साथ शत्रु जैसा व्यवहार कर रहा है। इससे उसे मानसिक क्लेश होता है और उसे आलस्य तथा निद्रा अधिक आती है। वह सोकर उठता है तो अपने आपको थका पाता है। उसकी पाचनशक्ति ठीक नहीं है; भूख कम लगती है। उसे बवासीर का भी रोग है। हाल ही में उसका लड़का मूर्छा रोग से पीड़ित हो गया था। इस कारण भी उसे बहुत ही परेशानी रही। वह दो महीने पूर्व बहुत दिनों से ज्वर से पीड़ित रहा। वह बड़ी मुश्किल से इस रोग से बचा।

इस व्यक्ति के मनोवैज्ञानिक अध्ययन से पता चला कि उसकी बाह्य और आन्तरिक कठिनाइयों का प्रमुख कारण उसके जीवन का संचालन करने वाले दार्शनिक सिद्धान्तों का अभाव है। वह ऊँची कक्षा तक अध्ययन करना चाहता था परन्तु वैसा नहीं कर सका। महात्मा गान्धी के कार्यों में वह लग गया था। वह कई बार देश का काम करता हुआ जेल भी गया। परन्तु अब उसका विश्वास महात्मा गान्धी के मूल सिद्धान्तों में नहीं रह गया। वर्तमान समय में वह लोक-सेवक-संघ में कार्य कर रहा है, परन्तु लोक-सेवक-संघ के रच-

नात्मक कार्य में उसका विश्वास नहीं है। आर्थिक कठिनाई उसे इस संस्था में कार्य करने के लिये बाध्य करती है। वह सत्य की खोज में है, परन्तु सत्य को प्राप्त नहीं कर रहा है। यदि उसके जीवन के सिद्धान्त पक्के होते तो उसकी शारीरिक और मानसिक अवस्थाएँ अव्यवस्थित न रहतीं। मनुष्य को अकारण चिन्ताएँ इसीलिये सताती हैं कि उसके विचारों का केन्द्रीकरण करनेवाला कोई मौलिक सिद्धान्त उसके पास नहीं है।*

जब मनुष्य के पास जीवन का सुनिश्चित आदर्श होता है, जब उसके दार्शनिक सिद्धान्त सुगठित रहते हैं तो उसे अकारण चिन्ता, भय, बाध्य-विचार आदि नहीं सताते। वह अपने मन को इस प्रकार की क्षोभ उत्पन्न करनेवाली वस्तुओं से तुरन्त ही खींच लेता है। व्यर्थ की बातों के विषय में सोचने से अपने मन को खींच लेने की शक्ति मनुष्य के दर्शन में होती है। जिस व्यक्ति के पास भले और बुरे, मौलिक और अमौलिक पदार्थों को पहचानने की कसौटी है वह संसार की क्षणिक घटनाओं से अपने आपको उद्विग्न मन नहीं बनाता। जिस प्रकार बहती नदी का जल सदा निर्मल रहता है और कोई गन्दगी उसमें देर तक नहीं ठहरती, उसी प्रकार संसार की क्षणिक अप्रिय घटनाएँ निश्चित सिद्धान्तवाले व्यक्ति के मन में देर तक नहीं ठहरतीं। अतएव ऐसे व्यक्ति को न तो मानसिक रोग होते हैं और न उसे शारीरिक रोग ही देर तक त्रास देते हैं। जब मनुष्य का मन अव्यवस्थित रहता है तब किसी प्रकार का अभद्र विचार एक बार मन में घुस जाने पर बाहर नहीं निकलता। फिर वह मनुष्य को निकम्मा बना देता है। जब मानसिक अन्तर्द्वन्द्व के कारण मनुष्य का मन निर्बल हो जाता है तो वह रोग की कल्पनाओं को आने से नहीं रोक पाता। फिर ये कल्पनाएँ वास्तविकता में परिणत हो जाती हैं, अर्थात् मनुष्य को वे ही रोग उत्पन्न हो जाते हैं जिनसे वह डरता है। यह सत्य है कि गिरता हुआ मन शरीर

---

* जब से उपर्युक्त पंक्तियाँ लिखी गई हैं तब से इस व्यक्ति के जीवन में मौलिक परिवर्तन हो गया। उसने अपने आपको पहचानने की चेष्टा की। अपने वातावरण की प्रतिकूलता का कारण जब उसने अपने भीतर ही पाया तो उसने अपने आप को सुधारा। उसने जीवन का ठोस दर्शन बनाया और उस पर चलकर उसने जीवन में सफलता प्राप्त की। वह अब भली प्रकार से आजीविका चला रहा है और उसे अब दूसरों के प्रति अनेक प्रकार की शिकायतें नहीं रह गईं। उसमें यह परिवर्तन अपने जीवन के सिद्धान्तों को ठीक कर लेने से आया।

को भी गिरती हुई अवस्था में ले जाता है।* अतएव मनुष्य को चाहिए कि अपने जीवन के दर्शन के विषय में वह अधिक से अधिक चिन्ता करे। जो जीवन के दर्शन के विषय में पर्याप्त चिन्ता करेगा उसे दूसरे प्रकार की बातों को व्यर्थ चिन्ता न करनी पड़ेगी। उसकी स्मृति उसकी सहायता करेगी, उसकी इन्द्रियां स्वस्थ रहेंगी और उसका शरीर आरोग्यवान रहेगा। ऐसा व्यक्ति दीर्घायु होगा और समाज की अच्छी से अच्छी सेवा करके अपनी जीवन-यात्रा को समाप्त करेगा।

सच्चा दार्शनिक विचार घोर तपस्या का परिणाम है। सच्चा दार्शनिक विचार वह है जो अपने जीवन की समस्त क्रियाओं का संचालन करे। जिस दार्शनिक विचार के अनुसार स्वयं दार्शनिक आचरण नहीं कर पाता, वह दार्शनिक विचार व्यर्थ है। इससे मनुष्य दुःख से अपने आपको नहीं बचा पाता। वह संकट के समय काम में नहीं आता। इसके लिए सत्संग की आवश्यकता है। हमें संत-समागम करना और पुस्तकों में लिखी ऋषियों की वाणी को जानना आवश्यक है। परन्तु पुस्तकों का अध्ययन करना वास्तविक दर्शन को प्राप्त करना नहीं है। कितने ही लोग दूसरों के सामने ऊँचे से ऊँचे दार्शनिक विचारों की चर्चा करते हैं, परन्तु अपने आचरण के लिये निम्न कोटि का विचार ही रखते हैं।‡ दर्शन के पंडित बन जाना जीवन का दर्शन प्राप्त कर लेने से भिन्न वस्तु है। जब मनुष्य केवल दर्शन का पण्डित बनने की चेष्टा करता है तो वह आत्म-विश्लेषण करके अपने आपको जानने की चेष्टा नहीं करता। इससे उसकी मानसिक ग्रन्थियों का निराकरण नहीं होता। ऐसी अवस्था में पोथियों का अध्ययन केवल दिखावे मात्र की वस्तु बन जाती है। वह जीवन को प्रभावित नहीं करता। फिर जो विचार स्वयं दर्शन के पण्डित को प्रभावित नहीं करता वह दूसरे लोगों को कैसे प्रभावित कर सकता है। मनुष्य के विचार का बल उसकी

---

* A falling state of the mind is production of a falling condition of the body—R.W.Trine. *In Tune with the Infinite.*

‡ मनुष्य के दार्शनिक विचारों में दृढ़ता उन पर बार-बार मनन करने से आती है। दार्शनिक विचारों पर बार-बार मनन करने से वे मनुष्य की चेतना के परे उसके अचेतन मन में चले जाते हैं। वे फिर उसमें मौलिक परिवर्तन कर देते हैं। बिना इस प्रकार का परिवर्तन हुये मनुष्य किसी ऊँचे सिद्धान्त पर आचरण नहीं कर पाता। जिस सिद्धान्त को मनुष्य का अन्तरमन ग्रहण कर लेता उसी के अनुसार वह कार्य करने में समर्थ होता है।

आत्म-अनुभूति पर निर्भर करता है। जिस विचार के पीछे आत्म-अनुभूति नहीं रहती वह निर्बल होता है। यही कारण है कि बड़े-बड़े दर्शन काव्य के पण्डितों की अपेक्षा साधारण व्यक्तियों का विचार जनता को कभी-कभी अधिक प्रभावित करता है। सच्चा विचार वही है जो अपने जीवन में सच्चा उतरा है। ऐसे विचार को प्राप्त कर लेना ही मानव-जीवन का परम लाभ है। जिसके पास सच्चा दार्शनिक विचार है उसके पास वह धन है जिसके सामने संसार के सभी धन तुच्छ हो जाते हैं। उसके पास वह अस्त्र है जिसमें सभी प्रकार की प्रतिकूल परिस्थितियों पर विजय प्राप्त करने की सामर्थ्य है। उसके पास वह अमृत है जिसे पाकर कोई मर नहीं सकता।

चौथा अध्याय

मनुष्य के दार्शनिक विचार और उसकी कार्यक्षमता

मनुष्य के दार्शनिक विचार उसके जीवन की विभिन्न प्रकार की क्रियाओं में एकता लाते हैं। जिस व्यक्ति के दार्शनिक विचार जितने ही गम्भीर और ठोस होते हैं वह अपने कार्यों में उतनी ही अधिक लगन दिखाता है और उसकी कार्य-क्षमता उतनी ही अधिक होती है। मनुष्य की इन्द्रियाँ, उसका अहंभाव और लौकिक ज्ञान किसी देश की सेना के समान है; यहाँ लौकिक ज्ञान, इन्द्रियाँ तथा दूसरे प्रकार की मानसिक शक्तियाँ सैनिक हैं और अहंभाव सेना-नायक है। सेना-नायक सैन्य-संचालन करता है और सैनिक लड़ते हैं। सेना की हार-जीत सैनिकों की बहादुरी और सेना-नायक की सैन्य-सञ्चालन की कुशलता पर निर्भर अवश्य करती है; परन्तु ये ही दो बातें किसी महान् युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिये पर्याप्त नहीं हैं। हिटलर के सैनिक दुनियाँ में सबसे बहादुर थे; उसके सेनानायक बड़े कुशल योद्धा भी थे। परन्तु इस पर भी हिटलर की हार हो गई। अँग्रेजों ने लड़ाइयों में भागकर ही युद्ध को जीत लिया। यहाँ हिटलर की हार और अंग्रेजों की विजय का कारण राजनैतिक चालें थीं। पिछले महायुद्ध ने सिद्ध कर दिया कि देशों के भाग्य-निर्णायक युद्धों की जय-पराजय युद्ध के योद्धाओं पर ही नहीं निर्भर करती, वरन् उन मन्त्रियों पर निर्भर करती है जो सेनाओं को विभिन्न स्थानों पर भेजते और लड़ाई के कार्यक्रम को बनाते तथा दूसरे लोगों से मेल-जोल रखकर अपनी शक्ति को बढ़ाते हैं।

मनुष्य के जीवन में मंत्रणा देनेवाला विचार ही दर्शन कहलाता है। जो कार्य युद्ध में राष्ट्र के मन्त्री करते हैं वही कार्य जीवन-युद्ध में दर्शन करता है। यदि योग्य मन्त्री हुये तो राष्ट्र विजयी होता है। मन्त्री की योग्यता सेनानायक और सैनिकों में आत्मविश्वास को बढ़ाती है; अयोग्य मन्त्री उन्हें थोड़े ही काल में हतोत्साह कर देते हैं। इसी प्रकार मनुष्य के दार्शनिक विचार उसके कार्य करने के उत्साह को बढ़ाते अथवा घटाते हैं। मनुष्य को जीवन में सब समय सफलता नहीं मिलती; उसे अनेक प्रकार की आपत्तियों का सामना करना पड़ता है। विपत्तिकाल में धैर्य दिलानेवाला विचार दार्शनिक विचार होता है।

साधारण मनुष्यों का जीवन ऊपरी सफलता तथा विफलता के ऊपर अवलम्बित रहता है; गम्भीर पुरुषों का जीवन ऊपरी सफलता अथवा विफलता से अप्रभावित रहता है। वे अपने जीवन में स्थायी मूल्यों की प्राप्ति की चेष्टा

करते हैं। स्थायी मूल्य की पहचान के लिए ही मनुष्य को दर्शन की आवश्यकता होती है। मनुष्य के कार्यों में तभी तक अच्छा तारतम्य रहता है जब-तक वह सोचता है कि वह जिस महान् उद्देश्य की प्राप्ति की चेष्टा कर रहा था उसी की ओर वह जा रहा है। इस उद्देश्य की प्राप्ति में जो कठिनाइयाँ उसे मिलती हैं वह उनसे हताश न होकर और भी दृढ़व्रती बनता है। अतएव मनुष्य के चरित्र और लगन की दृढ़ता उसके उस विचार पर निर्भर करती है जो उसे उद्देश्य को सुझाता और उसके प्रति लगन को बढ़ाता है।

लौकिक बुद्धि का मनुष्य थोड़े ही काल में निराशावादी बन जाता है। लौकिक लाभ अस्थायी होते हैं। सच्चे लाभ आत्मज्ञान सम्बन्धी हैं। मनुष्य के लौकिक अनुभवों की कीमत इसी बात में है कि वे उसके ज्ञान को विशेष प्रकार का बनाते हैं। अन्ततोगत्वा मनुष्य के जीवन की सफलता और विफलता उसके ज्ञान का विशेष प्रकार है। किसी विशेष प्रकार के फल की प्राप्ति अथवा अप्राप्ति से मनुष्य अपने आपको सफल अथवा विफल मानने लगता है। बाहरी फल तो बाहर ही रहता है। जो फल उसके जीवन को प्रभावित करता है वह उसकी चेतना को विशेष प्रकार का बनाता है। अतएव जो व्यक्ति चेतना के सुधार में ही लग जाता है, उसके सुयोग्य संचालन के नियमों को समझने की चेष्टा करता है और तदनुसार अपनी मनोवृत्तियों का संचालन करता है, वह सभी परिस्थितियों में सफल है। उसके मन में निराशा का भाव नहीं आता।

कितने ही लोग अपने दर्शन को आशावादी बना लेते हैं और कितने ही उसे निराशावादी बनाते हैं। आशावादी लोग अपने कामों में जो पटुता दिखाते हैं निराशावादी वह पटुता नहीं दिखाते। मनुष्य के कामों का साधारण उद्देश्य किसी प्रकार की बाहरी सफलता होती है। बाहरी सफलता के विषय में भी जब तक आशावादी विचार होते हैं मनुष्य आगे बढ़ता जाता है। इस प्रकार साम्यवादियों का आशावादी विचार उन्हें आगे बढ़ाता जा रहा है। उनका विश्वास है कि साम्यवाद एक दिन संसार के सभी देशों में फैल जायगा। वे सोचते हैं कि संसार की घटनाओं की प्रगति उसी ओर है। जैसे-जैसे साम्यवाद आगे बढ़ता जाता है उनके विश्वास में और भी दृढ़ता आती जाती है। फिर वे और भी ध्यान के साथ अपने काम को करते जाते हैं। सफलता के समान और कोई भी बात सफल नहीं होती। सफलता मनुष्य को आशावादी बनाती है और फिर आशा मनुष्य को सफल बनाती है। इस प्रकार मनुष्य आगे बढ़ता जाता है।

---

* Nothing succeeds like success.

आशावादी होने से मनुष्य अपनी समस्याओं को हल करने का कोई मार्ग निकाल लेता है। निराशावादी मनुष्य जहाँ मार्ग है भी उसे भी नहीं देखता। जो लोग सोचते हैं कि दुनिया ही विनाश की ओर जा रही है उसके कल्याण के लिए कौन सा काम कर सकते हैं? जिन लोगों का विचार है कि विनाश भी विकास का एक आवश्यक अंग है वे विनाश से नहीं घबड़ाते। वे अपने काम में लगे रहते हैं और अन्त में विनाश को विकास का साधन बनाने में समर्थ होते हैं।* उनके विचार ही उस नई सृष्टि की रचना कर देते हैं जो प्रकाशमय है। मनुष्य का स्वर्ग और उसका नर्क उसके विचार में ही रहता है। आशावादी विचार स्वर्ग हैं और निराशावादी नर्क। आशावादी विचार रचनात्मक होते हैं और निराशावादी ध्वंसात्मक। रचनात्मक विचार सुखदाई और ध्वंसात्मक दुःखदाई होते हैं।

मनुष्य की बुद्धि सीमित है। वह नहीं जानता कि अन्त में किस घटना से कौन सा परिणाम—भला अथवा बुरा—होगा। कभी-कभी अपनी कल्पना में आनेवाले परिणाम से विरुद्ध ही परिणाम किसी विशेष प्रकार के कार्यों का होता है। ऐसी स्थिति में अपने कामों का फल ईश्वर के भरोसे छोड़ देना अच्छा समझता है। यूनान के तत्त्ववेत्ता अरस्तू महाशय ने ईश्वर की जो कल्पना की है वह बड़ी उपयोगी है। ईश्वर आशावादी विचार है। सभी घटनाएँ मनुष्य को ईश्वर की ओर ले जाती हैं। प्लेटो महाशय ने भलाई के विचार को ही ईश्वर कहा है। आशावादी और ईश्वरवादी होना एक ही बात के भिन्न-भिन्न पहलू हैं।

संसार की घटनाएँ किसी विशेष प्रकार के नियम से संचालित होती हैं। यह नियम नैतिक नियम है। बुरा काम करके मनुष्य भले फल की आशा नहीं कर सकता। भगवान बुद्ध का कथन है कि कुचिन्तन का परिणाम अवश्य ही दुःख होता है। बुरे काम इसी प्रकार दुःख को लाते हैं जिस प्रकार गाड़ी का पहिया बैल के खुरों के पीछे आता है। जिस नियम को हमें मानना है वह

---

* इस प्रयोग में क्लाकून का यह विचार माननीय है।

It is not by eastern windows only.
When thy light comes, comes in the light.
In the east the sun climbs slowly, how slowly
But look westward the land is bright.

अर्थात् जब सूर्योदय होता है तो पूर्व दिशा से ही प्रकाश नहीं आता वरन् सभी दिशाओं से प्रकाश आता है।

नैतिक नियम है। नैतिक नियमों का पालन करना जब अपने आप ही लक्ष्य बन जाता है तो बाहरी सफलता अथवा विफलता मनुष्य को उद्विग्न मन नहीं करती। नैतिक नियम अचल हैं। जो इनको पकड़े रहता है उसके मन में निराशा नहीं आती। उसकी कार्यक्षमता सदा अक्षुण बनी रहती है। नैतिक नियमों का पालन मनुष्य की इच्छा-शक्ति को दृढ़ बनाता है, उन नियमों की अवहेलना उसकी इच्छा-शक्ति को निर्बल बना देती है। जब मनुष्य की इच्छाशक्ति निर्बल हो जाती है तो वह अनेक प्रकार की अभद्र कल्पनाओं को अपने मन में स्थान देता है। प्रबल कल्पनाएँ मनुष्य को दुःख देती हैं। वे फिर वास्तविक घटनाओं में भी परिणत हो जाती हैं। कल्पना वास्तविकता की जननी है। भली कल्पनायें भली घटनाओं का कारण बन जाती हैं और बुरी कल्पनायें बुरी घटनाओं का। जब मनुष्य का मन एक बार नैतिक नियम से विचलित हो जाता है और जब वह लौकिक सफलता की खोज करने लगता है तो अनेक प्रकार की अभद्र कल्पनाएँ उसके मन में उठने लगती हैं। मन की कमजोर अवस्था में मनुष्य की भली कल्पनाएँ तो उसका साथ नहीं देती, अभद्र कल्पनाएँ ही उसका साथ देती हैं।* तब

* हमारे एक मानसिक रोगी को सोते विचार आया कि निद्रा अस्थायी मृत्यु है, वह कभी भी स्थायी मृत्यु में परिणित हो सकती है। इस विचार के कारण वह निद्रा से ही डरने लगा और कई दिन तक ठीक से सो न सका। एक दूसरे व्यक्ति को सफेद रंग से ही डर हो गया क्योंकि सफेद रंग का कपड़ा मुर्दे के ऊपर डाला जाता है। उसे पीपल के पेड़ से और इमली, बेल तथा ताड़ के पेड़ों से भी डर लगता था। उसके मन में बैठ गया था कि उनमें भूत रहते हैं। यह व्यक्ति पढ़ा लिखा तथा वैज्ञानिक विचार का व्यक्ति है। परन्तु फिर भी अकारण भय उसे सताते हैं। इन भयों के कारण खोजने से पता चला कि ये भय अन्तरात्मा द्वारा किसी अनैतिक आचरण के लिए दण्ड के रूप में ही हैं। जिस अनैतिकता का दण्ड हमें समाज से, राज्य से अथवा प्रकृति से मिल जाता है, उसके लिए अन्तरात्मा दण्ड नहीं देती, परन्तु जिसका दण्ड इस प्रकार नहीं मिलता उसका दण्ड अन्तरात्मा से मिलता है। इस दण्ड का उद्देश्य आत्म-शुद्धि ही होती है, अर्थात् उसका प्रयोजन भला होता है।

*इमरसन महाशय ने कहा है—अपराध और दण्ड एक ही डाल से पैदा होते हैं; दण्ड वह फल जो सुखरूपी फूल में हमारे अनजाने पकते रहते हैं।

Crime and punishment are born of the same stem; punishment is the fruit that unsuspected ripens within the flower of the pleasure that concealed it—Emerson., *Essays*

वह अपने अनैतिक आचरण के फलस्वरूप इनको वास्तविकता में घटित होते देखता है।

मनुष्य का विचार उसके कार्यों का प्रेरक और नियामक होता है। जिस विचार पर मनुष्य बार-बार चिन्तन करता है और जो बार-बार चिन्तन और मनन के परिणामस्वरूप उसके स्वभाव का अंग बन जाता है वह संकट काल में उसका सहायक होता है। वह विचार कठिन से कठिन कार्य को सरल बना देता है। दार्शनिक विचार शारीरिक कष्ट को दुखदाई न बनाकर शान्तिदायक बनाता है। वह सभी प्रकार के त्याग को सरल कर देता है। अपने दार्शनिक विचार में दृढ़ व्यक्ति अपने शरीर को भी हँसते-हँसते छोड़ देता है। ऐसे व्यक्ति के कार्य दूसरे लोगों के मन को प्रभावित करते हैं। उसकी भावनाएँ संसार के अनेक पुरुषों की भावनाएँ बन जाती हैं। फिर वह जो कार्य एक शरीर से करता, वह अनेक शरीरों से करता है। जो विचार जितना ही गम्भीर होता है वह उतना ही व्यापक होता है और वह अपनी पूर्ति के लिये उतने ही लोगों के मनों का प्रेरक बन जाता है। अतएव सचा गम्भीर दार्शनिक विचार न केवल एक व्यक्ति को बल प्रदान करता है, वरन् वह अनेक को बल प्रदान करके उनके द्वारा निश्चित लक्ष्य को प्राप्त करता है।

पाँचवाँ अध्याय

भाग्य का निर्माण

संसार में दो प्रकार के लोग होते हैं—एक भाग्यवादी और दूसरे पुरुषार्थवादी। पहले प्रकार के लोग अपने जीवन की सफलता और विफलता को भाग्य, ईश्वर, देवी, देवता की कृपा आदि बातों पर निर्भर कर देते हैं, दूसरे प्रकार के लोग अपने भविष्य का निर्माण करना अपने पुरुषार्थ की बात मानते हैं। मनुष्य की विचारधारा और उसके जीवन का दर्शन उसके स्वभाव पर निर्भर करते हैं। जिस व्यक्ति का स्वभाव ढीला ढाला है, जिसके मन में अनेक प्रकार के अन्तर्द्वन्द्व चलते रहते हैं, जो अपने आप पर विजय प्राप्त करने में असमर्थ रहा है वह भाग्यवादी हो जाता है। ऐसा व्यक्ति, मनुष्य की सफलता और असफलता का कारण उसकी मनोवृत्तियों और कर्तव्य में न देखकर किसी बाहरी अज्ञात स्वेच्छाचारी सत्ता में आरोपित करता है। इस प्रकार वह अपनी असफलता के लिए अपने आप को दोषी न ठहराकर किसी ऐसी शक्ति को दोषी ठहराता है जिस पर उसका कोई अधिकार नहीं। इस प्रकार वह अपनी कमजोरी के प्रति अपनी आँखें मूद लेने की चेष्टा करता है और आपने आपको सुधारने से विमुख हो जाता है।

जब मनुष्य में काम करने की उत्कट भावना होती है, तो वह उसके लिये उचित कल्पनाओं, योजनाओं और इनके सहायक दर्शन का भी निर्माण कर देता है; जब मनुष्य में निकम्मापन आता है, जब मानसिक शक्ति भीतरी झगड़ों में ही समाप्त हो जाती है, तो उसकी कल्पनाएँ निराशावादी, योजनाएँ अधूरी और दर्शन नियतिवादी अथवा भाग्यवादी बन जाता है। निकम्मे लोग अपनी असफलता के लिए जब अपने भाग्य को दोष नहीं देते तो किसी व्यक्ति को दोष देते हैं। मनोविज्ञान का गंभीर अध्ययन बताता है कि मनुष्य की असफलता का कारण उसका भाग्य नहीं है, वरन् उसकी असफलता की मनोवृत्ति ही भाग्य की कल्पना का कारण है, और इस असफलता की मनोवृत्ति का कारण मनुष्य के बचपन के संस्कार, उसके मन में चलनेवाले मानसिक संग्राम और उसकी शिक्षा-दीक्षा है। जीवन में सफल विरला ही व्यक्ति हृदय से भाग्यवादी होता है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी सफलता के लिये दूसरों को श्रेय न देकर अपने आप को ही श्रेय देता है। वह कभी-कभी सौजन्यता के नाते ही ईश्वर, भले मनुष्य अथवा मित्र की कृपा को अपनी सफलता का श्रेय देता है। परन्तु

अपने भीतरी मन में तो वह सदा सोचता रहता है कि उसकी सफलता का श्रेय उसकी योग्यता को ही है। जब मनुष्य विफल होने लगता है तब वह उसका कारण अपने आप को न मानकर उसे किसी बाहरी सत्ता के सिर मढ़ता है। ऐसे ही लोग भाग्य का आविष्कार करते हैं। भाग्यवादिता और निराशावाद एक दूसरे के सहगामी हैं। जिस व्यक्ति को भविष्य का जितना ही अधिक डर रहता है वह उतना ही अधिक ज्योतिषियों, हस्तरेखा देखनेवालों आदि भाग्य-वादियों के चंगुल में फँसता है। यह भविष्य का डर मन के भीतर चलनेवाले अन्तर्द्वन्द्व का प्रतीक है। जो मनुष्य अपने कर्तव्य का पालन नहीं करता उसे अपनी अन्तरात्मा का भय होता है। यह भय किसी कष्ट की संभावना की कल्पना में उठता है और इस होनेवाले कष्ट का कारण किसी बाहरी अज्ञात सत्ता के ऊपर वह आरोपित कर देता है। वास्तव में यह त्रास उसकी अन्तरात्मा द्वारा ही उसे दिया जाता है।

पुरुषार्थवादी मनुष्य की मनोवृत्ति उक्त मनोवृत्ति से भिन्न होती है। भाग्य-वादी सुगम पथ की खोज करता है और पुरुषार्थवादी बीहड़ मार्ग को पकड़ लेता है और उसे भी सुगम बना लेता है। छोटा मार्ग सबसे लम्बा होता है और सुगम पथ ही आपत्तियों से भरा होता है। जो मनुष्य जीवन-यात्रा में कठिनाइयों से जितना अधिक भागता है, उसके सामने कठिनाइयाँ उतनी ही अधिक आती हैं और जो उनके लिये जितना ही अधिक कटिबद्ध होता है उसके सामने से कठिनाइयाँ उतनी ही सरलता से हट जाती हैं। वास्तव में मनुष्य के जीवन की कठिनाइयाँ उसके मन के बाहर न होकर उसके मन के भीतर ही हैं। कायरता की मनोवृत्ति छोटी कठिनाइयों को बड़ा बना देती है और निर्भीकता की मनोवृत्ति बड़ी कठिनाइयों को छोटा कर देती है। कठिनाइयों का सचमुच में कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है; कठिनाइयों का बल हमारे मन के बल के सापेक्ष हैं। जिन कठिनाइयों से एक व्यक्ति डर जाता है उन्हीं से दूसरा व्यक्ति नया प्रोत्साहन पाता है। जिस व्यक्ति का मन एकाग्रता की स्थिति में है, जिसके मन के भीतर अन्त-र्द्वन्द्व की अवस्था नहीं है, वह बड़ी से बड़ी कठिनाई का सामना करने के लिये सदा प्रस्तुत रहता है; जिस व्यक्ति का मन भीतर ही बँटा रहता है वह साधारण सी कठिनाई से डर जाता है। बाहरी कठिनाइयाँ वास्तव में मनुष्य के आध्यात्मिक विकास का साधन हैं। मनुष्य अपने मन का एकीकरण कठिनाइयों का सामना करके ही करता है। उसने जीवन के सिद्धान्तों की वहाँ परख होती है और कठिनाइयों से लड़ने में ये सिद्धान्त बलवान बनते हैं। बाहरी परिस्थितियों पर

विजय पाने की चेष्टा करना आंतरिक परिस्थितियों पर विजय पाने का एक सुसाध्य उपाय है।

सचमुच प्रत्येक मनुष्य गंभीर मनोविज्ञान की दृष्टि से अपने भाग्य का निर्माता है। वह जैसा प्रति क्षण सोचता है, वह वैसा ही अपने आसपास का वातारण बना लेता है। जो मनुष्य अपने आपको आलोचकों और शत्रुओं से घिरा हुआ मानता है उसे आलोचक और शत्रु जहाँ तहाँ मिल जाते हैं और जो अपने आपको मित्रों के बीच में रहने की भावना रखता है वह आसपास के लोगों को वास्तव में मित्र ही पाता है। उसके नित्यप्रति के विचार ही उसका आत्मनिर्देश बन जाते हैं, जिसके कारण दूसरों के प्रति उसका सदा सौजन्यपूर्ण व्यवहार होता है। उसके आस-पास के लोगों के विचार भी उनके नित्य प्रति के विचारों से प्रभावित होकर उन्हें वास्तव में उसका मित्र ही बना देते हैं। प्रत्येक मनुष्य के अन्तःकरण में एक भला तत्व है। प्रत्येक मनुष्य भला बनना चाहता है और वह अकारण ही दूसरे की क्षति नहीं करना चाहता। अतएव मन की अशान्त अवस्था में ही वह किसी दूसरे व्यक्ति का अकल्याण करने के लिये प्रस्तुत होता है। जो मनुष्य दूसरों को शान्त बनाने की चेष्टा करता है वह उन्हें अनायास ही भला बना देता है। मनुष्य को मैत्री के विचारों से ही शान्त बनाया जा सकता है। घृणा और शत्रुता के विचार जिस प्रकार अपने आप को दुःखी बनाते हैं उसी प्रकार आस-पास के लोगों को भी वे दुःखी बनाते हैं।

मनुष्य का व्यक्तित्व और बाहरी जगत् एक दूसरे के सापेक्ष हैं। जैसा व्यक्तित्व होता है उसी प्रकार का जगत् भी किसी विशेष व्यक्ति के लिए बन जाता है। हमारा व्यक्तित्व हमारे विचारों का बना हुआ है। हमारे प्रतिक्षण के विचार ही बाह्यपदार्थों और घटनाओं का रूप धारण कर लेते हैं। निराशा-वादी लोग अपनी निराशावाद का पर्याप्त आधार बाहरी जगत में पा लेते हैं। कितने लोग समाज-व्यवस्था को ही अपने दुर्भाग्य का कारण मानते हैं। इस प्रकार वे अपने आपको असहाय तथा निकम्मा बना लेते हैं। साम्य-वादी और समाजवादी मनुष्य के पुरुषार्थ में विश्वास करते हैं, यद्यपि वे दार्शनिक विचारों में नियतिवादी हैं। परन्तु भाग्यवादी लोग बाहरी परिस्थितियों को इतना प्रबल मान बैठे हैं कि उनमें परिवर्तन की कोई आशा ही वे नहीं रखते। उनका इस प्रकार का निश्चय उन्हें और भी निकम्मा बना देता है। बाहरी संसार और उसकी घटनाएँ मनुष्य के आन्तरिक भावों को प्रतिबिम्बित

मात्र करती हैं। हमारे विषय में दूसरों के विचार हमारी ही आन्तरिक धारणाओं की प्रतिध्वनि मात्र हैं। हमारा अपने विषय में जैसा विश्वास होता है उसी प्रकार की राय दूसरे लोग हमारे विषय में देते हैं। हम अपनी आन्तरिक धारणाओं की पुष्टि के लिए संसार की घटनाओं में पर्याप्त प्रमाण पा लेते हैं।

जब हम किसी काम को हाथ में लेते हैं तो हमारे मन में उसकी सफलता और विफलता के विषय में अनेक प्रकार के विचार आते हैं। यदि हम हाथ में लिये काम के विषय में आशावादी रहते हैं तो हमें बाह्य-जगत् से सहायता मिलती है; दूसरे लोग अपनी सलाह से, धन से और दूसरे अनेक प्रकार से सहायता करते हैं। परन्तु जब हम निराशावादी होते हैं तो दूसर लोग भी हमारी कुछ सहायता नहीं करते। निराशावादी मनुष्य की सहायता करने से सहायक को लाभ ही क्या? प्रत्येक मनुष्य अपने त्याग और सेवा का पुरस्कार चाहता है, पुरस्कार का रूप चाहे जो कुछ हो। हमें इतने से भी संतोष हो जाता है कि हमारी सहायता के कारण अमुक व्यक्ति फल-फूल रहा है। परन्तु बाहरी सहायता मनुष्य की अपनी चेष्टा का स्थान नहीं ले सकती। भाग्यवादी व्यक्ति स्वतः प्रयत्न ही नहीं करना चाहते, वे दूसरों के कन्धों पर ही लदना चाहते हैं। फिर ऐसे लोगों का जीवन दुःख से व्यतीत हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या?

मनुष्य के चारों ओर सदा विचारों का वातावरण रहता है। जैसे प्रत्येक मनुष्य का भौतिक वातावरण होता है, उसी तरह उसके विचारों का वातावरण भी होता है। दूसरे लोगों के अनेक प्रकार के विचार हमें सदा प्रभावित करते रहते हैं। निराशावादी लोगों के पास चारों ओर से निराशावादी विचार आ जाते हैं और आशावादी लोगों के समीप आशावादी विचार चारों ओर से आ जाते हैं। निराशावादी लोगों को दूसरे लोग भी निराशावादी ही मिलते हैं और ये उनके विचारों की पुष्टि कर देते हैं। समान गुण और स्वभाव के लोगों में आपस का आकर्षण रहता है। जो आन्तरिक मन से जैसे व्यक्तियों अथवा विचारों की खोज में रहता है उसे वैसे ही व्यक्ति और विचार मिल जाते हैं।

अपने भविष्य को भला बनाने के लिए मनुष्य को अपने विचारों को भला बनाना आवश्यक है। इसके लिये बाहर से आनेवाले विचारों के ऊपर नियंत्रण रखना आवश्यक है। हमारे मन में सूक्ष्म गति से चलनेवाले विचार हमारे बड़े-बड़े निर्णयों के कारण बन जाते हैं। अपने इन विचारों पर हमें ध्यान रखना नितान्त आवश्यक है। अपने भविष्य की कोई निराशावादी कल्पना, किसी व्यक्ति के प्रति द्वेष की भावना, किसी विशेष प्रकार का सन्देह हमें किसी

बड़े काम में हाथ डालने से रोकता है। ये विचार अनायास ही मनुष्य के मन में उठ आते हैं। वास्तव में इन विचारों को हम बाहर से ग्रहण करते हैं। जिस मनुष्य के सम्बन्ध में हम चिन्तन करते हैं, चाहे वह चिन्तन हम प्रेमवश करें अथवा द्वेषवश, आशावादी अथवा निराशावादी, भले अथवा बुरे विचार हमारे मन में हमारी इच्छा के विरुद्ध ही घुस जाते हैं। स्वार्थी मनुष्य के विचार निराशावादी होते हैं; वह भाग्यवादी होता है। अतएव ऐसे व्यक्ति की चर्चा करना अथवा उसका चिन्तन करना हमें भी निकम्मेपन की ओर ले जाता है। इसके प्रतिकूल किसी त्यागी, समाज-सेवक महात्मा का चिन्तन और उसके गुणों पर विचार करना हमें भी वैसा ही बना देता है। स्वार्थत्यागी एवं परोपकारी मनुष्य से मिलने से भी नया उत्साह हमारे मन में आ जाता है।

यदि कोई मनुष्य अपने भाग्य का स्वयं निर्माण करना चाहता है तो उसे सबसे प्रथम वस्तु जो करनी आवश्यक है वह कठिनाइयों से भागने की मनोवृत्ति से मुक्त होना है। कठिनाइयों से बचने की मनोवृत्ति से ही मनुष्य कठिनाइयों में पड़ता है और छोटी सी भी कठिनाई को बड़ा बना लेता है। यह बचने की मनोवृत्ति कायरता की मनोवृत्ति है। प्रत्येक प्रकार का दुःख मनुष्य को शिक्षा देता है। उसे सहने के लिये प्रस्तुत रहने में ही मनुष्य का कल्याण है। जब मनुष्य कठिनाई का सामना करने का निश्चय कर लेता है और वह सोचता है कि इसका सामना करने में ही उसका कल्याण है तो उसकी कठिनाई सरल हो जाती है। संसार में दुःख सभी लोगों को होता है फिर हमें वह क्यों न हो। कितने ही लोग दुःख से बच जानेवाले अथवा धन-सम्पन्न लोगों को भाग्यवान् मानते हैं, परन्तु वास्तव में ऐसे लोग अभागे ही हैं, क्योंकि उनकी सभी आवश्यकतायें सरलता से पूर्ति हो जाने के कारण उन्हें अपनी शक्ति का परिचय ही नहीं हो पाता। उन्हें चरित्र-निर्माण और आत्मज्ञान का अवसर नहीं मिलता। ऐसे लोगों के कोई भी विचार ठोस नहीं होते और उनसे संसार के लोगों को कोई नई प्रेरणा नहीं मिलती। वे पशु के समान ही होते हैं। भाग्यवान मनुष्य वह है जो परिस्थितियों से लड़ने के लिये सदा तत्पर रहता है और जो उनसे लड़ने में ही आनन्द की अनुभूति करता है।

मनुष्य को न तो अपने दुःख को ही इतना महान् मानना चाहिए कि वह उसके कारण निकम्मा हो जाय और न दूसरे लोगों के दुःख से इतना दुःखी हो जाना चाहिए कि वह उनकी कोई भी उपयोगी सहायता न कर सके। दूसरे लोगों के दुःख के प्रति सहानुभूति दिखाना अच्छा है, परन्तु उनसे तादात्म्य

कर लेना मूर्खता है। सहानुभूति से मनुष्य उनका सहायक होता है और तादात्म्य से वह निकम्मा हो जाता है। रोते मनुष्य को देखकर स्वयं रोने लगना अपने को उसकी सहायता के लिये अयोग्य बनाना है। संसार के दुःखी लोगों के प्रति एक कुशल चिकित्सक का दृष्टिकोण रखना अच्छा है। उनके दुःखों से वहीं तक दुखी होना अच्छा है जहाँ तक हम उनकी सहायता कर सकते हैं।

जिस प्रकार दूसरे लोगों के दुःखी भावों से आक्रान्त होकर अपने आपको दुःखी बनाना बुरा है, इसी प्रकार संसार के मूर्ख लोगों के प्रति क्रोध दिखाना भी अपनी मानसिक शक्ति को व्यर्थ खर्च करना है। गलत मार्ग पर चलनेवाले लोगों को सुधारने का सर्वोत्तम उपाय उन्हें सही मार्ग पर चलने का आदेश अथवा उपदेश देना नहीं है, वरन् अपने आप सही मार्ग पर चलते रहना है। सभी लोग अपने अनुभव से सत्य का सच्चा ज्ञान करते हैं। यह ज्ञान एकाएक नहीं हो जाता। समय के पूर्व मिला ज्ञान स्थायी नहीं रहता। अतएव पुरुषार्थ-वादी व्यक्ति दूसरों के दुःखों या उनकी मूर्खता से उद्विग्न मन होकर पथ-भ्रष्ट नहीं होता। अपने लक्ष्य पर सदा ध्यान रखना ही जीवन को सफल बनाना है।

अपने आपको वातावरण के अनेक प्रकार के झकोरों से बचाने के लिये प्रति दिन दार्शनिक विचार करना, भले विचारों को मनन करना और विभिन्न विचारों में आपस का सम्बन्ध समझकर उनमें समन्वय स्थापित करना आवश्यक है। दार्शनिक विचारों में निमग्न रहनेवाला व्यक्ति चंचल पदार्थों से आसक्त नहीं होता। वह संसार के लोगों से इतनी ममता भी नहीं जोड़ता कि उनके दुःखों से स्वयं दुःखी होकर अपने अपको निकम्मा बना ले। मनुष्य जिन बातों का सदा चिन्तन करता रहता है उन्हीं में उसकी आसक्ति हो जाती है। संसार की बातों के विषय में चिन्तन करनेवाला व्यक्ति उन्हीं में आसक्त रहता है और दार्शनिक विचारों का चिन्तन करनेवाला व्यक्ति दार्शनिक विचारों में। जो व्यक्ति दुनियाँ की घटनाओं में ही अपने आपको खोए रहता है वह उनके प्रवाह में में पड़े रहने के कारण उनका नियामक नहीं बनता। प्रवाह का नियामक प्रवाह से बाहर रहनेवाला व्यक्ति ही हो सकता है। अतएव दार्शनिक चिन्तन करने में अपना समय लगाना अपने आपको जगत् की घटनाओं से स्वतंत्र बनाना और उनका नियामक बनना है।

दार्शनिक विचार से मन की विभिन्न शक्तियों का एकीकरण होता है। जिस मनुष्य का मन जितना ही एक केन्द्र से संचालित होता है वह अपनी परिस्थितियों पर विजय प्राप्त करने में उतना ही सफल होता है। 'मन के हारे

हार है, मन के जीते जीत।' जिन लोगों का मन बटुरा हुआ नहीं रहता, जिनकी शक्तियों का संचालन एक केन्द्र से नहीं होता वे सरलता से ही बाहरी परिस्थितियों से प्रभावित हो जाते हैं। प्रत्येक मनुष्य को अपने मन के भीतर एक गढ़ तैयार कर लेना चाहिए। यह गढ़ अपने निश्चित सिद्धान्तों का गढ़ है। जब कभी किसी आपत्तिजनक विचार का आगमन हो तो उसे इस गढ़ में चला जाना अच्छा है। वह यहाँ पहुँचकर आनेवाले विचार का भली प्रकार से सामना कर सकता है। जिन लोगों का अपना कोई दार्शनिक विचार नहीं होता वे बिना गढ़ के राजा के समान होते हैं। उनकी जीवन-नौका बे-पतवार की होती है। उसे जिधर प्रवाह ले जाता है उधर ही वह चली जती है। जीवन के प्रत्येक विषय पर अपना निश्चित दृष्टिकोण बनाना इसके लिये आवश्यक है।

मनको सुदृढ़ बनाने का एक और उपाय प्रतिदिन शान्त भावना का अभ्यास करना है। इस प्रकार के अभ्यास से भी मनुष्य प्रवाह के जीवन से ऊँचा उठ जाता है। प्रत्येक मनुष्य के मन में सर्वदा सैकड़ों विचार चलते रहते हैं। ये सभी विचार उसके भाग्य का निर्माण करते हैं। कभी-कभी एक साधारण सा विचार ही जीवन-धारा को विशेष ओर मोड़ देता है। विचारों की गति में पड़ा हुआ मनुष्य अनायास सुखी और दुखी होता है। उसके विचार ही उसे सुखी अथवा दुखी बनाते हैं। विचारों पर नियंत्रण न रहने के कारण जैसी उसकी चित्तवृत्ति होती है वह अपने आपको वैसा ही मानने लगता है। परन्तु यदि मनुष्य नियमित रूप से शांत भावना का अभ्यास करे तो वह अपने विचारों के वश में न रहकर उनको अपने वश में लाने में समर्थ होता है। शान्त-भावना का अभ्यास अपने अपको शान्तचित्त ध्यान में लाने से, शान्त ज्योति का अपने हृदय मे ध्यान करने से, किसी शान्त पुरुष का ध्यान करने से, शान्त रूप से चलनेवाली सरिता पर चिन्तन करने से, ऊषा-दर्शन से अथवा अपने मन को श्वास-प्रश्वास पर एकाग्र करने से होता है। जिस मनुष्य का मन उद्विग्न अवस्था में हो पर अपने प्रयत्न से एक बार भी शान्त हो जाता है वह मन को शान्त करने का रहस्य जान लेता है। ऐसा व्यक्ति आपत्ति काल में सरलता से शान्त में लीन हो जाता है। इस प्रकार वह विचार और भावों के प्रवाह से ऊपर उठ जाता है। ऐसा ही व्यक्ति अपने भाग्य का निर्माता होता है।

———

छठवाँ अध्याय

मानव जीवन में कल्पना का महत्व

मानव-जीवन में कल्पना का कितना महत्व है इसे विरले मनुष्य जानते हैं। इस विषय पर विचार भी बहुत कम किया गया है। परन्तु जब हम मनुष्य के जीवन में उसके विचारों के महत्व को समझने लगते हैं तो कल्पना की महत्ता को समझना कठिन नहीं होता। हमारे विचार कई प्रकार के होते हैं—कुछ अतीत से सम्बन्ध रखते हैं, कुछ वर्तमान से और कुछ भविष्य से। कुछ विचार नवीन खोज से सम्बन्ध रखते हैं और कुछ नई रचनाओं में लगे रहते हैं। कल्पना मनुष्य का वर्तमान विचार है। यह कभी भविष्य से सम्बन्ध रखता है और कभी नहीं, परन्तु यह भविष्य का निर्माता अवश्य है।

बहुत से अविचारवान् व्यक्ति कल्पना को उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं। कितने ही वास्तविकतावादी व्यक्ति अपना समय उपन्यास-कहानियां के पढ़ने और नाटक कविताओं के अध्ययन में खर्च करना व्यर्थ समझते हैं। वे सोचते हैं कि अपना समय इन बातों में व्यतीत करना उसे व्यर्थ खोना है। कहानी, उपन्यास, नाटक, कविता आदि काल्पनिक रचाएँ वास्तविक घटनाओं का वर्णन नहीं करतीं, ये तो कलाकार के मन का प्रलाप मात्र हैं, अतएव उन्हें जानने की आवश्यकता ही क्या है? वे नहीं जानते कि ये रचनाएँ वास्तविक घटनाओं की जननी हैं। ये मनुष्यों के मन में ठहर जाती हैं, उनके भावों को परिवर्तित करती हैं, उन्हें नई सूझ और प्रेरणाएँ प्रदान करती हैं और इस प्रकार मानव-जीवन और मानव समाज का नव-निर्माण करती हैं। किसी देश की राज्य-क्रान्ति में, किसी समाज के नव निर्माण में उस देश के कहानी और उपन्यास लेखकों, कवियों और नाटककारों का प्रमुख हाथ रहता है। किसी राष्ट्र का नव-निर्माण तबतक सफल नहीं होता जबतक देश के कलाकार उसका सजीव चित्र अपनी लेखन-कला द्वारा जनता के समक्ष उपस्थित नहीं करते। राष्ट्र का भव्य चित्र ही उस राष्ट्र के व्यक्तियों के कार्यों का प्रेरक बन जाता है। फिर एक व्यक्ति की कल्पना समष्टि कल्पना बनकर राष्ट्र की कायापलट कर देती है। इस प्रकार राष्ट्र अथवा समाज का नव-निर्माण हो जाता है। किसी व्यक्ति अथवा समाज के लोगों के मन में अपने ही विषय में भद्र-कल्पनाएँ आने लगती हैं। फिर ये कल्पनाएँ ही वास्तविकता में परिणत हो जाती हैं। जो

व्यक्ति अथवा राष्ट्र सोचता है कि उसका भविष्य उज्वल है वह उज्वल भविष्य का भागी होता है और जो सोचता रहता है कि वह तो पतनोन्मुख हो चुका है, उसे कोई शक्ति गिरने से बचा नहीं सकती। वास्तव में मनुष्य की नित्यप्रति की कल्पना ही वास्तविकता में परिणत हो जाती है।

मनुष्य की कल्पना और उसकी कार्यक्षमता में बड़ा ही घनिष्ट सम्बन्ध है। अँग्रेजी में कहावत है, जो व्यक्ति सोचता है कि मैं अमुक कार्य को कर सकता हूँ वह उस कार्य को करने में अवश्य ही सफल होता है। जीवन के बड़े संग्राम मनुष्य पहले कल्पना में जीतता है तत्पश्चात् वह वास्तविक जगत में उन्हें जीतता है। जिस व्यक्ति ने कल्पना में कोई भव्य महल नहीं बनाया वह वास्तविक महल की रचना कभी नहीं करेगा। महात्मा गांधी ने पहले पहल अपनी कल्पना में सोचा कि मुझे भारत का नेता बनना है, इसके समाज की काया पलट करनी है, अँग्रेजों को यहाँ से विदाई देना है। पीछे वे इस कार्य में लग गये और अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में समर्थ भी हुए। महात्मा गांधी के किशोर जीवन को देखिये। उस काल में ही महात्मा गांधी ने अँग्रेजो से संग्राम करने का चित्र और उसमें सफलता प्राप्त करने का चित्र अपनी कल्पना में खींचा था। यही चित्र वास्तविकता का जनक हुआ। किसी भी व्यक्ति का किशोर जीवन उसके भावी-जीवन की रूप-रेखा बनाता है। किशोरावस्था कल्पना की प्रबलता का काल है। मनुष्य जो कुछ जीवन में बनता है अथवा प्राप्त करता है वह इस समय की कल्पनाओं का परिणाम है। नेपोलियन बोनापार्ट, मेजिनी, स्वामी दयानन्द, तिलक, महात्मा गांधी और नेहरू की जीवनियाँ हमें उपलब्ध हैं। यदि हम इनकी किशोरावस्था की कल्पनाओं पर विचार करें तो जो आश्चर्यजनक घटनाएँ उनके जीवन में घटीं उन्हें हम सहज से ही समझ सकेंगे। मनुष्य की कल्पना में वास्तविकता का बीज है। जब कोई भी कल्पना मनुष्य के मन में निर्विरोध रूप से कई दिन तक ठहर जाती है तो वह अपने आप ही वास्तविकता में परिणत हो जाती है। कल्पना उस वातावरण को उपस्थित कर देती है जिसके कारण मनुष्य विशेष प्रकार के काम में लगता है। वह अज्ञात रूप से उसके कार्यों की प्रेरक बन जाती है, उसके चित्रों का नव निर्माण करती है और उसे नया उत्साह प्रदान करती है। इस प्रकार वह वास्तविकता की जननी होती है।

मनुष्य की कल्पना ही उसके कार्यों की जननी होती है। जो मनुष्य भला कार्य करना चाहता है वह अपने मन में पहले भले कार्य की कल्पना करता है।

जब यह कल्पना उसके मन में स्थिर हो जाती है तो तत्सम्बन्धी कार्य मनुष्य अपने आप ही करने लगता है। मनुष्य कोई भी काम इसलिये नहीं करने लगता, क्योंकि वह भला है। मनुष्य के निर्णय कभी-कभी एक प्रकार के होते हैं परन्तु वह काम दूसरे ही प्रकार का करता है। इसका कारण उसके मन में उसके निर्णय के विरुद्ध कल्पना का उपस्थित रहना है। जब निर्णय और कल्पना एक दूसरे से मिले रहते हैं तो मनुष्य बड़े-बड़े कामों को करने में समर्थ होता है; जब इन दोनों में विरोध हो जाता है तो मनुष्य किसी भी कार्य को कुशलता-पूर्वक नहीं कर पाता। इस प्रकार का विरोध मनुष्य की इच्छा-शक्ति और कल्पना के विरोध का परिणाम है। मनुष्य की इच्छा-शक्ति किसी काम का निर्णय करती है, उसकी कल्पना उस निर्णय को कार्यान्वित करती है। जिस व्यक्ति के मन में अन्तर्द्वन्द्व की अवस्था रहती है उसकी इच्छाशक्ति और कल्पना में विरोध रहता है। ऐसे व्यक्ति की कल्पना इच्छा-शक्ति का निर्णय स्वीकार नहीं करती, वह अपना कार्य स्वतन्त्र रूप से करने लगती है। कभी-कभी वह इच्छा-शक्ति के ठीक विरुद्ध कार्य करती है। ऐसी अवस्था में मनुष्य अपना शत्रु स्वयं ही बन जाता है।

कितने ही मनुष्य बहुत से भले काम करना चाहते हैं, परन्तु किसी काम के करने में समर्थ नहीं होते। यदि इस प्रकार की स्थिति का कारण जानने की चेष्टा की जाय तो हमें पता चलेगा कि उनकी बुद्धि में एकाकीपन का अभाव है। बहुत से कामों के करने की इच्छा करना, कुछ नहीं करने की मनोवृत्ति का द्योतक है। निकम्मे लोगों के मनसूबे अनेक होते हैं। काम करने में वही व्यक्ति समर्थ होता है जो अपने अनेक संकल्पों में से एक को चुन लेता है और सदा उसी एक को पूरा करने में अपने मन को लगाये रखता है। जब एक ही लक्ष्य की कल्पना मनुष्य के मन में उपस्थित रहती है तो वह लक्ष्य अवश्य ही प्राप्त हो जाता है। यह कल्पना मनुष्य की इच्छा-शक्ति को वह बल प्रदान करती है जिससे कि वह अपने संकल्प को वास्तविकता में परिणत करने में समर्थ होता है। हम जो कुछ सदा सोचते रहते हैं वही अभ्यास भी करने लगते हैं। हमारा सोचना एकाकी अवश्य होना चाहिए। दो प्रकार की कल्पनाओं को एक साथ मन में लाना दोनों का विनाशक होता है। इससे मनुष्य की मानसिक शक्ति विभाजित होकर आपस में ही द्वन्द्व करके नष्ट हो जाती है। जब किसी मनुष्य के दो लक्ष्य हों तो उसे इन लक्ष्यों में पहले समन्वय स्थापित कर लेना और एक को ही प्रधानता देना उन्हें प्राप्त करने के लिये नितान्त आवश्यक है।

मनुष्य की कल्पना उसके जीवन को बनाने और बिगाड़नेवाली महान शक्ति है। जब हमारी कोई भी कल्पना हमारे मन में देर तक ठहर जाती है तो वह आत्म-निर्देश की शक्ति का रूप धारण कर लेती है। यह कल्पना अपने आपके विषय में हो सकती है, अथवा दूसरों के सम्बन्ध में। अपने विषय में शुभ अथवा अशुभ कल्पना अपने शुभ अथवा अशुभ कार्यों की जननी तो होती ही है; वह दूसरे लोगों के विचारों और आचरण को भी प्रभावित करती है। दूसरे लोगों के विषय में शुभ अथवा अशुभ कल्पनाएँ हमारे आचरण को विशेष प्रकार का बनाती हैं। यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि जब मनुष्य बार-बार अपने बारे में सोचता है कि वह अमुक कार्य अवश्य करेगा तो वह उस कार्य को कर ही डालता है। अभी हाल की बात है, लेखक के एक विद्यार्थी को उसके साथी ने पीट दिया। वह विद्यार्थी अकेला था और उसके साथी के साथ और मित्र भी थे। अतएव उस समय वह कुछ न कर सका। परन्तु उसने अपनी हजामत बनवाना तब तक के लिये छोड़ दिया जब तक वह उसका बदला न चुका ले। इस मनोभाव के कारण वास्तव में उसने सभी विरोध के होते हुए भी अपने साथी से बदला चुकाया ही। चाणक्य ने नंद द्वारा अपमानित होने पर अपनी चोटी खोल ली थी। उसने संकल्प किया था कि मैं नंद वंश का विनाश कर दूँगा तभी चोटी बाँधूँगा। वह इस कार्य को अपने सामर्थ्य की बात मानता था और वह उसमें सफल भी हुआ। क्लाइव भारतवर्ष में आने पर निराश हो आत्महत्या करना चाहता था। जब उसने अपने ऊपर पिस्तौल दागी, परन्तु उससे गोली न निकली तो वह सोचने लगा कि मुझे संसार में कोई भारी काम करना है। इस भावना ने ही उससे बड़े-बड़े असाधारण कार्य कराये और वह भारतवर्ष में बृटिश राज्य की नींव डालने में समर्थ हुआ।

किसी काम के करने के लिये यह आवश्यक है कि उस काम को सरलता-पूर्वक करते हुए अपने आपका चित्र हम अपने मन में खींचें और इस चित्र पर बार-बार ध्यान दें। इस प्रकार का अभ्यास आत्मनिर्देश की शक्ति बन जाता है। यही शक्ति हमें वह बल प्रदान करती है जो हमें जटिल से जटिल कार्य सुलभ बना देती है। जब कोई सेनानायक युद्ध में विजय का चित्र अपने मन में खींचता है तो वह उस समय विजय को प्राप्त करने में समर्थ होता है। उसकी क्रियाएँ उसे अनायास ही सफलता की ओर ले जाती हैं। जिस व्यक्ति के मन में काले विचार आने लगते हैं और जो उनका आना रोक नहीं पाता उसका जीवन भी पतनोन्मुख हो जाता है। किसी सभा में व्याख्यान देने के पूर्व यदि

कोई वक्ता सोचने लगता है कि वह उस प्रवचन में सफल होगा और वह सुननेवालों की प्रशंसा प्राप्त करेगा तो वह इसे प्राप्त करने में समर्थ भी होता है। सफलतापूर्वक बोलने का अपने आपका चित्र उसे सभा में सफलतापूर्वक बोलने में सहायता देता है। जब कोई वक्ता सोचता है कि उसके प्रवचन से कोई भी प्रभावित नहीं होगा अथवा लोग उसकी खिल्ली उड़ावेंगे, अथवा वह सभा में जाकर अपने विचार ही भूल जावेगा या बोलते समय उसका हृदय धड़कने लगेगा; तो फिर वैसा ही होता है। उसकी बार-बार की अपने आपको विपय में कल्पना आत्म-निर्देश का रूप धारण कर लेती है। फिर उसकी आत्म-निर्देश की शक्ति उससे वही करा देती है, जिसकी कल्पना वह अपने मन में लाता है। जिस बात को हम अपने जीवन में घटित नहीं होने देना चाहते उसकी कल्पना को ही मन में न ठहरने देना चाहिए।

इस प्रसंग में प्रोफेसर हेडफील्ड का अपनी पुस्तक 'साइकोलाजी एण्ड मारल्स' में दिया हुआ एक शिक्षाप्रद मनोवैज्ञानिक प्रयोग उल्लेखनीय है। हेडफील्ड के पास एक ऐसा व्यक्ति मनोवैज्ञानिक सलाह लेने आया जिसे कोकीन खाने की लत लग गई थी। वह इस बुरी आदत से मुक्त होना चाहता था, परन्तु वह जितना भी उसे छोड़ने का प्रयास करता था वह आदत और भी जटिल होती जाती थी। वह जब कभी कोकीन की दुकान से गुजरता तो कोकीन खरीद लेता। हेडफील्ड ने उसे सलाह दी कि वह अपने मन को शान्त करके अपने आपको निर्देश दे कि वह कोकीन की दुकान के पास से निकल रहा है परन्तु उसकी ओर ध्यान नहीं दे रहा है, अर्थात् वह अपनी कल्पना में वह अपने को इस प्रकार चित्रण करे कि कोकीन की दुकान की ओर उसका ध्यान ही नहीं जा रहा है। इस प्रकार के अभ्यास के परिणामस्वरूप उसकी मनोस्थिति इतनी बदल गई कि जब उसे दवाई के लिए भी कोकीन खरीदने उस दुकान पर जाना पड़ता था तो वह उस दूकान को भूल जाता था दूकान से बहुत आगे बढ़ जाने पर उसे याद आता था कि वह कोकीन खरीदने के लिए आया था और दुकान पीछे छूट गई।

जो लोग सिगरेट पीने के आदी हो गये हैं और जो इस आदत से मुक्त होना चाहते हैं उन्हें उपर्युक्त उदाहरण से महत्व की शिक्षा मिलती है। ये लोग साधारणत: अपनी आदत को बड़ा ही जटिल मान लेते हैं। वे इसको छोड़ने की इच्छा अवश्य करते हैं, परन्तु उनकी कल्पना इसके प्रतिकूल ही होती है। उन्हें सदा भय लगा रहता है कि प्रयत्न करने पर भी वे इस आदत को

छोड़ने में असफल होंगे। यदि वे इस आदत के लिए उद्विग्नमन न होकर शान्त मन बनें और फिर कल्पना करें कि यह आदत कोई जटिल आदत नहीं है और वे सिगरेट पीना कभी-कभी भूल भी जाते हैं और इससे उन्हें कोई मानसिक बेचैनी नहीं होती तो वैसा ही होने लगता है। मन की शान्त अवस्था की कल्पना मनुष्य के चेतन मन से अचेतन में चली जाती है और फिर वह उसके स्वभाव को तदनुसार परिवर्तन कर देती है। इस प्रकार मनुष्य की जटिल से जटिल आदत सरलता से ही छूट जाती है। देर में सोकर उठने की आदत गाली गलौज की आदत, काम कुटेव तथा व्यभिचार की आदत, सभी उक्त प्रकार के अभ्यास से छुड़ाई जा सकती हैं। पढ़ने में पिछड़नेवाले विद्यार्थी सदा अपनी कल्पना में असमर्थता को ही चित्रित करते हैं। वे इच्छा एक प्रकार की करते हैं और कल्पना दूसरे प्रकार की। अतएव वे अपनी मनोकांक्षा सफलीभूत नहीं कर पाते। यदि ये लोग किसी प्रकार अपनी कल्पना को बदल दें तो वे अपनी पढ़ाई में अवश्य ही आगे बढ़ने लगें।

किसी भी देश के नेता का मुख्य कार्य देश के लोगों में अपने देश के प्रति भद्र कल्पनाओं का जागरण करना होता है। यदि किसी देश के लोग बारबार अपनी कल्पना में अपने आपको अभागे के रूप में चित्रित करते हैं तो वे वास्तव में अभागे ही बन जाते हैं। भारतवर्ष में कलियुग का विचार बहुत दिन तक फैला हुआ था। कलियुग की अशुभ कल्पनाओं ने जब हमारे देश के सभी नागरिकों के मन पर अधिकार कर लिया तो देश आठ सौ वर्ष तक विदेशियों की गुलामी करता रहा। जैसा हम अपने आपको कल्पना में चित्रित करते रहे वैसे ही बनते गये। अंग्रेजों के सम्पर्क और वैज्ञानिक शिक्षा का सर्वोत्तम लाभ यही हुआ कि हम कलियुग की मान्यता को ही निर्मूल समझने लगे। जब किसी देश के लोगों के विचार विकासवादी बन जाते हैं तो उनकी उन्नति होने लगती है, उनके चरित्र में सुधार होता है और वे उद्योगी बन जाते हैं। निराशावादी विचार के लोग न धन की वृद्धि कर पाते हैं और न चरित्र के गुणों की। असफलता की कल्पना मनुष्य को असफलता ही दे देती है।

पिछले विश्व युद्ध में जब डनकर्क की लड़ाई में अंग्रेजी सेना जर्मनों के सामने ठहर न सकी और जब उसे बुरी तरह से भागकर इंग्लिश चैनल पार करना पड़ा तो सारे इंग्लिस्तान में निराशा का वातावरण फैल गया। इस समय तक योरप के प्रायः सभी जर्मन विरोधी राष्ट्र हथियार डाल चुके थे। कोई भी सेना जर्मनों के सामने ठहर नहीं पाती थी। हारते हुये व्यक्ति का साथ भी कोई

नहीं देता। अतएव अंग्रेज अब बड़ी शोचनीय अवस्था में पड़ गये थे। यदि अंग्रेजी जनता के विचार इस समय भय और निराशा से मुक्त न किये जाते तथा यदि सामान्य जनता में आशावादी कल्पनाओं का संचार न किया जाता तो अंग्रेज पिछली लड़ाई में अवश्य ही हार जाते। इस समय इंगलैंड के नेताओं ने यह विचार फैलाया कि अंग्रेज लोग छोटी-छोटी लड़ाइयों में हारते हैं परन्तु पूरे युद्ध में अवश्य ही विजयी होते हैं।* जब अंग्रेज लोगों के भय के विचार बदलकर आशावादी बन गये तब बाहरी परिस्थितियाँ भी उनके अनुकूल हो गईं। जो हठी रूस उनका सबसे अधिक विरोधी था, वही मित्र बनकर जर्मनी से लड़ने लगा। उधर अवसरवादी अमेरिका भी अपने धन-जन के साथ लड़ाई में अँग्रेजों के साथ हो गया और इस प्रकार पराजय विजय में परिणत हो गई।

यदि हम किसी काम को सफलतापूर्वक करना चाहते हैं तो इतना ही पर्याप्त नहीं है कि हम उस काम के करने का निश्चय करें, वरन् उसके छोटे छोटे भाग को पूरी तरह अपनी कल्पना में चित्रित करें। इस प्रकार के चित्रण से हमारी मानसिक शक्ति आत्म-निर्देश के रूप में परिणत हो जाती है और फिर जैसा चित्र हम अपनी कल्पना में अपने विषय में खींचते हैं वही ठीक हो जाता है। हमारी पिछली कल्पना हमारे मनमें अनायास वह शक्ति उत्पन्न कर देती है कि हम अपने मनोवाञ्छित कार्य को करने में सफल हो जाते हैं। जब मनुष्य की भीतरी मनकी तैयारी पूरी होती है तो बाहरी परिस्थितियों को भी वह अपने अनुकूल पाने लगता है। शत्रु मित्र में परिणत हो जाते हैं और असुविधायें सुविधाओं में। मनुष्य की प्रबल, सजीव कल्पना उसका आत्म-निर्देश बन जाती है और फिर यह आत्म-निर्देश मनुष्य के स्वभाव में, उसकी कार्य-क्षमता में आश्चर्यजनक परिवर्तन कर देता है। हम अपनी कल्पना से न केवल अपने आपमें वरन् अपने बाल-बच्चों तथा संगी-साथियों में भले अथवा बुरे परिवर्तन कर देते हैं। बार-बार मन में लाई गई अभद्र कल्पनाओं के कारण कभी-कभी अनहोनी घटनायें भी घटित हो जाती हैं।

कभी-कभी माता-पिता अपने नकारात्मक निर्देशों द्वारा बहुत-सी अभद्र कल्पनाएँ बालकों के मन में उत्पन्न कर देते हैं। माता-पिता का उद्देश्य बालकों को उन परिस्थितियों से बचाने का रहता है जिनमें बालकों के पड़ने का भय उनके मन में रहता है। परन्तु उनके भय के भाव बालक के मन में प्रवेश कर

*The British lose battles but never lose the war.

जाते हैं और इन भावों के साथ साथ वे कल्पनाएँ भी बालक के मन में प्रवेश कर जाती हैं जिनसे उनके माता-पिता डरते हैं। जो माता-पिता अपने बालकों के दुराचारी तथा व्यभिचारी हो जाने की कल्पना से भयभीत रहते हैं और इस प्रकार की स्थिति से बालक को बचाने की असाधारण चेष्टा करते हैं वे वास्तव में उन्हें उन्हीं सब बातों में डालने का कारण बन जाते हैं जिन बातों से वे बालकों को बचाना चाहते हैं। उनके मनोभाव बालकों के भीतरी मन में माता-पिता के अनजाने अज्ञात रूप से प्रवेश कर जाते हैं और फिर वे उन अभद्र कल्पनाओं को बालकों के मन में जन्म दे देते हैं, जिनके कारण बालक का जीवन विकासोन्मुख न होकर विनाश की ओर ही जाता है।

थोड़े दिन पहले की बात है कि लेखक के एक मित्र का भानजा गंगाजी में डूबकर मर गया। डूब जाने की पूरी घटना असाधारण थी। यह लड़का १८ वर्ष का था, वह तैरना खूब जानता था। जब वह पानी में डूबा तो पेट में बिना पानी गये ही मर गया। वास्तव में वह घबड़ाहट से हृदय की गति रुक जाने से मर गया। जब वह गंगाजी नहाने गया था तो उसके साथ उसका एक मामा भी गया था। दोनों गंगाजी में तैरने लगे और डुबकी लगाने का खेल खेलने लगे। मामा ने डुबकी लगाई और वह कुछ दूर निकला। भानजे ने डुबकी लगाई और वह गायब हो गया। पीछे पता चला कि उसका शरीर पानी में किसी सीढ़ी में फँस गया। उसके शरीर के फँसने के साथ-साथ ही उसके हृदय की गति रुक गई। वह अपने आपको वहाँ से निकालने का प्रयत्न भी न कर पाया।

इस प्रकार की मनोवृत्ति का कारण उसकी माँ का भय था। उसकी माँ मेरठ में रहती थी। जब लड़का बनारस के लिये चला तो माँ के मन में असाधारण भय उत्पन्न हो गया कि लड़का कहीं गंगाजी में डूबकर न मर जाय। इस भय को उसने अपने लड़के के मन में अपने अनजाने ही डाल दिया। लड़का जिस दिन घर से चला उस दिन से माता सदा लड़के के गंगाजी में डूब जाने के भय से भयभीत रहती थी। उसके मनमें अपने लड़के के विषय में अभद्र कल्पनाएँ आती रहती थीं। ये अभद्र कल्पनाएँ ही अज्ञात रूप से बालक की इच्छा-शक्ति को निर्बल बनाती रहीं। अतएव उक्त दुर्घटना का घटित होना सहज हो गया। हमारी कल्पनाएँ न केवल हमारे ज्ञात व्यवहारों अथवा बातचीत द्वारा दूसरे लोगों तक पहुँच जाती हैं, वरन् केवल चिन्तन मात्र से भी वे उन तक पहुँच जाती हैं। इस मनोवैज्ञानिक रहस्य को समझना मनोविज्ञान के गम्भीर चिन्तन से ही साध्य है। जिस प्रकार भौतिक रेडियो द्वारा बेतार के तार

दूर दूर तक भेजे जा सकते हैं, इसी प्रकार मानसिक रेडियो द्वारा हम अपने भले अथवा बुरे विचारों अथवा कल्पनाओं को सदा दूर-दूर तक भेजते रहते हैं। इस प्रकार दूसरों के विषय में हमारी आशाएँ अथवा डर उन लोगों के मन में शुभ अथवा अशुभ कल्पनाओं को जन्म देते हैं और फिर ये कल्पनाएँ उन व्यक्तियों के जीवन में आत्म-निर्देश के रूप में प्रेरक बन जाती हैं।

कुछ दिनों की बात है। एक भद्र महिला अपनी सौतेली पुत्री के बारे में बार-बार सोचा करती थी कि वह उसकी घोर शत्रु है और वह उसे कत्ल कर डालेगी। यह विचार उसे हठी विचार के रूप में आता रहता था। उसने इस विचार को लेखक के एक छात्र से भी कहा। यह छात्र उस बालिका को पढ़ाता था। बालिका बड़ी सुशील थी। छात्र उक्त महिला की इस अभद्र कल्पना को केवल उसका पागलपन ही मानता था। वह कई वर्षों तक उस बालिका को पढ़ाता रहा। बालिका बाल्यावस्था से किशोरावस्था में आ गई। वह स्कूल की ऊँची कक्षा में पढ़ने लगी। एक दिन जब उसके पिता घर के बाहर थे और उसकी माँ घर में अकेली सो रही थी तब उसने वास्तव में कुल्हाड़ी से सोते समय माँ को काट डाला। इस प्रकार माता का अपनी पुत्री के विषय में अथवा अपने आपके विषय में भय चरितार्थ हो गया। यहाँ माता के विचार ही उस बालिका के उक्त कार्य के प्रेरक बन गये। उसकी अभद्र कल्पनाएँ बालिका के कोमल मन में प्रवेश कर गईं और उसके मन में उन्होंने उस जघन्य कार्य को करने की प्रेरणा उत्पन्न कर दी।

कितने ही भविष्य-वक्ता, हस्त-रेखा देखनेवाले अथवा ज्योतिषी अनेक प्रकार की भविष्यवाणी किसी व्यक्ति के बारे में कर देते हैं। ऐसी भविष्यवाणी कभी-कभी उन्हीं घटनाओं का कारण बन जाती है जिनका चिन्तन उस व्यक्ति के मन में हो जाता है। भविष्य के विषय में अत्यधिक चिन्तन करनेवाले व्यक्ति का मन भय के भाव से निर्बल बन जाता है; यदि भविष्य सम्बन्धी कोई अभद्र कल्पना उसके मन में डाल दी जाय तो ऐसी कल्पना अवश्य चरितार्थ होने लगती है। मानसिक रोगियों के विषय में देखा गया है कि उनकी भविष्य सम्बन्धी कल्पना अभद्र होती है। कितने ही रोगियों का सभी प्रकार का उपचार होते हुए भी उनका रोग इसलिये नहीं जाता कि वे रोग की कल्पना को अपने मन से नहीं छोड़ते और इसका कारण कभी-कभी किसी भविष्यवाणी का प्रभाव होता है। एक रोगी से एक भविष्यवक्ता ने कह दिया कि उसकी मृत्यु कुछ समय में हो जायेगी। फिर क्या था वह तभी से अपने

आपको मृत्यु के मुख में पड़ा हुआ मानने लगा। एक दूसरे मानसिक रोगी की जन्मपत्री में लिखा था कि उसका विवाह-योग नहीं है। इस लेख ने उसके पिता को उसके विवाह के सम्बन्ध में अत्यन्त चिन्तित कर दिया। उसके मनो-भाव पुत्र को भी ज्ञात हो गये। लड़के का विवाह होने के लिये विशेष प्रकार की सावधानी रखी गई। परन्तु इस सबके होते हुए भी विवाह के चार छः महीने बाद ही यह लड़का घर द्वार छोड़कर संन्यासी बन गया। उसके विवाह होने के कुछ ही दिन पूर्व व्यभिचार सम्बन्धी एक सामान्य घटना उसके जीवन में घटित हो गई, जिससे उत्पन्न होनेवाली आत्मग्लानि को वह सह न सका और उस पाप के प्रायश्चित्त स्वरूप उसने गृहस्थ जीवन ही छोड़ दिया। सम्भव है कि नववधू के प्रति कर्तव्य का भाव उसके मन में आया हो, परन्तु जन्म-पत्री के लेख ने इस कर्तव्य के प्रति उसे उदासीन होने में सहायता दी और अपने माता-पिता द्वारा प्राप्त कल्पना के अनुसार वह साधु बनकर घर से निकल गया। भगवान बुद्ध के पिता को भय था कि उनका पुत्र कहीं साधु न बन जाय। यह भय भविष्यवक्ता ने उनके मन में पैदा कर दिया था। इस भय के कारण वे बुद्ध भगवान् को दुनियादारी में लगाने का असाधारण प्रयत्न करने लगे। परन्तु पिता की कल्पना अज्ञात रूप से पुत्र के मन में चली ही गई और वह उनके जीवन में फिर आत्म-निर्देश की शक्ति प्राप्त करके चरितार्थ हो गई। भावना में भारी बल है। हम जैसी भावना अपने अथवा दूसरों के विषय में करते हैं, वैसे ही हम अथवा दूसरे लोग बन जाते हैं।

मनुष्य की कल्पना का प्रभाव उसके स्वास्थ्य पर बड़ी सरलता से देखा जाता है। लेखक के एक मित्र से उसके एक साथी ने हृदय के एक रोगी का वृत्तांत बड़ी सजीव कल्पना के साथ चित्रण करके कहा। उस रोग से इस व्यक्ति की मृत्यु कैसे हुई, ये सब बातें पूरे विवरण के साथ कही गईं। वृत्तांत को सुनते ही यह मित्र तुरन्त ही बिस्तर पर लेट गया। उसे ज्ञात होने लगा कि मानो उसके हृदय की धड़कन बढ़ गई है और उसकी गति अब रुकना चाहती है, तब रुकना चाहती है। उसने मान लिया कि उसे हृदय का रोग हो गया है। फिर उस दिन से वह अपने रोग की चिकित्सा कराने लगा। इस रोग के डर के मारे उसके रक्त का चाप बढ़ गया। रक्त की बनावट में भी परिवर्तन हो गया। उसकी भूख कम हो गई। वह अपने भोजन में अनेक प्रकार के परहेज करने लगा। जिस किसी से अपनी प्राण-रक्षा के जो कुछ उपाय वह सुनता उनका अभ्यास करने लगता। परन्तु उसे हृदय के रोग का

भय कभी भी न छोड़ता। वह जैसे-जैसे अपने रोग की दवा कराता गया रोग बढ़ता ही गया। वह बम्बई गया और हृदय के रोगों के विशेषज्ञों से उसने दवा करवाई। किन्तु लाभ कुछ न हुआ। कुछ दिन लाभ होता तो फिर कभी अचानक रोग बढ़ जाता। जब भी कोई व्यक्ति उसके स्वास्थ्य की खबर पूछता तो उसे अपना हृदय का रोग याद आ जाता और वह फिर पहले जैसा ही रोगी हो जाता। वह अपने मित्रों से अपने रोग की अनेक प्रकार से चर्चा करता। जैसे-जैसे मित्र उससे सहानुभूति दिखाते गये और डाक्टर लोग दवा करते गये, रोग बढ़ता गया। ऐसा होना स्वाभाविक ही था। वह एक ओर रोग की दवा कराता था परन्तु दूसरी ओर वह रोग के विषय में बार-बार चिंतन करके उसकी भयंकरता को बढ़ाता जाता था। अपने रोग के विषय में उसकी कल्पना ही उसे रोगी बनाये रखती थी। उसके रोग में कमी तब आई जब उसने अपने रोग का भौतिक उपचार न करके मानसिक उपचार करना प्रारम्भ किया और जब उसे विश्वास हो गया कि उसका वास्तविक रोग शारीरिक नहीं अपितु मानसिक है तब वह प्रतिदिन मैत्री भाव, शुभ आत्म-निर्देश, प्रार्थना, यज्ञ आदि करके अपने रोग को कम करने में समर्थ हुआ है।

लेखक के एक दूसरे मित्र का पेट का रोग भी इसी प्रकार प्रारम्भ हुआ। उसका एक सम्बन्धी, जिसकी वह सेवा करता था, इस रोग से मर गया। जिस समय वह मरा उसका लड़का बारह वर्ष का था। उसमें यह सामर्थ्य नहीं था कि वह अपनी घर-गृहस्थी को सम्हाल सके। इस सम्बन्धी ने बहुत-सा कर्ज दूसरे लोगों को दे रखा था। वह जमींदार था, अतएव किसानों को बीज बिना लिखा-पढ़ी के दिया करता था। यह सब कर्ज डूब गया। कर्ज लेनेवालों ने कर्ज को अस्वीकार कर दिया। इसे देख उक्त मित्र के मन में विचार आया कि उसके लड़कों की भी वही दशा हो जावेगी जो उसके सम्बन्धी की हुयी। इसके कारण उसे भारी चिन्ता रहने लगी। पहले बीज देते समय किसानों से वह कुछ लिखा-पढ़ी नहीं करवाता था। परन्तु अब वह लिखा-पढ़ी करवाने लगा। फिर क्या था उसे अपने सम्बन्धी का रोग भी हो गया। जैसे-जैसे वह रोग से भयभीत होता गया और उतावला होकर उसकी दवा करता गया उसका रोग बढ़ता ही गया। उसका रोग सदा बना रहता था। पीछे लेखक की चर्चाएँ सुनकर उसके मन में विचार आया कि कहीं उसका रोग मानसिक ही न हो। उसने मनोवैज्ञानिक उपचार कराना आरम्भ किया। उसने लेखक और उसके एक छात्र की सहायता ली। उसके उन मनोभावों का जिन्हें वह किसी से नहीं

कहता था जाना गया। उसने अपराधों की स्वीकृति की। फिर उसके स्वार्थीपन को कम किया गया। उसने किसानों से लिखा-पढ़ी कराना बन्द किया और बहुत-सा धन गरीबों को दान दिया। इससे उसके भय के भावों में परिवर्तन हुआ। उससे लोक के प्रति अनेक प्रकार से मैत्री भावना का अभ्यास कराया गया, जिसके परिणामस्वरूप उसके भय के भावों में परिवर्तन हो गया। फिर उसके मन में अपने प्रति अभद्र कल्पनाओं का आना बन्द हो गया और जब उसके मन में शुभ कल्पनाएँ स्थिर हो गईं तो वह पूर्ण स्वस्थ हो गया।

किसी रोगी को देखते-देखते कमजोर मन के लोगों को उस रोगी के रोग से भय हो जाता है। वे सोचने लगते हैं कि कहीं उन्हें भी वही रोग न हो जाय। इस प्रकार की कल्पना से वे उस रोग का अपने शरीर में आना सरल कर देते हैं। कितने ही लोग कल्पना की प्रबलता के कारण किसी भी प्रकार के रोग की पीड़ा का अनुभव करने लगते हैं। वे किसी कारणवश अपनी भावनाओं को दूसरों से प्रगट नहीं करते, इससे उनकी भावनाओं का विरोध भी नहीं होता और न उनका रेचन ही होता है; अतएव उनका रोग बना रहता है। जब वे अपने मनोभाव को किसी व्यक्ति से प्रकट कर देते हैं और वह व्यक्ति उनके भय का समाधान करके उनकी कल्पना का परिवर्तन कर देता है, तो वे रोग से मुक्त हो जाते हैं।

इस प्रसंग में डाक्टर होमरलेन का मानसिक चिकित्सा का एक प्रयोग उल्लेखनीय है। एक महिला को पेट की पीड़ा बहुत थी। यह गैस्ट्राइटीज रोग की पीड़ा जैसी थी। इस पीड़ा की उसने बहुत चिकित्सा कराई पर वह ठीक न हुई। तब वह मनोविश्लेषक के पास गई। उसकी पीड़ा की जड़ की खोज करने से पता चला कि उसकी पीड़ा की जड़ उसके मन में है। उसका पति पेट के रोग का विशेषज्ञ था। वह प्रतिदिन उस रोग से पीड़ित रोगियों को देखती थी, इससे उसके मन में उस रोग की कल्पनाएँ उठती थीं। परन्तु उसे विश्वास था कि पति के कारण उसे वह रोग कभी न होगा। परन्तु एक बार उसने एक महिला की मृत्यु अपने पति का उपचार होते हुए भी देखा। तब से उसे भय हो गया कि यदि उसे कभी वह रोग हो गया तो उसका पति उसे न बचा सकेगा। वह इस विचार से सदा भयभीत रहने लगी। कुछ काल के बाद उसकी प्रबल कल्पना ने उसमें गैस्ट्राइटीज हो जाने का विश्वास भी पैदा कर दिया और वह बिना इस रोग के हुए ही उसकी पीड़ा से पीड़ित रहने लगी। वह अपने रोग को सदा इसलिये छिपाती रही कि कहीं इससे उसके पति की

ख्याति पर धक्का न लग जाय। जब उसने अपने सारे विचारों को डाक्टर होमरलेन से कह सुनाया और डाक्टर होमरलेन ने उसके भय के भावों में परिवर्तन कर दिया तो उसका रोग शान्त हो गया।

मनुष्य की कल्पनाएँ उसके लिए लाभकारी अथवा हानिकारक हो सकती हैं। ये भली अथवा बुरी हो सकती हैं। भली कल्पनाएँ भले संसार का निर्माण करती हैं और बुरी कल्पनाएँ बुरे संसार का। अतएव कल्पनाओं में परिवर्तन करना, उनका सुधार करना अपने भाग्य का नवनिर्माण करना है। दुर्बल मन के लोगों को प्रायः अशुभ कल्पनाएँ अधिक आती हैं। यदि वे अपनी इन कल्पनाओं का सुधार कर लें तो वे अपने जीवन को भी सफल बना लें। यदि वे जीवन में बार-बार असफलता प्राप्त कर रहे हों तो वे सफलता प्राप्त करने लगें। वे यदि रोगी हैं तो आरोग्य प्राप्त कर लें। परन्तु दुर्बल मन के लोग भली कल्पनाओं को देर तक मन में नहीं रख सकते और न वे अपनी अभद्र कल्पनाओं को ही मन के बाहर ढकेलने में समर्थ होते हैं। वे जैसे-जैसे अपनी अभद्र कल्पनाओं को मन के बाहर निकालने की चेष्टा करते हैं वे और भी तीव्रता के साथ आ जाती हैं। इस प्रकार इच्छा और कल्पना का युद्ध प्रारम्भ हो जाता है। इसमें इच्छा की ही हार होती है। इस प्रकार की मानसिक स्थिति में परिवर्तन के लिये बड़ी खोज और कुशलता से काम लेना पड़ता है। केवल हठ करना हानिकारक है।

जब कभी कोई अभद्र कल्पना बार-बार मन में आवे तो उसे सीधे निकालने की चेष्टा न करके उसके कारण को जानने की चेष्टा करनी चाहिए। किसी भी कल्पना का बल उस मनोभाव अथवा संवेग में रहता है जो कल्पना के पीछे वर्तमान है। कल्पना की शक्ति का स्रोत मनोभाव होता है। जब तक इस भाव में परिवर्तन नहीं होता मनुष्य की कल्पना में भी परिवर्तन नहीं होता। घृणा ईर्ष्या, लोभ, काम, अभिमान के भाव मनुष्य के मन में भय की उत्पत्ति करते हैं। मनुष्य की बहुत-सी अभद्र कल्पनाओं के प्रेरक घृणा, ईर्ष्या, लोभ और अभिमान होते हैं अथवा इनसे उत्पन्न भय का भाव होता है। मनुष्य के ये मनोभाव उसकी चेतना की सतह के नीचे काम करते हैं। उसकी नैतिक बुद्धि और उसका अभिमान उसे इन भावों की उपस्थिति को स्वीकार भी नहीं करने देती, अतएव इनमें परिवर्तन होना भी कठिन होता है। जिस बात को हम जानते ही नहीं उसमें परिवर्तन करना कैसे संभव है? अतएव अभद्र कल्पनाओं से मुक्त होने के लिए पहले कल्पनाओं के नीचे कार्य करनेवाले मनोभाव को

जानना आवश्यक है। इन भावों के जानने मात्र से उनकी शक्ति का बहुत कुछ ह्रास हो जाता है। फिर प्रतिभावना के अभ्यास द्वारा इन दूषित भावों में परिवर्तन करने की चेष्टा की जाती है। इस प्रकार ईर्ष्या के भाव को उदारता से, अभिमान के भाव को नम्रता से, घृणा के भाव को प्रेम से, क्रोध के भाव को शान्त भाव के अभ्यास से और काम-भाव को अनित्यता के भाव के अभ्यास द्वारा परिवर्तित किया जा सकता है। सभी प्रकार के भयों का परिहार मैत्री भावना के अभ्यास से होता है। अमैत्री भावना भय और निराशा के भावों की जनक है और मैत्री भावना निर्भीकता और उत्साह की। जो व्यक्ति मैत्री भावना का जितना ही अभ्यास करता है वह अपनी कल्पनाओं को उतना ही सुन्दर और लाभकारी बनाने में समर्थ होता है। बिना मनोभावों के परिवर्तन के मनुष्य की कल्पनाएँ नहीं सुधरतीं। मनुष्य अपने मनोभावों को बिगाड़कर अपने जीवन को सुखी और आनन्दमय न बनाकर नर्क का जीवन बना लेता है।

मनुष्य का मन अभ्यास का दास है। कहावत है कि जो व्यक्ति दूसरों के लिये खाई खोदता है वह कभी उसी में अपने आप ही गिर जाता है। अभ्यास ही हमें सुखद अथवा दुःखद सिद्ध होता है। दूसरे के विषय में सोचते समय उसके पतन की जो कल्पना हम मन में लाते हैं वह भावना हमारे मन को भी पकड़ लेती है। फिर हम अपनी इच्छा के प्रतिकूल भी अपने पतन की कल्पना अपने आप करने लगते हैं। जैसे-जैसे हमारा भय का भाव बढ़ता जाता है हमारी अभद्र कल्पनाओं की प्रबलता भी बढ़ती जाती है भय से मनुष्य का मन दुर्बल होता है। मन जितना दुर्बल होता है, अभद्र कल्पनाएँ उतनी ही प्रबल होती हैं। यदि हम अपनी इस प्रकार की कल्पनाओं में सुधार करना चाहते हैं तो हमें चाहिए कि हम दूसरों के लिये वही सोचें जो हम अपने लिये चाहते हैं। इतना ही नहीं, हम अपने लिये तो सोचना बंद कर दें, केवल दूसरों के कल्याण के लिये ही हम चिंतन करें। जो व्यक्ति दूसरों के दुःखों के हरण करने में पूरे मन से लगा रहता है, उसके अपने दुःख अपने आप ही नष्ट हो जाते हैं। इन्हें नष्ट करने के लिये उसे अलग प्रयत्न नहीं करना पड़ता। उसके भले मनोभाव उसके मन में उमंग और उत्साह उत्पन्न करते हैं। उसके मन में आशावादी कल्पनाएँ आने लगती हैं और फिर वह अपनी भली कल्पनाओं के अनुसार जीवन में सफलता प्राप्त करने लगता है।

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि हमें अपने भविष्य के विषय में कल्पना को भली बनाने की आवश्यकता नहीं, इस प्रकार का मन्त्र व्यर्थ सिद्ध होता है।

हमें केवल दूसरों के विषय में भली कल्पना मन में लाने की चेष्टा करनी चाहिये। फिर अपने विषय में सुन्दर कल्पनाएँ अपने आप ही मन में आ जाती हैं। हमारे उदार मनोभाव इस प्रकार स्वयं ही पुरस्कृत हो जाते हैं। इस प्रकार मनुष्य उदार बनकर अपना कुछ खोता नहीं, वरन् अपनी परिस्थितियों को अनायास अपने अनुकूल बना लेता है। जो मनुष्य अपने हित के विषय में जितना ही कम सोचता है और दूसरों के सुख को बढ़ाने में जितना ही अधिक लगा रहता है वह जीवन में उतना ही अधिक सफल होता है।*



* भगवान् कृष्ण गीता में कहते हैं—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

अर्थात् जो मनुष्य जितना ही परमात्मा के काम में लगा रहता है वह अपनी उन्नति उतनी ही सरलता से कर लेता है। भगवान के अनन्य भक्त को अपनी उन्नति के लिए सोचना नहीं पड़ता। सबके हित में लगा रहना ही भगवान की सच्ची भक्ति है। यह उनकी सगुण उपासना है। एक ही परमात्मा अनेक रूप धरके प्रगट होता है। नानारूपधारी एक तत्व का चिन्तन, उसीमें रमण करने वाले व्यक्ति कभी दुःखी नहीं होते। अपने विषय में शुभ-चिन्तन कालान्तर पर कुचिन्तन हो जाता है और दूसरों के विषय में शुभ-चिन्तन अपने लिए शुभ-चिन्तन बन जाता है। फिर चिन्तन के अनुसार फल भी होता है।

सातवाँ अध्याय

मनुष्य के विश्वास का उसके स्वास्थ्य पर प्रभाव

आधुनिक काल के सबसे बड़े मनोवैज्ञानिक प्रोफेसर चार्ल्स युङ्ग महाशय का कथन है कि मैंने अपनी सत्तर वर्ष की आयु में पूर्व और पश्चिमी गोलार्द्ध के अनेक रोगियों की मानसिक चिकित्सा की, इन सबमें मैंने एक को भी ऐसा नहीं पाया जिसके दार्शनिक विचार उचित रहे हों और एक भी अपने मानसिक रोगों से तब तक पूर्णत: मुक्त नहीं हुआ जबतक उसने उचित दार्शनिक दृष्टिकोण नहीं प्राप्त कर लिया। प्रबल बुद्धि के लोगों के लिये जो काम दर्शन करता है वही कार्य प्रबल भावों के लोगों के लिये धर्म और श्रद्धा करते हैं। जर्मनी के महान् दार्शनिक शोपनहावर महाशय ने 'मनुष्य के लिये दर्शन की आवश्यकता' (मेन्स नीड फार मेटाफिजिक्स) नामक अपने लेख में कहा है कि धर्म ही सामान्य जनता का दर्शन है। दर्शन मनुष्य के मन को नित्य तत्व की ओर ले जाता है। मृत्यु का विचार दर्शन का प्रारम्भ है। धर्म का उदय भी नित्य तत्व के विषय में चिन्तन करने और उसमें श्रद्धा बढ़ाने का परिणाम है। धर्म में साधना अर्थात् भाव और कर्म की प्रधानता होती है और दर्शन में ज्ञान की। विचार की कमी के कारण धर्म कभी कोरा अन्धविश्वास हो जाता है और अन्ध-विश्वास द्वारा किये गये कार्यों से मनुष्य को दुःख होता है। परन्तु कोरे दार्शनिक विचार भी निकम्मे होते हैं। जब तक विचारों का भावों से सहयोग नहीं होता, वे मनुष्य के आचरण में परिवर्तन नहीं करते और उसके मन में अन्तर्द्वन्द्व का कारण मात्र बन जाते हैं।

विश्वास मनुष्य की निश्चयात्मक मनोवृत्ति का नाम है। निश्चय की दृढ़ता भावों के सहयोग से होती है। जब तक मनुष्य किसी विषय पर चिन्तन करता है तब तक उसके मन में स्थिरता नहीं रहती। जब वह एक निश्चय पर आ जाता है तो उसका मन शान्त हो जाता है। चिन्तन की अवस्था में मनुष्य की मानसिक शक्ति का व्यय होता रहता है। यह शक्ति स्वास्थ्य रचना के काम में नहीं आती। जब मनुष्य का मन स्थिर हो जाता है तो उसकी शक्ति उसके शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य की वृद्धि में लगने लगती है। विश्वास मन की चंचलता को रोकता है और मनुष्य को आरोग्यवान बनाता है। जिस मनुष्य का विश्वास है कि संसार की सभी घटनाएँ सार्थक हैं और सभी घटनाएँ भलाई की ओर मनुष्य को ले जाती हैं वह सदा प्रसन्न रहता है।

अमेरिका के प्रसिद्ध विद्वान् डेल कारनेगी महाशय 'यू आर लाइफ' नामक पत्रिका में 'माई प्रेयर क्योर फार वरी' (मेरी चिंता से मुक्ति करनेवाली दवाई) शीर्षक लेख में लिखते हैं—हेनरी फोर्ड के पास जाकर जब मैंने उनसे पूछा कि आप अठहत्तर वर्ष तक इतना बड़ा काम करते हुए स्वस्थ कैसे रह सके तो हेनरी फोर्ड महाशय ने कहा, 'मैं अपने काम का प्रबन्धकर्त्ता ईश्वर को मानता हूँ। जब ईश्वर ही मेरे कार्यों का प्रबन्ध करता है तो मुझे चिन्ता किस बात की। निश्चिन्त होने के कारण ही मैं आज तक स्वस्थ हूँ।'

आधुनिक काल में विद्वानों में ईश्वर में विश्वास के प्रति विरोध का अथवा उदासीनता का भाव है। यह वैज्ञानिक बुद्धि का परिणाम है। वैज्ञानिक विचार मनुष्य को वास्तविकतावादी बनाता है। यह इन्द्रियजन्य अनुभव पर आधारित है। अज्ञात के प्रति विज्ञान कोई निश्चय नहीं रखता। परन्तु जब तक मनुष्य अपने सुदूर भविष्य और इन्द्रियगोचर अनुभव के परे तत्व के प्रति अपना निश्चयात्मक मत नहीं बना लेता तब तक उसे भीतरी शान्ति नहीं मिलती। यदि मनुष्य का विश्वास है कि उसका भविष्य भला है तो वह स्वस्थ और सुखी रहेगा और यदि वह अपने भविष्य के विषय में निराशा-वादी है तो वह न तो सुखी रह सकता है और न स्वस्थ। इसी प्रकार यदि मनुष्य का संसार के संचालन करनेवाले तत्व के प्रति आशावादी विचार है तो वह सुखी और शान्त रहेगा अन्यथा वह उद्विग्नमन, दुःखी और अस्वस्थ रहेगा। रोगी व्यक्ति का विश्वास न अपने आप में होता है और न दूसरों में। उसका अपने भाग्य के विषय में भी निराशावादी विचार होता है। वह दूर तक अन्याय फैला देखता है। जब तक मनुष्य के निराशावादी विचार नहीं बदलते वह स्वास्थ्य लाभ नहीं करता। मन की दुर्बल अवस्था में मनुष्य के विचार निराशावादी होते हैं और बलवान अवस्था में आशावादी।

मनुष्य अपना बहुत कुछ स्वास्थ्य चिन्ता के कारण नष्ट करता है। चिन्ता-ग्रस्त मनुष्य अनेक प्रकार के रोगों का आवाहन करता रहता है। उसका मन जब चिन्ताओं के कारण कमजोर हो जाता है तो कोई भी रोग उसे पकड़ लेता है और उसे छोड़ने का प्रयत्न करने पर भी वह नहीं छूटता। चिन्ता मनुष्य की मानसिक शक्ति को खा जाती है। यदि मनुष्य की मानसिक शक्ति संचित रहे तो उसे कोई मानसिक और शारीरिक रोग न होवे। मानसिक शक्ति को संचित रखने के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य चिंता करना छोड़े। पर चिन्ता दो ही प्रकार से छूट सकती है—एक इच्छारहित होने से और दूसरे सभी बातों के

परिणाम को ईश्वर की इच्छा पर छोड़ देने से। यह मनुष्य तभी कर सकता है जब उसे विश्वास हो कि संसार एक भले नियम के द्वारा संचालित होता है। भगवान बुद्ध ने इच्छा को त्यागने का पहला मार्ग बताया और संसार के दूसरे धर्मों ने ईश्वर की इच्छा पर फल को छोड़ने का मार्ग बताया है।

उक्त दो मार्ग परस्पर विरोधी दिखाई देते हैं, परन्तु दोनों में एकता भी है। दोनों में तात्कालिक फल के सम्बन्ध में चिन्ता न करने पर जोर दिया गया है। तात्कालिक फल पर अधिक चिन्तन करना अपने आपको चिन्ताग्रस्त बनाना है। इससे ही मनुष्य को अनेक प्रकार के दुःख होते हैं। मनोविज्ञान की दृष्टि से तात्कालिक सुख की इच्छाओं को त्यागकर दूर के सुख के लिये प्रयत्न करना अपने मानसिक साम्य को स्थिर रखने का उपाय है। इस प्रकार का प्रयत्न मनुष्य के मानसिक विकास को प्रदर्शित करता है। जब मनुष्य अपनी इच्छाओं का त्याग नहीं कर सकता तो उनका उदात्तीकरण करना ही अच्छा है। किसी भी भले काम को करके फल के विषय में चिन्तित न होना अथवा संसार की भलाई के लिये भले काम करते रहना वासनाओं का उदात्तीकरण है। इससे मनुष्य को मानसिक शान्ति प्राप्त होती है।

मनुष्य अपने जीवन में अनेक प्रकार के भले अथवा बुरे काम करता है। भले काम करने से मनुष्य का अभिमान बढ़ता है और बुरे कामों से उसे आत्म-भर्त्सना होती है। इस प्रकार दोनों प्रकार के कार्य मनुष्य के मन को बन्धन में डालते हैं। इससे अनेक प्रकार की मानसिक ग्रंथियाँ उत्पन्न होती हैं। यही मानसिक ग्रन्थियाँ मनुष्य के मन में अन्तर्द्वन्द्व और मानसिक रोगों को उत्पन्न कर देती हैं। जब कोई मनुष्य अपने कामों के लिये किसी महान् शक्ति को जिम्मेदार बना देता है, जब वह अपने आपको महान् सत्ता के प्रति आत्म-समर्पण कर देता है तब वह अपने बुरे और भले सभी प्रकार के अभिमान से मुक्त हो जाता है और इसके कारण उनके परिणामों से भी वह मुक्त हो जाता है। जिस कार्य का मनुष्य को अभिमान रहता है उसके ही परिणाम उसे भोगने पड़ते हैं। जब मनुष्य निरभिमान हो जाता है अर्थात् जब वह अपने अभिमान को एक व्यापक तथा अन्तर्यामी सत्ता के प्रति समर्पित कर देता है तब वह शान्त मन हो जाता है। वह काम के परिणाम से भी मुक्त हो जाता है।

इस प्रकार का विचार अनेक मानसिक ग्रन्थियों को क्षण भर में नष्ट कर देता है। जिस प्रकार थोड़ी-सी प्रज्वलित अग्नि लकड़ियों के बहुत बड़े ढेर को थोड़ी

ही देर में भस्म कर देती है, इसी प्रकार सच्चे ज्ञान की चिनगारी जीवन भर की मानसिक ग्रन्थियों को थोड़े ही समय में भस्म कर देती है। यह सच्चा ज्ञान सभी मनुष्यों को सम्भव है; सभी की अन्तरात्मा में व्यापक तत्व उपस्थित है। इसकी उपस्थिति के कारण ही मनुष्य अनेक प्रकार की क्रियाएँ करता है। यही अनेक रूपों में प्रकट होता है और मनुष्य के रूप में मूर्ख बना हुआ अनेक प्रकार के दुःख उठाता है।* जब वह अपने स्वरूप को जान लेता है तो व्यक्तिगत जीवन की त्रुटियों से मुक्त हो जाता है।

जिस मनुष्य के निश्चय दृढ़ होते हैं, उसका जीवन-पथ साफ होता है। ऐसे मनुष्य का मन शान्त होता है। मनुष्य के किसी कार्य को करने की शक्ति उसके शान्त भाव पर निर्भर करती है। निश्चय की दृढ़ता मनुष्य की कार्यक्षमता को बढ़ाती है। जिस मनुष्य का मन रचनात्मक कार्य में भली प्रकार से लगा है, वह अपने स्वास्थ्य को नहीं खोता। जिस प्रकार स्वस्थ मन भले कामों का जनक है, इसी प्रकार भले काम मानसिक स्वास्थ्य को बढ़ाते हैं। ऐसे कामों से शारीरिक स्वास्थ्य भी स्थिर रहता है।

मनुष्य के समान बलवान और उसके समान निर्बल प्राणी कोई नहीं है। जो मनुष्य अपना आत्मविश्वास खोए हुए है वह निर्बल होता है। जब मनुष्य अपने आपको निर्बल मान लेता है तो उसे कोई भी रोग लग जाता है। कितने ही निर्बल मन के लोग अपने आपमें अनेक प्रकार के रोगों की कल्पना किया करते हैं। कल्पित रोगों से पीड़ित लोगों के मन की जब परख की जाती है तो हम उनमें किसी दृढ़ विश्वास को नहीं पाते। उनके जीवन में किसी ऐसी बात के प्रति लगन नहीं रहती जिसके लिए वे अपना सर्वस्व त्याग करने के लिये तैयार हों। उनके जीवन के कोई भी निश्चित सिद्धान्त नहीं होते। वे केवल जीने मात्र के लिये जीवित रहते हैं।

मनुष्य को प्रकृति ने किसी महान् लक्ष्य की प्राप्ति के लिये बनाया है। जो मनुष्य अपने आपको इस लक्ष्य की प्राप्ति में समर्पित नहीं कर देता, उसे प्रकृति जीने भी नहीं देना चाहती। खाना-पानी और रति-क्रियाएँ तो पशुयोनि में भी जीव कर सकता है; केवल मनुष्य-योनि में ही वह ज्ञान प्राप्त कर सकता है और जब वह उस ज्ञान के अनुसार किसी महान् लक्ष्य की प्राप्ति में अपने आपको नहीं लगाता तब उसका जीना ही व्यर्थ है। ऐसे मनुष्य के जीवन को

---

* Man is God playing the fool—Emerson : *Essays*

प्रकृति मरण तुल्य कर देती है। उसे अनेक प्रकार के कल्पित अथवा वास्तविक रोग हो जाते हैं। पशुओं के जीवन की सफलता सुख की प्राप्ति में है, मनुष्य के जीवन की सफलता आत्मज्ञान और आत्मसंतोष अथवा शान्ति की प्राप्ति में है। इस आत्मसंतोष के लिये मनुष्य को बड़े-बड़े त्याग करने और कष्ट उठाने पड़ते हैं। दृढ़ निश्चय से ये सब सरल हो जाते हैं।

आठवाँ अध्याय

मानव-जीवन में भावों का महत्व

मनुष्य का सबसे अन्तरंग स्वत्व भावमय है। उपनिषद में कहा है—रसो वै सः, अर्थात् मनुष्य की आत्मा भावमय है। मनुष्य भीतर से वैसा ही है जैसे उसके भाव हैं। मनुष्य के भाव उसके विचार, कल्पना और आचरण का रूप धारण करके प्रकाशित होते हैं। मनुष्य के भाव उसकी जानकारी में अथवा उसके अनजाने ही प्रकाशित होते रहते हैं। अपनी बाल्यावस्था में मनुष्य के भाव सहज रूप से उसके विचारों एवं आचरण द्वारा प्रकाशित होते हैं। जैसे-जैसे मनुष्य की आयु बढ़ती जाती है वह अपने भावों पर नियंत्रण करना भी सीखता है। फिर वह अपने सम्मान को बढ़ानेवाले भावों को दूसरों के समक्ष प्रकाशित करता है, परन्तु दूसरों की दृष्टि में गिरा देनेवाले अथवा किसी प्रकार जीवन में हानि पहुँचानेवाले भावों को मनुष्य सावधान होकर प्रकाशित करता है। वह कभी-कभी इस प्रकार के भावों को छिपाने अथवा उनका दमन करने का भी प्रयत्न करता है।

इस प्रकार मनुष्य में दो प्रकार के स्वत्व का निर्माण हो जाता है—एक भावों का और दूसरा विचारों का। इन दोनों स्वत्वों में कभी-कभी मेल रहता है और कभी-कभी उनमें संघर्ष भी पैदा हो जाता है। मेल की अवस्था में मनुष्य शक्तिवान और कार्यकुशल होता है। वह जो कुछ सोचता है, उसे करने में वह समर्थ होता है। उसका जीवन रस और उत्साह से भरा रहता है। जब मन के इन दो स्वत्वों में झगड़ा रहता है तो मनुष्य का जीवन उस घर के समान हो जाता है जिसमें स्त्री और पुरुष का सदा झगड़ा लगा रहता है—जो कुछ बात पुरुष कहे अथवा करना चाहे उसका स्त्री विरोध कर देती है और जो बात स्त्री कहे अथवा करना चाहे उसे पुरुष नहीं करना चाहता। इस प्रकार दोनों ही एक दूसरे से असंतुष्ट होकर निकम्मे बने बैठे रहते हैं। यदि पुरुष किसी काम में हाथ डालता है तो स्त्री की लापरवाही के कारण वह उसमें सफलता न पाकर विफलता ही पाता है। उसे फिर सदा चिन्ता लगी रहती है कि वह कहीं विफल न हो जाय। इस कारण वह किसी नये काम में हाथ डालने की हिम्मत ही नहीं करता। स्त्री भी पुरुष की क्रूरता को ध्यान में रखती हुई अपने मनसूबों को पुरुष की आँख बचाकर ही पूरा करने की चेष्टा करती है। परन्तु जब पुरुष को उसकी हरकतों का ज्ञान हो जाता है तो वह कठोरता से

उसका दमन करता है। फिर स्त्री सर्वथा निरुत्साह होकर पुरुष के मरने के दिन की राह देखने लगती है। इस प्रकार जिस व्यक्ति के विचार और भावों में समन्वय नहीं रहता उसका जीवन दुखी और निराशायुक्त होता है।

मानव-जीवन मनुष्य के विचार, कल्पना और उसकी क्रियाओं का बना है। इन तीनों का भाव अथवा मनुष्य के संवेगों से बड़ा ही घनिष्ट सम्बन्ध है। यदि हम इस सम्बन्ध को भली प्रकार समझ जायँ तो अपने जीवन को सफल बनाने में बहुत कुछ समर्थ हो जावें। इस सम्बन्ध को जान लेना इसलिए भी आवश्यक है कि मनुष्य का जितना अधिकार अपने विचार, कल्पना और क्रियाओं पर होता है उतना अधिकार अपने भावों पर नहीं होता। उक्त तत्व मनुष्य की चेतना पर प्रगट होते हैं, अतएव मनुष्य की चेतना विवेक द्वारा इनका नियंत्रण भी कर सकती है, परन्तु मनुष्य के अनेक भाव स्वयं उसे ही ज्ञात नहीं रहते। वह उन्हें पहले पहल तभी जानता है जब वे उसकी क्रियाओं अथवा अनियंत्रित कल्पनाओं में अनायास उसके अनजाने ही प्रगट हो जाते हैं। किसी दूसरे मनुष्य के भावों को समझ जाना तो दूर की बात है अपने ही गुप्त भावों को जान लेना एक भारी पुरुषार्थ का कार्य है। हम अपने भावों को जाने बिना अपना सुधार भी नहीं कर सकते और बिना इस प्रकार का सुधार हुए मनुष्य का जीवन सुख और शान्तिमय नहीं होता। जबतक मनुष्य के भावों में परिवर्तन नहीं होता उसके विचारों, कल्पनाओं और क्रियाओं में भी परिवर्तन नहीं होता। बहुत से लोग अपने विचार, कल्पनाएँ और क्रियाएँ अथवा अपना आचरण और चरित्र सुन्दर बनाना चाहते हैं, परन्तु सब प्रकार के प्रयत्न करने पर भी वे इस काम में समर्थ नहीं हो पाते। उनका मन एकाग्र नहीं होता, उनके संकल्प बदलते ही रहते हैं और उनके प्रयत्न से वे और भी अधिक निराशावादी बन जाते हैं।

जब इसका मूल कारण खोजा जाता है तब उसे अवांछनीय भावों की उपस्थिति में ही पाया जाता है। ये अवांछनीय भाव ही विद्यार्थियों को अपनी पुस्तकों के पढ़ने और अध्यापकों के प्रवचन सुनने में रुकावटें डालते हैं, सुनी-सुनाई बातों को विस्मरण करा देते हैं, परीक्षा के समय भूलें कराते हैं; ये ही अवांछनीय भाव रोगी को दुःख की कल्पनाओं में विचरण कराते, उसके मन में भयावने चित्र ले आते और अपने मित्रों को भी शत्रु रूप में दिखाते हैं। ये अवांछनीय भाव ही भूत-प्रेतों की सृष्टि करते हैं और इनसे डरा-डरा कर मनुष्य की इच्छा-शक्ति को निर्बल कर देते हैं। अवांछनीय भाव ही अनेक प्रकार की इल्लतों और बुरी आदतों का कारण बनते हैं। मनुष्य कितने ही ऐसे काम कर

डालता है जिनके लिए उसे आत्मभर्त्सना होती है, परन्तु उसका विवेक उसे इन कामों के करने से रोकने में समर्थ नहीं होता। जब समय आता है तो वह फिर भी उन्हीं कामों को कर डालता है जिनके लिये वह अपने आपको बार-बार कोस चुका है।

बालकों की जटिल आदतों के पीछे किसी न किसी प्रकार का अवांछनीय भाव काम करता रहता है। यही भाव उसके कार्यों का प्रेरक होता है। आदत की क्रियाओं की शक्ति इसी भाव में रहती है। कितने ही बालकों में चुगली करने की आदत होती है, कितनों में गन्दी बातें दिवालों पर लिखने की आदत होती है, कितने ही बालक किसी दूसरे सुशील बालक को बिना कारण ही पीट देते हैं। जब कभी इस प्रकार की आदतों की जड़ की खोज की जाती है तो उसे किसी अवांछनीय मनोभाव में ही पाया जाता है। ऐसे बालक में अपने प्रति आत्महीनता का भाव रहता है, जो उसके प्रति बड़ों की उपेक्षा के कारण उत्पन्न होता है। यह भाव बालक के मन में दूसरे बालकों के प्रति ईर्ष्या का भाव उत्पन्न करता है। जब एक बालक को प्रेम नहीं मिलता और दूसरे को मिलता है तो वह बालक दूसरे का शत्रु हो जाता है। वह मन ही मन उससे घृणा करता है। जो लोग उसे अधिक प्यार दिखाते हैं उनसे भी वह घृणा करने लगता है। बालक के यही मनोभाव उसके अनेक प्रकार के अवांछनीय कार्यों में अनायास प्रकाशित होते हैं। यदि बालक के इन मनोभावों के प्रकाशन को दबाने की चेष्टा की जाय तो उसमें किसी प्रकार का सुधार न होकर उसका जीवन और भी जटिल हो जाता है। वह फिर रोग अथवा मृत्यु का आवाहन करने लगता है। जटिल आदत का वास्तविक सुधार दण्ड द्वारा नहीं होता, वरन् उस मनोभाव अथवा आवेग के परिवर्तन से होता है जो जटिल आदत की जड़ में है और जो उसे बल प्रदान करता है।

मनुष्य के विचार और भावों का घनिष्ठ सम्बन्ध है। विचार मनुष्य के जीवन का पथ दर्शाता है। उचित-अनुचित, उपयोगी-अनुपयोगी पदार्थों का निर्णय विचार करता है। विचार के द्वारा मनुष्य संसार से अपना परिचय बढ़ाता है और सभी प्रकार का ज्ञान प्राप्त करता है। आत्म-ज्ञान भी विचार के द्वारा ही आता है। विचार का जन्म भावों से होता है, परन्तु यह भावों से ऊँचा उठ जाता है। विचार मनुष्य के भावों का समय-समय पर नियंत्रण भी करता है। उसके द्वारा भावों में परिवर्तन किया जा सकता है। जब तक मनुष्य के विचार और उसके भावों में साम्य रहता है तब तक मनुष्य संसार में बहुत कुछ काम

करने में समर्थ होता है। मनुष्य के भाव जिस ओर जाते हैं उस ओर चिन्तन करने में उसे आनन्द आता है। ऐसे चिन्तन का विषय रोचक होता है। भाव और विचार के साम्य की अवस्था में चित्त की एकाग्रता भी रहती है। जब भाव और विचार में विरोध हो जाता है तब मनुष्य के जीवन में भारी संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। मनुष्य एक बात करने का निश्चय करता है और कुछ और ही कर डालता है।

अपने जीवन को सफल बनाने के लिये भावों का विवेक द्वारा नियंत्रण करना नितांत आवश्यक है। परन्तु यह नियंत्रण धीरे-धीरे होता है। भावों का एकाएक नियंत्रण करने से भावों का दमन मात्र होता है। फिर भाव और विचार में विरोध की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। भावों के दमन से मनुष्य के मन में अनेक प्रकार की मानसिक ग्रन्थियाँ बन जाती हैं। ऐसी अवस्था में मनुष्य का विचार तो बढ़ता जाता है, परन्तु उसके भाव बचपन की अवस्था में ही बने रह जाते हैं। कितने ही लोग बुद्धि से जगत-ख्याति पा लेते हैं, परन्तु अपने भावों में बच्चे जैसे ही बने रहते हैं। वे छोटी-छोटी बातों से क्रुद्ध हो जाते हैं, किसी सम्बन्धी के कुछ कह देने पर, अथवा घर में कुछ नुकसान हो जाने पर रात भर नहीं सो पाते। जब तक मनुष्य का समुचित भावात्मक विकास नहीं होता उसकी क्रियाएँ संतुलित नहीं होतीं और जब तक मनुष्य की क्रियाएँ संतुलित नहीं उसका जीवन शान्त नहीं रहता।

मनुष्य अपने अभद्र भावों को अनेक प्रकार से छिपाने की चेष्टा करता है। वह उन्हें भुलाना चाहता है। कई बार के प्रयत्न करने पर वह उन्हें भुला देने में समर्थ होता है। परन्तु ये भाव उसके अनजाने किसी न किसी प्रकार प्रगट हो जाते हैं। मनुष्य के दबे भाव उसके चेहरे की मुद्रा को विशेष प्रकार का बना देते हैं। यदि कोई मनुष्य किसी दूसरे व्यक्ति के लिए द्वेष का भाव मन में रखता है तो वह इस भाव को उससे छिपाने की कितनी ही चेष्टा क्यों न करे उसकी मुखमुद्रा से वह प्रकट हो ही जाता है। कभी-कभी वह भूल से कुछ कह देता है अथवा कुछ कर बैठता है जिससे उसके भीतर के भाव अनायास प्रकट हो जाते हैं। जिस दावत में हम उपस्थित नहीं होना चाहते उसकी तारीख अथवा समय ही भूल जाते हैं; अप्रिय लोगों का नाम विस्मृत हो जाता है। दबे हुये भाव मनुष्य की सांकेतिक चेष्टाओं द्वारा भी प्रकाशित होते हैं। एक महिला अपनी विवाह-मुद्रा को बारबार अंगुली से निकालती और पहनती थी। वह अपने पति की कुशलता के विषय में अत्यधिक चिंतित भी रहा करती थी और

बात बात में कहा करती थी कि वह उसे बहुत ही प्यार करती है, परन्तु वह पति की सुविधा के विशेष काम को करना भूल जाती थी। वह स्वप्न में अपने पति को रेल-दुर्घटना से ग्रस्त होने के दृश्य भी देखती थी। उसके भावी जीवन से व्यक्त हुआ कि वह उस पति के साथ रहना नहीं चाहती थी। उसने उससे अपना छुटकारा शीघ्र ही पा लिया।*

मनुष्य के दबे भाव ही उसके स्वप्न, मनोराज्य, कल्पित दृश्य तथा अनेक प्रकार के मानसिक और शारीरिक रोगों का कारण होते हैं। जिन भावों को मनुष्य अपनी जाग्रतावस्था में स्वीकार नहीं करता उसको उन्हें स्वप्न में स्वीकार करना पड़ता है। दबे भाव ही मानस-चित्र में प्रगट हो जाते हैं। ये जाग्रतावस्था की अनेक प्रकार की मानस-प्रतिमाएँ तथा स्वप्न-दृश्य उत्पन्न करते हैं। स्वप्न की मानस प्रतिमाएँ प्रतीक रूप से दबे भावों को व्यक्त करती हैं। जो व्यक्ति स्वप्न की भाषा को समझता है वह दबे भावों को भी इन स्वप्न के दृश्यों द्वारा सरलता से पहचान लेता है। यदि मनुष्य का मन भय से आकुल है तो वह भयावने स्वप्न देखता है। किसी भयानक जन्तु द्वारा ग्रस्त होना, खाई में गिर जाना, पानी में पड़ जाना, आग का भयावना दृश्य देखना, किसी शत्रु से पीछा किया जाना आदि मानसिक चित्र मन की भय की स्थिति को चित्रित करते हैं। जब मनुष्य का मन निराशा से भरा रहता है तो उसके स्वप्न भी निराशायुक्त होते हैं। जब उसके मन में आशा का संचार हो जाता है तो मनुष्य के स्वप्न बदल जाते हैं। फिर वह आशायुक्त मानस-चित्र देखने लगता है। जिस व्यक्ति का मन निर्मल है, जो सभी प्राणियों के प्रति मैत्री भाव का अभ्यास करता है वही सुन्दर स्वप्नों को देखता है।

जिस प्रकार मनुष्य के भाव उसके स्वप्नों के कारण होते हैं, उसी प्रकार उसके भाव उसके मनोराज्य और कल्पनाओं के कारण बनते हैं। जिस मनुष्य के आन्तरिक भाव जितने अधिक दबे रहते हैं वह मनोराज्य में उतना ही अधिक विचरण करता है। जिस बालक को अनेक प्रकार से त्रास दिया जाता है और जो अपने दुःख का बदला नहीं चुका पाता वह कल्पना में बदले को चुकाता है। जब बालक के जीवन में किसी बात की कमी होती है तो वह इस कमी की पूर्ति अपने मनोराज्य में कर लेता है। जिन लोगों की काम-वासना दब

---

* उक्त उदाहरण हेडफील्ड ने अपनी "साइकोलाजी एण्ड मारल्स" नामक पुस्तक में दिया है।

जाती है वे मनोराज्य में उसकी पूर्ति के लिए अनेक प्रकार के चित्र देखते हैं। वे अनायास ही ऐसी मानस-प्रतिमाओं की रचना कर लेते हैं जिनसे उनकी दबी काम-वासना की तृप्ति हो।

मनुष्य के भाव और उसकी कल्पनाओं में बड़ा ही घनिष्ट सम्बन्ध है। कल्पना भावों का बृहत् अथवा विकसित रूप है। जैसे मनुष्य के भाव होते हैं उसकी कल्पनाएँ भी वैसी ही होती हैं। इर्ष्या, क्रोध, घृणा, लज्जा एवं ग्लानि के भाव एक प्रकार की कल्पना मन में उठाते हैं और प्रेम, क्षमा, उदारता, साहस और आह्लाद दूसरे प्रकार की कल्पनाएँ मन में लाते हैं। एक ही व्यक्ति के विषय में हम भिन्न-भिन्न प्रकार की कल्पनाएँ मन में लाते हैं। जब हम किसी व्यक्ति को प्यार करते हैं तब उसके विषय में जितनी कल्पनाएँ हमारे मन में आती हैं वे सुन्दरता से भरी हुई होती हैं। जब हम उसी व्यक्ति को घृणा की दृष्टि से देखने लगते हैं तो उसकी वीभत्स काल्पनिक प्रतिमा हमारे मन में आ जाती है। फिर जो गुण हम उसमें देखते थे वे हमें दिखाई नहीं देते और जो दोष पहले अदृश्य थे वे दिखाई देने लगते हैं। कभी-कभी हम अपने ही मन के भाव उसके ऊपर आरोपित कर देते हैं। यदि हम उससे ईर्ष्या करने लगे हैं तो हम सोचने लगते हैं कि वह हमसे ईर्ष्या करता है; यदि हम उससे घृणा करते हैं तो हम सोचते हैं कि वह हमसे घृणा करता है। हम इसके प्रमाण भी पा लेते हैं।

भावों के परिवर्तन से मनुष्य का पूरा संसार ही बदल जाता है। जब निराशा के भावों की प्रबलता मनुष्य के मन में होती है, तब वह अपने सारे वातावरण को निराशायुक्त देखता है और जब उसके मन में आशा के भाव उमड़ आते हैं तो वह जहाँ तहाँ आशा के लक्षण देखता है। हम संसार की वस्तुओं को जैसी वे हैं वैसी नहीं देखते, वरन् जैसे हम हैं वैसी उन्हें देखते हैं। हमें संसार का कोई भी पदार्थ प्रिय अथवा अप्रिय अपने ही मनोभावों की बनावट के अनुसार लगता है। जो पदार्थ एक व्यक्ति को प्रिय लगता है वह दूसरे व्यक्ति को अप्रिय लगता है। भावों के बदलने से मनुष्य के दृष्टिकोण में परिवर्तन हो जाता है और दृष्टिकोण के परिवर्तन से संसार की वस्तुएँ नये प्रकार से ही दिखाई पड़ने लगती हैं।

मनुष्य के मन में अनेक प्रकार की कल्पनाएँ सदा उठा करती हैं। ये कल्पनाएँ उसके भावों के प्रकाशन का मार्ग हैं। जब मनुष्य का मन भला होता है तो उसके मन में भली कल्पनाएँ उठती हैं और जब उसका मन बुरा होता

है तो बुरी कल्पनाएँ उसके मन में आने लगती हैं। यह मन का भला और बुरा होना भावों का ही भला और बुरा होना है। पहले पहल मनुष्य के भले और बुरे भाव किसी दूसरे व्यक्ति के विषय में होते हैं पीछे ये भाव अपने आपके प्रति होने लगते हैं। जो मनुष्य किसी दूसरे व्यक्ति के विषय में घृणा के भाव मन में लाता है वह घृणा के संस्कार को अपने मन में दृढ़ कर लेता है। उस व्यक्ति के मन से हट जाने पर उसका घृणा का भाव उसकी स्थायी सम्पत्ति बन जाता है, अर्थात् ऐसा व्यक्ति अपने आपको ही घृणा करने लगता है। दूसरे व्यक्ति के विनाश की चिन्ता करने का अभ्यास मनुष्य में आत्म-विनाश की प्रवृत्ति उत्पन्न कर देता है। अमैत्री भावना मनुष्य के मन में शत्रु से डर की भावना लाती है। इस डर से जब मनुष्य का मन निर्बल हो जाता है तब उसकी इच्छा के प्रतिकूल ही अनेक प्रकार की अभद्र कल्पनाएँ उसके मन में उठा करती हैं। निर्बल मन का मनुष्य इन कल्पनाओं का आना नहीं रोक पाता। इसके प्रतिकूल जो मनुष्य सभी प्राणियों से प्रेम करता है, सभी का हर समय कल्याण चाहता है उसके मन में सदा आशावादी कल्पनाएँ उठा करती हैं।

कल्याणकारी कल्पनाएँ मनुष्य का उत्साह बढ़ाती और सदा उसे भले काम में लगाती रहती हैं। इस प्रकार भले भावों का उसे अभ्यास भी हो जाता है। ऐसा व्यक्ति न केवल दूसरों के लिये अनेक प्रकार के कल्याणकारी काम करने में समर्थ होता है, वरन् अपने लिये भी वह सदा कल्याणकारी विचार मनमें लाता है। दूसरे के लिये कल्याण का चिन्तन करना अपना ही कल्याण करने का सर्वोत्तम उपाय है। मनुष्य के भाव अपने लिये नहीं उठते, भावों के उठने के लिये दो की आवश्यकता होती है। परन्तु भाव का प्रभाव अपने ही मन में रहता है। अतएव किसी भले भाव को बनाने के लिये पहले किसी सहारे की खोज कर लेनी चाहिए। जब भला भाव बली हो जाता है तो वह एक व्यक्ति से दूसरे पर चला जाता है और अन्त में वह आत्मा को आनन्द की स्थिति में ले आता है। जो मनुष्य किसी एक व्यक्ति को प्यार कर सकता है, वह अनेक को भी प्यार कर सकता है और जो अपने नजदीक के एक व्यक्ति से घृणा करता है वह दूसरे को भी घृणा करेगा। एक व्यक्ति के प्रति अभ्यास किये गये भाव दूसरे व्यक्ति पर स्थानान्तरित हो जाते हैं।

मनुष्य के मनोभाव न केवल उसकी विशेष प्रकार की कल्पनाओं वरन् उसके मानसिक और शारीरिक रोगों के भी जनक होते हैं। किसी भी मानसिक रोग की जड़ किसी ऐसे मनोभाव में रहती है जिसकी उपस्थिति मनुष्य का चेतन

मन स्वीकार नहीं करना चाहता। एक युवक का अपने ही पिता के प्रति द्वेष का भाव था। उसकी नैतिक बुद्धि बहुत बढ़ी चढ़ी थी। अतएव वह इस बात की उपस्थिति को स्वीकार नहीं करना चाहता था। उसने इस भाव को भुलाने की चेष्टा की। वह अपने पिता के प्रति बड़ा ही सुशील बन गया। परन्तु अब उसे अकारण चिन्ता, अनिद्रा और सिर तथा आँख की पीड़ा का रोग हो गया। उसके जीवन की खोज करने से पता चला कि उसे विमाता थी और पिता अपनी दूसरी स्त्री के नियन्त्रण में सदा रहता था। यह विमाता अपने सौतेले पुत्र के साथ द्वेष करती थी। पुत्र विमाता को नहीं चाहता था। वह घर पर विवश होकर ही जाता था। वह प्राय: बाहर ही बाहर अपना समय व्यतीत करता रहता था। पुत्र घर से दूर एक विद्यालय में पढ़ता था। उसे एक बार कुछ रुपयों की आवश्यकता हुई। पिता ने रुपये भेजने में आनाकानी की। इससे पुत्र को भारी क्रोध आया। वह उस क्रोध को प्रकाश न कर सका। तब उसकी नैतिक बुद्धि ही उसे धिक्कारने लगी। अतएव उसने इस घटना को भूल जाने की चेष्टा की। वह अपने आपको आदर्श व्यक्ति बनाने में लग गया। वह बहुत ही परिश्रम करने लगा। इस परिश्रम के समय ही उसे सिर की पीड़ा का रोग उत्पन्न हो गया। पीछे उसे आँख की पीड़ा का रोग हो गया। वह अचानक आँख में खिंचाव हो जाने का अनुभव करने लगा। इसके कारण वह ठीक से पढ़-लिख नहीं पाता था। इसके अतिरिक्त उसे अकारण चिंता और अनिद्रा के रोग उत्पन्न हो गये। इन सब रोगों के कारण वह अपनी पढ़ाई में बहुत कुछ पिछड़ गया।

उस रोगी के मनोविश्लेषण से पता चला कि रोगी स्वजनों के प्रेम से वंचित हो जाने के कारण जीवन से निराश हो गया था। अब उसे पढ़ना-लिखना अर्थहीन दिखाई देने लगा। अतएव जब वह अपने आन्तरिक मन की इच्छा के प्रतिकूल पढ़ना चाहता था तो उसे सिर और आँख की पीड़ा हो जाया करती थी। इस प्रकार की पीड़ा का अर्थ रोगी को पढ़ने-लिखने से रोकना था। रोगी को अकारण चिन्ता और अनिद्रा का रोग भी इसीलिये लगा कि उसकी प्रेम की भूख तृप्त नहीं हुई थी। वह किसी नये प्रेमी की खोज कर रहा था। ऐसी अवस्था में मनुष्य ईश्वर की खोज करता है अथवा योगी, यती और सन्त बन जाता है। वह जंगलों में शान्ति देनेवाली शक्ति की खोज करता है। इस व्यक्ति ने भी ऐसा ही किया। परन्तु उसने शान्ति कहीं नहीं पाई। अन्त में उसने अपने आपको गरीबों की सेवा में अर्पित कर दिया। यहाँ उसकी व्यक्तिगत आत्मा का सर्वात्मा से मेल हुआ। अपना प्रेम दूसरों को देने

से दूसरों का प्रेम हमें मिलता है। इस प्रेम से घृणा और निराशा के भावों का परिहार होता है और मनुष्य में नव-जीवन का संचार होता है।

उक्त रोगी अपने मनोभावों को न केवल दूसरों से वरन् अपने आपसे भी छिपाता रहता था। इसके कारण उसका रोग दिन प्रतिदिन बढ़ता ही जाता था। अपने पिता से प्रेम न मिलने पर उसे संसार के सभी लोगों की सचाई पर सन्देह हो गया था। उसकी नैतिक बुद्धि भी अपने पिता की शिकायत दूसरों से करने में उसे रोकती थी। जब एक सहानुभूति रखनेवाले मनोविश्लेषक के समक्ष उसने अपने मनोभावों को पूरी तरह से व्यक्त किया और मनोविश्लेषक ने उसे अनेक प्रकार की सांत्वना दी तो उसके मस्तिष्क का भार हल्का हो गया। फिर वह अपने कुछ साथियों और बालकों को पूरे मन से प्यार करने लगा। इसके परिणामस्वरूप उसका रोग भी जाता रहा। वही मनुष्य दूसरों को सहज प्रेम देने की क्षमता रखता है जिसने स्वयं ऐसे प्रेम को प्राप्त किया हो। जिसे संसार की उपेक्षा मिली वह दूसरे लोगों का हृदय से कभी भी आदर नहीं कर सकता। कुशल मनोवैज्ञानिक रोगी की उक्त मनोस्थिति को बदलता है। वह रोगी में निःस्वार्थ प्रेम की क्षमता पैदा करता है।

एक दूसरे नवयुवक को अपने स्वजनों के प्रति क्रोध हो जाने के कारण और जीवन की प्रगति रुकने के कारण प्लूरेसी का रोग हो गया है। यह युवक गत वर्ष एक विश्वविद्यालय में पढ़ता था। उसके पिता ने उसे परीक्षा समाप्त होने तक पढ़ने का खर्च देने का आश्वासन दिया था। परन्तु पहले वर्ष ही उन्होंने कुछ महीने खर्च देकर उसे आगे पढ़ने से रोक दिया। इससे उसके जीवन में भारी निराशा आई। उसका विचार है कि यदि पिता चाहते तो उसे खर्च दे सकते थे और यदि उन्हें खर्च नहीं देना था तो उसे विद्यालय में भरती होने के लिए प्रोत्साहित ही न करना था। परन्तु वह अपने क्रोध को किसी के समक्ष प्रकाशित भी नहीं कर सकता था। पिता के प्रति सम्मान का भाव उसे ऐसा करने से रोकता था। अतएव वह अपने क्रोध को पी गया। यह क्रोध जीवन से निराशा के भाव में परिणत हो गया। जब मनुष्य अपने क्रोध से दूसरे को दुःख नहीं पहुँचा सकता तो वह अपने आपको ही दुःख पहुँचाने लगता है। क्रोध ध्वंसात्मक भाव है। एक बार जब उसकी अनुभूति होती है और जब उसका प्रकाशन बाहरी पदार्थ पर नहीं होता तो वह अपने आपको ही विनाश करने लगता है। इस प्रकार दमित क्रोध रोग का जनक होता है। अतएव उक्त युवक को घातक रोग उत्पन्न हो गया।

जब यह रोगी लेखक से मिला तो उसने उसके मन में आशाजनक विचार उत्पन्न करने की चेष्टा की। उसे आगे बढ़ने में कुछ सहायता देने का भी वचन दिया और आत्म-प्रकाशन के कार्य में उसे प्रोत्साहित किया। उसका रोग पहले तो उसकी दुःखमयी व्यथा को सहानुभूतिपूर्वक सुनने मात्र से ही कम हो गया; फिर उसे जब रचनात्मक विचार में लगाया गया तो वह और भी कम हो गया। जब मनुष्य के भावों का एक बार परिवर्तन हो जाता है तो उसकी कल्पनाएँ रचनात्मक हो जाती हैं और फिर उसे आरोग्य लाभ भी हो जाता है।

विकृत भावों का परिवर्तन मनुष्य के आरोग्य लाभ और उसके जीवन की सफलता के लिए नितांत आवश्यक है। विकृत भावों के परिवर्तित हुये बिना मनुष्य अपनी अभद्र कल्पनाओं से भी मुक्त नहीं होता। वह जैसे-जैसे अपनी अभद्र कल्पनाओं को दबाने की चेष्टा करता है वे और भी प्रबल हो जाती हैं। इच्छा-शक्ति और कल्पना के इस प्रकार के द्वन्द्व में इच्छा की ही हार होती है। यहाँ कल्पना अपना बल भावों से पाती है। जब तक दबे भाव का रेचन न हो, कल्पना कैसे दब सकती है? यदि मनुष्य की एक प्रकार की अभद्र कल्पना दब भी जाय तो झट दूसरे प्रकार की अभद्र कल्पना उसके मन को पकड़ लेगी। यदि सभी प्रकार की कल्पनाएँ चली जाएँ तो कुछ शारीरिक रोग ही मनुष्य को पकड़ लेगा। अतएव जो व्यक्ति इस प्रकार की स्थिति का अन्त करना चाहता है उसे अपने दबे मनोभाव को जानना और उसका रेचन करके भले मनोभाव को अपने मन में दृढ़ करना चाहिये।

अपने दबे मनोभावों को हम तभी जानते हैं, जब वे किसी न किसी प्रकार अचेतन मन के बाहर आते हैं, अथवा वे हमारे आचरण में प्रकाशित होते हैं। इसके लिए मनुष्य को समाज से न भागकर जान-बूझकर समाज में रहना चाहिए। अवांछनीय मनोभाव मनुष्य को उदासीन और एकान्तप्रिय बनाता है। एकान्त में रहकर मनुष्य अपने आपको दुःखी बनाता जाता है और इस दुःख में ही वह एक विकृत प्रकार के आनन्द की अनुभूति करता है। ऐसे व्यक्ति को बरबस समाज में ढकेल देना चाहिए। वह समाज के जितने ही अधिक लोगों से दुःखी होगा, उनसे लड़े भिड़ेगा वह उतना ही अधिक मानसिक स्वास्थ्य प्राप्त करेगा। मानसिक रोगी अपने आपसे ही लड़ता रहता है। वह दूसरों से घृणा न कर स्वतः से घृणा करता है। जब मनुष्य का घृणा का भाव बाहर प्रकाशित नहीं होता तो वह आत्मविनाश के कार्य में लग जाता है। दूसरों से घृणा करना, उनसे लड़ते भिड़ते रहना अपने आपसे घृणा करने से

अच्छा है। समाज में आने पर और उसमें आचरण करने पर हमारी आन्तरिक मन की अभिव्यक्ति होती है। यदि हम अपने आपसे असन्तुष्ट हैं तो समाज से किसी न किसी कारणवश असन्तुष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार हमारा असन्तोष प्रगट होकर समाप्त होता है।

हम कभी-कभी अपने आपको जैसे हम भीतर से हैं ठीक उसका उलटा जान लेते हैं। हम अपने आपको बड़ा सदाचारी और सुशील मानते हैं और हमसे कोई भूल न हो जाय इस डर से समाज में नहीं आते। परन्तु जब हम समाज में आते हैं तो हमें ज्ञात होता है कि हमारे मन में वे ही वासनाएँ और भाव भरे हुये हैं जिन्हें हम दूसरों में प्रत्यक्ष देखकर उनसे घृणा करते हैं। समाज में आने पर ही मनुष्य अपने छिपे हुये अवांछनीय भावों और अनैतिक इच्छाओं को पहचानता है। इस प्रकार समाज मनुष्य के आत्म-साक्षात्कार अथवा आत्म-ज्ञान का सर्वोत्तम साधन है। झगड़ालू और क्रोधी व्यक्तियों को समाज ही सच्चा आत्म-ज्ञान देता है। जिस व्यक्ति के ये अवांछनीय भाव नैतिक बुद्धि के नीचे दबे रहते हैं समाज उन्हें प्रकाशित होने में सहायता देता है और इस प्रकार उनका रेचन करके उनमें सुधार करने में सहायक होता है।

दबे मनोभावों का रेचन मानसिक शैथिलीकरण के अभ्यास से तथा अपनी भावात्मक घटनाओं को जीवनी के रूप में लिख डालने से होता है। हम साधारणतः किसी प्रकार की अभद्र कल्पनाओं को मन में आने से रोकते हैं। मान लीजिए, हमारे मन में अपने मरने का चित्र बार-बार आता है। हम इससे भयभीत हो जाते हैं और इस चित्र को भुलाने की चेष्टा करते हैं। इस प्रकार उक्त कल्पना का दमन होता है और हमारा भय का भाव कम न होकर और भी प्रबल हो जाता है। हमें मनोविज्ञान का यह सिद्धान्त सदा ध्यान में रखना चाहिए कि कोई भी अशुभ भाव भुलाने की चेष्टा से प्रबल होता है और उसे प्रकाशित होने का अवसर देने से वह निर्बल हो जाता है। अतएव यदि हमारे मन में अभद्र कल्पनाएँ आती हैं तो हमें चाहिए कि उन कल्पनाओं से भयभीत न होकर हम उन्हें मन में आने की पूरी छूट दे दें। कल्पनाएँ भी भावों की अभिव्यक्ति करके उनकी शक्ति को कम कर देती हैं। मृत्यु से डरनेवाला व्यक्ति जब जान-बूझकर मृत्यु का चिन्तन पूरी तरह करने लगता है तो उसका मृत्यु का भय अपने आप ही चला जाता है। फिर उसके मन में वे कल्पनाएँ भी नहीं आतीं जिनसे वह भयभीत रहा करता था। भयावनी कल्पनाओं को चेतना पर आने की छूट देने से वे कल्पनाएँ प्रबल न होकर निर्बल हो जाती

हैं; क्योंकि चेतना की सतह पर आ जाने से उन भावों का ही रेचन हो जाता है जो उन्हें बल प्रदान करते हैं। इस प्रकार वे कल्पनाएँ जीवन में घटित नहीं होतीं जिनसे हम डरते हैं। जान-बूझकर अवांछनीय कल्पनाओं को मन में आने की छूट देने से अभद्र भावों की समाप्ति हो जाती है।

दबे भावों का रेचन अपनी भावात्मक जीवनी के लिख डालने से भी होता है। इस प्रकार की जीवनी लिखते समय मनुष्य को सहज भाव में स्थित हो जाना आवश्यक है। जो कुछ सहज भाव से आता जाय उसे एकसा लिखते जाने से वे घटनाएँ चेतना की सतह पर आ जाती हैं जो कि अवांछनीय भावों से सम्बन्ध रखती हैं। इनके कारण उस मनोभाव का रेचन हो जाता है जो मानसिक बेचैनी अथवा मानसिक रोग का कारण होता है।*

अपने मनोभावों को दूसरों से कहने से उनका बल घट जाता है। जिन भावों को हम दूसरों से छिपाना चाहते हैं उन्हें दूसरे के समक्ष खोलना और जिन्हें हम दूसरों से कह देना चाहते हैं, ताकि उनके मन में हमारी प्रतिष्ठा बढ़े, उन्हें उनसे कहने से स्वयं को रोकना मनुष्य के मन के बल को बढ़ाता है। हम सभी से तो अपने अनैतिक अथवा अपमानसूचक मनोभाव नहीं कह सकते। इससे समाज में हमारा सम्मान ही घट जायगा। ऐसे व्यक्ति को मुखोपतित कहा जाता है। परन्तु हमें अपने एक मित्र अथवा श्रद्धेय व्यक्ति से तो अपने सभी छिपे मनोभाव कह देना चाहिए। इस प्रकार कहने से हमारे मन का भार

---

* रोगियों की मानसिक चिकित्सा करते समय विलक्षण अनुभव प्रत्येक मानसिक चिकित्सक को होते हैं। एक रोगी जब अपनी आत्मकहानी सुना रहा था तब उस घटना को सुनाने के पूर्व, जिसमें वह बुरी तरह से अपमानित हुआ था, एकाएक काँपने लगा; उसकी जबान बँध गई और वह असाधारण हृदय की धड़कन को अनुभव करने लगा, उसका शरीर पसीना से भर गया और उसका चेहरा पीला पड़ गया। कुछ समय के बाद जब उस घटना को जाना गया तो पता चला कि वह अपने साथियों को लेकर एक किशोर बालिका को रास्ते में तंग कर रहा था। एक कालेज के शिक्षक ने जब उस बालिका को बचाने की चेष्टा की तो उसके साथ इसने गुण्डा गरी की। बाद को उसे माता पिता की, कालेज के अधिकारियों की और न्याय की ताड़ना मिली। शर्म के मारे वह डूब गया था। वह इस भाव को भूल गया था। इससे उसे अनेक प्रकार के रोग हो गये थे। भावों के रेचनसे रोग जाता रहा।

हलका हो जाता है। भगवान बुद्ध का कहना है कि मनुष्य को छिपा हुआ पाप ही लगता है, खुला पाप नहीं लगता।

भावों का रेचन दूसरे व्यक्ति के उसी प्रकार के भावों को सहानुभूतिपूर्वक जानने से भी होता है। इस दृष्टि से उपन्यास, नाटक और कविताओं का पढ़ना बड़ा ही लाभकारी होता है। जिन घटनाओं के घटित होने का भय हमारे मन में गुप्त रूप से रहता है और जिस भय के कारण हम विशेष प्रकार के विचार मन में नहीं आने देते, जब हम दूसरे लोगों को उसी प्रकार की घटनाओं का शान्त मन से सामना करते देखते हैं तब न केवल हमारे भय के भावों का रेचन हो जाता है वरन् हममें एक नई हिम्मत भी आ जाती है। कवि अप्रिय घटना को प्रिय बनाने में समर्थ होता है। दूसरे व्यक्ति के जीवन में घटित दुःख का सहानुभूतिपूर्वक अनुभव करने से उस दुःख का भय अपने मन से निकल जाता है। फिर हम उस दुःख को भोगने के लिये तैयार हो जाते हैं। जब हमारा किसी परिस्थिति से भय खाने का भाव निकल जाता है तो हमें भयावनी कल्पनाएँ भी नहीं सतातीं। इस प्रकार संसारके साहित्यकार, कवि और कलाकार मानवजाति का भारी लाभ करते हैं। कलंकित भावों के रेचन में दुखान्त साहित्यिक रचनाएँ जितनी उपयोगी सिद्ध होती हैं, सुखान्त उतनी उपयोगी सिद्ध नहीं होतीं। वे मनुष्य का मानसिक परिवर्तन अनजाने ही कर देती हैं।

ऊपर कहा जा चुका है कि किसी प्रकार के अवांछनीय मनोभाव का दमन मनुष्य के मानसिक स्वास्थ्य और जीवन में प्रगति के लिये हानिकारक होता है। अतएव इन भावों का प्रकाशन मनुष्य के स्वास्थ्य और जीवन की प्रगति के लिये आवश्यक है। परन्तु इससे समाज को हानि भी होती है। एक मनुष्य के ईर्ष्या, घृणा, विषय-लोलुपता के भाव जब समाज के समक्ष प्रकाशित होते हैं तो वे दूसरे लोगों के मन को भी प्रभावित करते हैं। वे संक्रामक रोग की तरह दूसरे लोगों के मानसिक स्वास्थ्य को भी बिगाड़ देते हैं। यदि विकृत भाववाला व्यक्ति अकेला रखा जाय तो उसका जीवन अपने लिये ही भार हो जाय, परन्तु यदि उसे समाज में रख दिया जाय तो वह इन्हीं भावों का संचार समाज के दूसरे लोगों में भी करेगा। फिर समाज के दूसरे लोगों की उसी प्रकार की क्षति होने लगेगी। अतएव बहुत से व्यक्ति ऐसे व्यक्ति को समाज से अलग रखने की ही सलाह देंगे। परन्तु इस प्रकार उस व्यक्ति का कल्याण होना असंभव है। उसमें जो सुधार आत्मप्रकाशन और दूसरों के भले भावों के ग्रहण करने में होता, वह नहीं होगा।

दबे भावों का रेचन उनमें परिवर्तन करने की पहली सीढ़ी है। ज्ञात अवांछनीय भावों में परिवर्तन विरोधी भावों के अभ्यास से भी होता है। आधुनिक मनोविज्ञान ने दबे भावों को नष्ट करने के लिए उनके मनोविश्लेषणों द्वारा रेचन करने की विधि को ही प्रधानता दी है। पुराने समय के मनोवैज्ञानिकों ने कलुषित भावों के नष्ट करने अथवा उनमें परिवर्तन करने के लिए प्रतिभावना के अभ्यास को प्रधान स्थान दिया है। जिस मनुष्य का मन द्वेष, घृणा और आत्म-ग्लानि के भावों से विकृत हो गया है, जो सदा डरा करता है उससे योग-सूत्र में बताई गई मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा इन चार भावनाओं का अभ्यास कराना आवश्यक है। इन सबमें श्रेष्ठ मैत्री-भावना का अभ्यास है। मैत्री-भावना का अभ्यास कल्पना में सबके प्रति मैत्री-भाव लाने से आचरण में सबके प्रति मैत्री-भाव प्रकाशित करने से, रोगियों की सेवा करने से, बच्चों को खिलाने-पिलाने, पढ़ाने-लिखाने और उनकी देख-रेख करने से दृढ़ होता है। भगवान बुद्ध ने रोगियों की सेवा को मानसिक सुधार का सर्वोत्तम उपाय माना। इसी प्रकार स्वामी विवेकानन्द ने गरीबों की सेवा को आत्म-साक्षात्कार का सबसे अच्छा साधन बताया है। परन्तु इस प्रकार हम अपने ज्ञात भावों में परिवर्तन कर सकते हैं। भावों के दमन की अवस्था में जो लोग योगाभ्यास करने लगते हैं वे अपने आपको पागल बना लेते हैं। जिन लोगों को भावों का प्रकाशित करना आवश्यक है जब वे भावों का और भी दमन करते हैं तो वे पागलखाने की तैयारी कर लेते हैं। रांची के पागलखाने के अध्यक्ष ने एक बार बताया था कि उस पागलखाने के ७० प्रतिशत व्यक्ति कभी-न-कभी योगाभ्यास करते रहे।

भावों का विकार विषय-लोलुपता और अहंभाव की वृद्धि के साथ-साथ होता है। जब ये बढ़ते हैं तो मनुष्य में द्वेष और ईर्ष्या के भावों की वृद्धि होती है। वह दूसरे लोगों से घृणा करने लगता है। इसके कारण वह उन्हें शत्रु के रूप में देखने लगता है। उसका यह शत्रुभाव शत्रु को हानि पहुँचाने की अनेक प्रकार की कल्पनाएँ उसके मन में उठाता है। फिर ये ही कल्पनाएँ उसके मन में डर उत्पन्न कर देती हैं। जब वह दूसरे लोगों को हानि की बातें अपने मन में लाता है तो उसे भय हो जाता है कि कहीं वे लोग भी उसकी उसी प्रकार हानि न कर डालें जिस प्रकार की हानि वह दूसरों की करना चाहता है। यदि किसी मनुष्य की नैतिक बुद्धि प्रबल हुई तो वह अपनी इन अभद्र कल्पनाओं को भूल जाने की चेष्टा करता है। इनके भूलने पर ही उसे अनेक प्रकार के मानसिक रोग उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार की मानसिक स्थिति

को बदलने का उत्तम उपाय प्रेम के भावों की वृद्धि है। परन्तु इसके लिये मनुष्य को अपनी विषय-लोलुपता और अहंभाव का त्याग करना पड़ता है। परन्तु इनका त्याग वे ही लोग कर सकते हैं जिन्हें बचपन से प्रेम मिला है। मनुष्य में सच्चा बड़प्पन प्रेम से ही आता है। जिस व्यक्ति को प्रेम नहीं मिला वह झूठे बड़प्पन को खोजता है। इसी के कारण वह धन बटोरता और दूसरों को नीचा दिखाने की चेष्टा करता है।

जैसे-जैसे मनुष्य में प्रेम की वृद्धि होती है, उसका दूसरे के प्रति ईर्ष्या और द्वेष का भाव अपने आप ही कम हो जाता है। फिर उसे अपना कोई भी शत्रु नहीं दिखाई देता। वह सबको मित्र रूप ही देखता है। जो सभी प्रणियों को मित्र रूप में देखता है, वह किसी से क्यों डरेगा ?

जिस प्रकार मैत्री भावना का अभ्यास मनुष्य के विकृत भावों में परिवर्तन कर देता है, इसी प्रकार शान्ति-भावना और शिवभावना का अभ्यास भी मनुष्य के आन्तरिक भावों में चमत्कारिक परिवर्तन कर देता है। इन भावों के अभ्यास से अनेक प्रकार की मानसिक ग्रंथियाँ चेतना की सतह पर आये बिना ही निवृत्त हो जाती हैं। शिव-भावना का अभ्यास, सभी घटनाओं में भलाई देखना, सभी लोगों को भला मानना और सभी समय अच्छा समझने का अभ्यास है। शान्ति भावना का अभ्यास अपने आपको शान्त होने का निर्देश सदा देते रहने का सा अभ्यास है। मनुष्य जिस प्रकार निर्देश अपने आपको सदा देता रहता है वह धीरे-धीरे उसी प्रकार का बन जाता है।

वास्तव में भावों के परिष्कार और परिवर्तन के लिए भावों का किसी न किसी प्रकार प्रकाशन अथवा रेचन और उनका मैत्री-भावना, शिव-भावना और शान्ति-भावना द्वारा शोध होना – दोनों ही आवश्यक हैं। ये दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। जो व्यक्ति शिव और शान्ति-भावना का अभ्यास सदा करता है वह उस दृष्टिकोण को प्राप्त कर लेता है जिसे प्राप्त कर लेने से पाप पाप नहीं रहता। परन्तु शान्ति-भावना तथा शिव-भावना का अभ्यास भी वही व्यक्ति कर सकता है जिसका चित्त सरल है और जो अपने अभद्र भावों की आत्म-स्वीकृति करने में हिचकता नहीं। अमोघ शान्ति उसे ही मिलती है जिसका स्वभाव बालक के समान सरल हो गया है।

आधुनिक मनोविज्ञान की सबसे बड़ी खोज यही है कि अपने किसी प्रकार के कलुषित भाव में परिवर्तन करने के लिये उन्हें चेतना के स्तर पर लाना नितान्त आवश्यक है। कलुषित भावों का प्रकाशन समाज को त्रास देता है, और

उनका दमन स्वयं को। कलुपित भाव के दमन से मनुष्य के व्यक्तित्व में अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है। यदि कोई मनुष्य मक्खी खा ले तो उसका वमन होना ही अच्छा है। जब तक वह पेट में रहेगी बेचैनी की अवस्था रहेगी। जब पित्त अधिक बढ़ जाता है तो वमन के द्वारा ही उसे शान्त किया जाता है। इस प्रकार कलुपित भावों से मुक्ति उनके रेचन से होती है। जो व्यक्ति अपने ईर्ष्या, क्रोध, ग्लानि के भावों को केवल भुला देने मात्र की चेष्टा करता है वह अनेक प्रकार के मानसिक रोगों से पीड़ित होता है। एक व्यक्ति ने काम-वासना के वशीभूत होकर समलिंगी व्यभिचार में भाग लिया। उससे उसे प्रबल आत्म-ग्लानि हुई। उसने इस घटना को भुलाने की चेष्टा की। जब घटना स्मृति-पटल से जाती रही, उसे सफेद कुष्ठ हो गया। कितने नवयुवकों को इस प्रकार की विस्मृति से गलित कुष्ठ होने का भय हो जाता है। पिता अथवा शिक्षक द्वारा किसी अपराध के लिए निर्दयता से पीटे जाने के कारण बहुत से बालकों को हकलाहट का रोग हो जाता है। इन बालकों को इन लोगों के प्रति पहले क्रोध तथा भय होते हैं और फिर लज्जा और आत्म-ग्लानि। इनके भूल जाने पर हकलाहट आ जाती है। यहाँ दमित भाव और दमन करनेवाली शक्ति दोनों ही मनुष्य को ज्ञात नहीं रहते। ये चेतना के नीचे काम करते हैं। अतएव इनमें परिवर्तन करना अत्यन्त कठिन होता है। मनोविश्लेषण से इन भावों को चेतना के स्तर पर लाया जाता है तब रोग समाप्त होता है। दबा भाव मनुष्य को बचपन की अवस्था में ही बनाये रखता है। एक ओर मनुष्य शरीर से और बुद्धि से बढ़ता है और दूसरी ओर भावों से बच्चा ही बना रहता है। जब तक इस भाव को चेतना के स्तर पर नहीं लाया जाता उसमें विकास नहीं होता।

संसार के अनेक सफल शिक्षक तथा समाज-सुधारक अपने ही बच्चों को भला बनाने में असफल रहते हैं। वास्तव में वे स्वयं मानसिक रोगी हैं। जो सुधार उन्हें अपने आपमें करना चाहिये वे उसे दूसरों में करने की चेष्टा करते हैं। वे अपने दमित भावों को बालकों पर आरोपित कर देते हैं और जिस प्रकार वे आत्म-भर्त्सना से पीड़ित रहते हैं बालकों में भी वही मनोस्थिति उत्पन्न कर देते हैं। इसी कारण शिष्ट घर के अनेक बालक मानसिक रोगी बन जाते हैं। कभी-कभी ये बालक अपराधी मनोवृत्ति के बन जाते हैं। इस प्रकार वे अपने अभिभावकों को त्रास देते हैं। परन्तु यह अभिभावकों का अपने आप द्वारा ही त्रास दिया जाना है। जब हम अपने भावों को सुधार कर दूसरों की सेवा करते हैं तभी हम उनका मौलिक लाभ करते हैं। परन्तु यह अपने आप भी छान-बीन करना अत्यन्त कठिन है। जो लोग संसार का व्यापक सम्मान पा

चुके हैं उन्हें कैसे कहा जा सकता है कि वे दूसरों का सुधार करने के अयोग्य हैं और उन्हें आत्म-सुधार करना चाहिये। स्वयं अभिभावक अथवा समाज-सुधारक में तो यह क्षमता रहती ही नहीं कि वह आत्म-सुधार करे। वे अपने जीवन के अन्त में देखते हैं कि सभी लोग उनके शत्रु बन गये और इस प्रकार आत्म-ग्लानि से उनकी मृत्यु होती है।

मनुष्य का सबसे मौलिक धन सद्भाव ही है। यह धन दूसरे सभी प्रकार के धन की जड़ है। जिस व्यक्ति के भाव भले हैं उनके मन में भले विचार और भली कल्पनाएँ आती हैं। ऐसा व्यक्ति अपने और दूसरों के लिए भला काम करने में भी समर्थ होता है। भले भाव ही भले कामों के प्रेरक होते हैं। जब मनुष्य के भाव बिगड़ जाते हैं तो उससे भले काम नहीं होते। फिर उसका आचरण और चरित्र भी बिगड़ जाता है। वह अपने में भले काम करने की प्रेरणा का अनुभव नहीं करता। समाज को जो हम सबसे अच्छी देन दे सकते हैं वह है भले भावों की देन। यह एक विलक्षण देन है। यह बिना दिये ही समाज में चली जाती है और जैसे जैसे वह दूसरों में जाती है वह देनेवालों में कम न होकर और भी बढ़ती जाती है। मनुष्य के भाव संक्रामक होते हैं। यह भले भावों के विषय में उसी प्रकार सत्य है जिस प्रकार बुरे भावों के विषय में। यदि एक मनुष्य में कोई भला भाव दृढ़ हो गया है तो वह शीघ्र ही राष्ट्र भर की क्या सारे संसार की निधि बन जाता है। भगवान बुद्ध के भले भाव उनके जीवन काल में ही सारे भारतवर्ष में फैल गये और आज तक वे करोड़ों नर-नारियों के जीवन को संचालित कर रहे हैं।

भाव एक छोटी सी वस्तु है। वह बड़ी सूक्ष्म है पर अणु के समान उसकी शक्ति महान् है। वह संसार का नव निर्माण कर सकती है अथवा विकृत होने पर उसे ध्वस्त भी कर सकती है। एक विद्वान का कथन है कि संसार का सबसे विनाशकारी अस्त्र एटम बम अथवा हाइड्रोजन बम नहीं है वरन् समाज से असंतुष्ट मानव है। प्रतिभावान् एक ही मनुष्य मानव समाज में कल्पनातीत उथल-पुथल कर देता है और उसका रूप ही बदल देता है। दुरुपयोग से यह शक्ति जिस प्रकार दूसरों का विनाश कर देती है उसी प्रकार वह अपने आपका भी विनाश कर देती है। मानव जीवन की सफलता उसके सदुपयोग अथवा उसे व्यापक बनाने में है। दूसरों के लिये प्रेम के भाव दूसरों का कल्याण करते हैं, साथ ही वे अपना भी कल्याण करते हैं। और दूसरों को विनाश करने के भाव दूसरों का नुकसान करें अपना नुकसान तो करते ही हैं।

नवाँ अध्याय

प्रेम और उसका विकास

मनुष्य के जीवन को सुन्दर, शक्तिशाली, लोकप्रिय और सुखी बनानेवाली यदि कोई वस्तु है तो वह प्रेम है। जहाँ प्रेम है वहाँ सभी सद्‌गुण हैं, जहाँ प्रेमाभाव है वहाँ अनेक प्रकार के दुर्गुण अपने आप ही आ जाते हैं। प्रेम की उपस्थिति प्रगति का सूचक है और प्रेमाभाव पतन और विनाश का। जब मनुष्य के मन में प्रेम का प्रादुर्भाव और वृद्धि होती है तो उसके विचार आशा-वादी और उसकी क्रियाएँ रचनात्मक होती हैं, जब उसके मन में प्रेमाभाव होता है तो उसके विचार निराशावादी और उसकी क्रियाएँ अपने तथा दूसरों के लिए हानिकारक हो जाती हैं।

जब तक दो व्यक्तियों में प्रेम रहता है तब तक एक दूसरे के दोष को नहीं देखता, जब प्रेम की कमी हो जाती है तब उन्हें एक दूसरे के अनेक प्रकार के दोष दिखाई देने लगते हैं। प्रेम की कमी से दोष भी उत्पन्न हो जाते हैं। कभी कभी हम अपने दोषों को उस व्यक्ति पर आरोपित कर देते हैं जिसे हम घृणा की मनोवृत्ति से देखने लगे हैं। प्रेम की कमी जीवन को भाररूप बना देती है। प्रेम के होने पर जब हम दूसरे लोगों की आलोचना सुनते हैं तो हम उसे सुनकर अपना सुधार करने की चेष्टा करते हैं, जब प्रेमाभाव रहता है तो दूसरे की आलोचना सुनकर हमें दुःख होता है; हम इस प्रकार की आलोचना से सुधार न कर अपने को और भी बिगाड़ लेते हैं।

दो व्यक्तियों का आपस का प्रेम दोनों को ही लाभप्रद सिद्ध होता है। उनकी दृष्टि पारस्परिक गुणों पर रहने के कारण वे उन गुणों को ही ग्रहण कर लेते हैं। वे दोषों को ग्रहण नहीं करते। मनुष्य जिन बातों का आवेग के साथ चिन्तन करता है वे बातें उसमें उसके अनजाने ही चली आती हैं, चाहे वे गुण हों अथवा दोष। इस प्रकार दो मित्र एक दूसरे की खूबियों को ग्रहण कर लेते हैं। यह आपस का आदान-प्रदान उनके स्वभाव, विचार, रूप-रंग तक में हो जाता है।

प्रेम सभी भले कामों का प्रेरक है। जिस व्यक्ति को हम प्रेम की दृष्टि से देखते हैं उसकी किसी प्रकार की सेवा करने में हमें आनन्द की अनुभूति होती है। प्रेम ही कर्तव्य-बुद्धि का आधार है। प्रेम के अभाव में कर्तव्य भार रूप

हो जाता है। जिस व्यक्ति का हृदय एक ओर जाता है और उसकी कर्तव्य-बुद्धि उसे दूसरी ओर ले जाती है तब उसके मन में संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती हैं। कर्तव्य- बुद्धि में स्वयं अपने कर्तव्य को पूरा करने की शक्ति नहीं होती। कर्तव्य प्रेम की शक्ति से ही पूरा किया जाता है। जिस कर्तव्य में प्रेम का अभाव रहता है वह दुःखद हो जाता है। ऐसे कर्तव्य से मनुष्य जी चुराता है। जब मनुष्य ऐसे कर्तव्य को जबरन करता है तो उसे अनेक प्रकार की अकारण चिन्ताएँ, बाधाएँ और मानसिक अथवा शरीरिक रोग सताने लगते हैं।

प्रेम के विषय में कवि और दार्शनिकों ने बहुत कुछ लिखा है, परन्तु उसका स्वरूप व्यक्त करने की चेष्टा जितनी ही की जाती है वह उतना ही रहस्य-मय होता जाता है। प्रेम वह शक्ति है जिसके कारण दो व्यक्ति एक दूसरे के बिना सुख की अनुभूति नहीं करते, एक के न रहने पर दूसरा अभाव का अनुभव करता है। प्रेम एक प्रकार का मनोभाव है। यह मनोभाव दो अथवा दो से अधिक व्यक्तियों में आपस में रहता है। दो व्यक्तियों की घनिष्ठता उनमें प्रेम उत्पन्न कर देती है। हम एक दूसरे के बारे में जितनी ही अधिक जानकारी बढ़ाते हैं, प्रेम भी उतना ही अधिक बढ़ जाता है। जो व्यक्ति अपने को एक दूसरे के सामने नहीं खोलते, जो दूसरे से सदा सतर्क और संदिग्ध-मन रहते हैं उनमें प्रेम नहीं रहता। जिन लोगों के मन में अनेक जटिल मानसिक ग्रन्थियाँ रहती हैं, वे दूसरों के समक्ष अपने आपको खोलने में असमर्थ रहते हैं। ऐसे लोग किसी भी व्यक्ति को पूरे मन से प्यार नहीं कर पाते। उन्हें अपनी स्त्री, पुत्र, भाई आदि के प्रति भी विश्वास नहीं रहता। वे सभी को सन्देह की दृष्टि से देखते हैं। इसके कारण वे उन्हें प्यार भी नहीं कर पाते। सरल चित्तवाला व्यक्ति ही दूसरे लोगों को प्यार कर पाता है।

प्रत्येक मनुष्य प्रेम का भूखा रहता है। जिस मनुष्य को अपने सम्बन्धियों का प्रेम प्राप्त रहता है वह शान्त मन रहता है। जिसे यह प्रेम प्राप्त नहीं रहता वह दुखी मन रहता है। छोटे बच्चे की प्रेम की भूख बड़ी प्रबल होती है। वह अपने माता-पिता के प्रेम का इच्छुक रहता है। जिस बालक को यह प्रेम समुचित रूप में मिलता है वह पुष्ट व्यक्तित्व का होता है और जिसे यह प्रेम नहीं मिलता उसका व्यक्तित्व अधूरा हो जाता है। मानसिक रोगों से पीड़ित होनेवाले व्यक्तियों के बाल्य जीवन का जब अध्ययन किया जाता है तो हम उसमें प्रेम की कमी पाते हैं। प्रेम की कमी बालक को ईर्ष्यालु, निन्दक, क्रूर और निराशावादी बना देती है। घर के दो बालकों में से जिस बालक को प्रेम नहीं

मिलता है वह निर्बल मन का व्यक्ति होता है। ऐसे ही व्यक्ति को मानसिक रोग होते हैं। जिस बालक के माँ-बाप अथवा उनमें से एक बचपन में मर जाते हैं, और जिसे दूसरों के आश्रित होकर रहना पड़ता है उसका मन निराशा-मय होता है। वह जगत को ही क्रूर और निर्दय देखता है। फिर बालक के भाव भी दूसरों के प्रति वैसे ही हो जाते हैं जैसे वह अपने प्रति दूसरों के भावों की कल्पना करता है। जिस बालक को दूसरे लोगों से प्रेम मिला है वह दूसरों को प्रेम देता है और जिसे दूसरों से घृणा मिली है वह दूसरों को प्रायः घृणा ही देता है।

जिस प्रकार मनुष्य दूसरे लोगों से प्रेम-प्राप्ति की इच्छा रखता है उसी प्रकार उसे दूसरों को प्रेम देने की भी इच्छा होती है। बचपन में हम दूसरों के प्रेम के इच्छुक होते हैं और प्रौढ़ावस्था में हम दूसरों को प्रेम देना चाहते हैं। जो व्यक्ति प्रौढ़ होने पर भी दूसरे लोगों के प्रेम का इच्छुक बना रहता है वह वास्तव में भावों की दृष्टि से बच्चा ही है। प्रेम लेने की मनोवृत्ति स्वार्थी मनो-वृत्ति है और प्रेम देने की मनोवृत्ति परमार्थी मनोवृत्ति है। प्रेम लेने की आकांक्षा मनुष्य को परावलम्बन और दुःख की ओर ले जाती है और प्रेम देने की इच्छा उसे स्वावलम्बन और सुख की ओर ले जाती है।

मनुष्य में प्रेम के भावों का विकास धीरे-धीरे होता है। मनुष्य पहले-पहल उन्हीं लोगों को प्यार करता है जिससे उसके किसी स्वार्थ की सिद्धि होती है। बच्चा अपनी माँ को प्यार करता है क्योंकि माँ ही उसे दूध पिलाती, उठाती बैठाती और लाड़-प्यार करती है। किशोर बालक अपने साथी को प्यार इसलिये करता है कि वह उसके बिना खेल नहीं सकता। युवक अपनी प्रेयसी को अपनी वासना की पूर्ति के लिये ही प्यार करता है और पिता पुत्र को उसकी भावी उपयोगिता की दृष्टि से प्यार करता है। इन बातों को देखकर यह ज्ञात होता है कि प्रेम स्वार्थपरायणता के अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु नहीं है। फ्रायड महाशय का तो कथन है कि प्रेम कामुकता के अतिरिक्त दूसरी कोई भी वस्तु नहीं है; जहाँ कामुकता नहीं, वहाँ प्रेम का रहना संभव नहीं। कोई भी जड़वादी मनोवैज्ञानिक स्वार्थपरायणता के अतिरिक्त प्रेम का अस्तित्व नहीं मानेगा।

अब यदि हम प्रेम के सभी पक्षों को भली प्रकार से देखें तो हमें उक्त कथन अर्धसत्य ही दिखाई देगा। यह कहना सत्य है कि पहले पहल प्रेम के साथ-साथ स्वार्थपरायणता रहती है। परन्तु जैसे-जैसे मनुष्य के स्वभाव का विकास होता है, प्रेम अपना पृथक स्वरूप भी प्रगट करने लगता है। प्रेम का

सच्चा स्वरूप सुख के भाव से पृथक् है, वह त्यागमय है। जिस व्यक्ति को हम प्यार करते हैं उसके लिये हम त्याग करना चाहते हैं, उसके लिये कष्ट उठाना चाहते हैं। स्त्री-पुरुष के बीच कामुकता का भाव रह सकता है और शुद्ध प्रेम भी। विवाहित जीवन की सफलता काम-भाव की वृद्धि में नहीं, वरन् प्रेम की वृद्धि में है। जब दम्पति में प्रेम की वृद्धि होती है तो एक का दूसरे के प्रति विश्वास रहता है। कोई किसी के चरित्र पर सन्देह नहीं करता। प्रत्येक व्यक्ति ऐसी अवस्था में दूसरे के लिये अधिक से अधिक त्याग करने के लिये तत्पर रहता है।

प्रेम के भाव का विकास धीरे-धीरे होता है। वासनामय प्रेम का स्थान धीरे-धीरे त्यागमय प्रेम में ले लेता है। प्रेम के विकास के लिये गृहस्थ जीवन अच्छा स्थान है। स्त्री-पुरुष का प्रेम उनकी वासनापूर्ति के हेतु होता है। परन्तु यह वहीं तक नहीं रह जाता, वह आगे चलकर एक दूसरे की सहायता और सेवा का रूप धारण कर लेता है। फिर जब दम्पति को सन्तान हो जाती है तो उनका प्रेम बच्चों की सेवा और उन्हें लाड़-प्यार करने का रूप धारण करता है। माता-पिता अपने बच्चों को इसलिये नहीं पालते कि वे उन्हें कमाकर खिलावेंगे, वरन् वे उन्हें इसलिये पालते हैं कि वे उनके आश्रित हैं और उन्हें प्यार किये बिना माता-पिता सुखी ही नहीं रह सकते। बच्चों का प्रेम माता-पिता की आध्यात्मिक पूर्ति का कारण होता है। जिन लोगों में स्वार्थ-बुद्धि अत्यधिक होती है, जो दूसरों के लिये कष्ट नहीं उठाना चाहते, जो अभिमानयुक्त हैं, उन्हें या तो संतान होती ही नहीं अथवा सन्तान होकर मर जाती है। संतान का होना और उसका जीवित रहना मनुष्य की उदारता की मनोवृत्ति पर निर्भर करता है। जिन लोगों में स्वार्थ-परायणता, कृपणता एवं अभिमान अत्यधिक होता है, वे यदि दूसरे लोगों की सन्तान को भी गोद ले लें तो वह भी सुखी न रहकर दुःखी ही रहती है। बच्चों के जीवित रहने और उनका जीवन भली प्रकार विकसित होने के लिये न केवल उन्हें भोजन देना और पाठशाला भेज देना पर्याप्त है, वरन् उन्हें अपने प्रेम से सदा बली बनाते रहना भी आवश्यक है। बालक के लालन-पालन का कार्य उसी प्रकार का है, जिस प्रकार एक फुलवाड़ी के पौधे की सेवा। जिस प्रकार पौधे को खाद्य, पानी और वायु की आवश्यकता होती है, इसी प्रकार बालक को माता-पिता के प्रेम और देख-रेख की आवश्यकता होती है।

मनुष्य का गृह-प्रेम ही विकसित होकर विश्व-प्रेम का रूप धारण कर लेता है। दूसरे लोगों के बालकों के प्रति प्रेम, अपने साथियों के प्रति प्रेम, गरीब

लोगों के प्रति प्रेम और रोगियों के प्रति प्रेम ये सभी प्रकार के प्रेम उसके विकसित रूप हैं। जिस मनुष्य का जीवन जितना विकसित होता है उसका प्रेम उतना ही व्यापक होता है। ऐसा व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को किसी लाभ की दृष्टि से प्रेम नहीं करता, वह उसकी भलाई की दृष्टि से ही प्रेम करता है। मनुष्य की भलाई का मापदण्ड उसका दूसरों को प्यार करने का सामर्थ्य है। सामान्य पुरुष केवल अच्छे लोगों को प्यार कर सकते हैं, संत न केवल भले लोगों को प्यार करते हैं वरन् वे अपराधी और विषय-लोलुप व्यक्तियों को भी प्यार करते हैं।

किसी भी गिरे हुए मनुष्य को हम अपने प्रेम से ही उठा सकते हैं। गिरे हुए व्यक्ति में, चाहे वह अपराधी हो अथवा रोगी, प्रेम की कमी होती है। ऐसे व्यक्ति को साधारणत: दुनियाँ का तिरस्कार मिलता है। इससे उसकी अपराध की मनोवृत्ति अथवा उसका रोग और भी बढ़ता जाता है। जब कोई व्यक्ति ऐसे व्यक्ति को अपना प्यार देता है तो उसके जीवन में सुधार हो जाता है। मनुष्य के मनोभाव संक्रामक होते हैं। क्रोधी, ईर्ष्यालु और स्वार्थी मनुष्य दूसरे लोगों में भी अपने सम्पर्क से इसी प्रकार के मनोभावों को जाग्रत करता है और दयालु, उदार एवं परमार्थी व्यक्ति अपने सम्पर्क से दूसरे लोगों में उक्त भले भावों को उत्पन्न कर देता है। सन्त अपने सम्पर्क से दूसरों को भी सन्त बना लेता है। वह दूसरे को प्रेम करके मानसिक शान्ति प्रदान करता और फिर वह उनकी जीवन-धारा को एक विशेष ओर मोड़ देता है।

प्रेम मनुष्य की शक्ति का एकीकरण करता है। जब मनुष्य के प्रेम में बँटवारा हो जाता है तो उसकी मानसिक शक्तियों में भी बँटवारा हो जाता है। ऐसी अवस्था में मनुष्य अपने लक्ष्य की प्राप्ति में समर्थ नहीं होता। उसका एक मन एक ओर जाता है और दूसरा मन दूसरी ओर जाता है। मन के जिस भाग का दमन होता है वह भाग दूसरे भाग को घृणा की दृष्टि से देखने लगता है। इस प्रकार प्रेम ही घृणा बन जाता है। मान लीजिए एक व्यक्ति जगत्-ख्याति पाना चाहता है, परन्तु उसकी कामुकता उसकी इस अभिलाषा में बाधा डालती है। वह कभी अपने एक स्वत्व से एकीकरण करता है और कभी दूसरे से। जब वह पहले को जीवन में प्रधानता देता है तो दूसरे का दमन होता है। फिर उसका दूसरा स्वत्व उसके व्यक्तित्व के प्रति षड्यन्त्र करने लगता है। इस प्रकार उसके मन में संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इससे मनुष्य की कार्य-क्षमता नष्ट हो जाती है। वह अपने कामों में अनेक प्रकार की भूलें करने लगता है। उसे अनेक प्रकार के रोग भी उत्पन्न हो जाते हैं। जब तक मनुष्य के विभिन्न

भागों में एकता स्थापित नहीं होती वह अपने मानसिक रोगों से मुक्त नहीं होता और न उसमें कार्य-कुशलता ही आती है।

दूसरों के प्रति अपना प्रेम उनके कल्याण के लिए कुछ काम करके प्रकाशित किया जा सकता है। दूसरों के दुःख से दुःखी होना और उनके सुख में सुख की अनुभूति करना उनके प्रति प्रेम का प्रमाण है। जिस व्यक्ति के दुःख से हम दुःखी नहीं होते और जिसके सुख में हम सुख की अनुभूति नहीं करते उसके प्रति वास्तव में हमारा प्रेम नहीं होता। प्रेम हमसे जबरदस्ती ही दूसरों के लिए कल्याण के कार्य करा देता है। हम अपने सहज प्रेम को सेवा के द्वारा बढ़ा सकते हैं। प्रेम की वृद्धि दूसरों को कुछ देकर होती है। दूसरों को भोजन देना, उन्हें लाड़ दिखाना, उनको कुछ पढ़ाना-लिखाना, उनकी दुःख-गाथाएँ सुनना, मनोरथ प्राप्ति में उनकी सहायता करना तथा उनसे बातचीत करना आदि से हम दूसरों के प्रति अपना प्रेम बढ़ा सकते हैं। परन्तु प्रेम के भावों की वृद्धि केवल कार्यों से ही प्रकाशित नहीं होती; प्रेम की वृद्धि प्रेम के विचार और कल्पनाओं को मन में लाने से भी होती है। हमारे प्रेममय विचार और कल्पनाएँ दूसरे लोगों का उसी प्रकार लाभ करते हैं जिस प्रकार हमारे प्रकाशित विचार और कल्पनाएँ। विचार की लहरें रेडियो-ध्वनि की लहरों के समान सूक्ष्म जगत में भ्रमण करती हुई अनेक व्यक्तियों के मन को विशेष प्रकार का बना देती हैं। हमारे मैत्री-भावना-युक्त विचार संसार के अनेक लोगों को नव-जीवन प्रदान करते हैं, उनके उत्साह को बढ़ाते हैं और उन्हें नित्य नई सूझ देते हैं। इन विचारों से ही जगत हरा-भरा होता है। भगवान बुद्ध ने इसीलिये साधकों को सर्वदा मैत्री-भावना का अभ्यास करने का आदेश दिया है। इस प्रकार के अभ्यास से न केवल दूसरे लोगों का कल्याण होता है वरन् अपना भी कल्याण होता है। कोई भी विचार दूर-दूर तक चक्कर काटकर फिर अपने आप पर ही आ जाता है। यदि हमारा विचार भला हुआ तो वह दूसरों की भलाई करके हमारी भी भलाई करता है और यदि वह बुरा हुआ तो वह दूसरों की बुराई करके अपनी भी बुराई करता है। प्रेम के विचार अन्त में अपना ही उत्साह और शक्ति बढ़ाते हैं। जो व्यक्ति दूसरे लोगों को जितने अधिक प्रेम के विचार भेजता है उसका जीवन उतना ही मूल्यवान् होता है। वह अपना कल्याण करने में उतना ही अधिक समर्थ होता है।

प्रेम की सबसे अधिक अनुभूति व्यक्तिगत प्रेम में होती है। इस प्रकार के प्रेम से प्रेम के देनेवाले और प्रेम पानेवाले दोनों ही व्यक्तियों का भारी कल्याण

होता है। थोड़े समय के इस प्रकार के प्रेम से अनेक काल के बुरे मानसिक संस्कार नष्ट हो जाते हैं। मानसिक चिकित्सा का मूल-मंत्र व्यक्तिगत बातचीत और व्यक्तिगत प्रेम है। जैसे-जैसे रोगी अपनी करुण कहानी चिकित्सक को सुनाता है, उसका प्रेम चिकित्सक के प्रति बढ़ता जाता है। इससे चिकित्सक के प्रति उसका विश्वास और श्रद्धा भी बढ़ते हैं। इनके बढ़ जाने से चिकित्सक के सन्निर्देश रोगी के मन पर अपना प्रभाव तुरन्त ही डाल देते हैं और इस प्रकार रोगी अच्छा हो जाता है। रोगी को अपना पूरा प्रेम देना और उस पर विश्वास करना उसे आरोग्य प्रदान करने का सर्वोत्तम उपाय है।

व्यक्तिगत प्रेम की बुराइयाँ भी हैं। व्यक्तिगत प्रेम ही मोह कहलाता है। हमारा व्यक्तिगत प्रेम दुःख का कारण बन जाता है। कोई भी व्यक्ति हमारे प्रति सदा एक सी धारणा नहीं रखता। कभी-कभी उसकी धारणाएँ बदल जाती हैं और कभी व्यक्ति ही बदल जाता है। स्थानान्तरण, मृत्यु तथा दूसरे कारणों से वह हमसे दूर हो जाता है। ऐसी अवस्था में हमारा व्यक्तिगत प्रेम दुःख का कारण बन जाता है।

व्यक्तिगत प्रेम का संग वासना से होता है। ऐसे प्रेम की जब प्रबलता होती है तब वह काम-वासना का रूप धारण कर लेता है। काम-वासना का अनियंत्रित प्रकाशन व्यक्ति और समाज दोनों ही के लिए हानिकारक है। किसी व्यक्ति के प्रति वहीं तक प्रेम प्रदर्शन करना उचित है जहाँ तक उससे उसका कल्याण होता है। वासनामय प्रेम मनुष्य की कर्तव्य-बुद्धि को मन्द कर देता है। इस प्रकार के प्रेम से बहुत-से अनर्थ हो जाते हैं। वासनामय प्रेम सुख की उत्पत्ति तो करता, परन्तु उससे मनुष्य को स्थायी शान्ति नहीं मिलती। इस प्रकार के प्रेम का मनुष्य की नैतिक बुद्धि से विरोध हो जाता है और फिर दोनों में संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। इस संघर्ष के परिणामस्वरूप ही मनुष्य को अनेक प्रकार के मानसिक रोग उत्पन्न होते हैं। यदि मनुष्य की नैतिक बुद्धि वासनामय प्रेम का विरोध न करे तो भी उसका कल्याण नहीं होता। उसके इस प्रकार के प्रेम की लोक में निन्दा होने लगती है। यदि इससे भी मनुष्य को शिक्षा न मिली तो समाज दण्ड द्वारा ऐसे व्यक्ति का सुधार करता है। अतएव किसी भी व्यक्ति को वहीं तक प्रेम दर्शाना ठीक है जहाँ तक वासना का उद्दीपन नहीं होता।

व्यक्तिगत प्रेम मनुष्य की दृष्टि को संकीर्ण बना देता है। जिस व्यक्ति को हम प्यार करते हैं उसकी बुराइयों को हम नहीं देखते। यदि वह कोई अपराध करता है तो उसे रोकने में असमर्थ रहते हैं। ऐसे व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति से विरोध होने

पर हमें न्याय-अन्याय नहीं सूझता। जो बात हमारे प्रियजन के लिए लाभकारी है अथवा जो कुछ वह हमें सुझाता है वही हमें ठीक जँचती है। हम उसके विरोधी पक्ष को देख ही नहीं सकते। यदि कोई भी व्यक्ति हमारे प्रियजन का किसी प्रकार विरोध करे तो हमें उसके प्रति क्रोध ही होता है। इस प्रकार के क्रोध के कारण हम दूसरों का अकल्याण कर डालते हैं। जबतक मनुष्य अपने मानसिक संतुलन को ठीक रखता है तभी तक वह किसी व्यक्ति के प्रति उचित न्याय कर सकता है। जब मनुष्य अपना मानसिक संतुलन खो देता है तो फिर उससे न्याय की आशा करना व्यर्थ है। अंग्रेज लोग भारतवर्ष में राज्य करते समय जितना अच्छा न्याय करते थे उतने सुन्दर न्याय की आशा भारतीयों से करना व्यर्थ है। जब भारतीय अपने ही लोगों के बीच न्याय करता है तो उसकी व्यक्तिगत स्वार्थ की बातें न्याय में बाधा डालने लगती हैं।

इस प्रकार जहाँ व्यक्तिगत प्रेम से समाज का कल्याण होता है वहाँ उससे हानि भी होती है। जिस व्यक्ति की कर्तव्य-बुद्धि जाग्रत है वह व्यक्तिगत प्रेम को इतना नहीं बढ़ने देता जिससे वह उसके कर्तव्य करने में बाधक बन जाय। संसार के कुछ दार्शनिक व्यक्तिगत प्रेम में अनेक दोष देखते हैं। वे कहते हैं कि जहाँ व्यक्तिगत प्रेम की प्रबलता है वहाँ कर्तव्य का होना सम्भव ही नहीं। जो व्यक्ति कर्तव्य-बुद्धि को ही अपने जीवन में प्रधानता देता है उसे सभी प्रकार के भावों को अपने अनुशासन में रखना होगा। कर्तव्य में भावों को प्रधानता देना, चाहे ये भाव प्रेम के हों अथवा किसी दूसरे प्रकार के, कर्तव्य से गिरना है। उनके इस कथन में बहुत कुछ सत्य है। परन्तु यह भी सत्य है कि भावों के सर्वथा अभाव में मनुष्य में कर्तव्य की प्रेरणा भी नहीं रहती। अतएव जबतक व्यक्तिगत प्रेम और कर्तव्य का समन्वय नहीं होता मनुष्य कोई भी लोकोपकारी कार्य करने में समर्थ नहीं होता। इस समन्वय के लिए यह आवश्यक है कि हम अपने आदर्श को सदा ध्यान में रखें और अपने प्रियजन के लिए वही करें जो इस आदर्श की दृष्टि से ठीक है। हमें ऐसा कोई काम उनके लिए नहीं करना चाहिए जो हमें अपने आदर्श से नीचे गिरा देता है। इससे न हमारा ही कल्याण होता है और न प्रियजन का। जिस प्रकार अविवेकयुक्त प्रेम-प्रदर्शन हमारे लिए हानिकारक है उसी प्रकार वह उस व्यक्ति के लिए भी हानिकारक है जो इस प्रकार के प्रेम-प्रदर्शन से लाभ उठाता है। जिस मनुष्य का विवेक जाग्रत है वह अपने सभी कार्य इस प्रकार करता है जिससे स्वयं वह और उसके प्रेम-पात्र अन्तिम भलाई की ओर बढ़ते हैं।

मनुष्य के चरित्र का आधार प्रेम ही है। जब मनुष्य अपने प्रेम के प्रवाह को नैसर्गिक पदार्थों की ओर जाने से रोक कर उन्हें विवेक द्वारा उचित समझे गये पदार्थों की ओर ले जाता है तो उसमें चरित्र का निर्माण होता है। बिना प्रेम की शक्ति के कोई क्रिया सम्भव ही नहीं। यह शक्ति सामान्य भोग की वस्तुओं की प्राप्ति में खर्च हो सकती है अथवा उच्च आदर्श की प्राप्ति में। जो लोग अपनी प्रेम की शक्ति को नैसर्गिक रूप से ही प्रवाहित होने देते हैं वे पाशविक जीवन से ऊपर नहीं उठते। पाशविक जीवन से ऊपर वे ही लोग उठते हैं जो प्रेम के नैसर्गिक प्रवाह को विवेक द्वारा निर्मित मार्ग की ओर ले जाते हैं। मानवता का विकास विवेकपूर्ण प्रेम के संचालन द्वारा ही होता है। मनुष्य अपनी मूल प्रवृत्तियों को नैसर्गिक रूप से तृप्त करने की चेष्टा करता है और इन प्रवृत्तियों के विषय में ही उसका अनुराग होता है। परन्तु अपने प्रयत्न से मनुष्य इस अनुराग को ऐसे पदार्थों में लगा सकता है जो मूल प्रवृत्तियों की नैसर्गिक रूप से तृप्ति न कर उसके आदर्श की पूर्ति करते हैं। बार-बार प्रेम-प्रदर्शन के अभ्यास से मनुष्य अपने जीवन में कुछ ऐसे स्थायी भाव बना लेता है जो उसकी क्रियाओं का उसी प्रकार संचालन करते हैं जिस प्रकार उनके अभाव में नैसर्गिक प्रवृत्तियाँ करती थीं। यही स्थायी भाव मनुष्य की अच्छी आदतों के आधार होते हैं और ये ही मानव-चरित्र के बल होते हैं। ये स्थायी भाव किसी व्यक्ति, समाज अथवा किसी आदर्श के प्रति हो सकते हैं। इन स्थायी भावों में आपस में समन्वय स्थापित करना सुचारु रूप से जीवन चलाने के लिये आवश्यक है। मनुष्य का चरित्र उसके स्थायी भावों की दृढ़ता और उनके आपस के समन्वय पर निर्भर करता है।

जिस मनुष्य के जीवन में प्रबल स्थायी भाव नहीं है उसके आचरण का भरोसा नहीं रहता। वह बहुत ऊँची ऊँची बात कर सकता है, वह सूक्ष्म दार्शनिक विचार कर सकता है, परन्तु आचरण करते समय वह ढीला हो जाता है। आचरण की शक्ति स्थायी भाव से आती है अर्थात् यह शक्ति भाव की ही शक्ति है। स्थायी भाव एक ही भाव के बार-बार अभ्यास करने से आता है। एक व्यक्ति अथवा एक लक्ष्य के प्रति जब एक ही भाव की बार-बार अनुभूति की जाती है तो उसके प्रति एक स्थायी भाव बन जाता है। यही स्थायी भाव मनुष्य का संचित द्रव्य है। इसी के आधार पर मनुष्य आचरण करता है।

चरित्र की दृढ़ता के लिये मनुष्य के विभिन्न स्थायी भावों में समन्वय होना उतना ही आवश्यक है जितना कि दृढ़ स्थायी भावों का बनना। जब यह समन्वय

नहीं रहता तो मनुष्य के मन का एक भाग दूसरे भाग के विरुद्ध षड्यन्त्र करने लगता है। दो विरोधी स्थायी भावों में से जिस स्थायी भाव को मनुष्य अपना लेता है वह उसकी ज्ञात क्रियाओं का प्रेरक बन जाता है, और जिसे वह स्वीकार नहीं करता वह चेतना की सतह के नीचे चला जाता है। वह फिर मनुष्य की ज्ञात अथवा इच्छित क्रियाओं में बाधा डालने लगता है और अनेक प्रकार की अज्ञात चेष्टाओं अथवा अनिच्छित क्रियाओं का कारण बन जाते हैं। इस प्रकार के दबे स्थायी भाव मानसिक रोगों के जनक होते हैं। मनुष्य के मानसिक रोगों का कारण स्वयं अपने से ही घृणा का भाव है। यह घृणा भाव अपने प्रधान स्थायी भाव अर्थात् आदर्शमय स्थायी भाव द्वारा दूसरे स्थायी भावों की अस्वीकृति और दमन के कारण उत्पन्न होता है।

जब दो प्रबल स्थायी भावों में विरोध होता है तो उनमें समन्वय स्थापित करना बड़ा कठिन होता है। ऐसी अवस्था में मनुष्य को अन्तर्मुखी बनने की आवश्यकता होती है। जिस मनुष्य का विश्वास किसी एक ऐसे व्यापक तत्व की उपस्थिति में है जो सबके हृदय में उपस्थित है और सभी का प्रिय है वह अपने आपको स्थायी भावों के द्वन्द्व से सरलता से मुक्त कर लेता है। सच्चे धार्मिक लोग उन मानसिक द्वन्द्वों का अनुभव नहीं करते और न उन्हें वे रोग ही होते हैं जो धार्मिक भावनाओं से वंचित लोगों को होते हैं। ऐसे लोग अपना मुख्य प्रेम विश्वात्मा को दे देते हैं। बचे-खुचे प्रेम से ही वे लौकिक जीवन को चलाते हैं। ऐसे लोगों को लौकिक जीवनकी सफलता और विफलता उद्विग्न मन नहीं करतीं।

प्रत्येक मनुष्य के जीवन में एक ऐसा समय अवश्य आता है जब वह अपने बहिर्मुखी प्रेम से ऊब जाता है। जिन लोगों को उसने पूरे मन से प्यार किया वे ही उसे धोखा देने लगते, उदासीन हो जाते अथवा दुःख देने लगते हैं। जिन स्थायी भावों को वह बड़ी लगन के साथ बनाता और रक्षा करता है वे ही उसे भाररूप हो जाते हैं। जिन स्थायी भावों से मनुष्य अपना तादात्म्य स्थापित करता है वे उसके अहंकार के कारण बन जाते हैं। जब इन स्थायी भावों का उनके विरोधी दूसरे स्थायी भावों से संघर्ष होता है तो मनुष्य को भारी दुःख का अनुभव होता है। जबतक प्रधान स्थायी भाव विरोधी स्थायी भाव को दबाये रहते हैं तबतक मनुष्य अपने आपको सफल मानता है, परन्तु जब प्रधान स्थायी भाव की हार होने लगती है तो मनुष्य आत्म-निराश का अनुभव करने लगता है। महात्मा गांधी के जीवन में यही हुआ। जब तक उनके प्रिय आदर्श सत्य

और अहिंसा की भारतवर्ष के राजनैतिक जीवन में विजय होती हुई दिखाई देती रही तब तक वे आशावादी और प्रसन्न बने रहे, परन्तु जब विरोधी भावों की प्रबलता होने लगी तो वे मरने की इच्छा करने लगे। वास्तव में उक्त दोनों प्रकार के भावों की जड़ उनके व्यक्तित्व में ही थी। जिस बात की जड़ मनुष्य के व्यक्तित्व में नहीं होती उसकी उपस्थिति से मनुष्य सुखी अथवा दुःखी नहीं होता। समाज के नेता के मनोभाव ही समाज के लोगों के भाव बन जाते हैं। महात्मा गांधी के ज्ञात स्थायी भावों के कारण भारतवर्ष के राजनैतिक क्षेत्र में सत्य और अहिंसा का वातावरण उत्पन्न हुआ और उनके अज्ञात स्थायी भावों के कारण विरोधी वातावरण उत्पन्न हो गया। किसी भी स्थायी भाव की शक्ति उसके प्रकाशित होने अथवा कार्यान्वित हो जाने से घट जाती है। फिर छिपे विरोधी भाव को प्रकाशित होने का अवसर मिल जाता है। महात्मा गांधी और भारतवर्ष के व्यक्तित्व में यही हुआ।

किसी मनुष्य का प्रकाशित चरित्र कितना ही शुद्ध क्यों न हो, उसके भीतरी मन में अनेक ऐसे भाव रहते हैं जिसके ज्ञान से उसे आत्म-ग्लानि होती है। ये भाव पुराने अभ्यास के परिणाम होते हैं। इन सबमें समन्वय स्थापित करने के लिये उनका जानना और उनसे अपनी आत्मीयता को अलग करना आवश्यक है। यह कार्य मनुष्य के अन्तर्मुखी बने बिना नहीं होता। अन्तर्मुखी होने पर मनुष्य एक ओर अपने सद्गुणों से, जिनका वह अभिमान करता है, और दूसरी ओर अपने दुर्गुणों से निरपेक्ष हो जाता है। वह न तो भले स्थायी भावों से तादात्म्य भाव स्थापित करता है और न बुरों से। वह भले और बुरे दोनों प्रकार के लोगों को एक सा ही प्यार करता है।

मानव-जीवन की सार्थकता प्रेम की वृद्धि और उसके विकास में है। मनुष्य का प्रेम पहले-पहल स्वार्थमय और व्यक्तिगत होता है। आगे चलकर उसका प्रेम प्राणी मात्र से हो जाता है। इसी प्रकार उसका प्रेम पहले भले और सदाचारी लोगों के प्रति ही होता है, फिर उसका प्रेम उन लोगों से भी हो जाता है जो बुरे और दुराचारी समझे जाते हैं। सन्त वह पुरुष नहीं है जो उन्हीं लोगों को प्यार करता है जो भले और सदाचारी माने जाते हैं, वरन् सन्त पुरुष वह है जो पतित समझे जाने वाले लोगों को भी प्यार करता है। अपनी "डी प्रोफान्डिस" नामक पुस्तक में इस तथ्य को बड़े सुन्दर ढंग से आस्कर वाइल्ड नामक लेखक ने रखा है। अपने आपकी आत्मशुद्धि की दृष्टि से और आन्तरिक शान्तिलाभ की दृष्टि से चरित्रवान व्यक्ति के लिये चरित्रहीन व्यक्ति को

सहानुभूति दिखाना नितान्त आवश्यक है। चरित्रवान समझे जाने वाले व्यक्ति न केवल अपने वरन् दूसरों के अभद्र भावों के प्रति बहुत ही कठोर होते हैं। इससे उनका मन उस घर के समान हो जाता है जिसमें आपसी कलह सदा बनी रहती है। ऐसे व्यक्ति के आन्तरिक मन में देवासुर संग्राम की अवस्था सदा बनी रहती है। चरित्र का अभिमान रखने वाले व्यक्ति को बार-बार आत्म-भर्त्सना होती रहती है। अपनी अशान्ति को भुलाने के लिए वह कभी-कभी दूसरों के सुधार के कार्य में लग जाता है, परन्तु इसमें भी उसे असफलता ही मिलती है। जब तक मनुष्य यह नहीं जान लेता कि संसार के भले और बुरे लोग अपने ही अज्ञात मनोभावों के बाह्यकरण मात्र हैं अर्थात् हम अपने ही मनोभावों को दूसरे लोगों में मूर्तिमान होकर देखते हैं, तब तक वह किसी का भी वास्तविक कल्याण नहीं कर पाता। हमारी छिपी व्यभिचार की मनो-वृत्ति हमें व्यभिचारी के सम्पर्क में लाती है और चोर की मनोवृत्ति चोर के। इन लोगों के प्रति सहानुभूति दिखा कर हम अपने ही दबे भावों के प्रति सहानु-भूति दिखाते हैं और इस प्रकार आत्म-समन्वय स्थापित कर लेते हैं। फिर ये दबे भाव हमारे व्यक्तित्व की हानि न कर उसका बल बढ़ाते हैं। इस प्रकार प्रेम द्वारा चरित्र में गिरे हुए लोगों को उठाने का प्रयास स्वयं को ही उठाने का प्रयास है। ऐसा करने पर हमें किसी से घृणा नहीं होती। न हमें अपनी प्रशंसा सुनकर आल्हाद होता है और न निंदा सुनकर आत्म-ग्लानि होती है।

मनुष्य की उक्त प्रकार की निर्लिप्तता की मनोवृत्ति तभी होती है, जब वह व्यापक सत्ता के प्रति अपने आपको समर्पित कर देता है, अथवा आत्म-रमण करने लगता है। चरित्रवान व्यक्ति केवल चरित्रवान को ही प्यार करता है, वह अपने चरित्र का अभिमान रखता है और दूसरे चरित्रवान व्यक्ति को प्यार करके अपने चरित्र को दृढ़ बनाता है। परन्तु अन्तर्मुखी व्यक्ति चरित्रवान और चरित्रहीन दोनों प्रकार के व्यक्तियों को प्यार करता है और दोनों की सेवा करने की चेष्टा करता है। वह अपने कार्य का क्षेत्र चरित्रवान की अपेक्षा चरित्रहीन में ही अधिक पाता है। वह समदर्शी होता है।

देखा गया है कि समाज के अधिक चरित्रवान व्यक्ति अपने ही घर को सम्हालने में असमर्थ रहते हैं। पति-पत्नी में सदा अनबन बनी रहती है। किसी प्रकार के आदर्श की बात लेकर पति का पत्नी से झगड़ा हो जाता है। इसी प्रकार वे अपनी सन्तान को सम्हालने में भी असमर्थ रहते हैं। कभी-कभी चरित्रवान व्यक्तियों की सन्तान चरित्रहीन और निकम्मी हो जाती है। इसका

कारण उनके प्रेम का उचित विकास का अभाव ही है। सन्तान का मानसिक विकास भर्त्सना के द्वारा नहीं, वरन् प्रेम और प्रोत्साहन से होता है। मनुष्य के बचे उसके अन्तर्मन के बाह्यकरण मात्र हैं। बचे प्रत्यक्ष रूप से बताते हैं कि हम भीतरी मन से कैसे हैं। वही व्यक्ति आन्तरिक जीवन में सफल कहा जा सकता है जो अपने बच्चों को ऊँचा उठाने में समर्थ हुआ। बच्चों के उठाने के प्रयास में मनुष्य के मनोभावों का जैसा विकास होता है वैसा किसी दूसरे प्रकार से नहीं होता। बच्चों को शिक्षित करना अपने भीतरी मन को सुशिक्षित बनाने का साधन है।*

प्रेम मनुष्य में परोपकार की मनोवृत्ति उत्पन्न करता है और उसे किसी आदर्श की ओर प्रेरित करता है। प्रेम के आधार पर चरित्र की नींव खड़ी होती है। प्रेम ही विभिन्न प्रकार के स्थायी भावों में प्रगट होता है। ये स्थायी भाव विकसित होते रहते हैं। वे पहले-पहल स्थूल पदार्थों के प्रति होते हैं फिर सूक्ष्म पदार्थों और आदर्शों के प्रति होते हैं। ये आदर्श बदलते रहते हैं। चरित्र का विकास इन आदर्शों का विकास है। यह प्रेम का भी विकास है। इस प्रकार का विकास न केवल चरित्र का निर्माण करता है वरन् मनुष्य को उसके मिथ्या अभिमान से मुक्त कर स्थायी शान्ति प्रदान करता है।

---

* चार्ल्स युङ्ग का कथन है कि मनुष्य का अन्तर्मन ही पत्नी है (The unconscious of man is woman)। जिस व्यक्ति का अन्तर्मन उससे असंतुष्ट है उसकी पत्नी भी उससे असंतुष्ट रहती है। ऐसा व्यक्ति आदर्शवादी होता है परन्तु सुखी नहीं होता। उसकी आदर्शवादिता उसकी पत्नी को प्रबल दुष्टा बना देती है। दमन से मनुष्य के अचेतन मन में सुधार न होकर बिगाड़ ही होता है। इसी प्रकार पत्नी के दमन से उसमें सुधार न होकर बिगाड़ होता है। इसके कारण चरित्रवान लोगों की पत्नियाँ कभी-कभी उनसे अलग हो जाती हैं अथवा आत्महत्या कर लेती हैं। पत्नी का सुधार प्रेम और सहानुभूति से ही होता है और इस सुधार के प्रयास से अपने प्रेम का प्रसार होता है तथा आत्म-सुधार हो जाता है।

दसवाँ अध्याय

मनुष्य की चिन्ताएँ

मनुष्य के जीवन में चिन्ताओं का स्थान बड़ा महत्वपूर्ण है। ऐसा कोई मनुष्य नहीं जिसे चिन्ताएँ न हों। जब तक मनुष्य को किसी प्रकार की अभिलाषा और इच्छा है, जब तक वह किसी प्रकार की उन्नति अपने आपमें चाहता है तब तक उसे चिन्ता रहेगी ही। चिन्ता की मनोवृत्ति का आधुनिक मनोविज्ञान ने भली प्रकार से अध्ययन किया है। मनुष्य के बहुत से मानसिक रोग चिन्ता से ही उत्पन्न होते हैं। चिन्ता से मनुष्य की शक्ति का ह्रास हो जाता है। बहुत दिन तक लगी हुई चिन्ता मनुष्य के मन को इतना निर्बल बना देती है कि वह किसी भी प्रकार के रचनात्मक कार्य करने का सामर्थ्य अपने आपमें अनुभव नहीं करता। जो मनुष्य अपने विषय में जितना ही अधिक चिन्ता करता है, वह अपना सामर्थ्य उतना ही अधिक खो देता है।

चिन्ता नकारात्मक विचार है। यह मनुष्य की रचनात्मक शक्ति को खा जाती है। मनुष्य जब तक अपने काम में लगा रहता है वह किसी प्रकार की प्रगति करता जाता है, उसे चिन्ता नहीं होती। जब उसके काम में रुकावटें आने लगती हैं और जब वह काम से अलग हो जाता है तो उसका मन चिन्ता का घर बन जाता है। उसके मन में सदा एक के बाद दूसरी चिन्ताएँ आती ही रहती हैं। जब मनुष्य बाहर काम करता है तो बाहरी काम सम्बन्धी चिन्ताएँ उसे त्रास देती हैं, जब वह इस काम को छोड़कर बैठ जाता है तो उसे अपने विषय में ही चिन्ता हो जाती है। लेखक के एक विद्यार्थी को अपनी पढ़ाई के सम्बन्ध में भारी चिन्ता हुई। यह चिन्ता परीक्षा के समय बढ़ जाती थी। उसके पिता विद्वान् व्यक्ति हैं, वे अपने पुत्र को अपने समान ही बनाना चाहते थे, परन्तु पुत्र अपने में इस प्रकार के सामर्थ्य का अनुभव नहीं करता था। पढ़ाई में कमजोर होने के कारण उसे पढ़ाई बोझ-रूप दिखाई देती थी। इसके कारण पढ़ने में उसका मन और भी नहीं लगता था। जब परीक्षा समीप आई तो वह अपनी मानसिक स्थिति से परेशान होकर घर से भाग गया। कुछ दिनों के बाद वह वापस आया। उसके पिता अब भी उसे पढ़ने में लगाना चाहते थे, पर उसने पढ़ने से अपने मन को हटा लिया था। अब उसकी पढ़ने की चिन्ता जाती रही। परन्तु अब उसे भय होने लगा कि कहीं उसे कोई शारीरिक रोग न हो जाय। वह व्यायाम करने और शारीरिक बल बढ़ाने का शौकीन है।

जिस नगर में वह भागकर गया था उसमें चेचक फैली थी। उसे असाधारण भय हो गया था कि कहीं उसे चेचक न हो जाय। अतएव वहाँ से भागकर घर आ गया, परन्तु यहाँ भी उसे भय हुआ कि उसे कहीं क्षय रोग न हो जाय। अपनी चिन्ता की मनोवृत्ति को भुलाने के लिए वह सिगरेट पीने लगा। वह बड़ा चरित्रवान लड़का है। सिगरेट पीने को वह बुरा मानता है अतएव वह सिगरेट पीने के लिए अपनी भर्त्सना करने लगा। परन्तु जैसे-जैसे वह अपनी भर्त्सना करता था वैसे-वैसे उसकी सिगरेट पीने की प्रवृत्ति और भी प्रबल होती जाती थी। फिर उसे भय हुआ कि कहीं मैं चरित्र के उन सभी दोषों को न पकड़ लूँ, जिनसे मैं अभी तक अपने आपको बचा रहा हूँ। अर्थात् मैं कहीं शराबी, वेश्यागामी, चोर, जुआड़ी आदि न बन जाऊँ। उसने लेखक से कहा कि यदि मैं अपने इच्छित काम में न लग गया तो चरित्र के ये सभी दोष मुझमें आ जावेंगे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि निकम्मे हो जाने पर बाहर की चिन्ताएँ तो बढ़ती ही जाती हैं भीतर की चिन्ताएँ भी मनुष्य को परेशान करने लगती हैं। निराश मनुष्य की बाहर की चिन्ताएँ ज्यों-ज्यों कम होती हैं, उसकी भीतर की चिन्ताएँ बढ़ती जाती हैं। ये चिन्ताएँ अपना रूप बदलती जाती हैं। अपनी विक्षिप्त अवस्था में मनुष्य चिन्ता के वास्तविक विषय से परेशान न रहकर उसके प्रतीक से ही परेशान रहने लगता है। वह चिन्ता के विषय को भुलाने की जितनी ही चेष्टा करता है उसकी चिन्ताएँ उतनी ही जटिल होने लगती हैं। कितने ही लोग अपने विचारों से इतना डरने लगते हैं कि वे क्षण भर अकेले नहीं रह सकते। उन्हें कोई न कोई मनुष्य सदा साथ में चाहिए। लेखक का एक मित्र अपने परिवार के बिना एक जगह से दूसरी जगह इसलिए नहीं जा सकता कि उसे अकेले छूट जाने का भय लग गया है। रविवार का दिन उसे बड़ी परेशानी से कटता है। वह अपने को सदा किसी काम में लगाये रखना चाहता है। इस प्रकार के भय का कारण अपने विचारों का ही भय है।

चिन्ता का भय से अनिवार्य सम्बन्ध है। चिन्ता विकृत भय की मनोवृत्ति है। जब मनुष्य के मन में किसी बात का भय होता है तो वह उस भय के निवारण के लिए कुछ प्रयत्न करता है। परन्तु जब वह भय से मुक्त होने के लिए कुछ भी नहीं कर सकता तो उसका भय चिन्ता का रूप धारण कर लेता है। भय एक मानसिक शक्ति है। इस शक्ति के कारण मनुष्य हानिकारक परिस्थितियों से अपनी रक्षा करता है। जब आत्म-रक्षा का मार्ग खुला रहता है

तो मनुष्य कुछ कार्य करने लगता है और भय इस प्रकार रचनात्मक कार्य में प्रकाशित होता है, परन्तु जब आत्म-रक्षा का मार्ग प्रस्तुत नहीं रहता तो भय चिन्ता का रूप धारण कर लेता है। आधुनिक मनोविज्ञान के एक महान् पंडित हेडफील्ड चिन्ता के विषय में अपनी 'साइकलॉजी एण्ड मेण्टल हेल्थ' नामक पुस्तक में लिखते हैं, "चिन्ता भय की विकृत दशा का नाम है। इसके रूप कई हैं, वे इतने असंख्य हैं जितने कि समुद्र की बालू के कण। पृथ्वी पर, स्वर्ग में, मन में कोई ऐसी वस्तु नहीं जो कि चिन्ता का विषय न बन जाय। जब चिन्ता बढ़ जाती है तो वह प्रतिदिन के काम में बाधक बन जाती है। ऐसी चिन्ता में विरले ही मनुष्य रह पाते हैं"।*

मनुष्य को चिन्ता तभी होती है जब उसके व्यक्तित्व अथवा स्वाभिमान को किसी प्रकार की क्षति की आशंका होती है। मनुष्य जो कुछ करता है वह उसके अभिमान अथवा व्यक्तित्व का अंग बन जाता है। मनुष्य का धन दौलत, उसकी विद्या, कीर्ति और उसके आदर्श उसके अभिमान के अंग होते हैं। जब मनुष्य को इनपर किसी प्रकार के आघात का भय रहता है और उस आघात से अपने आपको बचाने के लिए वह कुछ नहीं कर पाता तो उसे चिन्ता हो जाती है। अपने व्यक्तित्व पर बाहरी अथवा भीतरी कारणों से आघात हो सकता है, अतएव मनुष्य को कभी बाहरी बातों की चिन्ता होती है और कभी भीतरी बातों की। चिन्ता का विषय चाहे बाहर का कोई पदार्थ हो अथवा भीतर की कोई वासना, उसका अंतिम कारण मनुष्य के मन में ही होता है। मनुष्य के बाहर की चिन्ता के विषय भीतरी चिन्ता के विषय के आरोपण मात्र होते हैं। जिन मनोभावों पर मनुष्य विजय प्राप्त नहीं कर पाता है वे बाहरी परिस्थितियों में आरोपित होकर मनुष्य को अनेक प्रकार से परेशान करते हैं।

मनुष्य को अपने समक्ष आनेवाली व्यक्तित्व की समस्याओं को हल करना ही होता है। इन समस्याओं का हल दो प्रकार से होता है—अपनी कठिनाइयों

---

* "Anxiety is a morbid condition of fear. Its forms are varied and as numerous as the sands on the sea-shore; for there is nothing on earth or in the heavens, nor in the mind of man, which may not be the object of morbid fear. In the form of "worry" it is one of the most common distractions of daily life, from which few people are fortunate enough to escape"—Hadfield : *Psychology and Mental Health.*

पर विजय प्राप्त करके अथवा अपने अभिमान को घटाकर। जब मनुष्य न तो अपनी कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करने का सामर्थ्य अपने आपमें देखता है और न वह अपने अभिमान को कम करना चाहता है तब वह अपनी कठिनाइयों और उसके कारण उत्पन्न हुये भय को भुला देने की चेष्टा करता है। इस प्रकार उसका भय चिन्ता का रूप धारण कर लेता है। जब मनुष्य अपनी ज्ञात चिन्ता को हटाने में असफल रहता है और उसे भी भुलाने का प्रयत्न करता है तब उसे अकारण भय और चिन्ताएँ उत्पन्न हो जाती हैं। मन की दुर्बल अवस्था में छोटी-छोटी बातें चिन्ता का कारण बन जाती हैं।

लेखक के एक विद्यार्थी को कापी पर कुछ लिखते समय भय हो जाता था कि कहीं वह अपनी क़लम की निब को आँख में न डाल ले, भोजन करते समय उसे भय हो जाता था कि कहीं वह कौर को मुँह में न डालकर कान में न डाल ले। एक दूसरे विद्यार्थी को रेल में चलते समय भय हो जाता था कि वह कहीं अपना टिकट ही न फेंक दे, कहीं वह रेल से उतरकर पटरी के नीचे न दब जाय; युवतियों के समीप आने पर उसे भय हो जाता था कि कहीं वह उनके वस्त्र को ऊँचा न कर दे। लेखक के एक रोगी को भय था कि वह अपना ही पैखाना हाथ में न ले ले।* वे लोग जानते हैं कि वे ऐसी कोई बात न करेंगे, परन्तु ऐसे विचारों का आना ही उन्हें परेशान करता है। अतएव अब उन्हें इन विचारों से ही भय हो गया है। वे इन विचारों को निकालने में असमर्थ हैं। अतएव इन विचारों ने चिन्ता का रूप धारण कर लिया है।

उक्त चिन्ताएँ उन दबे भावों की प्रतीक हैं जिनका उनके अभिमान ने दमन किया है। वे अब उनके व्यक्तित्व का बल न बढ़ाकर उसको निर्बल बना रही हैं। जब मनुष्य अपने ही व्यक्तित्व में किसी ऐसे भाव अथवा वासना को

---

* लेखक के पास आनेवाले एक रोगी को नये कपड़े से, लाल और सफेद रंग से भय लगा रहता है। उसे एक बार बिजली के खंभों से भी भय हो गया था। उसके भय के पदार्थ बदलते रहते हैं। जब सभी भय समाप्त हो जाते हैं तो उसे भय रहता है कि उसे फिर से भय न हो जाय। इस प्रकार उसका मन सदा चिन्ता की अवस्था में बना रहता है। ये भय वास्तविक भय के प्रतीक मात्र होते हैं। वास्तविक भय का कारण कोई कलुषित भाव रहता है जिसके भुलाने की रोगी सदा चेष्टा करते रहता है। इस भाव की आत्म-स्वीकृति से भय समाप्त हो जाता है।

देखता है जिसकी उपस्थिति उसे लज्जित करती है तो वह उस भाव अथवा वासना को भुला देने की चेष्टा करता है। वही भाव अकारण चिन्ता अथवा भय का रूप धारण करके मनुष्य की चेतना के समक्ष आता है। वह अपनी उपस्थिति से मनुष्य के अभिमान को घटाता है। इस प्रकार के भावों के बार-बार उपस्थित होने पर मनुष्य इतना विकल मन हो जाता है कि वह इन विचारों से मुक्त होने के लिये अपने आपके ही विरुद्ध कुछ भी करने को तैयार हो जाता है। चिन्ता-ग्रस्त मनुष्य अपनी चेतना को खो देना चाहता है। इसीलिए वह नशाखोरी में लगता है। इससे मनुष्य के मन का बल और भी कम हो जाता है। फिर जब कभी मनुष्य नशे से मुक्त होता है तो वह पहले से अधिक चिन्तायुक्त हो जाता है। ऐसी ही अवस्था में मनुष्य पागल हो जाने की इच्छा करता है।

मनुष्य की चिन्ताओं को घटाने और बढ़ाने में उसकी बाहरी सफलता अथवा विफलता उतना महत्व नहीं रखती जितनी उसकी आन्तरिक सफलता और विफलता रखती है। एक ही परिस्थिति में एक मनुष्य चिन्ताग्रस्त हो सकता है और दूसरा उत्साहयुक्त; यह मनुष्य के मन की बनावट पर निर्भर करता है। अपने मन के अविजित विरोधी मनोभाव बाहरी पदार्थों अथवा घटनाओं को विशेष प्रकार का महत्व देकर हमें डराते और चिंताग्रस्त करते हैं। जो मनुष्य अपने कामवासना पर वास्तविक विजय न प्राप्त करके भी उसपर विजय पाने का अभिमान रखता है उसे भय रहता है कि कहीं कोई स्त्री उसको प्रलोभन में न डाल ले। लेखक के एक साधक मित्र को जो पच्चीस वर्ष से संन्यासी बनकर योगाभ्यास कर रहे हैं एक विधवा बहुत ही प्यार करती है। वह उन्हें ईश्वर के अवतार के रूप में मानती है। परन्तु वे उसके पास नहीं जाते। जब कभी वह आश्रम की ओर आती है तो वे अपनी कुटिया में किवाड़ बंद करके बैठ जाते हैं अथवा बाहर निकल जाते हैं। जितना ही अधिक प्रेम वह उनके प्रति दर्शाती है वे उसकी उतनी ही उपेक्षा करते हैं। इन्हीं मित्र को स्त्रियों की ओर देखने तक में कठिनाई होती है। स्त्रियों से बातचीत करते समय उनकी दृष्टि उनकी छाती के ऊपर चली जाती है और इससे वे लज्जित होकर नतमस्तक हो जाते हैं। पुरुषों से भी बातचीत करते समय उनकी दृष्टि उनके निम्न भाग के ऊपर चली जाती है। उनकी इस प्रकार की मानसिक स्थिति से स्पष्ट है कि वे आत्म-समन्वय स्थापित नहीं कर सके अर्थात् अपनी कामवासना और वासनामय प्रेम पर वास्त-विक विजय प्राप्त करने में असमर्थ रहे हैं। उनकी आत्म-विजय की साधना केवल दमनात्मक हुई है और इसके कारण उनके व्यक्तित्व के दो भाग हो गये हैं।

अब एक भाग दूसरे भाग के प्रति अनेक प्रकार के षड्यंत्र रचा करता है। अस्वीकृत भाग के कारण ये समाज के बहुत से उपयोगी काम करने से वंचित रह जाते हैं। दबा भाग अनेक प्रकार की चिन्ताओं का कारण बन गया है। इन्होंने युवावस्था में ही घर-द्वार छोड़ दिया था और तब से आदर्श ब्रह्मचर्य का जीवन व्यतीत करने की चेष्टा कर रहे हैं। वे जितना ही अपने ब्रह्मचर्य-जीवन में सफल हुए उतना ही उनका चरित्र का अभिमान बढ़ा। इस अभिमान के बढ़ने के साथ-साथ उनका रोग भी बढ़ता गया। उनकी चिन्ताएँ इस बात की द्योतक हैं कि उनके प्रेमभाव और वासना-शक्ति का उनके व्यक्तित्व में उपयोगी स्थान नहीं है। प्रेम और वासना का मनुष्य के आदर्श से जब समन्वय नहीं होता तो वे मनुष्य के मन में अकारण भय और चिन्ताएँ उपस्थित कर देते हैं।*

जब तक मनुष्य जीता है तब तक उसे किसी न किसी प्रकार की चिन्ताएँ अवश्य होंगी। जब चिन्ता की मात्रा थोड़ी रहती है तो वह मनुष्य को अपने काम में लगाने में सहायक होती है। चिन्ता से बिलकुल विमुक्त व्यक्ति या तो सिद्ध है अथवा निकम्मा पशु। परन्तु जब चिन्ता अधिक बढ़ जाती है तो वह रचनात्मक काम में लगने में मनुष्य को बाधा डालने लगती है। ऐसी चिन्ता से मुक्त होना नितांत आवश्यक है। चिन्ता कम होने पर ही मनुष्य अपने काम को भली प्रकार से कर पाता है। कितने ही मनुष्य अपने हाथ के काम के विषय में ही इतनी चिन्ता करते हैं कि उनकी सारी मानसिक शक्ति चिन्ता में ही नष्ट हो जाती है और जब वे काम करने बैठते हैं तो वे कुछ भी नहीं कर पाते। चिंता से वे इतना थक जाते हैं कि थोड़ा-सा भी काम करना उनके लिए भार हो जाता है।

चिन्ता से मुक्त होने के उपाय क्या हैं? चिन्ता के निराकरण का एक अति उपयोगी उपाय अपने को सदा किसी-न-किसी रचनात्मक काम में लगाये रखना है। बेकार मन ही शैतान का घर होता है। अपने आपको सदा उपयोगी

---

* जब से उपरोक्त पंक्तियाँ लिखी गई हैं तब से उक्त मित्र की सभी प्रकार की झक्तें जाती रहीं। उन्होंने हमारी मनोवैज्ञानिक सलाह मानकर मानवमात्र की सेवा स्वीकार कर ली। आत्म-स्वीकृति से उनके अभिमान में कमी हुई और प्रेम भावकी वृद्धि से उनकी दबी वासना का उदात्तीकरण हो गया। वे कुशल चिकित्सक हैं और अब वे अपनी इस योग्यता से स्त्री, पुरुष, और बच्चों की सेवा कर रहे हैं। दमित होने पर जो भाव उनके व्यक्तित्व के शत्रु बन गए थे, वे ही अब उनके व्यक्तित्व का बल बढ़ा रहे हैं।

काम में लगाये रखने से मनुष्य के अनेक अवांछनीय मनोभाव अपने आप ही नष्ट हो जाते हैं। चिन्ता रचनात्मक कार्य की अग्नि में जलकर भस्म हो जाती है। अतएव मन में चिन्ता आने पर चित्त को एकाग्र करनेवाले किसी भी काम में लग जाना बड़ी बुद्धिमानी है। एडवर्ड कारपेण्टर महाशय के इस कथन में मौलिक सत्य है कि अपने विचार को एक बार मार दो फिर तुम कुछ भी उसके साथ कर सक्ते हो। मन की दुर्बल अवस्था में ही चिन्ता मनुष्य को त्रास देती है। जब मनुष्य की इच्छा-शक्ति की दुर्बल अवस्था में कोई भी अभद्र विचार उसके मन में घुस जाता है तो फिर वह चिन्ता का कारण बन जाता है। इच्छा-शक्ति का बल बढ़ाने का सर्वोत्तम उपाय अपने आपको सदा रचनात्मक कार्य में लगाये रखना है। इससे मनुष्य की उन भावों की शक्ति का शोधन हो जाता है जो उसके व्यक्तित्व के प्रति षड्यंत्र करके चिन्ता के रूप में प्रगट होती हैं। इससे मनुष्य के व्यक्तित्व में आत्म-समन्वय हो जाता है। *

चिन्ता के निराकरण के लिये न केवल वे ही काम किये जा सकते हैं जिनका चिंता से सीधा संबंध है, वरन् कोई भी दूसरा रचनात्मक कार्य मनुष्य को चिंता से मुक्त करने में सहायक होता है। चिंताग्रस्त मनुष्य जितना ही निकम्मा रहे उतना ही बुरा है। जब मनुष्य कोई बड़ा काम न कर सके तो उसे कोई छोटा काम ही हाथ में ले लेना चाहिए। कहा गया है बैठे से बेगार भली। जैसे-जैसे मनुष्य काम को करता जाता है उसका आत्मविश्वास भी बढ़ता जाता है। फिर वह अपने विचार के नियंत्रण में समर्थ होता है।†

चिंता से मुक्त होने के लिये आवेगों को अनुशासन में रखना नितांत आवश्यक होता है। जो लोग प्रबल आवेगों का अनुभव करते हैं, वे अपनी

---

* भगवान कृष्ण गीता में कहते हैं—

कायेन मनसा बुद्ध्या, केवलैरिन्द्रियैरपि
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽत्मशुद्धये।

अर्थात् आत्मशुद्धि के लिये ही योगीजन किसी न किसी प्रकार के काम में लगे रहते हैं। रचनात्मक कार्य दबे भावों के शोध का सर्वोत्तम उपाय है।

† अंग्रेजी लेखक कारलाइल के निम्नलिखित विचार इस प्रसंग में उल्लेखनीय हैं—

Doubt, Desire, Sorrow, remorse, indignation, despair lie like hell dogs beleagering the soul of the poor day worker as of every

इच्छा-शक्ति को कमजोर बना देते हैं। जब इस प्रकार मनुष्य की इच्छा-शक्ति कमजोर हो जाती है तो उसे अनायास ही अनेक भय, संशय और चिन्ताएँ घेर लेती हैं। अभिमानी और स्वार्थी मनुष्य के आवेग बड़े प्रबल होते हैं, अतएव इनकी चिन्ताएँ भी बड़ी प्रबल होती हैं। जैसे-जैसे उन्हें अपने जीवन में सफलता मिलती जाती है उनकी आकांक्षाएँ उतनी ही अधिक बढ़ती जाती हैं। फिर कभी न कभी उन्हें निराशा आ ही जाती है। एक बार निराशा की मनोवृत्ति उत्पन्न हो जाने पर वे उसका नियंत्रण न करके अनेक प्रकार की चिंताओं से त्रस्त होने लगते हैं। जो लोग अपने काम, क्रोध और लोभ के आवेगों को सदा अपने अनुशासन में रखते हैं उन्हें अकारण चिंता और भय भी नहीं सताते।

हमारे प्रबल आवेगों का नियंत्रण एकाएक नही होता। इसके लिये दीर्घकालीन साधना करनी पड़ती है। संसार के सभी धर्म आत्म-विजय की साधना के मार्ग हैं। भगवान बुद्ध ने अपने आवेगों से मुक्त होने की बड़ी सुन्दर साधना बताई है जिसका अनुसरण करके कोई भी मनुष्य अपने मन को बली बना सकता है और अपनी चिंताओं से मुक्त हो सकता है। यह साधना आवेगों को वश में करनेवाली भावनाओं को दृढ़ करने की साधना है। मनुष्य अपने काम-वासना-जनित आवेग को नित्य प्रति अशुभ भावना के अभ्यास से नियंत्रण में कर सकता है। काम-वासना का संबन्ध शरीर-सौंदर्य के मनोभाव से है। जब मनुष्य शारीरिक सौन्दर्य के भाव से विमुक्त हो जाता है, जब वह शरीर को हाड़-मांस, मल-मूत्र इत्यादि का समूह के रूप में देखने लगता है तो उसकी कामुकता शान्त हो जाती है। भगवान बुद्ध ने शरीर की गंदगी के संबंध में सोचना तथा मुर्दे के ऊपर चिंतन करना कामजनित आवेगों को शांत करने के लिये उपयोगी कहा है।

क्रोध का नियंत्रण मैत्री भावना के अभ्यास से होता है। जिस व्यक्ति के प्रति हमें क्रोध होता है उसकी हम हानि करना चाहते हैं, यदि हम उस व्यक्ति

---

other man, but he bends himself against his task and all these are quelled, all these shrink murmering far off into their caves—*Dignity of Labour*

मनुष्य को सभी प्रकार की मानसिक व्याधियां तभी तक परेशान करती हैं जबतक वह रचनात्मक काम में नहीं लगता। जब रचनात्मक काम में वह लग जाता है तो सभी व्याधियां समाप्त हो जाती हैं।

की कोई सेवा करने लग जायँ तो हमारा क्रोधभाव शांत हो जाय। क्रोध की अवस्था में मनुष्य किसी व्यक्ति के दुर्गुणों का ही चिंतन करता है, सद्गुणों के चिंतन से मैत्रीभाव प्रबल होता है। अतएव क्रोध के परिहार के लिये क्रोध के पात्र के सद्गुणों पर चिंतन करना लाभदायक है। मैत्रीभाव का सदा अभ्यास करते रहना किसी विशेष व्यक्ति के प्रति क्रोध आते समय हमारे काम में आता है। हमारा पुराना अभ्यास एक मानसिक शक्ति का रूप धारण कर लेता है। वास्तव में मनुष्य की आध्यात्मिक शक्ति उसके अभ्यास के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यही शक्ति संकट के समय काम आती है। यह क्रोध के आवेग का तुरन्त दमन करती है और क्रोध के पुराने अभद्र संस्कारों का भी विनाश करती है। जो व्यक्ति मैत्रीभावना का जितना ही अधिक अभ्यास करता है वह उतना ही अधिक आत्म-नियंत्रण प्राप्त करने में समर्थ रहता है।

मैत्रीभावना का अभ्यास हमें दूसरे लोगों के दुःख में उनकी सहायता करने के लिये प्रेरित करता है। वह हमें उनके विषय में शुभ चिंतन कराता है। जो व्यक्ति दूसरे लोगों के लिये चिंतित रहता है वह अपनी चिन्ताओं से अपने आप ही मुक्त हो जाता है। दूसरों के रोगों में उनकी सेवा करना अपने ही उसी प्रकार के रोगों की चिंता से मुक्त होने का सर्वोत्तम उपाय है। कितने ही लोग अपने स्वास्थ्य के विषय में सदा चिन्तित रहते हैं। इन्हें वास्तव में कोई शारीरिक रोग नहीं रहता। उनका विचार ही उनका रोग होता है। वे अनेक प्रकार की औषधियां भी करते रहते हैं। जैसे-जैसे वे औषधियों की भरमार करते हैं उनका रोग और भी बढ़ता जाता है। यदि वे लोग अपने स्वास्थ्य के विषय में चिंतित होना छोड़कर किसी दूसरे व्यक्ति की सेवा करने में लग जायँ तो उनके रोग कम होकर नष्ट हो जायँ। इसी प्रकार अपनी गरीबी की चिंता दूसरे गरीबों की चिंता करने से दूर हो जाती है।*

---

* इस प्रसंग में लिंड लहर महोदय के अपनी "प्रैक्टिस आफ नेचुरल थेरा-प्यूटिक्स" नामक पुस्तक में दिये हुए विचार उल्लेखनीय हैं—

"In my lectures I frequently take occasion to remind our friends that the best way to help themselves is to help others—that there is no better way of increasing the influx of the healing forces than by treating others for health and strength and happiness. I say to them, "There are those around you, who need help just as much or more than you do—some of them

मनुष्य का तीसरा प्रबल आवेग उसके लोभ से संबंध रखता है। इसका संबंध उसके अभिमान से भी है। धन के अपहरण अथवा अभिमान को ठेस लगने से भी मनुष्य को अनेक प्रकार की चिंताएँ आ जाती हैं। इन चिंताओं से मुक्त होने का उपाय अनित्यता की भावना का अभ्यास करना है। संसार की सभी वस्तुएँ अनित्य हैं, हमारा शरीर भी अनित्य है—जब मनुष्य इस भाव को अपने मन में दृढ़ करता है तो उसे संसार की अस्थायी वस्तुओं के प्रति आकर्षण नहीं रहता। फिर वह उन चिंताओं से भी मुक्त हो जाता है जो उनके नष्ट होने या खो जाने के भय के कारण उत्पन्न होती हैं। शरीर की नश्वरता का विचार भी मनुष्य को सांसारिक सुखों और वैभवों के प्रति उदासीन कर देता है। फिर उसे किसी प्रकार का अपमान दुःखी नहीं करता। उसे मृत्यु का भय भी नहीं सताता। जिस व्यक्ति को अपनी किसी प्रकार की महानता का जितना अधिक अभिमान होता है उसे मृत्यु का भय उतना ही सताता है। अपने जीवन का बहुत अधिक मूल्य करनेवाले लोग कायर होते हैं। नैपोलियन अपने सिपाहियों से कहा करता था—मेरे बहादुरो यदि तुम मृत्यु का सामना करोगे तो तुम उसे शत्रु के खेमें में ढकेल दोगे (Soldiers if you brave death you drive it into the enemy's tent)। नेपोलियन जब लड़ाई में जाता था तो झंडा लेकर फौज के आगे रहता था। आसरलिज् की लड़ाई में नेपोलियन को अपने जनरलों को यह वचन देना पड़ा था कि वह फौज के आगे नहीं चलेगा। उनका कथन था कि यदि वह मर गया तो सभी लोग बरबाद हो जावेंगे। मरने के लिये सदा तत्पर रहने वाले व्यक्ति से मौत भी डरती है। कायर लोग बिना मौत के ही मर जाते हैं। उन्हें अनेक प्रकार की अभद्र कल्पनाएँ दुःख देती रहती हैं। ऐसे लोगों को हृदय के रोग भी हो जाते हैं। कभी-कभी ये कल्पित हृदय

---

as yet unable to help themselves. Treat these weak ones mentally and spiritually, strengthen them by a kindly look and a word of encouragement. You will be surprised how this will increase the flow of vital energy into your own bodies." These higher and finer forces can be received only as we give. Selfish brooding on our own troubles and self-pity effectually shut off the inflow on life force, while sympathy and unselfish service open wide the channels of life and stimuclate the flow of vital energy—*Practice of Natural Therapeutics*

के रोगों से भी पीड़ित रहते हैं। जो व्यक्ति शरीर को नश्वर समझ काम करने के लिए सदा तत्पर रहता है उसे मृत्यु का भय भी नहीं सताता।

सभी प्रकार की चिंताओं से विमुक्त होने का उपाय अपने सभी विचारों के प्रति जागरुक रहना है। इसे बुद्ध भगवान ने सम्यक् स्मृति कहा है। जो मनुष्य अपने मन के द्वार पर एक पहरुआ के समान साक्षी भाव रखता है और अपने मन में आये हुये अवांछनीय विचारों को घुसने नहीं देता वह अपनी इच्छा-शक्ति को बली बना लेता है। ऐसा व्यक्ति अकारण भय और चिंता का शिकार नहीं बनता। आनापानसति का अभ्यास भी इसके लिए नितांत उपयोगी है। अपने मन को श्वास-पच्छ्वास पर एकाग्र करने से बहुत-सी अभद्र कल्पनाएँ मन में नहीं आतीं, जो आती हैं वे थोड़ी देर ठहरकर चली जाती हैं। इस प्रकार हमारे अनेक भावों का एक ओर रेचन हो जाता है और दूसरी ओर इच्छा-शक्ति को अपना बल बढ़ाने का भी अवसर मिलता है। इच्छा-शक्ति का बल विचारों को रोकने से ही बढ़ सकता है। जब तक कोई व्यक्ति इसका प्रतिदिन प्रयत्न नहीं करता वह अपनी इच्छा-शक्ति का बल कैसे बढ़ा सकता है। जब इच्छा-शक्ति निर्बल होती है तभी चिन्ताएँ मनुष्य को त्रास देती हैं।

चिंता के निराकरण का आधुनिक मनोवैज्ञानिक उपाय चिंता के कारण को जानना है। बहुत सी चिंताएँ मनुष्य की वास्तविक चिंताओं की प्रतीक मात्र होती हैं। हमें कितने ही ऐसे लोग मिलते हैं जिन्हें अपनी प्रत्येक बात में चिन्ता हो जाती है। वे चाहे जो करें उनका मन सन्तोष नहीं करता। उन्हें भय लगा रहता है कि उन्होंने कहीं भूल कर दी है। ऐसे लोग अपने निश्चयों को बार-बार बदलते हैं, परन्तु उनका मन किसी भी प्रकार राजी नहीं होता। लेखक के एक मित्र ने अपना इस प्रकार का अनुभव हाल में ही सुनाया। उन्हें किसी भी बात के निश्चय करने में बड़ी चिंता हो जाती है। आज भोजन क्या करना चाहिए, घर में आये अतिथि को क्या खिलाना चाहिए, भिखारी को क्या दे देना चाहिए, दुकान से कब चला जाना चाहिए, यहाँ तक कि जब घूमने जा रहे हों तो दो मार्गों में से किसको पकड़ लेना चाहिए—ये सभी प्रश्न मन को डावांडोल की अवस्था में ले आते हैं और इससे बड़ी मानसिक परेशानी और थकावट हो जाती है। जब एक काम हाथ में लिया जाता है तो दूसरे की खबर आती रहती है और इसके कारण अपने निश्चय को बार-बार बदलना पड़ता है। कितनी ही माताओं को पुत्र के घर के बाहर जाते ही उसके ऊपर आपत्ति आने की असाधारण चिंता हो जाती है। माता सोचने लगती है कि कहीं पुत्र को

कोई दुर्घटना न हो जाय। इस प्रकार की चिन्ताओं का कारण दबे हुये मानसिक आवेग रहते हैं।

हाल ही में लेखक के एक मित्र को चिन्ता हो गई थी कि उसका व्यापार नष्ट हो जायगा, उसका घर बिक जायगा और वह बहुत ही गरीब बनकर दुर्दशा में मरेगा। इस चिंता के कारण वह क्षीणकाय हो रहा था। उसके मानसिक अध्ययन से पता चला कि एक ओर उसकी प्रेम की इच्छा का दमन हुआ था और दूसरी ओर उसे अपने गुरु के शाप का भय था। इस व्यक्ति का गुरु उससे किसी कारण रुष्ट हो गया था। उसने उसे शाप दे दिया था कि उसके घर की एक-एक ईंट अलग-अलग हो जायगी। वह अपने मनोभाव को किसी से भी नहीं कहता था। उसने निरभिमान होकर अपनी सारी मानसिक स्थिति लेखक से कह सुनाई और अपने जीवन की उन सभी घटनाओं को कहा जिनका संबंध उस स्थिति से था। कुछ स्वप्न भी बतलाए। उसकी मानसिक स्थिति जब से उसकी साली का विवाह किया गया था बिगड़ी थी। उसकी बातें सहानुभूति-पूर्वक सुनने से उसकी चिंता की मनोवृत्ति का अन्त हो गया। उसे अपने लड़कों के भविष्य के विषय में जो चिंता थी वह जाती रही।*

एक स्त्री को चिन्ता बनी रहती थी कि वह अपने छोटे बचे को किसी हथियार से न मार डाले। इससे भयभीत होकर उसने अपने घर के सभी छुरी-चाकू छिपा दिये। परन्तु फिर उसके मन में विचार आया कि वह कहीं रोटी बनाने के बेलन से ही उस बच्चे को न मार डाले अथवा उसका सिर जमीन में पटक कर ही न फोड़ डाले। वह बचे को बहुत प्यार करती थी। उसने इस विचार से घबड़ाकर मनोवैज्ञानिक की शरण ली। उसके मनोविश्लेषण से पता चला

---

* उक्त रोगी के मनोविश्लेषण से पता चला कि उसे एक ओर अपनी नैतिकता का भारी अभिमान था और दूसरी ओर उसके मन में अपनी युवती साली के प्रति प्रबल आसक्ति थी। उसका रोग उसी समय उभड़ा जब उसने अपनी साली की उसके विवाह के पश्चात् विदाई कर दी। गुरु के शाप का डर अपनी ही नैतिक बुद्धि द्वारा भर्त्सना था। गुरु पर यह भाव आरोपित हो गया था। मनो-विश्लेषण से मनुष्य का अभिमान कम हो जाता है। जब मनुष्य मनो-विश्लेषण के परिणाम स्वरूप दमित भावों की आत्म-स्वीकृति विश्लेषक के समक्ष कर लेता है तो उसके ये भाव उसके व्यक्तित्व के मित्र बन जाते हैं। फिर वे अकारण भय और चिन्ता में प्रगट नहीं होते।

कि वह संतानोत्पत्ति नहीं चाहती थी। वह सन्तान-निग्रह के उपायों को पहले से ही कार्य में लाती थी, परन्तु वह बच्चा उसकी इच्छा और प्रयत्न के विरुद्ध ही पैदा हो गया। जब बच्चा हो गया था तो अपनी पुरानी इच्छा वह भूल गई, परन्तु वह उसके अव्यक्त मन में कार्य किया ही करती थी। इसीलिये उसे उक्त चिंता उत्पन्न हुई।

चिंता की मनोवृत्ति का एक सुन्दर उदाहरण मारगन महाशय ने अपनी 'साइकालोजो आफ दी अनएडजस्टेड स्कूल चाइल्ड' नामक पुस्तक में दिया है। एक युवक को वह चाहे जो काम करता सदा कुछ-न-कुछ चिंता परेशान करती थी। उसने एक बार अपने मित्र को पत्र लिखा कि वह फौज में भरती होना चाहता है। इस पत्र के लिखने के पश्चात् तुरन्त ही उसे आत्म-भर्त्सना होने लगी कि उसने कोई भूल की है, अतएव मित्र को तुरंत दूसरा पत्र लिखा कि वह फौज में नहीं जाना चाहता, पहला पत्र मेरी भूल थी। इसके बाद फिर भी उसके मन को शांति नहीं हुई। उसने अपने मित्र को फिर एक पत्र और लिखा कि उसका पहला इरादा ही ठीक है और बाद में इस बात को भी काटने के लिये उसे लिखना पड़ा।

इसी प्रकार जब यह व्यक्ति एक टोप खरीदने के लिए किसी दूकान पर गया तो उसने एक टोप को चुना। उसे खरीदकर और अपने सिर में लगाकर वह ज्योंही दस-पन्द्रह कदम गया था कि उसके मन में विचार आया कि उसने ठीक टोप नहीं खरीदा और उसे उसको वापस कर देना चाहिए। परन्तु वह नहीं जानता था कि टोप में बुराई क्या है। बहुत कुछ सोचने के बाद उसने टोप को वापस कर देने का निश्चय किया। अतएव वह दूकान की ओर लौटा। परन्तु फिर उसे यह विचार सताने लगा कि मैं कोई अनुचित कार्य कर रहा हूँ। दूकान-दार मेरे बारे में क्या सोचेगा। इन विचारों ने उसे फिर घर की ओर चलने के लिये बाध्य किया। वह कुछ दूर आगे बढ़ा था कि पुराने विचार फिर आने लगे। उसके मन में भावना उठी कि दूकानदार चाहे जो कहे उस टोप को तो वापस कर ही देना चाहिए। अतएव दूकान की ओर एक बार फिर मुड़ा और कुछ कदम चलकर फिर वह घर की ओर चलने लगा। इस प्रकार उसने तीन बार अपने निश्चय को बदला।

इस प्रकार की मनोवृत्ति की खोज से पता चला कि उसके मन में अपने किसी पुराने कृत्य के सम्बन्ध में आत्मग्लानि की प्रबल भावना छिपी थी और यही भावना उसकी प्रत्येक ऐसी घटना के ऊपर आरोपित हो जाती थी। यह

व्यक्ति कुछ काल पहले एक युवती से प्यार करता था। वह प्यार बहुत दिन चला। परन्तु अन्त में उस युवती ने उस युवक को धोखा दिया। अब उसके मन में विचार आया कि उस युवती की हत्या कर देनी चाहिए। पीछे उसे इस विचार के कारण आत्म-भर्त्सना होने लगी। वह सोचने लगा यह कार्य बड़ा जघन्य है। फिर वह उक्त सारी घटना को भूल गया। अपनी मानहानि से उसका सम्बन्ध होने के कारण वह अब स्मृति पटल पर नहीं आती थी। परन्तु उसकी आत्म-ग्लानि का भाव किसी ऐसे विषय पर आरोपित हो जाता था जिसका सम्बन्ध किसी प्रकार की हत्या या खून से होता था। फौज में भरती होने का सम्बन्ध हत्या के काम से होने के कारण उसे इस निश्चय से आत्म-ग्लानि का अनुभव हुआ। जो टोप उस व्यक्ति ने खरीदा था उसमें एक लाल फीता लगा था। लाल रंग खून का रंग है, अतएव इस रंग को देखकर उसका पुराना दबा हुआ आत्म-ग्लानि का भाव जाग्रत हो गया और फिर वह अपने निश्चय में अकारण ही दोष देखने लगा।

मनुष्य की चिंताएँ उनसे कभी-कभी वे ही काम करा डालती हैं जिनके करने से वे डरते हैं। जिन लोगों को चिंता लगी रहती है कि कहीं वे चरित्र में गिर न जायँ, कई दिनों तक चिंता करने से चरित्र में गिर जाते हैं। जिन लोगों को चिंता हो जाती है कि उन्हें नशाखोरी अथवा जुआ की आदत न लग जाय, उन्हें वह आदत लग जाती है। वास्तव में इस प्रकार की चिंताएँ दबी हुई इच्छाओं की प्रतीक होती हैं।

चिन्ता के विचार न केवल चिंतित रहनेवाले व्यक्ति के लिये हानिकारक होते हैं, वरन् जिन लोगों के विषय में चिंता की जाती है उनके लिये भी वे हानिकारक होते हैं। किसी रोग के विषय में अधिक चिंतित होना उस रोग से लड़ने की शक्ति को कम कर देना है। बालक के चरित्र अथवा उसकी बौद्धिक उन्नति के विषय में अधिक चिंतित होना, बालक को निर्बल मन का बना देना है। जिस बालक के चरित्र के विषय में अत्यधिक चिंता की जाती है वह चरित्र में गिर जाता है। जिस बालक की पढ़ाई के विषय में पिता बहुत ही सावधान और चिंतित रहता है उसे पढ़ाई भार रूप हो जाती है। लेखक के एक मित्र के एकलौते पुत्र ने हाल में ही पढ़ना छोड़ दिया। उसके पिता उसे एक विद्वान व्यक्ति बनाना चाहते हैं। वे स्वयं एक अच्छे विद्वान प्राध्यापक हैं। लड़के को पढ़ने में कम रुचि होने के कारण वे उसके विषय में चिंतित रहने लगे। इस चिंता से प्रेरित होकर लड़के की पढ़ाई के लिये उन्होंने विशेष साव-

धानी और प्रयत्न किया, परन्तु उसके प्रयत्न का परिणाम उलटा ही हुआ।* हमारे चिंता के विचार उस व्यक्ति की इच्छा-शक्ति को निर्बल कर देते हैं जिसके विषय में हम चिंता करते हैं और फिर वे ही घटनाएँ उसके जीवन में घट जाती हैं जिनकी चिंता हमें होती है।

मनुष्य की चिंताओं का विनाश प्राकृतिक रूप से तथा अपने प्रयत्न के द्वारा होता है। जिस प्रकार प्रकृति शरीर के फोड़े अपने आप ही अच्छा करती रहती है इसी प्रकार वह मनुष्य की चिंता को भी उसके मन से सदा हटाने का प्रयत्न करती रहती है। यदि कोई मनुष्य प्रकृति के आरोग्य-प्रदान के कार्य में बाधा न डाले तो उसका स्वास्थ्य सरलता से ही अच्छा बना रहे, इसी प्रकार चिंता के विनाश के लिए यदि कोई मनुष्य विशेष प्रयत्न न कर प्रकृति पर ही उसका हटाना छोड़ दे तो प्रकृति उसकी चिन्ता को अपने ही ढंग से अवश्य हटा देगी।

प्रकृति किसी प्रकार के रोग के जहर को बाहर निकालकर नष्ट करती है। हम इस बाहरी लक्षण को ही प्रायः रोग मान लेते हैं, परन्तु बाहरी लक्षण भीतरी रोग का प्रकाशन मात्र है। इन लक्षणों के द्वारा भीतरी रोग व्यक्त होता है। इन लक्षणों को दबाने की चेष्टा न कर इन्हें प्रकाशित कर शांत करने का यत्न करना ही रोग की सच्ची चिकित्सा है। इसी प्रकार चितारूपी रोग को प्राकृतिक रूप से निकल जाने के लिये हमें उन बातों के लिये मन को तैयार कर लेना चाहिये जो चिंता को नष्ट करती हैं। किसी प्रकार की हानि का होना चिंता का विनाशक होता है। शारीरिक रोग के उत्पन्न हो जाने पर मनुष्य का मानसिक रोग कम हो जाता है। कितनी ही गम्भीर चिंताओं का विनाश शारीरिक कष्ट हो जाने से अपने आप हो जाता है। जिन मानसिक रोगियों को किसी प्रकार का शारीरिक रोग होता है और जब उनका शारीरिक रोग हट जाता है, तो

---

* जब से उक्त घटना घटी है तब से इस व्यक्ति के जीवन में असाधारण परिवर्तन हो गया है। इसकी पढ़ाई तीन साल तक छूटी रही। उसने खेती का काम करना प्रारम्भ कर दिया। उसके पिता ने लेखक की बात मानकर उसको इस कार्य में पर्याप्त प्रोत्साहन दिया। इसके परिणामस्वरूप उसे खेती में पर्याप्त सफलता मिली। इसके बाद उसके मन में कृषि का विषय लेकर ही आगे पढ़ने का विचार आया। फिर अपने संकल्प के अनुसार उसने पढ़ना आरम्भ कर दिया और अब वह पर्याप्त उन्नति कर रहा है। उसकी उन्नति तभी हुई जब पिता ने उसके विषय में चिन्ता करना छोड़ दिया।

उन्हें अकारण चिंता और भय त्रास देने लगते हैं, जब शारीरिक रोग आ जाता है तो मानसिक रोग कम हो जाता है। इस प्रसंग में लेखक के एक छात्र द्वारा कही एक मानसिक रोगी के रोग के उपचार की घटना उल्लेखनीय है। एक रोगी को उसके सम्बन्धी एक मानसिक चिकित्सक के पास बड़ी कठिनाई से लाये। वह पागलपन की अवस्था में था। चिकित्सक ने सम्बन्धियों से उस व्यक्ति को छोड़ देने के लिए कहा और उसने एक डंडा उसके सिर में जड़ दिया। इससे उसके माथे पर एक बड़ा गूमड़ा उठ आया। वह रोगी फिर सामान्य व्यक्ति जैसा हो गया। चिकित्सक ने फिर उस रोगी के उक्त घाव को अच्छा करने की चेष्टा की। घाव के अच्छे हो जाने पर रोग पहले जैसा ही हो गया।

उक्त विद्यार्थी को भी गत छः वर्ष से सिर की पीड़ा थी। लेखक के उपचार में रहकर जब उसकी पीड़ा कम होने लगी तो उसे अकारण चिंता और भय सताने लगे। उसका रोग मानसिक रूप धारण करने लगा। लेखक के एक प्रतिभा-वान छात्र को पाँच वर्ष से पेट का रोग रहता था। जब उसका यह रोग कम हुआ तो साधारण सी घटना से उसे हृदय का रोग हो गया। जब इसकी चिकित्सा करने से यह कम हुआ तो उसे अकारण चिन्ता और भय सताने लगे। वह फिर अकेले रहने से, रेल की यात्रा करने से, किसी आगन्तुक से मिलने से डरने लगा। जब वह किसी कमरे में जाता तो उसे डर हो जाता कि कहीं कोई व्यक्ति उसे बाहर से बन्द न करदे। पैखाने जाते समय उसे यह भय बहुत ही सताने लगा। यह छात्र एम० ए० कक्षा का विद्यार्थी है परन्तु वह अपने इस डर को जीत न सका। शारीरिक रोग से मानसिक रोग कहीं अधिक असह्य होता है।* अतएव किसी प्रकार के शारीरिक कष्ट को हमें प्रकृति की निर्दयता न मानकर उसकी दया ही मानना चाहिए।

हमारी बहुत-सी चिंताओं का रेचन स्वप्न-दृश्यों के द्वारा हो जाता है। हम भयावने स्वप्नों को देखकर घबड़ाते हैं। हम सोचते हैं कि भयावने स्वप्न

---

* यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि दमित भाव के रेचन से न केवल मानसिक रोग वरन् शारीरिक रोग भी समाप्त हो जाता है। प्रकृति जो काम धीरे-धीरे करती है वही काम चिकित्सक कुछ शीघ्रता से करता है। शारीरिक रोग मनुष्य के अभिमान को घटाकर आत्मज्ञान के लिये मजबूर करता है। यदि यह आत्म-ज्ञान दूसरे प्रकार से मनुष्य को हो जाय तो फिर उसे रोग की आवश्यकता न रहे। सच्ची मानसिक चिकित्सा आत्म-ज्ञान कराने का साधन है।

देखना हमारे लिये हानिकारक है। परन्तु यह हमारी भूल है। भयावने स्वप्न हमारे भय के भावों का रेचन करके हमारी चिंताओं को घटा देते हैं। जिन विद्यार्थियों को पहले स्वप्न होता है कि वे परीक्षा में फेल हो गये अथवा परीक्षा में बैठ ही न पाए वे परीक्षा को भली प्रकार से पास कर लेते हैं। किसी कठिन कार्य के करने के पूर्व परीक्षा में फेल हो जाने का स्वप्न अच्छा होता है। इससे हमारी मानसिक शक्ति व्यर्थ की चिंता में खर्च हो जाने से बच जाती है। किसी प्रकार के गन्दे स्वप्नों को देखना हमारे मन के गन्दे भावों को निकालता है। अपने सम्बन्ध में दुर्घटनाओं के स्वप्न हमारी अनेक प्रकार की चिंताओं का विनाश कर देते हैं। अपनी ही मृत्यु का स्वप्न मनुष्य की आयु को बढ़ाता है। मृत्यु के स्वप्न से मृत्यु के भय का भाव प्रकाशित होकर नष्ट हो जाता है।

आधुनिक मनोविज्ञान का कथन है कि स्वप्न मनुष्य की निद्रा को भंग नहीं करता वरन् उसकी रक्षा करता है। चिन्ता-ग्रस्त मनुष्य को यदि स्वप्न न हो तो उसका सोना कठिन हो जाय। मानसिक रोगी से जब उसके स्वप्न के बारे में पूछा जाता है तो वह प्रायः कहता है कि उसे स्वप्न नहीं होते, यदि स्वप्न होते भी हैं तो याद नहीं रहते। जब मानसिक रोगी को स्वप्न होने लगते हैं अथवा वे याद रहने लगते हैं तो उसका रोग शीघ्रता से नष्ट होने लगता है। ये स्वप्न पहले भयावने अथवा अशुभ होते हैं। मनुष्य अपने आपको आपत्ति में पड़ा पाता है अथवा किसी गन्दगी में देखता है। धीरे-धीरे इन स्वप्नों में परिवर्तन हो जाता है। इस प्रकार का परिवर्तन उसके आरोग्य लाभ का सूचक है।

लेखक के एक रोगी ने हाल में अपने तीन स्वप्न सुनाये। एक में उसने देखा कि उसके घर में आग लग गई है। दूसरे में देखा कि एक बड़ा काला सांप उसे काटने दौड़ रहा है, तीसरे में देखा कि पुलिस उसकी तलाशी ले रही है। इस रोगी को भारी मानसिक व्याधियां हैं। उसे पहले स्वप्न ही नहीं होते थे। अब उक्त स्वप्न उसकी मानसिक स्थिति को बताते हैं और उसकी चिंता को नष्ट करने में सहायता दे रहे हैं। एक दूसरे रोगी ने हाल में ही स्वप्न देखा कि उसका भाई एक पैखाने में गिर गया है। वह उसमें पूरा डूब गया। उसने अपने भाई को उस टंकी से निकाला और पानी से धोया। उसके इस काम में उसे किसी प्रकार की ग्लानि का अनुभव नहीं होता था। यहां भाई अपना आप ही है और पैखाने की टंकी उसकी कामवासना है। उससे घृणा न करना और पैखाना छुड़ाने का प्रयास अपने परिवर्तित दृष्टिकोण का सूचक है और अपने प्रयत्न को दर्शाता है।

जिस प्रकार प्रकृति हमें चिन्ता से मुक्त करती है, उसी प्रकार अपने प्रयत्न द्वारा चिन्ता से मुक्त होने के कुछ सरल उपाय निम्नलिखित हैं—

(१) शिवभावना अथवा कल्याण भावना का अभ्यास करना।
(२) शांत भावना का अभ्यास करना।
(३) चिंता-रहित व्यक्ति का ध्यान करना।
(४) नित्य शांत तत्त्व के प्रति आत्म-समर्पण करना।
(५) किसी भी घटना के बारे में अधिक चिंतन नहीं करना।
(६) भय की कल्पना का सामना करना तथा उसके अन्तिम परिणाम को सोच डालना।
(७) कर्तव्य-भावना को दृढ़ करना।
(८) अपने सम्पूर्ण जीवन को संतुलित बनाना।

चिंता उसी मनुष्य को सताती है जो इस संसार में किसी भले नियम अथवा सत्ता की व्यापकता में विश्वास नहीं करता। जो मनुष्य सोचता है कि संसार के विभिन्न कार्य मशीन के सदृश अपने आप ही नहीं चल रहे हैं, वरन् उसके पीछे एक विवेकशील भला नियम कार्य कर रहा है, वह अपने कार्य के फल के विषय में निश्चिन्त रहता है और किसी भी घटना से वह उद्विग्न-मन नहीं होता। सभी घटनाओं को अपने लिये कल्याणकारी मानना शिव-भावना का अभ्यास है। सभी घटनाओं में भलाई देखने का अभ्यास मनुष्य की इच्छा-शक्ति को बलवती बनाता है। ऐसे व्यक्ति को अकारण चिन्ताएँ नहीं सतातीं, निर्बल मन के व्यक्ति को किसी काम के करने में हतोत्साह करनेवाली अनेक बातें दिखाई दे जाती हैं। अनेक प्रकार के असगुन उन्हें हो जाते हैं। वास्तव में ऐसे लोगों का मन भय से प्रेरित रहने के कारण सदा इन असगुनों की खोज में रहता है। शिव-भावना का अभ्यास करनेवाले व्यक्ति को असगुन दिखाई ही नहीं देते।*

---

* इस प्रसङ्ग में इमरसन की निम्नलिखित पंक्तियाँ उल्लेखनीय हैं—

To the poet, to the philosopher and to the saint, all things are friendly and sacred, all events profitable, all days holy and all men divine—*Essays of Emerson.*

कवि, दार्शनिक और सन्त को सभी वस्तुएँ अनुकूल और पवित्र होती हैं, सभी घटनायें उपयोगी होती हैं, सभी दिन अच्छे होते हैं और सभी मनुष्य दिव्य होते हैं।

हमारी जिस प्रकार की मनोवृत्ति होती है, उसी प्रकार की बाहरी प्रकृति भी हमें दिखाई देने लगती है। शिव-भावना का अभ्यास करनेवाले व्यक्ति की मानसिक शक्ति संचित रहती है। वह पूरे मन से किसी भी कार्य को कर सकता है अतएव उसे अपने कार्यों में सफलता भी बहुत मिलती है।

शांत-भावना का अभ्यास अपने सभी प्रकार के विचारों और भावों से मुक्त हो जाने का अभ्यास है। मनुष्य का मन उसी प्रकार का बन जाता है जिस प्रकार का अभ्यास उसे रहता है। शरीर को शांत करना, फिर मन को शांत करना, अपने आसपास के वातावरण को शांत रूप में सोचकर शांत ज्योति का ध्यान करना—ये शांत-भावना को दृढ़ करने के उपाय हैं। बार-बार शांत-भावना का अभ्यास करने से वह आत्म-निर्देश की शक्ति बन जाता है। जब मनुष्य का यह अभ्यास दृढ़ हो जाता है तो किसी प्रकार के संकट काल में उसका मन स्वभावतः शांत रहता है। शांत-भावना का अभ्यास करनेवाला व्यक्ति स्वभावतः ईर्ष्या-द्वेष, घृणा आदि के विचारों से मुक्त रहता है। जब कभी ये भाव मन में उठते हैं तभी शांत भाव का अभ्यास उनका विनाश कर डालता है। किसी मनुष्य के दुर्गुणों पर विचार करना, उनकी चर्चा करना मनुष्य के मन को अशांत बना देता है। शांत भावना का अभ्यास करनेवाला व्यक्ति दूसरे लोगों के दुर्गुण की न तो किसी से चर्चा करता और न उनके विषय में सोचता ही है।*

आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार मनुष्य के सभी प्रकार के मानसिक रोगों की जड़ चिन्ता में ही रहती है। कभी-कभी मनुष्य अपनी चिंता का कारण जानता है, परन्तु कभी वह इस कारण को नहीं जानता। जब उसका मन एक प्रकार

---

* इस प्रसंग में अमेरिका के एक मनोवैज्ञानिक जेकबसन महोदय के प्रयोग जिन्हें उन्होंने अपनी 'यू मस्ट रिलेक्स' (*You Must Relax*) नामक पुस्तक में दिया है, उल्लेखनीय हैं—जेकबसन ने देखा कि मनुष्य की शारीरिक स्थिति का उसके मनोभावों पर भारी प्रभाव पड़ता है। उसने कुछ व्यक्तियों को सोफा पर लिटाकर शान्त-भावना का अभ्यास कराया। इसके लिए मनुष्य को अपने एक एक अंग को सोचना पड़ता है कि वह शांत हो गया है। पैर और हाथ की अङ्गुलियों से लेकर समस्त शरीर के विषय में धीरे-धीरे यह अभ्यास किया जाता है। इस प्रकार के अभ्यास से देखा गया कि मनुष्य की न केवल चिन्ताएँ वरन् दूसरे प्रकार के विकृत मनोभाव भी नष्ट हो जाते हैं।

की चिंता से मुक्त होता है तो झट उसे दूसरे प्रकार की चिंता आ जाती है। इस प्रकार की चिंता की जड़ मनुष्य अचेतन मन में रहती है। ऐसी सभी चिंतायें शांत-भावना के अभ्यास से नष्ट हो जाती हैं। इस अभ्यास के करते समय वह दमित भाव जो चिंता का कारण होता है मनुष्य की चेतना पर आ जाता है। यह अनेक प्रकार की विलक्षण कल्पनाओं अथवा चेष्टाओं में प्रकाशित होता है। फिर हमें ज्ञात हो जाता है कि रोगी जिस बात से डरता था वह उसके बाहर नहीं, वरन् उसके भीतर ही थी।

हमारे पास आये एक चिंताग्रस्त मानसिक रोगी से शांत-भावना का अभ्यास कराने पर वह अपनी छाती ढोल जैसा कूटने लगा; वह अपना सिर बार-बार तकिया पर पटकता था। वास्तव में वह इस तरह प्रतीक रूप से पुराने कृत्य के लिये पश्चात्ताप करता था। वह कभी-कभी डर के मारे बहुत घबड़ाया हुआ दिखाई देता था। पीछे उसे कल्पना में एक भयानक दैत्य दिखाई दिया। वह ५० फुट ऊँचा था तथा काला कपड़ा पहने हुये था। उसके एक हाथ में तलवार थी और दूसरे में कटा सिर, जिससे खून गिर रहा था। इस भयानक रूप को देख कर रोगी बहुत घबड़ाया। उसने फिर एक दूसरे रूप को देखा। इसमें एक सिर अकेला था जो मुँह खोले हुए किसी को खाने दौड़ा जा रहा था। परन्तु धीरे-धीरे ये सभी चित्र समाप्त हो गये। वास्तव में ये चित्र उसकी दमित कामवासना के ही चित्र थे, जो शांत भावना के अभ्यास करने से उसी प्रकार उसके अर्धसुप्त मन के सामने आ गये, जिस प्रकार समाधि अवस्था के अभ्यास के समय मार की सारी सेना भगवान बुद्ध के सामने आ गयी थी। भगवान बुद्ध का मार दर्शन एक ऐसा मनोवैज्ञानिक सत्य है जिसका साक्षात्कार कोई भी व्यक्ति शान्त भावना के अभ्यास के द्वारा कर सकता है। शान्त-भावना का अभ्यास निर्वाण प्राप्ति का अचूक उपाय है। इसे नित्य-प्रति करने से मनुष्य की सभी कलुषित भावनाओं का रेचन हो जाता है और वह अपनी मानसिक दुर्बलताओं से मुक्त हो जाता है।

शान्त-भावना का अभ्यास अवांछनीय दमित भाव के रेचन का अचूक उपाय है। हमने अपनी मानसिक चिकित्सा के कार्य में देखा है कि शान्त भावना का अभ्यास करते समय मानसिक रोगी कभी-कभी अकारण ही हँसने अथवा रोने लगता है। एक नवयुवक जिसे प्रेम हो जाने की चिन्ता लग गई थी शान्त-भावना के अभ्यास करने पर पहले बहुत रोया और फिर बहुत हँसा। इसके

बाद वह कमरे में खूब उछल कूद करने लगा। वह कहता था—मैं विवेकानन्द हूँ, मैं ब्रह्म हूँ। कुछ समय के बाद वह एक गाना गाते हुए शान्त हो गया।

इस युवक का कथन है कि वह जो कुछ करता था उसे वह जानता था, परन्तु वह अपनी क्रियाओं को रोक नहीं सकता था। दो तीन बार इस प्रकार का रेचन का कार्य होने पर उसका रोग समाप्त हो गया। फिर वह उत्तम विद्यार्थी बन गया।

चिन्ता-रहित व्यक्ति का ध्यान करना भी मनुष्य के मन को चिन्ता से मुक्त करता है। मनुष्य जैसे व्यक्ति का पूरे भाव से ध्यान करता है वह कुछ ही काल में उसी के समान हो जाता है। दो पुरुषों में सच्चा प्रेम रहने पर उनके रंग रूप और बोलने-चालने के ढंग में भी अदला-बदली हो जाती है। फिर मानसिक गुण और भी संक्रामक होते हैं। योग सूत्र में कहा है—'वीतराग वा चित्तम्' वीतराग पुरुष का ध्यान करना चित्त को स्थिर करने का बड़ा महत्वपूर्ण उपाय है। वीतराग महात्माओं के चित्र भी अपने उठने बैठने और सोने के कमरे में लगाना अच्छा है। सोते समय ऐसे पुरुषों का ध्यान करने से चित्त की शांति प्राप्त करने में विशेष लाभ होता है। महात्माओं का दर्शन हमारी हजारों चिन्ताओं को नष्ट कर देता है। अतएव ऐसे व्यक्तियों के दर्शन करना और समय-समय पर उनके उपदेश सुनना अच्छा है। सन्तों की वाणी प्रतिदिन सोते समय पढ़ने या स्मरण करने से अपने आप ही लाखों चिन्ताएँ नष्ट हो जाती हैं।

चिन्ता से मुक्त होने का एक उपाय अपने को एक महान् सत्ता के प्रति आत्म-समर्पण करना है। जो मनुष्य अपने अहंकार को जितना ही अधिक बनाये रखना चाहता है वह चिन्ता से उतना ही अधिक परेशान रहता है। परन्तु जो सदा सोचता है कि सभी कामों को करनेवाली एक महान् शक्ति है और वही प्रत्येक व्यक्ति को अपना यन्त्र बनाकर काम कराया करती है, वह न तो काम के फल के बारे में अधिक चिन्ता करता है और न प्रतिकूल परिस्थितियों में पड़ने से उसे घबड़ाहट होती है। अभिमान का त्याग करनेवाला व्यक्ति अपनी कमजोरियों को जल्दी से पहचान लेता है और वह अपना आत्मसमन्वय शीघ्रता से कर लेता है। किसी प्रकार की भूल हो जाने पर वह छोटे से छोटे मनुष्य से क्षमा माँगने के लिए तैयार रहता है। जो व्यक्ति अपने आप को बच्चों के समान सरल बना लेता है वह जटिल चिन्ताओं से मुक्त रहता है। मनुष्य की बहुत सी चिंताएँ अपने हाथ की बनाई होती हैं। वह अपने आचार व्यवहार में जितनी अधिक चतुराई करता है उसकी चिन्ताएँ भी उतनी ही अधिक बढ़ती जाती हैं।

चिन्ता से मुक्त होने का सर्वोत्तम उपाय किसी घटना के बुरे अथवा भले पहलू पर अधिक देर तक न सोचना है। किसी भी प्रकार के लाभ के बारे में जब हम देर तक सोचते हैं तो हानि का भी चिन्तन हमें परवश करना पड़ता है। जो व्यक्ति अपने लाभ के प्रति उदासीनता का भाव रखता वह हानि के प्रति उदासीनता का भाव रखने में समर्थ होता है। अपनी सफलता के विषय में अधिक हर्ष मानना भी अनेक प्रकार की चिन्ताओं को न्योता देना है। मानसिक रोगी अपने स्वास्थ्य के विषय में अत्यधिक चिन्तन करते हैं। उनका प्रमुख रोग भी यही होता है। यदि किसी प्रकार अपने रोग के विषय में उनका चिंतन करना छुड़ा दिया जाय तो वे शीघ्र ही आरोग्य लाभ कर लें। अपने विषय में अधिक चिंतन करना ही चिंता का कारण बन जाता है।

जब कोई चिंता प्रयत्न करने पर भी मन से न जाय तो उसके विषय में अन्तिम बात को सोच डालना अच्छा है। चिंता भय के दमन का परिणाम है। जब मनुष्य अपनी कल्पना में अपने मन पर विजय प्राप्त कर लेता है तो उसकी चिंता चली जाती है। इसके लिये डरावनी कल्पना से भयभीत न होकर, तथा उसे भुलाने की चेष्टा न कर उसे मन में आने देना चाहिये। जो व्यक्ति किसी बात के अन्तिम परिणाम के लिए तैयार हो जाता है उसे फिर वह बात भय-भीत नहीं करती। ऐसे व्यक्ति की उस संबंध की चिंताएँ नष्ट हो जाती हैं। जिन व्यक्तियों को मृत्यु का भय है वे यदि मृत्यु के विभिन्न पहलुओं पर दृढ़तापूर्वक चिंतन करने लग जायँ तो उनकी मृत्यु के विषय में चिंता ही छूट जाय। ऐसे व्यक्तियों को ऐसी कहानियां, उपन्यास और कविताएँ पढ़नी चाहिए जिनमें वीर पुरुषों ने मृत्यु का सामना बड़े धैर्य और साहस से किया। कायर लोग मृत्यु से डरते हैं। उनका डर न केवल उनके मन को वरन् उनके सम्पर्क में आनेवाले दूसरे लोगों के मन को भी निर्बल बना देता है। वीर पुरुष मृत्यु से नहीं डरते वरन् यदि वह आये तो उसका प्रसन्नता से स्वागत करते हैं। ऐसे लोगों को मृत्यु की चिंता नहीं सताती। क्रास पर चढ़े हुए महात्मा ईसा का चित्र इस दृष्टि से बड़ा उपयोगी है।

चिंता से मुक्त होने का एक उपाय सभी परिस्थितियों में अपने कर्तव्य को करते जाना है। जो मनुष्य अपने कर्तव्य के विषय में सदा सजग रहते हैं उन्हें वे मानसिक दुर्बलतायें नहीं सतातीं जो चिंता का कारण बनती हैं। ऐसे व्यक्तियों की इच्छाशक्ति अपने आप ही बलवती हो जाती है। कर्तव्य-परायण व्यक्ति अपने वर्तमान के विषय में ही अधिक सोचता है, वह भविष्य के विषय में

अधिक नहीं सोचता। जो मनुष्य वर्तमान काल के संबंध में जितना अधिक सोचता है वह चिंता से उतना ही मुक्त रहता है।

कर्तव्य के अन्तिम आदर्श को निश्चित करना बड़ा कठिन कार्य है। परन्तु प्रत्येक व्यक्ति तात्कालिक कर्तव्य को सरलता से ही पहचान सकता है। जो व्यक्ति तात्कालिक कर्तव्य को दृढ़ता और श्रद्धा के साथ करता है उसे भविष्य के कर्तव्य अपने आप ही सूझते जाते हैं। अपनी योग्यता के अनुसार अपने समीप के व्यक्ति की पूरे मन से सेवा करना वर्तमान का कर्तव्य है। इसी कर्तव्य के करने से मनुष्य की चिन्ताओं का विनाश होता है और उसे आन्तरिक शान्ति मिलती है। बहुत से मनुष्य अपने कर्तव्य को बाहरी लाभ की दृष्टि से करते हैं, परंतु कर्तव्य करने का सबसे महत्वपूर्ण लाभ मानसिक शांति की प्राप्ति है जो चिंता की मनोवृत्ति की विनाशक है। यह शांति घर के छोटे-छोटे कामों के करने से उसी प्रकार प्राप्त हो सकती है जिस प्रकार वह बड़े-बड़े समाजोपयोगी कार्यों के करने से प्राप्त होती है। घर में झाड़ू देना, अपने और बच्चों के कपड़े धोना, उन्हें नहलाना-धुलाना, उनकी देखरेख करना, उन्हें पढ़ाना लिखाना, किसी अतिथि का स्वागत करना, मित्र के भेजे पत्रों का उत्तर श्रद्धापूर्वक लिखना आदि कार्य छोटे हैं। परन्तु इनके करने से मनुष्य अपनी चिंताओं से उसी प्रकार मुक्त हो जाता है जिस प्रकार वह बड़े-बड़े कामों के करने से मुक्त होता है। चिंता उस मनुष्य को खा जाती है जो अपने हाथ के काम को पूरे मन से नहीं करता। ऐसे व्यक्ति का मन प्रसन्न भी नहीं रहता। जब मन को एक बार मनमानी दौड़ लगाने की आदत लग जाती है तब फिर मनुष्य की चिंताओं का अंत नहीं होता। कर्तव्य के करने से मनुष्य को सदा अपने प्रति सतर्क रहना पड़ता है, उसे अपने मन को इधर उधर भागने से रोककर हाथ के काम में लगाना पड़ता है। इस प्रकार के अभ्यास से मनुष्य अपने मन को चिंता के विचारों से रोकने में भी समर्थ होता है।

चिंता से मुक्त होने का सबसे महत्वपूर्ण उपाय अपने जीवन को संतुलित बनाना है। मनुष्य के जीवन की अनेक प्रकार की माँगें हैं। उन सभी को ध्यान में रखकर मनुष्य को अपनी जीवनचर्या बनानी चाहिए। मनुष्य को विशेषकर निम्नलिखित चार बातों में अच्छा संतुलन रखना चाहिये—कार्य, मनोरंजन, प्रेम और उपासना। कार्य और मनोरंजन का विरोध है और प्रेम और उपासना का। जो लोग इनमें से एक ही में लगे रहते हैं उनके स्वभाव के विरोधी अंगों का दमन होता है। ऐसे व्यक्ति अपने कार्यों से ही ऊब जाते हैं।

फिर उनका मन अकारण चिंताओं का सागर बन जाता है। मनोरंजन में उनकी उन प्रवृत्तियों का प्रकाशन हो जाता है जो अपने सुख की इच्छा से सम्बंध रखती हैं। जो मनुष्य खेल-कूद को जीवन में उतना ही महत्व देते हैं जितना काम करने को, वे अभद्र चिंताओं में नहीं पड़ते। काम में सदा लगे रहना मनुष्य को अपने जीवन में एकांगी बना देता है। ऐसा व्यक्ति अपने काम का ही अभिमान करने लगता है। इसके परिणामस्वरूप वह अपने बहुत-से शत्रु उत्पन्न कर लेता। जब उसके कार्यों की कोई प्रशंसा नहीं करता तो उसे दूसरे लोगों से घृणा हो जाती है। फिर उसके मन में अकारण अनेक चिंताएँ आने लगती हैं। अतएव अपने जीवन में आराम और मनोरंजन को स्थान देना चिंताओं से मुक्त होने के लिये आवश्यक है। हमारे बालकों की शिक्षा केवल अपने कार्यों को करने के लिए न दी जानी चाहिये वरन् अपने आराम का समय अच्छी तरह बिताने के लिए भी दी जानी चाहिए। इस शिक्षा के अभाव में ही मनुष्य एकाकी जीवन व्यतीत करता है।

जिस प्रकार कार्य और मनोरंजन का सन्तुलन आवश्यक है, उसी प्रकार जीवन में लौकिक प्रेम और दैविक प्रेम अर्थात् उपासना का संतुलन रहना भी आवश्यक है। जो लोग लौकिक प्रेम में ही पड़े रहते हैं वे अपने आवेगों के ऊपर अपना नियन्त्रण खो देते हैं और फिर यही आवेग उनकी चिन्ताओं के कारण बन जाते हैं। अतएव मनुष्य को संसार से समय-समय पर अलग होकर उस तत्त्व के विषय में भी चिंतन करना आवश्यक होता है जो इस सृष्टि को चला रहा है। यही उपासना कहलाती है। परन्तु कोई भी मनुष्य सब समय उपासना में व्यतीत नहीं कर सकता। फिर मानव-सेवा भी उपासना का एक रूप है। सब समय उपासना में लगे रहने से मनुष्य अपने उन कर्तव्यों से विमुख हो जाता है, जो अपने पारिवारिक और सामाजिक जीवन से सम्बन्धित हैं और जिनके किये बिना उसके परिवार के लोग ही उसके शत्रु बन जाते हैं। ऐसे व्यक्ति का मन चिन्ता से मुक्त न होकर सदा चिन्ताग्रस्त रहता है। इस प्रकार अत्य-धिक देवोपासना मानसिक शान्ति में सहायक न होकर बाधक बन जाती है। ऐसे ही लोग ईश्वर-भक्ति से ऊबकर फिर संसारी मनुष्य बन जाते हैं।

अपने मन को निश्चिंत बनाने का अंतिम उपाय नित्यप्रति का आध्यात्मिक चिन्तन है। मनुष्य जिस पदार्थ को सत्य और कीमती समझता है उसके खोने की आशंका से उसे भय और चिंता हो जाती है। जिन बातों में हमारा मन सदा रमण करता है वे ही हमें सत्य प्रतीत होती हैं, उन्हीं के प्रति हमारी

आसक्ति होती है। जिस प्रकार यह बात सत्य है कि जिन पदार्थों को हमें सत्य समझते हैं और जिनसे हमें प्रेम है उन्हीं के बारे में हम सोचते हैं, उसी प्रकार यह भी सत्य है कि जिन पदार्थों के बारे में बार-बार सोचा जाता है वे सत्य प्रतीत होने लगते हैं और उनमें हमारी आसक्ति अपने आप बढ़ जाती है। जो लोग लौकिक बातों का, सांसारिक हानि-लाभ का सदा चिंतन करते रहते हैं, जिनका मन लौकिक सम्बन्धों में रमण करता है उनकी प्रबल आसक्ति लौकिक बातों तथा लौकिक हानि-लाभ में होती है। इसके परिणाम स्वरूप सांसारिक घटनाएँ उन्हें दुखी-सुखी और चिंतित करती हैं। जो लोग स्थायी तत्त्व की खोज में लगे रहते हैं, अथवा अपने मन को दृढ़ बनाने का अभ्यास करते हैं, जिन्हें समझ में आ गया है कि मनुष्य के लिए सबसे कीमती बाहरी पदार्थ नहीं है वरन् उनकी चेतना ही है वे बाहरी हानि-लाभ से उद्विग्न मन नहीं होते और न प्रिय पदार्थों के नष्ट हो जाने से दुःखी होते हैं। आसक्ति ही दुःख का कारण है और अनासक्ति ही स्थायी शांति पाने का उपाय है। जिसकी ममता सभी संसारी पदार्थों से चली गई वह सदा निश्चिन्त रहता है।

पाश्चात्य और प्राच्य चिन्तकों ने चिन्ता से मुक्त होने के दो भिन्न-भिन्न मार्ग बताये हैं। एक के अनुसार सदा अपने आपको काम में लगाये रखना चिन्ता से मुक्त होने का उपाय है। इसके अनुसार काम बिना लौकिक आसक्ति के और प्रेरणा के बिना नहीं हो सकता अतएव मनुष्य को लौकिक बातों में सदा रुचि रखना चाहिये और इन रुचियों को नित्यप्रति बढ़ाते जाना चाहिये।* दूसरे के अनुसार मनुष्य को लौकिक कामों में उतना ही लगना चाहिये जिससे उसका जीवन चल सके, उसे अपनी तृष्णा पर विजय प्राप्त करने की चेष्टा करना चाहिये। तृष्णा ही भय और चिन्ता की जनक है। उसे अन्तर्मुखी बनकर आत्म-विजय प्राप्त करना चाहिये। इन दोनों मार्गों में खतरा ही है। पहले मार्ग से चलने पर मनुष्य की बाहरी चिन्तायें बढ़ती हैं और दूसरे मार्ग पर उसकी भीतरी चिन्तायें बढ़ती हैं। लौकिक लाभ में लगा हुआ व्यक्ति लौकिक हानि के भय से चिन्तित रहता है और आध्यात्मिक लाभ में लगा व्यक्ति अपने ही मनोभावों को अपना शत्रु बना लेता है। ये दमित भाव उसके मनमें अका-

---

* See Bertrand Russel's—*Conquest of Happiness.*

रण भय और चिन्ता उत्पन्न करते हैं तथा उसे अनेक प्रकार की बाहरी अप्रिय बातों में उलझा देते हैं। इस प्रकार के संघर्ष करते करते वह हताश हो जाता है। फिर वह किसी रोग अथवा दुर्घटना का आवाहन करता है। इस प्रकार उसके जीवन का अन्त दुख में होता है। चिन्ता से मुक्त होने का उपाय न तो संसार से अलग होने में है और न उससे चिपके रहने में। सहज भाव से जो काम हाथ में आ जाये उसके पूरा करने में तथा जो लोग सहज रूप से अपने सामने आवें उनकी सेवा करने से मनुष्य अपने मानसिक सन्तुलन को बनाये रखता है और चिन्ताग्रस्त नहीं होता। हमारा व्यक्तित्व और बाहरी संसार एक दूसरे के सापेक्ष है।* जो काम हमारे सामने आता है तथा जो लोग हमसे सेवा की आशा करते हैं वे हमारे व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिये आवश्यक हैं। हमें जो हानि होती है वह भी जीवन को ऊँचा उठाने के लिये आवश्यक है। प्रसन्नतापूर्वक सांसारिक जिम्मेदारियों को निबाहे बिना मनुष्य न तो लौकिक सफलता प्राप्त कर सकता है और न आत्म-विजय, अर्थात् चिन्ता से नहीं मुक्ति पा सकता है। भगवान कृष्ण ने अर्जुन को जीवन को सफल बनाने का उपदेश दिया उसका सारभाग यही है कि हाथ का काम दैविक कर्तव्य समझ कर मनुष्य को उसे सदा करते रहना चाहिये।

---

* Mind is one and nature is its correlative—Emerson

—*Spiritual Law*

ग्यारहवाँ अध्याय

मन की घबड़ाहट पर विजय

मनुष्य के जीवन की सफलता उसकी मानसिक परिस्थिति पर निर्भर करती है। भयानक परिस्थितियों को देखकर घबड़ा जानेवाले व्यक्ति संसार में कुछ नहीं कर पाते। वे न तो स्वयं सुखी रहते हैं और न अपने सम्पर्क में आनेवाले दूसरे लोगों को सुखी बना सकते हैं, वे अपनी बातचीत से दूसरे लोगों के मन में उसी प्रकार की घबड़ाहट उत्पन्न कर देते हैं जिस प्रकार की घबड़ाहट में वे स्वयं रहते हैं। इनके विचार निराशावादी और ध्वंसात्मक होते हैं। ये दूसरे लोगों के सद्गुणों पर चिन्तन न करके उनके दुर्गुणों पर ही चिंतन करते हैं और उनके दुर्गुणों की ही चर्चा दूसरे लोगों से करते हैं। उनमें दूसरों को प्यार करने की शक्ति नहीं रहती और वे सदा अपनी रक्षा के उपाय ही सोचा करते हैं। उनके मन में आगे कदम रखने का भाव ही नहीं आता।

घबड़ाहट का अनुभव करना एक प्रकार की आदत है। यदि हम किसी आदत को निकाल देना चाहते हैं तो हमें एक तो उसकी जड़ को खोजना पड़ेगा और दूसरे आदत के विनाशक अभ्यास को करना पड़ेगा। आदत की जड़ को जाने बिना उसका विनाश करने की चेष्टा से उसका ऊपरी उपचार होता है। कुछ काल के लिये आदत दूर होकर फिर वह जैसी की तैसी हो जाती है। आधुनिक मनोविज्ञान की एक महत्वपूर्ण खोज यह है कि उसने आदतों की जड़ को मानव-जीवन के भावात्मक अनुभवों में पाया है। जब तक इन भावात्मक अनुभवों की खोज करके उनके संस्कारों का निराकरण नहीं होता, मनुष्य को तंग करनेवाली आदत का विनाश भी नहीं होता। अतएव किसी व्यक्ति की दुःखद आदत का विनाश करने के लिए उसके मन का विश्लेपण करना आवश्यक है। इससे मनुष्य के बचपन के संस्कारों को स्मृति-पटल पर लाया जाता है। कोई व्यक्ति इस प्रकार का मनोविश्लेपण किसी मनोवैज्ञानिक के द्वारा करा सकता है, अथवा वह मनोविश्लेपण-विधि को जानकर स्वयं ही अपना मनोविश्लेपण कर सकता है। मुख्य बात अपनी दुःखदाई आदत का कारण जानना और उसका उचित उपचार करना है।

घबड़ाहट का अनुभव करनेवाले लोगों के मनोविश्लेपण से पता चलता है कि प्रत्येक व्यक्ति की इस प्रकार की आदत की जड़ उसके बचपन के कटु और

निराशावादी अनुभवों में रहती है। जिस बालक को उसके अभिभावक और शिक्षक बार-बार डांटा-डपटा करते हैं और बार-बार उससे कहा करते हैं कि वह अमुक काम नहीं कर पायेगा, वह धीरे-धीरे अपने आपको निकम्मा मानने लगता है। ऐसा व्यक्ति छोटी-सी कठिनाई सामने आते ही घबड़ा जाता है। जिन लोगों को अपनी परिस्थितियों से लड़ने की आदत बचपन से ही नहीं रहती, वे भी घबड़ानेवाले स्वभाव को बना लेते हैं। इस तरह संसार के कुछ प्रसिद्ध लोगों के बच्चे और धनी घर के बच्चे निकम्मे हो जाते हैं। उनमें अपनी परिस्थितियों का सामना करने की हिम्मत नहीं रहती। नेता की भावना रखनेवाले व्यक्ति बच्चों को अपने मन से कुछ भी नहीं करने देते और यदि वे थोड़ा बहुत काम अपने मन से करते हैं तो वे उन्हें डांटते रहते हैं, उनमें अनेक भूलें बताते हैं। इससे उनका आत्म-विश्वास नष्ट हो जाता है। धनी घर के बालकों के लिये तो सब कुछ उनके अभिभावक और नौकर ही कर डालते हैं। अतएव इन्हें अपनी सामर्थ्य को समझने का अवसर ही नहीं मिलता।

छोटे बच्चे को किसी काम के लिये लज्जित कर देना उसमें घबड़ाने की मनोवृत्ति को उत्पन्न करता है। ऐसा बालक जन्म भर दूसरों के द्वारा लज्जित किए जाने से डरता है। अतएव उसमें नया काम करने की अथवा नये लोगों से मिलने की हिम्मत ही नहीं होती। हम देखते हैं कि कभी-कभी बड़े लोग बालक की किसी बात पर हँस देते हैं। कक्षा में यदि बालक ने कोई प्रश्न पूछा तो शिक्षक उसकी उपेक्षा कर देता है। इस प्रकार बालक लजा जाता है। फिर उसमें दूसरों के सामने मुँह खोलने की हिम्मत ही नहीं होती। कभी-कभी बालक अपनी किसी भूल के लिये सब लोगों के सामने लज्जित हो जाता है। इसके अनुभव भी बड़े अप्रिय होते हैं, अतएव बालक इन अनुभवों को भूलने की चेष्टा करता है। वह इन्हें भूल भी जाता है, परन्तु ऐसे अनुभव उसकी इच्छा-शक्ति को सर्वदा के लिए निर्बल कर देते हैं। जब कभी बालक को परीक्षा की परिस्थिति का सामना करना पड़ता है तो वह घबड़ा जाता है। वास्तव में यह उसके दबे भाव का नई परिस्थिति पर आरोपण है। जब कोई व्यक्ति अपनी घबड़ाहट का वास्तविक कारण जान लेता है तो उसकी घबड़ाहट मिट जाती है।

जिस प्रकार मनोविश्लेषण से पुरानी बुरी आदत का विनाश होता है, इस प्रकार वर्तमान निर्देश विचार और आचरण से भी बुरी आदत का विनाश हो जाता है। किसी व्यक्ति को यह न मान लेना चाहिए कि उसके बचपन के संस्कारों ने उसके भाग्य को सर्वदा के लिये निश्चित कर दिया है। कई लोग

अपने वर्तमान निकम्मेपन के लिये अपने माता-पिता को कोसा करते हैं। उनके बाल मनोविज्ञान के ज्ञान ने उनमें आत्मविश्वास न बढ़ाकर उन्हें और भी निकम्मा बना दिया है। यदि मनोविज्ञान का अध्ययन इस प्रकार के नियतिवाद का पोषक हुआ तो यह अध्ययन बड़ा विघातक होगा। संसार में भाग्यवादी लोगों की यों ही कमी नहीं है। सामान्य भाग्यवादियों को हम अन्धविश्वासी मानते हैं, अतएव इनकी बुद्धि का उपचार होना सरल है; परन्तु उक्त नियति-वाद का—अर्थात् जब भाग्यवादिता का जोड़ विज्ञान से हो जाता है—उपचार होना कठिन है। लेखक के कुछ छात्रों की मनोवृत्ति ऐसी ही हो गई है। वे सोचते हैं कि उनके माता-पिता ने बचपन में उनकी अवहेलना की, अथवा उन्हें इतना दबाया कि उनका जीवन ही कलुषित हो गया है। उनके मन में अनेक प्रकार की मानसिक ग्रन्थियां बन गई हैं, और अब इनका निराकरण करना कठिन है। इस प्रकार का विचार वैज्ञानिक नहीं, वरन् अन्धविश्वास है। सच्चा विचार यह है कि यदि पुराने संस्कारों से मनुष्य की कोई हानि हो रही है तो उन संस्कारों का निराकरण उसके मन में नये भले संस्कार डालकर किया जा सकता है। हम अपने चरित्र के निर्माता स्वयं ही हैं। यदि हम चाहें तो अपने आपको पतित व्यक्ति बना सकते हैं अथवा समाज का उपयोगी व्यक्ति भी बना सकते हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपने भाग्य का स्वयं निर्माता है। मनुष्य के विचार जैसे होते हैं उसका आचरण और चरित्र भी वैसा ही होता है और जैसा उसका चरित्र होता है उसका भाग्य भी वैसा ही होता है। इस प्रसंग में फ्रेंकलिन लीमिट महाशय के 'साइकालाजी' नामक लन्दन की पत्रिका के जनवरी अङ्क में प्रकाशित विचार उल्लेखनीय है।

'प्रकृति किसी बालक से यह नहीं कहती कि तुम्हें जीवन की सभी सम्पदा मिलेगी और दूसरे से यह नहीं कहती कि तुम्हें सभी दुःख और विपत्ति मिलेगी। तुम्हारे अतीत का वातावरण चाहे जैसा क्यों न हो, मैं तुम्हें बता सकता हूँ कि उसी प्रकार के वातावरण में पला हुआ व्यक्ति अपने वातावरण से ऊँचा उठ गया और अपने जीवन को उसने सफल बनाया।'

संसार के बहुत से लोग अपने आपको इस विचार से सन्तोष दे लेते हैं कि उनकी वर्तमान मानसिक परिस्थिति के लिये वे स्वयं जिम्मेदार नहीं हैं। वे कहते हैं कि हमने इसी प्रकार की पैतृक संपत्ति पाई है, अतएव उन्हें स्वस्थ और सामान्य रहना कठिन है। केवल मन्दबुद्धि की पैतृक प्राप्ति को छोड़ यह विचार भूल है। हमने चाहे जैसा स्वभाव पैतृक संपत्ति के रूप में क्यों न पाया हो—

आवेशवान, घबड़ानेवाला आदि, परन्तु इससे मनुष्य में केवल प्रवृत्ति मात्र आती है। इस प्रवृत्ति का सदुपयोग किया जा सकता है। इससे एक ओर तो मानसिक घबड़ाहट की वृद्धि भी हो सकती है और दूसरी ओर यदि उसे रचनात्मक कार्य में लगाया गया तो जीवन को मूल्यवान बनाया जा सकता है। ये फिर प्रकृति की अनुकम्पा से समाप्त भी हो जायँगी। यह हमारे हाथ की बात है कि हम अपने आपको किसी प्रकार के प्रवाह में बहने देकर दुःखी अथवा कमजोर बना डालें अथवा हम धीरे-धीरे चरित्र का बल, आत्मविश्वास, चित्त की एकाग्रता, आत्म-नियन्त्रण, उदारता, विवेकशीलता, गम्भीरता, सफलता और आनन्द की वृद्धि करें।'

उपर्युक्त कथन का तात्पर्य इतना ही है कि जो मनुष्य अपने को जिस ओर ले जाना चाहता है वह अपने आपको उस ओर ले जा सकता है। अपने प्रतिदिन के विचार आत्म-निर्देश की शक्ति बनकर ही उसमें यह सामर्थ्य प्रदान करते हैं। अपने मन की कमजोरी को दूर करने का पहला उपाय यह है कि हम विश्वास करें कि हम इस कमजोरी को दूर कर सकते हैं। जो व्यक्ति सोचता है कि हम अमुक काम कर सकेंगे, चाहे काम बाहरी सफलता का हो अथवा चरित्र-निर्माण का, वह उस काम को करने में सफल होता है; और जो व्यक्ति अपने आपको असहाय मान बैठा है वह अपने में कोई भी सुधार नहीं कर सकता। भाग्यवादिता का विचार मनुष्य को निकम्मा बनाता है और इस प्रकार का विचार निकम्मे लोगों के जीवन का दर्शन बन जाता है। यह उन्हें अपने निकम्मेपन से होनेवाली आत्म-भर्त्सना से बचाता है। अतएव निकम्मे लोग इसे दृढ़ता से पकड़े रहते हैं। परन्तु इससे वे अपने मन को बली न बनाकर और भी निर्बल बनाते हैं और अपने मानसिक दुःखों की संख्या को बढ़ाते हैं। भाग्यवादिता मन की घबड़ाहट को कम न कर और भी बढ़ाती है। जो मनुष्य अपने आपको बाहरी सत्ता का कठपुतला मान चुका है वह जीवन में उपयोगी काम क्या कर सकता है ?

घबड़ाहट की मनोवृत्ति का अन्त अपने आपमें शान्त भाव के अभ्यास से किया जा सकता है। शान्त भाव लाने के निम्नलिखित दस अभ्यास बड़े उपयोगी हैं, जिन्हें हम सभी कर सकते हैं—

(१) काम की अच्छी तैयारी करना।
(२) शान्त भाव की अपने आपमें कल्पना करना।
(३) काम करने में सहज भाव रखना।

(४) किसी शान्त भाव के व्यक्ति का ध्यान करना।
(५) बाहरी काम में मन को लगाये रखना।
(६) समाज के प्रतिष्ठित लोगों से मिलते रहना।
(७) आपत्तियों और कठिनाइयों का स्वागत करना।
(८) घटनाओं के प्रति शिक्षा-दृष्टि रखना।
(९) जीवन-संचालन के सिद्धान्त का निर्माण करना।
(१०) जीवन का निश्चित लक्ष्य बनाना।

किसी काम में हाथ डालने के पूर्व उसके लिये पूर्ण मानसिक और बाहरी तैयारी कर लेना मन की घबराहट मिटाने का प्रथम उपाय है। जब हम बाहरी तैयारी करते हैं तो मन की तैयारी भी अपने आप हो जाती है। जो शिक्षक पाठ को भली प्रकार से पढ़े बिना कक्षा में पढ़ाते जाते हैं उन्हें कक्षा में पढ़ाते हुए घबड़ाहट का अनुभव होता है। इसी प्रकार बिना काफी पैसा संग्रह किये जो लोग किसी व्यवसाय में लग जाते हैं उन्हें भी सदा चिंता और घबड़ाहट की मानसिक परिस्थिति में रहना पड़ता है। घबड़ाहट की मनोवृत्ति चोर की होती है, साहूकार की नहीं; और बिना तैयारी के किसी काम में हाथ डालना एक प्रकार की चोरी है। हमें सदा भय रहता है कि हमारी कमजोरी दूसरे लोगों को ज्ञात न हो जाय। दूसरे लोग भी हमारी चिन्ता की मुद्रा को पहचान हमें और भी घबड़ाने की चेष्टा करते हैं।

शान्त भावना का अभ्यास प्रतिदिन सोते-जागते करना चाहिए। जब मनुष्य सोकर उठे तो उसे अपने दिन भर के कार्यक्रम पर विचार करना चाहिए। यदि यह कार्यक्रम पहली रात को ही बन जाय तो अच्छा है। इस प्रकार कार्यक्रम का बना लेना मनुष्य के लिये दिन भर का काम निश्चित कर देता है, अतएव उसका मन अपने काम में लगा रहता है। अपने काम में लगे हुए व्यक्ति को व्यर्थ के बाहरी विचार नहीं सताते। जिन लोगों को व्यर्थ के विचार सताते हैं उन्हीं का मन कमजोर होता है। मनुष्य को दिन में सामना करनेवाली घटनाओं के रूप को पहले सोच लेना चाहिये, उसे अपनी कल्पना में उन्हें सफलता और शांतिपूर्वक करने का चित्र खींचना चाहिए। यह कल्पना उसका आत्म-निर्देश बन जाती है। जो मनुष्य सोचता है कि अमुक व्यक्ति के साथ बातचीत करने में वह घबड़ा जायगा, अथवा अमुक काम में उससे कोई भूल हो जायगी वह अपनी कल्पना के अनुसार ही आचरण करता है। जो मनुष्य सोचता है कि वह अमुक कठिनाई के समय शांत चित्त रहेगा, वह वैसा ही रहता है। इस

प्रकार किसी सभा में भाषण देनेवाला व्यक्ति जब पहले से अपनी सफलता का चित्र कल्पना में लाता है तो वह बिना घबड़ाहट के भाषण दे लेता है; जो व्यक्ति कल्पना में घबड़ाने का चित्र खींचता है वह वास्तव में घबड़ा जाता है। अपनी असफलता का चित्र कल्पना में लाना अपने मन को निर्बल बनाना है। प्रतिदिन शांत भावना का मानसिक अभ्यास मनुष्य की इच्छाशक्ति को दृढ़ और बलवान बना देता है। प्रत्येक कठिनाई को सोच-सोचकर अपने विषय में आत्म-निर्देश देना चाहिए कि मैं शांतिपूर्वक उनका सामना कर रहा हूँ।

लेखक की चिकित्सा में आया हुआ एक युवक बहुत ही हकलाता था। कोई बात कहने के पूर्व उसका दिल धड़कने लगता था। फिर जो कुछ वह कहना चाहता था बड़ी कठिनाई से कह पाता था। उसके मनोविश्लेषण से पता चला कि वह समाज के लोगों से बहुत डरता था। उसको सदा भय लगा रहता था कि जब भी वह बोलेगा तो लोग उसके बोलने पर हँस देंगे। उससे अभ्यास इस कल्पना का कराया गया कि उसकी बातें सुननेवाले सभी उसके मित्र हैं और उसकी हकलाती जबान से उसकी बातें सुनकर वे बहुत प्रसन्न होते हैं। वे हँसते इसलिये नहीं हैं कि उसकी मखौल करना चाहते हैं, वरन् इसलिये हँसते हैं उसकी बातचीत बड़ी मनोरंजक होती है। इस अभ्यास ने न केवल उसे मनोरंजक बातें कहनेवाला बना दिया वरन् एक अच्छा सामाजिक प्रवक्ता भी बना दिया। बार-बार की गई कल्पना मनुष्य का आत्म-निर्देश बन जाती है। सफलता की कल्पना मनुष्य का आत्म-विश्वास बढ़ाकर सफलता की ओर ले जाती है और विफलता की कल्पना उसे विफलता की ओर ले जाती है। हकलाने वाले व्यक्ति का भय का भाव और तद्जन्य अभद्र कल्पनायें उसे हकला बनाये रखती हैं; इस भाव के बदल जाने पर हकला अच्छा प्रवक्ता बन जाता है।

जिस प्रकार जागते समय का शांत भाव का अभ्यास मन को बली बनाता है इसी प्रकार सोते समय का शांत भाव का अभ्यास भी मन को बली बनाता है। सोते समय का शांत भाव का अभ्यास मनुष्य के अचेतन मन में चला जाता है और वह उसकी अनेक प्रकार की मानसिक-ग्रन्थि का निराकरण अपने आप कर देता है। मनुष्य के स्वभाव की बनावट उसके उन विचारों पर निर्भर करती है जिन्हें उसका अचेतन मन ग्रहण करता है। जब तक मनुष्य जागता रहता है तब तक उसकी तर्क-बुद्धि प्रबल रहती है। इसके कारण उसके मन में किसी प्रकार का भला सुझाव देर तक ठहर नहीं पाता। जो विचार सोते समय आते हैं वे जैसे के तैसे अपने मन में चले जाते हैं और वे हमारे स्वभाव को

परिवर्तित कर देते हैं। यहाँ यह स्मरण रखना आवश्यक है कि मनुष्य के विवेकयुक्त विचारों की अपेक्षा उसकी कल्पनाएँ अधिक प्रबल होती हैं और ध्यानपूर्वक किये गये चिन्तन की अपेक्षा मन की शिथिल अवस्था में आये हुए विचार चरित्र-निर्माण में अधिक प्रभावकारी होते हैं।

किसी भी काम को चितायुक्त मन से करना अपनी मानसिक घबड़ाहट को बढ़ाना है। जल्दी-जल्दी बोलनेवाले या काम में जल्दी करनेवाले व्यक्तियों से अनेक भूलें हो जाती हैं जिनके लिये उन्हें भारी दुःख और आत्म-भर्त्सना होती है। किसी बात में जल्दी करना आत्म-विश्वास की कमी को दर्शाता है। इससे काम करने में अधिक शक्ति खर्च होती है और थकावट भी शीघ्रता से आती है। ऐसे व्यक्ति को जीवन में सफलता नहीं मिलती। अतएव शांत भाव से धीरे-धीरे काम करना ही अच्छा है। अँग्रेजी में कहावत है धीरे-धीरे और लगातार चलनेवाला ही दौड़ को जीतता है।* जो लोग तुरन्त के फल के इच्छुक होते हैं वे ही काम करने में जल्दबाजी करते हैं। इससे वे अपने काम को और बिगाड़ लेते हैं। ऐसे ही लोग घबड़ाहट के शिकार होते हैं।‡

---

* Slow and steady wins the race.

‡ इस प्रसंग में राल्फ वाल्दो ट्राइन महाशय की निम्नलिखित कविता उल्लेखनीय है। इसको मनन करना मानसिक बल को बढ़ाता है—

I stay my haste, I make delays,
For what avails this quickening pace?
I stand amid eternal ways
And what is mine shall know my face.

Asleep, awake, by night or day,
The friends I seek are seeking me;
No wind can drive my bark astray,
Nor change the tide of destiny.

The waters know their own, and draw
The brook that springs in yonder height;
So the good with equal law
Flows unto the soul of pure delight.

The stars come nightly to the sky,
And the tidal waves unto the sea
Nor time, nor space, nor deep, nor high
Can keep my own away from me.

—*In Tune With the Infinite*

काम करने में सहज भाव रखने का अर्थ कि हम इसकी सफलता का पूरा भरोसा करते हैं। भले का फल भला अवश्य होता है, चाहे फल के प्राप्त होने में देरी कितनी ही क्यों न लगे। जिन लोगों ने संसार के बड़े-बड़े काम किये हैं उन्होंने सदा सहज भाव से ही उन्हें किया है। सहज भाव से किये हुए काम में अहंकार का भाव नहीं रहता। अतएव प्रकृति की सभी शक्तियाँ ऐसे कार्यकर्ता की सहायता करती हैं। जैसे-जैसे मनुष्य को इन शक्तियों का ज्ञान होता जाता है उसका आत्मविश्वास बढ़ता जाता है और उसकी घबड़ाहट की मनोवृत्ति का अन्त होता जाता है।

देखा गया है कि जो लड़के परीक्षा के बारे में अत्यधिक व्यग्र रहते हैं वे परीक्षा-भवन में पहुँचते ही हृदय की धड़कन का अनुभव करने लगते हैं। कभी कभी इसके कारण वे अपना पढ़ा-लिखा सभी पाठ भूल जाते हैं। हमारी चिकित्सा में अनेक नवयुवक परीक्षा की काफी तयारी करते और घबड़ाहट के कारण परीक्षा-भवन को छोड़कर बाहर चले आते। कुछ नवयुवक परीक्षा के पर्चे को ही ठीक से नहीं पढ़ते और उत्तर लिखने बैठ जाते हैं और इस प्रकार कुछ का कुछ लिख आते हैं।

मनुष्य में शांत भाव एकाएक नहीं आता। यह वस्तु अभ्यास का परिणाम है। जब हम अपने प्रत्येक कार्य में शांत भाव का अभ्यास करते हैं तभी वह हमारे स्वभाव का अंग बनता है। काम की सफलता में हमें केवल अपने बल पर ही भरोसा करना उचित नहीं। हमारा बल जब समष्टि के बल से जुड़ जाता है तभी हम सफलता पाते हैं। हमें इस बल की प्राप्ति के लिये सचेष्ट रहना चाहिए। यह तभी प्राप्त होता है जब हम फल की दृष्टि से नहीं वरन् केवल कर्तव्य की दृष्टि से काम करते हैं।

अपने शांत भाव को बली बनाने के लिए किसी शांत भाववाले व्यक्ति का प्रति दिन ध्यान करना लाभकारी है। अपनी परीक्षा के समय ऐसे व्यक्ति का ध्यान करना अति उत्तम है। मनुष्य का चित्त तद्रूप ही हो जाता है जिस रूप का ध्यान वह दृढ़तापूर्वक नित्य प्रति करता है। भगवान बुद्ध ने इसे समाधि-प्राप्ति का एक उपाय बताया है। लेखक के एक विद्वान वयोवृद्ध अंग्रेज मित्र श्री रोनाल्ड निक्सन ने, इसे अपने जीवन में उपयोगी पाया। श्रीरोनाल्ड निक्सन को पहली जर्मन लड़ाई के बाद भारी अशांति हुई। आप उस लड़ाई में हवाई जहाजों के आफिसर थे। उसमें बहुत सा हत्या का काम करना पड़ा था। उनके मन को शान्ति देनेवाली कोई भी बात नहीं रह गई थी। एक बार उन्होंने अपने ध्यान को केम्ब्रिज विश्वविद्यालय में बुद्ध भगवान की मूर्ति पर

लगाया। इससे उन्हें अकथनीय शान्ति मिली। तब से वे पूर्वीय साधनाओं के अनुगामी बन गए और आज अपना समय इन्हीं में बिता रहे हैं।

उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि हम भाव पूर्ण होकर जैसे भी व्यक्ति का ध्यान करते हैं उसी प्रकार के हम स्वयं बन जाते हैं। चिड़चिड़े अधीर स्वभाव के व्यक्ति का ध्यान करते-करते हम स्वयं भी वैसे ही बन जाते हैं और कठिन परिस्थितियों में शान्त रहनेवाले व्यक्ति का ध्यान करते-करते हम भी धैर्यवान अनायास बन जाते हैं। किसी भले पुरुष का ध्यान श्रद्धापूर्वक करना उसकी मानसिक शक्ति का स्वयं भी लाभ उठाना है। ऐसे व्यक्ति के ध्यान द्वारा बिजली के प्रवाह के समान हम में मानसिक शक्ति बह आती है।

किसी विशेष प्रकार की परीक्षा के समय किसी शान्त चित्त के व्यक्ति का ध्यान करना मानसिक बल को बढ़ाता है। श्री डेलकरनेगी महाशय अपना अनुभव लिखते हुए कहते हैं कि जब कभी मुझे कठिनाई का अवसर पड़ता है तो मैं वाशिंगटन के राजप्रासाद में रखे हुए प्रेसिडेण्ट लिंकन के शांत चित्र पर अपना ध्यान जमाता हूँ और इससे मेरे मन में शांत भाव और साहस आ जाता है। यदि व्याख्याता व्याख्यान देते समय अपने किसी शांत चित्तवाले मित्र का ध्यान करे तो उसका भाषण प्रभावकारी बन जाता है। उसके मन की घबड़ाहट का इससे अन्त हो जाता है।

अपने मन को किसी बाहरी काम में लगाये रखना अपने मन को बली बनाने का उपाय है। जो मनुष्य अपना सुधार केवल अपनी कमजोरियों पर विचार करके करना चाहता है वह अपने आपको एक भूलभुलैया में डाले हुए है। कोई भी मनुष्य कमजोरियों पर विचार करके अपने आपको बलवान नहीं बना सकता। अधिक समय तक अपनी कमजोरियों का चिन्तन करने से मनुष्य में आत्म-भर्त्सना की मनोवृत्ति का उदय हो जाता है। इससे मन बलवान न होकर निर्बल ही हो जाता है। इमरसन महाशय के इस कथन में मौलिक सत्य है कि नये भले काम ही पुरानी भूलों के सच्चे प्रायश्चित्त हैं। गिरे हुए दूध पर रोना मूर्खता है। नये अभ्यास से ही पुरानी भूलों का प्रतिकार होता है।*

मन को बली बनाने का सर्वोत्तम उपाय अपने आपको किसी भले काम में लगा देना है। जैसे-जैसे मनुष्य को अपने काम में सफलता मिलती जाती है

---

* New actions are the only apologies and explanations of the old which the noble can bear to receive or to offer —Emerson —*Essays*

उसका आत्म-विश्वास भी बढ़ता जाता है। इस प्रकार जब बाहरी बातों में मनुष्य का आत्म-विश्वास बढ़ जाता है तो वह आत्म-नियन्त्रण के सम्बन्ध में भी आत्म-विश्वास करने लगता है। इस प्रकार मनुष्य की उन्नति बाहर से भीतर की ओर होती है। साधना के लिए स्थूल से सूक्ष्मता की ओर बढ़ना ही अच्छा है।

जो मनुष्य अपना कल्याण करना चाहता है उसे सीधे अपने कल्याण में न लगकर किसी दूसरे व्यक्ति के कल्याण के विषय में चिन्तन करने लगना अच्छा है। जब हम किसी दूसरे व्यक्ति की गरीबी, रोग अथवा चरित्र के किसी दोष को अपने पूरे मन से हटाने की मन से चेष्टा करते हैं तो अपने से सम्बन्धित ये बातें अपने आप ही सुधर जाती हैं। एक व्यक्ति को सिगरेट पीने की आदत थी। वह इसके लिये अपनी भर्त्सना किया करता था। उसने कई मनोवैज्ञानिकों से इसके लिए सलाह ली परन्तु उसकी आदत न गई। दैवयोग से उसके एक मित्र का किशोर बालक उनके अभिभावकत्व में विद्याध्ययन के लिए रखा गया। इस बालक में भी सिगरेट पीने की आदत थी। अपनी आदत की बुराई से परिचित होने के कारण उसने इस बालक को उक्त आदत से मुक्त करने का भरसक प्रयत्न किया। उसने उसे प्रति दिन भले उपदेश दिए, रचनात्मक कार्यों में लगाया। उसके साथ खेलने आदि में समय दिया, उसकी रुचि पढ़ने-लिखने में बढ़ाई और उसे इन कामों में बहुत प्रोत्साहित किया। इसके परिणामस्वरूप बालक की सिगरेट पीने की आदत जाती रही। परन्तु उसके इस प्रयत्न का एक फल यह हुआ कि उसकी वह आदत भी सरलता से छूट गई। इससे यह स्पष्ट है कि जो लाभ हम दूसरों के लिये कराना चाहते हैं वह लाभ हमें अपने आप ही सरलता से प्रकृति द्वारा प्राप्त हो जाता है। यह लाभ चाहे भौतिक उन्नति का हो अथवा मानसिक।

दूसरे व्यक्ति के चरित्र में सुधार करते समय यह बात सदा ध्यान में रखना आवश्यक है। दूसरे व्यक्ति के चरित्र में सुधार तभी होता है जब हमारा उस व्यक्ति के प्रति अपार स्नेह होता है और जब उस व्यक्ति की हमारे ऊपर श्रद्धा होती है। बड़ों का छोटों के प्रति स्नेह उनमें श्रद्धा का भाव उत्पन्न करता है। यह श्रद्धा ही चरित्र के दोषों का अनायास सुधार करती है। जो व्यक्ति अपने आश्रितों में दोष ही अधिक देखता है वह उनके चरित्र का कोई सुधार नहीं करता। दूसरों के चरित्र का आलोचक अपनी आलोचना से न तो दूसरों का लाभ करता है और न स्वयं का। आलोचना घृणा की मनोवृत्ति से प्रेरित होती है। इसका परिणाम प्रेम की मनोवृत्ति का खतरा होता है।

जिन लोगों को किसी विशेष व्यक्ति से मिलने में घबड़ाहट होती है, उन्हें जान-बूझकर विशेष व्यक्ति से मिलने की चेष्टा करनी चाहिए। किसी भी प्रकार की घबड़ाहट कायरता की मनोवृत्ति से बढ़ती है। जो व्यक्ति जितना ही किसी बात से डरता है वह उतनी ही अधिक भयावनी बन जाती है। कितने ही लोगों को स्त्रियों से मिलने में, सभा में बोलने में घबड़ाहट होती है। उनकी इस प्रकार की घबड़ाहट उन कामों से भागने से नहीं जाती जिनसे घबड़ाहट उत्पन्न होती है वरन् उनका अधिकाधिक सामना करने से ही जाती है। परिचय भय का विनाशक है। जिस बात से हम जितना ही अधिक अपना परिचय बढ़ाते हैं उससे हम उतने ही निर्भीक होते हैं।

नये अथवा प्रसिद्ध लोगों से घबड़ाने का एक कारण उनके प्रति डर की भावना है। यह डर किसी पुराने अनुभव के कारण होता है। डर कभी-कभी घृणा का रूप धारण कर लेता है। घृणा डर का आवरण बन जाता है। घृणा के कारण डर भी होता है। दोनों प्रकार की मनोवृत्तियों का अन्त मैत्री भावना के अभ्यास से होता है। जिन लोगों के सामने जाने में हमें घबड़ाहट होती है उन्हें यदि हम भला और अपना कल्याणकारी समझने लग जायँ तो उनसे मिलने में हमारी होनेवाली घबड़ाहट मिट जाय।

कितने ही लोगों को अधिकारी लोगों से मिलने में घबड़ाहट होती है। इस प्रकार की मनोवृत्ति का कारण उनसे कुछ चाहनेवाला भाव है। जिस व्यक्ति से हमें कुछ लेना नहीं रहता उससे मिलने में हमें कोई घबड़ाहट नहीं होती। ऐसे व्यक्ति के प्रति हमारा व्यवहार भी सच्चा रहता है। किसी प्रकार की चापलूसी की बात वहाँ मन में नहीं आती। जिन लोगों को झूठा व्यवहार करना पड़ता है उनमें मानसिक दृढ़ता और शान्ति नहीं रहती। ऐसे लोग बातचीत में अटकने लगते हैं। जिन्हें अपने भावों को छिपाने की अधिक आवश्यकता पड़ती है वे हकलाकर बोलने भी लगते हैं। उनका हृदय काँपता रहता है। इस प्रकार उनका मन निर्बल हो जाता है। अतएव अधिकारियों के पास बिना कुछ माँगने की इच्छा किये और सचाई को प्रथम स्थान देते हुए मिलना अच्छा है।

मनुष्य के मन का बल कठिनाइयों से भागने से नहीं, वरन् उनका सामना करने से बढ़ता है। अतएव कठिनाइयों का स्वागत करना अपने मन की घबड़ाहट को मिटाने का सर्वोत्तम उपाय है। इस प्रकार का स्वागत एक तरह का मानसिक व्यायाम है। अभ्यास से ही मनुष्य के शरीर तथा मन का बल बढ़ता है। जो मनुष्य कठिनाइयों में नहीं पड़ता उसे हम भाग्यशाली समझते हैं, परन्तु

मानसिक लाभ की दृष्टि से इस प्रकार का व्यक्ति वास्तव में अभागा है। दुनिया के महान् पुरुष वही हुए हैं जिन्होंने कठिनाइयों का स्वागत किया है। यदि वे चाहते तो आराम का जीवन व्यतीत करते। परन्तु इस प्रकार का जीवन निकम्मा जीवन है। निडर होकर परिस्थितियों से लड़कर एक दिन जीना, कायर बनकर सौ वर्ष जीने से अच्छा है। वास्तव में जो लोग आपत्तियों से नहीं डरते वे उन्हें अपना मित्र और शिक्षक बना लेते हैं। ये आपत्तियां उनकी कुछ हानि न कर लाभ ही कर जाती हैं। मेजिनी, लिंकन, लेलिन, शिवाजी और तिलक आदि महान् पुरुष आज स्मरणीय इसीलिये हैं कि कठिनाइयों में पड़ना ही उनके जीवन का मुख्य लक्ष्य था।

लीक लीक सब कोइ चलै, लीकहि चलै कपूत।
बिना लीक तीनों चलैं, सायर सेर सपूत॥

नया मार्ग खोजना, संसार को नया विचार देना, नई कठिनाइयों को पार करना यह काम मानसिक दृढ़ता वाले लोगों से होता है। ऐसे लोगों का अनुकरण और उनकी भावना चित्त में लाने से ही मनुष्य अपने डरपोक स्वभाव से मुक्त होता है।

प्रत्येक घटना को अपने लिये उपयोगी और शिक्षाप्रद मानना मानसिक घबड़ाहट को मिटाने का महत्वपूर्ण उपाय है। कहा जाता है कि बुराई के पल्ले में भलाई छिपी रहती है*। सभी घटनाओं के प्रति मैत्री भावना रखना अच्छा है। यदि किसी घटना से हमें किसी नये विचार की प्राप्ति हुई तो हमें उसे अपने लिये अच्छा ही मानना चाहिये। यहाँ यह कहना आवश्यक है कि मनुष्य को दुखद और सुखद दोनों प्रकार की घटनाओं में समत्व भाव रखना लाभकारी है। जो व्यक्ति सुखद घटनाओं से जितने ही अधिक फूले नहीं समाते, वे दुखद घटनाओं से उतने ही अधिक घबड़ाते हैं। लाभ में जो अति प्रसन्न नहीं होते वे हानि को भी शान्त भाव से सह लेते हैं और निन्दकों की बौछारों को सरलता में सह लेते हैं।

उक्त मानसिक मान्यता का भाव उसी व्यक्ति को प्राप्त होता है जिसके जीवन में कुछ मौलिक सिद्धान्त होते हैं और जो इनके द्वारा आचरण को चलाता है। उद्विग्न मन के लोग वे होते हैं जिनका जीवन-दर्शन कुछ भी नहीं है जो क्षणिक

---

* "There is a soul of goodness in things evil, would men observingly distil it out"—Shakespear.

हानि-लाभ से ही अपने मस्तिष्क को भरे रहते हैं। ऐसे ही लोगों को दूसरे लोगों के विचार उद्विग्न मन कर देते हैं। जिस व्यक्ति का मन सुगठित है, अर्थात् जिसके विचार किसी एक केन्द्र से निकलते अथवा नियंत्रित होते हैं, वह सभी परिस्थितियों में शान्त मन रहता है। प्रत्येक मनुष्य को चाहिये कि वह अपने जीवन के संचालन के लिये कुछ मौलिक सिद्धान्त बनाए और उनसे जीवन का संचालन करे। अपने उच्च स्वत्व के विरुद्ध आचरण ही बुरा होता है। इस प्रकार के आचरण से मानसिक उद्विग्नता की वृद्धि होती है।

जो लोग केवल इन्द्रिय-सुख की खोज में सैर-सपाटे, उपन्यासों के पढ़ने, सिनेमा के देखने, गप्प सड़ाकों, दावतों के खाने और सभा-सोसाइटियों में अपना सारा समय गँवा देते हैं, उन्हें अपने आपको जानने और अपने विचारों को सुगठित करने का समय ही नहीं मिलता। ऐसे व्यक्तियों का मन सदा डाँवाडोल अवस्था में रहता है। मन की स्थिरता सैद्धान्तिक जीवन में ही रहती है। अतएव सच्चे सिद्धान्तों की खोज करना और उनपर चलना मानसिक उद्विग्नता पर विजय करने का सर्वोत्तम उपाय है।

जिस व्यक्ति का भीतरी जीवन सुगठित है अर्थात् जिसका जीवन किसी एक आन्तरिक केन्द्र से संचालित है उसके बाहरी आचरण का भी निश्चित लक्ष्य अपने आप ही हो जाता है। अपने लक्ष्य की प्राप्ति में जो व्यक्ति जितना ही दत्त चित्त रहता है, उसका मन उतना ही बली होता है। मनुष्य को निर्बल करने वाले विचार चारों ओर से आते रहते हैं। जो व्यक्ति अपने लक्ष्य को सदा ध्यान में रखता है उसके समीप ये विचार ठहर नहीं पाते। कोई बुरा विचार हमारे मन में तभी ठहरता है जब हमें उसकी ओर ध्यान देने का समय रहता है। जब हमें बुरे विचारों का स्वागत करने की फुरसत नहीं रहती तो ये विचार जहाँ के तहाँ चले जाते हैं। अपने जीवन को बहुमूल्य माननेवाले व्यक्ति को इधर-उधर देखने की फुरसत नहीं रहती। ऐसे व्यक्ति को विघ्नकारी भाव भी त्रास नहीं देते। प्रकृति भी उन्हीं लोगों की सहायता करती है जो ऊर्ध्वगामी होते हैं। अतएव अपने जीवन की क्रियाओं का एक निश्चित लक्ष्य बना लेना मानसिक उद्विग्नता से मुक्ति पाने का सर्वोत्तम और अन्तिम उपाय है।

अपने जीवन का लक्ष्य सर्वथा उच्च होना चाहिये। वह ऐसा हो जिससे न केवल अपना लाभ हो वरन् दूसरों का भी लाभ हो। मनुष्य का मन वहीं तक बली होगा जहाँ तक वह व्यक्तिगत स्वार्थ को ध्यान में न रखकर समष्टि के स्वार्थ को ध्यान में रखता है। नियमित करना, अपने विचार लिखना, रामियों

की सेवा करना, जनता को शिक्षा देना, सामाजिक सुधार में लग जाना अथवा केवल अपने परिवार का पालन-पोषण ही करना मनुष्य के काम का क्षेत्र हो सकता है। परन्तु इन सभी कामों के करने का हेतु—अपने आपको समष्टि आत्मा से जोड़ना—मानसिक शान्ति की प्राप्ति के लिये आवश्यक है। कोई भी काम व्यक्तिगत हेतु अथवा समष्टि भाव से किया जाता है। पहले प्रकार का हेतु मनुष्य के मन को निर्बल बनाता है और दूसरे प्रकार का हेतु उसे प्रबल बनाता है। पहले प्रकार के हेतु से चिन्ता और मानसिक उद्विग्नता बढ़ती है और दूसरे प्रकार के हेतु से मानसिक दृढ़ता और शान्ति आती है।

बारहवाँ अध्याय

कठिनाइयों पर विजय

मनुष्य का आध्यात्मिक विकास कठिनाइयों से सदा लड़ते रहने से होता है। जो व्यक्ति कठिनाइयों से जितना ही भागता है, वह अपने आपको उतना ही निकम्मा बनाता है और जो उन्हें जितना ही आमन्त्रित करता है वह अपने आपको उतना ही योग्य बनाता है। मनुष्य के जीवन की सफलता उसकी इच्छा-शक्ति के बल पर निर्भर करती है। जो व्यक्ति जितना ही यह बल रखता है वह जीवन में उतना ही सफल होता है, इच्छा-शक्ति का बल बढ़ाने के लिये सदा कठिनाइयों से लड़ते रहना आवश्यक है। जिस व्यक्ति को कठिनाइयों से लड़ने का अभ्यास रहता है वह नई कठिनाइयों के सामने आने पर उनसे भयभीत नहीं होता, वह जमकर उनका सामना करता है। कायरता की मनोवृत्ति ही मनुष्य के आधुनिक दुःखों का कारण होती है। शूरवीरता की मनोवृत्ति ही दुःखों का अन्त करती है। निर्बल मन का व्यक्ति सदा अभद्र कल्पनाएँ ही अपने मन में लाता है। उसके मन में भली कल्पनाएँ नहीं आतीं। वह अपने आपको चारों ओर आपत्तियों से ही घिरा पाता है। अतएव अपने जीवन को सुखी बनाने का सर्वोत्तम उपाय कठिनाइयों से लड़ने के लिये सदा तत्पर रहना ही है।

मनुष्य की कठिनाइयाँ दो प्रकार की होती हैं—एक बाहरी और दूसरी आभ्यन्तरिक अर्थात् भीतरी। साधारण मनुष्य की दृष्टि अपनी दूसरी बाहरी कठिनाइयों की ओर ही जाती है, विरले ही मनुष्य की दृष्टि अपनी भीतरी कठिनाइयों को देखने की क्षमता रखती है। परन्तु वास्तव में मनुष्य की सच्ची कठिनाइयाँ आन्तरिक कठिनाइयाँ हैं, बाहरी कठिनाइयाँ आन्तरिक कठिनाइयों का आरोपण मात्र हैं। किसी भी प्रकार की परिस्थिति मनुष्य को लाभ अथवा हानि पहुँचा सकती है। अनुकूल परिस्थिति बुराई का काम कर सकती है, और प्रतिकूल भलाई का। जो परिस्थिति मनुष्य को भयभीत करती है वही वास्तव में उसकी हानि करती है। यदि परिस्थिति कठिन हुई और उससे मनुष्य भयभीत न हुआ तो वह मनुष्य की हानि न कर उसका लाभ ही करती है।

मनुष्य का मन आध्यात्मिक चिन्तन से बलवान होता है, जिस व्यक्ति को अपने कर्तव्य का पूरा निश्चय है, जो उनको पूरा करने के लिये अपना सर्वस्व खोने के लिये तैयार रहता है उसे कोई भी परिस्थिति भयभीत नहीं करती।

मनुष्य के मन में अपार शक्ति है। वह जितनी शक्ति की आवश्यकता का अनुभव करता है उतनी शक्ति उसे अपने ही भीतर से मिल जाती है। जो व्यक्ति अपने आपको कर्तव्य-दृष्टि से बड़े बड़े संकटों में डालता रहता है वह अपने भीतर अपार शान्ति की अनुभूति भी करने लगता है। उसे अपने संकटों को पार करने के लिये असाधारण शक्ति भी मिल जाती है। उसकी इस प्रकार की आन्तरिक शक्ति की अनुभूति ज्यों-ज्यों बढ़ती है, उसकी कार्यक्षमता भी बढ़ती है।

जब कभी कोई मनुष्य अपने आपको कठिनाई में पड़ा हुआ पाता है, उस समय उसे अपने कर्त्तव्य का ध्यान नहीं रहता। कर्तव्य का ध्यान रहने पर बाहरी कठिनाई घट जाती है। कठिनाई में पड़े हुए व्यक्ति के कर्त्तव्य-सम्बन्धी विचार उलझे हुए रहते हैं। यदि किसी व्यक्ति की आन्तरिक कठिनाइयाँ सुलझ जायँ तो उसकी बाहरी कठिनाइयाँ भी सरलता से सुलझ जाती हैं। बाहरी और भीतरी कठिनाइयाँ एक दूसरे की सापेक्ष हैं। मनुष्य को अपने आपका ज्ञान बाहरी कठिनाइयों से लड़ने पर होता है और जैसे-जैसे उसे अपने आपका अधिकाधिक ज्ञान होता है वह बाहरी कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करने में भी समर्थ होता है।

प्रत्येक कठिनाई से भय की अनुभूति करनेवाले व्यक्ति के मन में मानसिक अन्तर्द्वन्द्व की स्थिति रहती है। इस अन्तर्द्वन्द्व के कारण मनुष्य की मानसिक शक्ति का एकीकरण नहीं होता। आपस में बँटवारा हो जाने के कारण और व्यर्थ लड़ाई में खर्च हो जाने के कारण मनुष्य का मन निर्बल हो जाता है। ऐसी अवस्था में जब एक भारी बाहरी कठिनाई उसके सामने आ जाती है तो वह अपनी मानसिक शक्ति को बटोर नहीं पाता और उससे भयभीत हो जाता है। जिस प्रकार भीतरी संघर्ष चलनेवाला राष्ट्र निर्बल होता है और वह बाहरी आपत्तियों का आवाहन करता है, उसी प्रकार मानसिक अन्तर्द्वन्द्ववाले व्यक्ति का मन भी निर्बल होता है और अनेक प्रकार भी कठिनाइयाँ उसके सामने आती रहती हैं। यदि कोई व्यक्ति जमकर ऐसी कठिनाइयों का सामना करे तो उसके आन्तरिक मन में भी एकता हो जाय। निकम्मा मन ही शैतान की क्रिया-शाला होता है। बाहरी कठिनाइयों के हल करने के प्रयत्न में अनेक आन्तरिक कठिनाइयाँ अपने आप ही हल हो जाती हैं।

साधारणतः जो काम मनुष्य के हाथ में आ जाय और जिससे न केवल अपना ही लाभ हो वरन् दूसरों का भी लाभ हो, उसे न छोड़ना चाहिए। उस काम को पूरा करने के लिये जो त्याग और कष्ट सहने की आवश्यकता हो उसे

लड़ना चाहिए। यदि वह अपने जीवन का इस प्रकार का लक्ष्य बना ले तो वह देखेगा कि उसे धीरे-धीरे ठोस आध्यात्मिक ज्ञान होता जाता है। जो ज्ञान मनुष्य को दार्शनिक चिन्तन मात्र से नहीं होता वही ज्ञान उसे अपनी परिस्थितियों से लड़ने में मिल जाता है और जो मानसिक एकता और शान्ति योग से नहीं आती वही कठिनाइयों से लड़ने से अपने आप आ जाती है।

कठिनाइयों से लड़ते रहना न केवल अपने जीवन को सफल बनाने के लिये आवश्यक है वरन् दूसरे लोगों को भी प्रोत्साहित करने के लिये आवश्यक है। जिस प्रकार मनुष्य के चरित्र के दुर्गुण संक्रामक होते हैं। इसी प्रकार उसके चरित्र के सद्गुण भी संक्रामक होते हैं। एक कायर को रण में भागते देखकर दूसरे सैनिक भी रण से भाग पड़ते हैं और एक को रण में जमकर लड़ते देखकर दूसरे व्यक्ति भी हिम्मत लड़ाते हैं। उनके भीतर भी वीरता का भाव जाग्रत हो जाता है। सभी मनुष्यों में सभी प्रकार के दुर्गुणों और सद्गुणों की संभावना रहती है। मनुष्य जिस प्रकार के वातावरण में रहता है, उसमें उसी प्रकार के मानसिक गुणों का आविर्भाव होता है। वीर पुरुष का चरित्र ही दूसरे लोगों के लिये शिक्षा है। यही समाज को उसकी सबसे बड़ी देन होती है. जब मेजनी ने इटली की स्वतन्त्रता का आंदोलन चलाया था उस समय केवल पांच व्यक्ति उसके साथी थे, परन्तु शीघ्र ही पांच से पचास हुए और पचास से सारा देश स्वतंत्रता के भावों से ओत-प्रोत हो गया। देश में अनेक योद्धाओं का जन्म हुआ और देश उनके जीवन काल में ही विदेशी-शासन से मुक्त हो गया। इसी तरह जब लोकमान्य तिलक ने भारतवर्ष की स्वतन्त्रता की आवाज उठाई तो इने-गिने लोग उनके साथी हुए, परन्तु उनके विचार दृढ़ थे। उन्हें सत्य की विजय में विश्वास था। अतएव एक से अनेक लोगों तक उनका विचार फैला। महात्मा गांधी ने सन् १९२० में उनके विचार को अपना लिया और भारतवर्ष को स्वतन्त्रता मिलकर ही रही। यदि कोई व्यक्ति पूरे मन से किसी काम को अपना कर्तव्य समझकर करता है तो उसे उस काम में सफलता अवश्य मिलती है।

अपनी कठिनाइयों पर ऐसे ही लोग विजय पा सकते हैं जो कठिनाइयों के आध्यात्मिक पहलू को भूल नहीं जाते। मेजनी को बड़ा काम करना था अतएव न केवल उसने राजनैतिक संस्थाएँ बनाकर इटली की स्वतन्त्रता का आन्दोलन चलाया वरन् उसने मनुष्य के कर्तव्य (ड्यूटीज आफ मेन्) नामक पुस्तक भी लिखी। यह उसके जीवन की सबसे बड़ी देन है। अपने अनुभव के आधार

पर उसने बताया है कि मनुष्य को अपने कर्तव्य का निर्णय किस प्रकार करना चाहिए और इसमें कैसे लगना चाहिए। इसी प्रकार लोकमान्य ने भारतवर्ष के पुराने कर्तव्य-शास्त्र अर्थात् गीता की एक नयी व्याख्या की। बिना इस व्याख्या के देश को स्वतन्त्रता-प्राप्ति जैसे कठिन कार्य में सफलता मिलना असंभव था। यदि कोई व्यक्ति राष्ट्र के सभी लोगों की मति को बदल देता है, यदि वह उसमें निराशा की जगह आशा का संचार कर देता है और वह जनता को बताता है कि केवल भगवान की पूजा करने, उनका नाम रटने अथवा वन में उनकी खोज करने से वे नहीं मिलते वरन् देश की सबसे महत्त्व की समस्या को हल करने के प्रयत्न से वे मिलते हैं तो वह राष्ट्र में एक नये बल का संचार कर देता है। भारतवर्ष फल की दृष्टि से काम करना सीख गया था, वह कर्तव्य की दृष्टि से काम करना भूल गया था। वह संसारी कामों को हेय दृष्टि से भी देखने लगा था। जिन लोगों में निर्लोभ भाव रहता था और जो त्याग-बुद्धि में आगे थे वे प्रायः भक्ति-भावों में अपने आपको खो देते थे अथवा जंगल में जाकर योगाभ्यास करते थे। इस मनोवृत्ति को तिलक ने बदल दिया। यही कारण है कि अनेक कठिनाइयों के होते हुए भारतवर्ष स्वतन्त्रता प्राप्त करने में समर्थ हुआ।

यहाँ हम देखते हैं कि सच्चा दर्शन कठिनाइयों से लड़ते रहने में है और कठिनाइयों पर विजय पाने के लिये वह सबसे अच्छा साधन भी बनता है। मनुष्य की बुद्धि जितनी ही स्थूल जगत से उठकर सूक्ष्म जगत् में अर्थात् विचारों के जगत् में जाती है उसे अपनी वस्तुस्थिति का उतना ही अधिक ज्ञान होता है और फिर वह परिस्थितियों पर विजय प्राप्त करने में उतना ही अधिक सफल होता है। परन्तु इस प्रकार विचारों को ऊँचा उठाने के लिये जान-बूझकर अपने आपको कठिनाइयों में डालना भी आवश्यक है। जब दूध गरम होता है तभी मलाई ऊपर आती है; ऐसे ही विचार तभी ऊँचे उठते हैं जब मनुष्य कठिनाइयों में पड़ता है।

कठिनाइयों पर विजय वह व्यक्ति कभी भी प्राप्त नहीं करता जो इस विजय प्राप्तिमें दूसरे का भरोसा रखता है। अपने आप पर भरोसा रखनेवाले व्यक्ति ही कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करते हैं। प्रत्येक मनुष्य के व्यक्तित्व में अपार शक्ति है। उतनी ही शक्ति का हमें ज्ञान हो पाता है जितनी की हमें किसी समय आवश्यकता होती है। कठिन परिस्थितियों से लड़ते समय ही मनुष्य को अपनी नई शक्ति का ज्ञान होता है। जो मनुष्य कठिन परिस्थितियों से भागता ही रहता है वह अपने मन को दुर्बल बना लेता है। ऐसे व्यक्ति को अपनी

आत्मा में निहित अलौकिक शक्ति का ज्ञान ही नहीं होता। यदि शिवाजी अपने आप को कठिन परिस्थितियों में न डालते तो उनमें निहित शक्ति कैसे प्रस्फुरित होती। संसार की परिस्थितियों के प्रति जो व्यक्ति आक्रमणात्मक मनोवृत्ति रखता है वही जीवन-संग्राम में सफल होता है। उसकी ही सहायता परमात्मा करता है। कायर को भगवान भी शरण नहीं देता।

यदि किसी व्यक्ति की कठिनाइयों में सच्ची सहायता करनी हो तो उसका सर्वोत्तम उपाय है कि मनुष्य अपने आपको उससे भी अधिक कठिनाई में डाल दे। मनुष्य की सच्ची सहायता भौतिक नहीं, आध्यात्मिक है। भौतिक सहायता से मनुष्य का सामयिक लाभ भले ही हो परन्तु इससे वह अपना आत्म-विश्वास खो देता है जिससे अन्त में उसका विनाश ही होता है। भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को आध्यात्मिक सहायता दी और दुर्योधन को भौतिक। इससे अर्जुन की विजय हुई और दुर्योधन का विनाश हुआ। यदि हम इस आध्यात्मिक सहायता के रहस्य को समझने की चेष्टा करें तो हम देखेंगे कि कृष्ण ने अर्जुन के सहायतार्थ जितने संकट में वह था उससे अधिक संकट में अपने आपको डाल दिया। रण में अर्जुन के कुछ सम्बन्धियों का मरना निश्चित था। यह उन्होंने अपने लिये भी स्वीकार किया। फिर अर्जुन के पास दुर्योधन के बराबर बल नहीं था। परन्तु कृष्ण ने तो निःशस्त्र होकर अर्जुन का रथ हाँकने का काम अपने लिये स्वीकार किया था। यहाँ न तो रण में कुशलता दिखाने की कीर्ति का प्रलोभन उनके समक्ष था और न किसी प्रकार का अन्य प्रलोभन। इतना ही नहीं, अपने प्राणों की रक्षा की परवाह भी उन्होंने नहीं की। इसीलिये अर्जुन को उनसे सच्चा आध्यात्मिक बल मिला और वे युद्ध को जीतने में समर्थ हुए। इस प्रकार एक अर्जुन को विजयी बनाकर उन्होंने संसार के सामने सर्वदा के लिए एक उदाहरण उपस्थित कर दिया कि दूसरे व्यक्ति को उसकी कठिनायों पर विजय प्राप्त करने में उचित सहायता कैसे दी जा सकती है। कृष्ण का ध्येय अर्जुन के मानसिक बल को बढ़ाना था न कि घटाना। यदि हमारी सहायता से हमारा कोई मित्र परावलम्बन सीखता है तो यह अच्छी सहायता नहीं है, यह तो उसके विनाश की सीढ़ी है। सच्ची सहायता मानसिक होती है। यह हमें न केवल सत्पुरुष के सदुपदेश से प्राप्त होती है वरन् उसके व्यंग और अलौकिक आचरण से भी प्राप्त होती है।

तेरहवाँ अध्याय

इच्छाशक्ति का बल

मनुष्य की सबसे अधिक मूल्यवान वस्तु इच्छाशक्ति है। जिस व्यक्ति की इच्छाशक्ति निर्बल है वह न तो अपने लिये और न दूसरों के लिये किसी प्रकार का हित कर सकता है। निर्बल इच्छाशक्ति के लोगों के निश्चय सदा बदलते रहते हैं। उनके मन सन्देह से भरे रहते हैं। छोटी-सी कठिनाई आने पर वे भयभीत हो जाते हैं। निर्बल इच्छाशक्ति के लोग सदा किसी-न-किसी प्रकार की चिन्ता में लगे रहते हैं। उनके मन में अपने कल्याण की भावनाएँ न आकर अकल्याण की भावनाएँ ही आती रहती हैं। यदि घर में कोई व्यक्ति बीमार हो गया तो वे सोचते हैं कि कहीं उसकी मृत्यु न हो जाय। परीक्षा में बैठते समय उन्हें फेल हो जाने का भय खाये जाता है। किसी व्यवसाय व्यापार आदि में लगने पर उन्हें भय होता है कि कहीं उनकी हानि न हो, कहीं व्यापार नष्ट न हो जाय। सदा निराशावादी विचार ऐसे लोगों के मन में आते रहते हैं। वे दूसरे लोगों की कटु आलोचना करते हैं। अपने आराम के लिये दूसरों को कष्ट देने में उन्हें तनिक भी हिचक नहीं होती। ऐसे लोग भाग्यवादी होते हैं और भविष्यवाणी आदि में बहुत ही विश्वास करते हैं। परन्तु इनका विश्वास उनकी अशुभ कल्पनाओं में ही अधिक ठहरता है। वे अपने अभागेपन में ही सदा विश्वास करते हैं।

किसी प्रकार के रोग का सन्देहमात्र उन्हें परेशान कर डालता है। वे सदा रोग के विषय में ही सोचा करते हैं। यदि भूख कम लगी तो यही उन्हें भयभीत कर देती है। पैखाना साफ न हुआ तो उससे ही वे परेशान हो जाते हैं। ऐसे लोगों को खाने-पीने की भक सवार रहती है। वे हर समय कुछ-न-कुछ खाते-पीते रहना चाहते हैं। फिर खाने के विषय में अनेक प्रकार के सन्देह उनके मन में आते रहते हैं। खाने की इच्छा होते हुए भी वे ठीक से खा नहीं पाते। अनेक प्रकार के बाध्य विचार ऐसे लोगों को त्रास देते रहते हैं। जिन विचारों को वे अपने दिमाग से निकाल देने की चेष्टा करते हैं वे ही विचार उन्हें सबसे अधिक सताते हैं। अनेक प्रकार के मानसिक रोग ऐसे लोगों को हो जाते हैं।

इससे ठीक प्रतिकूल दशा उन लोगों की होती है जिनकी इच्छाशक्ति दृढ़ है। ऐसे लोग अपने व्यक्तिगत हानि-लाभ के विषय में उदासीन रहते हैं। ऐसे लोगों के मन में किसी प्रकार की अभद्र कल्पनाएँ नहीं आतीं। उनके निश्चय

दृढ़ होते हैं और साधारण कठिनाइयों से वे नहीं डरते। वे कठिनाइयों को ही आत्म-साक्षात्कार का अवसर मानते हैं। यदि कोई शारीरिक रोग उन्हें हो जाय तो वे उसकी चिन्ता ही नहीं करते। रोग का स्वभाव है कि वह उससे भयभीत होने वाले व्यक्ति को ही अधिक त्रास देता है। जो व्यक्ति उसके प्रति उदासीन रहता है रोग उसे शीघ्रता से ही छोड़ जाता है। रोग के आने पर उससे मैत्री भाव स्थापित कर लेने पर वह मनुष्य की हानि न कर लाभ ही करता है।

मानसिक शान्ति और प्रसन्नता उसी व्यक्ति को होती है जिसकी इच्छाशक्ति दृढ़ है। ऐसा ही व्यक्ति आरोग्यवान भी होता है। दृढ़ इच्छाशक्ति के होने पर किसी प्रकार की चिन्ता मनुष्य को त्रास नहीं देती। ऐसा व्यक्ति ही किसी बड़े काम को करने में सफल होता है। दृढ़ इच्छाशक्ति का व्यक्ति न केवल अपने लिए वरन् दूसरों के लिए कल्याण-पथ की खोज करता है और उनको लाभ पहुँचाता है। किसी प्रकार की सफलता के लिए अपने निश्चित लक्ष्य की ओर चलते रहना आवश्यक है। यह तभी होता है जब मनुष्य की इच्छाशक्ति दृढ़ होती है।

मनुष्य के मनोभाव संक्रामक होते हैं। कायरता का मनोभाव अपने आस-पास के दूसरे लोगों को भी कायर बना देता है और वीरता का मनोभाव दूसरे लोगों को वीर बना देता है। नेपोलियन की वीरता ने उसके प्रत्येक सैनिक को वीर बना दिया था। मेजिनी की वीरता इटली के सारे नवयुवकों में फैल गई और वह देश स्वतन्त्र हो गया। श्री सुभाषचन्द्र बोस की निर्भीकता ने उनकी सेना के प्रत्येक सिपाही को निर्भीक बना दिया। उनके आस-पास तोप और वायुयान के गोले गिरते रहते थे, परन्तु वे अपने प्राण की कुछ भी परवाह न करके आगे बढ़ते जाते थे। जिस प्रकार सुभाष अपनी प्राण-रक्षा की कोई विशेष चेष्टा नहीं करते थे उसी प्रकार प्रत्येक सैनिक भी निर्भीक बनकर सभी कष्ट सहता था।

किसी प्रकार की निर्बलता का विचार न केवल अपने लिए वरन् दूसरों के लिए घातक है। जिस प्रकार अपने को कोसना, कठिनाइयों से भयभीत होना, सदा अनिश्चित मानसिक स्थिति में रहना अपनी भलाई की दृष्टि से बुरा है इसी प्रकार वह दूसरे लोगों के कल्याण की दृष्टि से भी बुरा है। कितने ही लोग भूतों से डरते रहते हैं। वे भूतों की अनेक प्रकार की करामात दूसरों को सुनाते रहते हैं। इस तरह वे दूसरे लोगों के मन में भी अपने ही भय के भावों का संचार कर देते हैं। ये सुननेवाले लोग भी उन्हीं लोगों के समान भूतों से डरने लगते हैं जिस प्रकार सुनानेवाले उनसे डरते हैं। इसी प्रकार भाग्य को कोसनेवाले

लोग दूसरे लोगों को भी भाग्य का कोसनेवाला बना देते हैं। उनकी इच्छा-शक्ति की दुर्बलता दूसरों को छूत के रोग के समान पकड़ लेती है। जिस तरह लड़ाई के मैदान से भागने की चेष्टा करनेवाला सैनिक दूसरे लोगों के मन में भय उत्पन्न कर देता है। इसी प्रकार संसार की लड़ाई से डरा हुआ व्यक्ति दूसरे लोगों के मन में डर के भाव उत्पन्न कर देता है।

मनुष्य अपनी इच्छाशक्ति को बलवान कैसे बनावे? इच्छाशक्ति को बल-वान बनाने के लिए हमें पहले विभिन्न मानसिक शक्तियों का ज्ञान प्राप्त करना होगा, और फिर हमें उस अभ्यास को करना होगा जिससे इच्छाशक्ति का बल बढ़ता है। मनुष्य की इच्छाशक्ति का बल राज्य की शक्ति के समान है। वही राज्यसत्ता बली होती है जहाँ की प्रजा राजसत्ता को अपना पूरा सहयोग देती है और राजसत्ता तथा प्रजा में एकरसता का भाव रहता है। जहाँ राजसत्ता एक बात चाहती है और राज की प्रमुख जनता दूसरी बात चाहती है वहाँ राज्य बल-वान नहीं होता। ऐसे राष्ट्र में भीतरी संघर्ष चलते रहते हैं। राज्य अपने किसी भी निश्चय पर दृढ़ नहीं रह पाता। जब राज्यसत्ता को अपने आन्तरिक शत्रुओं से लड़ने में अधिक शक्ति खर्च कर देनी पड़ती है तब उसमें बाहरी शत्रुओं से लड़ने की सामर्थ्य नहीं रहती। ऐसी अवस्था में सामान्य शत्रु भी उसे हरा देता है।

मनुष्य की इच्छाशक्ति के विषय में भी यही सत्य है। जो व्यक्ति अपनी प्रबल मानसिक शक्तियों में समन्वय स्थापित करने में समर्थ होता है वही महान कार्य कर सकने में भी समर्थ होता है। इस प्रकार का समन्वय स्थापित करने के लिए एक महान लक्ष्य की उपस्थिति की आवश्यकता है। मनुष्य की मानसिक शक्तियाँ उसी व्यक्ति की सहायता करती हैं जो उसका उपयोग केवल व्यक्तिगत लाभ अथवा अपना अभिमान बढ़ाने मात्र के लिए नहीं करता। जो व्यक्ति दूसरे लोगों के साथ अपना जितना ही आत्म-सात् करता है उसकी इच्छाशक्ति उतनी ही बली होती है। इच्छाशक्ति का बल व्यक्ति में नहीं है, वह उस लक्ष्य में है जिसके लिए व्यक्ति रहता है। लक्ष्य का ध्यान ही मनुष्य की इच्छाशक्ति को बली बनाता है। महात्मा सुकरात, हजरत ईसा, लूथर, सेण्ट फ्रेन्सिस, मेजिनी, अब्राहम लिंकन, शिवाजी, तिलक और सुभाषचन्द्र की इच्छाशक्ति का बल उस उद्देश्य में था जिसके लिए वे जीवित थे और जिसका वे सदा चिन्तन करते रहते थे। जिस व्यक्ति के जीवन का लक्ष्य केवल खाना-पीना, ऐश-आराम करना अथवा अपने बाल-बच्चों की चिन्तामात्र करना है उसकी इच्छा-शक्ति

कैसे बली हो सकती है ? उसी व्यक्ति की इच्छा-शक्ति बली हो सकती है जो किसी नये अनुसंधान में लगा है, किसी नए सत्य की खोज कर रहा है, जो समाज को सुखी बनाने का कोई नया उपाय खोज रहा है, जो विदेशी शासन से देश को मुक्त करना चाहता है, जो सभी लोगों को शिक्षित और सुखी बनाना चाहता है अथवा जो सभी नर-नारियों को अज्ञान से मुक्त करने के प्रयत्न में लगा है।

मानसिक रोगियों के जीवन में देखा जाता है कि उनके जीवन का लक्ष्य केवल व्यक्तिगत स्वार्थ की पूर्ति होता है। धन के पीछे मदान्ध होकर पड़े रहनेवाले लोगों को हृदय के रोग हो जाते हैं। यह उनमें हृदय-हीनता का परिचायक है। विषय-सुख में लगे लोगों को नपुंसकता का भय हो जाता है; दूसरों से ईर्ष्या करनेवाले लोग अन्धे हो जाते हैं; व्यक्तिगत लाभ की अधिक चिन्ता करनेवाले लोग अनिद्रा के शिकार होते हैं। इसी प्रकार अनेक रोग व्यक्तिगत भोग-इच्छाओं से उत्पन्न होते हैं। जिस व्यक्ति के जीवन का कोई ऊँचा लक्ष्य नहीं है वह अपने मन को एकाग्र कैसे कर सकता है। निश्चयों का बार-बार बदलना इस बात का द्योतक है कि मनुष्य के जीवन का न तो कोई निश्चित लक्ष्य है और न जीवन को संचालन करनेवाला कोई सिद्धान्त। नित्य परिवर्तनशील जगत के विषय में चिन्तन करनेवाले; मोह में पड़े हुए व्यक्ति का मन कैसे दृढ़ हो सकता है। ऐसे व्यक्ति के मन में किसी प्रकार की अभद्र कल्पना उठ जाने पर वह उस कल्पना से मुक्त नहीं होता। यह कल्पना उसे अनेक प्रकार से त्रास देने लगती है।

मनुष्य की इच्छाशक्ति का बल उस पदार्थ पर निर्भर करता है जिसे उसने अपना स्वत्व समझ लिया है। पहल्वान की इच्छाशक्ति का बल शारीरिक बल पर, धनवान का धन पर, विद्वान् का विद्या पर, आदर्शवान का आदर्श पर और आत्म-ज्ञानी का बल आत्मा के बल पर निर्भर करता है। पहलवान अपने से कमजोर व्यक्ति से भयभीत नहीं होता, परन्तु अपने से अधिक बली व्यक्ति से भयभीत हो जाता है। पहलवान लोग राजनीतिक कार्यों तथा समाजसुधार में नहीं लगते। कितने ही पहलवान भूतों से डरते हैं। पहलवानी पशुओं और मनुष्यों से लड़ने में काम देती है, भूतों से लड़ने में काम नहीं देती। अतएव ये लोग भूतों के प्रति अथवा राजसत्ता के प्रति डरपोंक रहते हैं। इसी प्रकार धनवान लोग अपने से कम धनवालों से नहीं डरते, परन्तु अधिक धनी लोगों से और राजसत्ता से डरते हैं। ऐसे लोग किसी राजसत्ता को उलट देने की बात नहीं सोचते। धनवान व्यक्ति धन के खोजने की चिन्ता करता रहता है। जहाँ

तक धन की पहुँच है वहाँ तक उसकी इच्छा शक्ति का बल है। धनवान व्यक्ति मृत्यु के भय से भयभीत रहता है। उसके मन में यह भावना नहीं आती कि एक दिन मरना तो सभी को है फिर मृत्यु से डरना क्यों।

विद्वान् पुरुष का बल उसकी विद्या पर ही निर्भर करता है। वह मूर्खों से भयभीत नहीं होता। परन्तु कितने ही विद्वान् पुरुष कायर होते हैं। वे धनवान और राजसत्तावादी लोगों के अनेक प्रकार के प्रलोभनों में पड़ जाते हैं अथवा उनसे डर जाते हैं। अधिक से अधिक इच्छाशक्ति का बल केवल आदर्शवादी व्यक्ति अथवा आत्मज्ञानी को ही होता है। सबके सुख का चिन्तन करनेवाले व्यक्ति को इच्छाशक्ति का बल उन लोगों की आत्मा से मिलता है जिनका वह चिन्तन करता है। वे लोग उसकी शुभ कामनाएँ करते हैं और इस शुभ-कामना की कल्पना मनुष्य की इच्छाशक्ति को बली बनाती है।

इच्छाशक्ति का बल सदा कठिनाइयों से लड़ते रहने से बढ़ता है। ये कठिनाइयाँ दो प्रकार की होती हैं—एक भीतरी और दूसरी बाहरी। दोनों प्रकार की कठिनाइयाँ एक दूसरे की सापेक्ष हैं। एक प्रकार की कठिनाई पर विजय प्राप्त करने से दूसरे प्रकार की कठिनाई पर विजय प्राप्त होती है। जो व्यक्ति कठिनाइयों का जितना ही अधिक स्वागत करता है वह इच्छाशक्ति में अपने आपको उतना ही दृढ़ बनाता है। मनुष्य के मन को सदा अनेक प्रकार के प्रलोभन इधर-उधर डुलाते रहते हैं। फिर ये प्रलोभन भय का रूप धारण कर लेते हैं। जो मनुष्य प्रलोभनों से अचल रहता है वह भय से भी नहीं घबड़ाता। अतएव इच्छाशक्ति को बली बनाने के लिये अपने सभी प्रकार के प्रलोभनों से अडिग रहना आवश्यक है। पैसे और सौन्दर्य के प्रलोभन मनुष्य के मन को आदर्श से गिराते हैं। ये ही फिर अनेक प्रकार के भय की उत्पत्ति करते हैं। इन भयों से मनुष्य की इच्छाशक्ति निर्बल हो जाती है। जिस मनुष्य को प्रलोभन नहीं उसे भय भी नहीं। कर्तव्य-पथ पर डटे हुए व्यक्ति की ही इच्छाशक्ति दृढ़ होती है।

मनुष्य की इच्छाशक्ति केवल चिन्तन मात्र से नहीं बढ़ती। इच्छाशक्ति का बल काम करने से ही बढ़ता है। जब हम किसी आदर्श की कल्पना करते हैं और उसकी प्राप्ति की चेष्टा करते हैं तब हमें अपने में विश्वास होता है। यही आत्म-विश्वास का भाव इच्छाशक्ति का बल बन जाता है। जो व्यक्ति ऊँचे आदर्शों की कल्पना करते हैं, परन्तु अपने आदर्शों के अनुसार अपने आचरण को नहीं बनाते वे निर्बल इच्छाशक्ति के हो जाते हैं। अपने आदर्श और

आचरण की विषमता का ज्ञान मनुष्य में आत्म-ग्लानि उत्पन्न करता है और यह आत्म-ग्लानि का भाव मनुष्य की इच्छाशक्ति को निर्बल बनाता है।

इच्छाशक्ति का बल अपनी सफलता के चिन्तन से भी बढ़ता है। पुरानी विफलता का चिन्तन मनुष्य को हताश करता है। इससे उसकी इच्छाशक्ति निर्बल होती है। इसके प्रतिकूल सफलता का चिन्तन होता है। सफलता के भाव ही नई सफलता के जनक होते हैं। मनुष्य में आत्म-सुधार अथवा आत्मोन्नति करने की अनन्त शक्ति है। मनुष्य चाहे कितना ही नीचे क्यों न गिर गया हो वह यदि प्रयत्न करे तो अपने को ऊँचा से ऊँचा बना सकता है। इस प्रयत्न में दूसरे लोगों की सफलता का ज्ञान भी सहायक होता है। जिस प्रकार दूसरे लोग अपनी कठिनाइयों को पार कर सके उसी प्रकार हम भी अपनी कठिनाइयों को पार कर सकते हैं। हम जिन लोगों का चिन्तन करते हैं उनके साथ ही हमारा आत्म-सात् हो जाता है और हम जिन लोगों का श्रद्धापूर्वक ध्यान करते हैं उन्हीं के समान हम स्वयं भी बन जाते हैं। जिस लक्ष्य अथवा व्यक्ति का हम जिस समय चिन्तन करते हैं उस समय हम तद्रूप हो जाते हैं। अतएव संसार के महान् पुरुषों की जीवनियों का ज्ञान, उनकी सद्भावनाओं का चिंतन हमारी इच्छाशक्ति को अपने आप ही दृढ़ कर देता है। मनुष्य जो कुछ बार-बार सोचता है उसी के अनुसार वह आचरण भी करने लगता है।

प्रत्येक प्रकार का शुभ कर्म मनुष्य की इच्छाशक्ति को बढ़ाता और प्रत्येक प्रकार का अशुभ कर्म उसकी इच्छाशक्ति को कमजोर करता है। परन्तु काम का मूल्यांकन उसके प्रेरक हेतु से करना चाहिए न कि उसके बाहरी रूप से। बहुत से कार्य बाहर से बड़े होते हैं परन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से नगण्य होते हैं और बहुत से बाहर सामान्य रहते हैं परन्तु हेतु की दृष्टि से महान होते हैं। जिन कार्यों का हेतु व्यक्तिगत लाभ है वे मनुष्य की इच्छाशक्ति को नहीं बढ़ाते, मनुष्य की इच्छाशक्ति को वे ही कार्य बढ़ाते हैं जिनका हेतु व्यक्तिगत लाभ न होकर सबका लाभ होता है। इस प्रकार के कार्य का बाहरी रूप कुछ भी क्यों न हो वह भीतर से महान होता है। भले हेतु से किसी काम का संकल्प मात्र करना मनुष्य की इच्छाशक्ति के बल को बढ़ाता है। काण्ट महाशय का कथन है कि मनुष्य की शुभ कामना ही एक ऐसी वस्तु है जो अपने आप में मूल्य रखती है, संसार की दूसरी वस्तुएँ स्वतः मूल्यवान् नहीं हैं। शुभ कामना से प्रेरित होकर थोड़ा काम करना भी मनुष्य के मन के अनेक प्रकार के कुसंस्कारों को नष्ट कर डालता है और उसकी इच्छाशक्ति को दृढ़ बनाता है। किसी कार्य की सफलता

और विफलता का मापदण्ड भी यही है कि उसने मनुष्य की इच्छाशक्ति को कहाँ तक दृढ़ बनाया। यदि किसी भले काम को प्रारम्भ करके कोई व्यक्ति पूरा न भी कर पाया तो भी उसे विफल न मानना चाहिए। उसने उस व्यक्ति अथवा समाज को आध्यात्मिक लाभ तो पहुँचाया ही।

मनुष्य की इच्छाशक्ति की दृढ़ता त्याग और तपस्या का परिणाम है। त्याग और तप को स्वयं लक्ष्य न बना लेना चाहिए। इन्हें किसी महान् हेतु की प्राप्ति में साधन रूप मानना चाहिए। जो व्यक्ति त्याग और तप के लिये तप करते हैं वे अपने अभिमान को बढ़ा लेते हैं। इससे मनुष्य की इच्छाशक्ति बली न होकर और कमजोर हो जाती है। अपने शरीर को कष्ट देना वहीं तक लाभदायक है जहाँ तक दूसरे लोगों का उससे लाभ हो। शरीर स्वयं आत्म-साक्षात्कार करने और दूसरों का कल्याण करने का साधन मात्र है। शरीर का सदुपयोग उसे स्वस्थ और बली बनाये रखने से होता है। जो मनुष्य शरीर के भरण-पोषण में अपना सभी समय व्यतीत करता है वह पशु के समान ही है। उसे मानवता का ज्ञान ही नहीं हुआ। परन्तु जो शरीर को ताड़ना देना अपना लक्ष्य बना लेता है वह भी विकृत मस्तिष्क का है। दोनों प्रकार के लोगों की इच्छाशक्ति निर्बल रहती है। पहले प्रकार का व्यक्ति डाँवाडोल मनोवृत्ति का होता है और दूसरा हठी होता है। बीच का मार्ग ग्रहण करनेवाला व्यक्ति ही सर्वोत्तम है। भगवान बुद्ध ने तीस वर्ष तक सुख का जीवन व्यतीत किया और फिर सात वर्ष तक घोर तपस्या का जीवन काटा; परन्तु दोनों प्रकार के जीवन से आंतरिक शान्ति नहीं प्राप्त हुई। आन्तरिक शान्ति उन्हें तभी प्राप्त हुई जब उन्होंने मध्यम मार्ग का अनुसरण किया तथा लोक कल्याण के लिए उन्होंने अपना सब कुछ त्याग दिया। इसके लिए त्याग और तप के अभिमान को भी उन्होंने त्यागा। सबसे ऊँचा त्याग लौकिक सम्पत्ति का त्याग नहीं है वरन् त्याग का त्याग अर्थात् उसके अभिमान का त्याग है। इस त्याग को जनक, भगवान बुद्ध और अशोक आदि महात्माओं ने किया। सच्चा त्याग मन से त्यागना है और सच्चा तप मन को विषयों पर जाने से रोकना है। इस प्रकार के त्याग और तप ही मनुष्य की इच्छाशक्ति को बलवान बनाते हैं। दिखाऊ त्याग और तप उसे निर्बल करते हैं।

इच्छाशक्ति के बल को बढ़ाने के लिए अपने भले कार्यों को छिपाना आवश्यक है। सभी शक्ति प्रकाश में आने से समाप्त हो जाती हैं। भले काम को प्रकाश में लाने से उसे धन, कीर्ति अथवा किसी पद की प्राप्ति होती है; उसे समाज की प्रशंसा सुनने को मिलती है। अपने भले काम के लिए जिस व्यक्ति

को ये लौकिक लाभ हो जाते हैं, उसे आध्यात्मिक लाभ नहीं होता। प्रत्येक भले काम का भला फल और प्रत्येक बुरे काम का बुरा फल, जब बाहरी लाभ-हानि के रूप में मनुष्य को नहीं मिलता, तो वह फल भीतरी लाभ-हानि के रूप में होता है। समाज द्वारा अपुरस्कृत भला काम मनुष्य की इच्छाशक्ति के बल को बढ़ाता है; और उसके द्वारा अदण्डित बुरा काम मनुष्य की इच्छाशक्ति के बल को घटाता है। हम जितने ही भले काम दूसरों की दृष्टि से बचा सकते हैं, और बिना पुरस्कार की नीयत से करते हैं, उतने सभी काम हमारे संचित द्रव्य बन जाते हैं। यही मनुष्य में वह आत्म-विश्वास उत्पन्न करते हैं, जिनके कारण वह एक ओर बाहरी परिस्थितियों से निर्भीक होकर लड़ता है, और दूसरी ओर अपनी त्रास-जनक प्रवृत्तियों को नियन्त्रित रखने में समर्थ होता है। छिपकर भले काम करनेवाले व्यक्ति को मानसिक रोग नहीं होते।

कहा जाता है कि हमारे सभी भले और बुरे कामों को परमात्मा देखता है। पौराणिक विचार के अनुसार हमारी बाहों पर बैठे चित्रगुप्त हमारे सभी भले और बुरे कामों को लिख लेते हैं। हमारे विचार भी उनकी नजर से छिपे नहीं रहते। वे इनका भी मूल्यांकन करते हैं, और मनुष्य को इनके लेखा के अनुसार जीवन में पुरस्कार अथवा दण्ड मिलता है। भगवान बुद्ध ने भी इस विचार की पुष्टि की है। उनके कथनानुसार जिस प्रकार बैल की खुरों के चिह्न के पीछे रथ की पहिया का आना अनिवार्य है, उसी प्रकार भले कामों के बाद भला परिणाम और बुरे कामों के पश्चात् बुरा परिणाम होना अनिवार्य है। आधुनिक मनोविज्ञान पौराणिक चित्रगुप्त की बात को पुष्ट करता है। चित्रगुप्त मानसिक गुप्त-चित्र है। प्रत्येक कार्य और विचार के गुप्त-चित्र मनुष्य के मन में रह जाते हैं। ये ही मनुष्य की इच्छाशक्ति को बली अथवा निर्बल बनाते हैं। मनुष्य की संचित इच्छाशक्ति का बल ही उसे अपने जीवन के व्यवसायों में सफल बनाता है।

कोई भी मनुष्य अपने किसी काम के भावी परिणाम के विषय में पूर्णतः निश्चित नहीं रहता। वह सभी कामों में एक प्रकार का जूआ जैसा खेलता है। जिस व्यक्ति की कल्पना रचनात्मक होती है, वह अपने काम की सफलता की सजीव कल्पना करता है और फिर यही कल्पना उसे अपने काम को लगन के साथ करने में सहायक होती है। कल्पना ही वास्तविकता में परिणत हो जाती है। कल्पना की सजीवता इच्छाशक्ति के बल पर निर्भर है। जिन लोगों की इच्छा-शक्ति निर्बल होती है, उन्हें अपने कार्य में सफल होने में विश्वास ही नहीं होता। उनके मन में क्षण-क्षण पर नये सन्देह आते रहते हैं और ये सन्देह

उनकी कल्पना के रचनात्मक बनने में बाधक होते हैं इनके कारण मनुष्य की कल्पना रचनात्मक न होकर, ध्वंसात्मक ही होती है। अपने आप पर विश्वास न करनेवाले लोगों की कल्पना रचनात्मक न होकर ध्वंसात्मक ही होती है।

संचित इच्छाशक्ति का बल आत्म-विश्वास उत्पन्न करता है। ऐसा व्यक्ति अपनी बुद्धि की सीमा के परे एक सत्ता की उपस्थिति में भी विश्वास करता है। वास्तव में यह सत्ता उसकी इच्छाशक्ति का बल ही है। कहा जाता है कि मनुष्य को अपने तप के अनुसार ही जीवन में सफलता और भोग मिलता है। तप इच्छाशक्ति को बली बनाता है, और इस बल से ही मनुष्य सफल होता है। किसी भी मनुष्य को उतना ही संसार से मिलता है, जितना उसने संसार को दिया है। जो लाभ हमें अनायास हो जाता है, वह हमारा विनाशक होता है, उससे इच्छाशक्ति में दुर्बलता आती है; जो सभी आपत्तियों की जड़ है। अनायास मिले धन के साथ-साथ भूत-बाधा भी आ जाती है। वास्तव में भूत-बाधा इच्छाशक्ति की दुर्बलता का परिणाम है। धनोपार्जन करने में मनुष्य को जो कठिनाइयाँ सहनी पड़ती हैं, उससे उसकी इच्छाशक्ति बलवती होती है। इसके कारण धन के मिलने पर उसके व्यक्तित्व का विच्छेद नहीं हो पाता। जब मनुष्य को धनोपार्जन में परिश्रम नहीं करना पड़ता तो उसकी इच्छाशक्ति का बल भी नहीं बढ़ता। इसके कारण उसके मन के त्रास देनेवाले भाव उसके नियंत्रण में नहीं रहते। आत्म-नियंत्रण के अभाव में ही उसके लिए विष बन जाता है। धन के साथ उसे प्रेत-बाधाएँ पीड़ा देने लगती हैं।

इस प्रसंग में लेखक की चिकित्सा में आये कुछ रोगियों के अनुभव उल्लेखनीय हैं। एक रोगी को भय हो गया था कि उसकी थोड़े ही समय में मृत्यु हो जायगी। उसका विवाह एक ऐसे परिवार में हो गया था जिसमें विवाह होने के पश्चात् सभी लड़कियाँ विधवा हो जाती थीं। उसे भी भय हो गया कि उसकी मृत्यु भी हो जायगी। यह एक हठी विचार बन गया। इसके कारण वह पढ़ाई लिखाई नहीं कर पाता था। इस भय का कारण खोजने से पता चला कि विवाह के समय लड़के के परिवार के लोगों ने लड़की (जो एक-मात्र पैतृक सम्पत्ति की हकदार थी) के नाम सभी सम्पत्ति लिखा ली थी और विवाह के पश्चात् उस पर कब्जा कर लिया था। लड़की की माँ और उसके ताऊ इस कारण कष्ट में रहने लगे थे। ससुराल के लोग इस सम्पत्ति को लड़की के नाम से हटाकर उसके ससुर के नाम कराना चाहते थे। इसी समय उसके पति को हठी विचार त्रास देने लगा। इस विचार ने उसका पीछा तब तक नहीं

छोड़ा जब तक घरवालों ने उस सम्पत्ति का लोभ नहीं छोड़ा। यह लोभ तभी छूटा जब उस पर अधिकार रखने वाले व्यक्ति के दो लड़के मर गये। इस प्रकार विरासत की जायदाद पानेवाले लोग बरबाद हो जाते हैं। मुफ्त में मिला धन अपने तो जाता ही है उसके भोग करनेवाले का नैतिक पतन कर देता है और फिर उसकी सभी प्रकार की बरबादी कर देता है। मुफ्त के मिले धन के आते ही भूत बाधायें, अनेक प्रकार के शारीरिक रोग तथा सामाजिक कलह आ जाते हैं। ये सभी इच्छाशक्ति के ह्रास के द्योतक हैं। इस तरह प्रलोभन की बाढ़ मनुष्य का विनाशक होती है।

किसी भी प्रकार के रचनात्मक कार्य करने से इच्छाशक्ति का बल बढ़ता है। रचनात्मक कार्य वह है, जिससे किसी भी व्यक्ति की भलाई हो; जिस काम को देखकर दूसरे लोग प्रसन्न हों, अथवा जिससे अपनी ही शारीरिक अथवा मानसिक शक्ति की वृद्धि हो। बैठे से बेगार भली—इस कथानक में बड़ा ही मनोवैज्ञानिक तत्त्व भरा है। जब मनुष्य कोई रचनात्मक कार्य करता है, तो उसे अपने को एकाग्र करना पड़ता है, उसे अपनी शारीरिक और मानसिक उत्तेजनाओं को टाल देना पड़ता है। फिर अभ्यास के कारण ये सभी विघ्नकारी बातें मनुष्य के वश में आ जाती हैं। जीवन को एक निश्चित लक्ष्य की ओर चलाते रहने से मनुष्य में मानसिक एकीकरण आता है। यही मानसिक एकीकरण उसकी इच्छाशक्ति का बल है।

मनुष्य की इच्छा-शक्ति का बल शिव-भावना के अभ्यास से भी बढ़ती है। सभी प्रकार की घटनाएँ विद्वान् पुरुष का कुछ न कुछ लाभ करती हैं। किसी भी बुराई में भलाई छिपी रहती है। यह मनुष्य के विचार पर निर्भर करता है कि वह किसी घटना के बुरे अथवा भले पहलू से अधिक प्रभावित होगा। जिस मनुष्य का विवेक जाग्रत है वह अपने मन को घटना के बुरे पहलू से हटाकर उसके भले पहलू पर एकाग्र करता है और इसके कारण वह अनेक प्रकार की शुभ-भावना अपने मन में लाता है। इस प्रकार की शुभ-भावनाओं से उसकी इच्छाशक्ति का बल बढ़ता है। शिव-भावना का अभ्यास मनुष्य को आशावादी बनाता है, वह लोकोपकार के काम में उसकी लगन को बढ़ाता है और उसे संसार का सम्मानित व्यक्ति बना देता है। शिव-भावना का नित्य अभ्यास करनेवाले व्यक्ति की इच्छाशक्ति दृढ़ होती है। उसका मन शान्त और प्रसन्न रहता है।

चौदहवाँ अध्याय

मानसिक परावलंबन

मनुष्य का मन सदा सुख और शान्ति की खोज करता रहता है। सुख और शान्ति के लिये ही वह अनेक प्रकार की इच्छाएँ करता है। इच्छित पदार्थों के प्राप्त होने पर उसे सुख होता है और उनके नष्ट हो जाने पर उसे दुःख होता है। यह मानसिक परावलम्बन की स्थिति है। जो मनुष्य इच्छा के संसार में जितना ही अधिक भ्रमण करता है वह उतना ही असन्तुष्ट और दुःखी रहता है। एक इच्छा के नष्ट हो जाने पर दूसरी इच्छा आ जाती है। इन इच्छाओं की जड़ मनुष्य की मूल प्रवृत्तियों में रहती है। पश्चिमी विद्वानों के अनुसार मनुष्य की चौदह मूल प्रवृत्तियाँ हैं। इन प्रवृत्तियों को तीन वर्गों में विभाजित किया जाता है—आत्म-रक्षा-सम्बन्धी, समाज-सम्बन्धी और सन्तति-सम्बन्धी। इन्हीं को वित्तेषणा, लोकेषणा और पुत्रैषणा के नाम से हमारे ऋषियों ने पुकारा है। धन की इच्छा करना, लड़ना-भिड़ना, जिज्ञासा रखना, प्राणरक्षा की चेष्टा करना, भोजन की खोज करना—ये आत्म-सम्बन्धी प्रवृत्तियाँ हैं। दूसरे के समक्ष अपना प्रदर्शन करना, उनके साथ रहने की इच्छा करना, उनकी सहायता का भाव रखना, सहायता प्राप्त करने की प्रवृत्ति सामाजिक प्रवृत्तियाँ हैं। कामचेष्टा करना और सन्तान-रक्षा करना—ये सन्तति-सम्बन्धी प्रवृत्तियाँ हैं। प्रत्येक प्रवृत्ति के साथ-साथ रागात्मक भाव भी कार्य करता है। इस राग के कारण हम उस पदार्थ से बँध जाते हैं जिससे हमारी किसी प्रकार की तृप्ति होती है।

फ्रायड महाशय के कथनानुसार मनुष्य की सबसे प्रबल प्रवृत्ति काम-प्रवृत्ति ही है। इसके साथ-साथ प्रेम का आवेग कार्य करता है। दूसरी प्रबल प्रवृत्ति धन पाने की और तीसरी प्रशंसा-प्राप्ति की प्रवृत्ति है। इनके कारण मनुष्य प्रेम-दाता का दास बनता है, धन देनेवाले का दास बन जाता है। यह सभी प्रकार की दासता मानसिक परावलम्बन है और सभी दुःखों का कारण बनती हैं। मनुष्य देने की मनोवृत्ति से तो स्वावलम्बी बनता है और लेने की मनोवृत्ति से परावलम्बी बनता है। दूसरे व्यक्ति को प्रेम देना अच्छा है, परन्तु दूसरे से प्रेम-प्राप्ति की इच्छा रखना बुरा है। ऐसे ही व्यक्ति को प्रेम देना भी मानसिक परावलम्बन का भाव उत्पन्न करता है। एक व्यक्ति का प्रेम कामुकता बन जाता

है। ऐसे प्रेम से मनुष्य स्वयं बँध जाता है। वह अपने प्रिय का दास हो जाता है। इस प्रकार के प्रेम में स्वार्थ की भावना रहती है। अपने प्रिय व्यक्ति को वह अपने ही अधिकार में रखने की चेष्टा करता है। वह अपने प्रिय व्यक्ति को दूसरे को प्यार भी नहीं करने देना चाहता। परन्तु इस प्रकार दूसरे व्यक्ति के मन पर अधिकार प्राप्त कर लेना सम्भव नहीं। अपना मन अपना है, परन्तु इस पर भी मनुष्य अपना पूरा अधिकार नहीं रखता; फिर दूसरे व्यक्ति के मन पर अधिकार रखना तो कितना कठिन है। जब मनुष्य अपने प्रेमी की ओर से प्रेम की कमी पाता है तो उसे भारी दुःख होता है। यह मानसिक परावलम्बन का द्योतक है।

कितने ही कवियों ने प्रेम को ही ईश्वर माना है, प्रेम ही परम तत्व है और प्रेम ही मनुष्य का अन्तिम पुरुषार्थ है। परन्तु इस प्रकार का प्रेम व्यक्तिगत नहीं हो सकता। वह व्यापक प्रेम है। इस प्रकार का व्यापक प्रेम भगवान् बुद्ध ने मानव जाति मात्र को प्रदर्शित किया था। दूसरे के दुःख से दुःखी होना, उसके दुःख को हटाने की चेष्टा करना, उसके प्रति सच्चा प्रेम प्रदर्शित करता है। अपने आनन्द के लिये नहीं वरन् दूसरे के आनन्द के लिए प्रेम प्रदर्शन करना, उसकी सेवा करना आत्मा को प्रसारित करता है। जब प्रेम केवल एक व्यक्ति के प्रति केन्द्रित हो जाता है तो वह स्वार्थमय हो जाता है। ऐसा प्रेम कामुता, मोह अथवा बन्धन है। कविवर शैली ने व्यापक प्रेम का व्यक्तिगत प्रेम से एकीकरण कर दिया। इसके परिणामस्वरुप उसे मृत्यु के मुख में अकाल ही जाना पड़ा। व्यक्तिगत प्रेम को व्यापक बनाना प्रेम का शोध है। प्रति दिन नये-नये व्यक्तियों की सेवा करते रहना प्रेम को शुद्ध रखने का सर्वोत्तम उपाय है।

सामाजिकता के भाव, जिनके ऊपर मनुष्य का नैतिक आचरण आधारित है, प्रेम का एक रूप है। हम दूसरों के प्रेम और उनकी प्रशंसा के इच्छुक रहते हैं। इसीलिए समाज-सेवा और नैतिक आचरण करते हैं। दूसरों की प्रशंसा की आकांक्षा मनुष्य से अनेक असाधारण कार्य करा डालती है। परन्तु यही प्रशंसा की इच्छा मनुष्य के प्राण भी ले डालती है। जब मनुष्य सदा दूसरों की प्रशंसा प्राप्त करने के लिये काम करता है तब उसमें स्वतन्त्र निर्णय करने की शक्ति नहीं रह जाती। समाज के प्रचलित विचारों के अनुसार वह लिखता पढ़ता, सोचता और आचरण करता है। इस प्रकार उसका विवेक कुण्ठित हो जाता है। वह इसके कारण भारी भूलें कर बैठता है। समाज कभी एक बात चाहता है और कभी दूसरी। समाज के ऊपर अपना निर्णय छोड़ना और अपने

सुख को दूसरे व्यक्ति के मस्तिष्क में रख देना बड़ी अक्षम्य भूल है। इस भूल का परिणाम भारी मानसिक क्लेश और मृत्यु होता है।

मनुष्य की दूसरी इच्छाएँ भावात्मक दृष्टि से उतना अधिक महत्व नहीं रखतीं। धन का संग्रह मनुष्य अपनी रक्षा के लिए और दूसरों से सम्मानित होने के लिए करता है। परन्तु इस इच्छा के वशीभूत हो जाना भी दुःखप्रद होता है। धन खर्च के लिए एकत्र करना अच्छा है, परन्तु केवल संग्रह के लिए धन एकत्र करना मनुष्य का विनाशक होता है। ऐसा धन अपने आप तो जाता ही है वह उसके मालिक को भी ले जाता है। धनी व्यक्ति को धन की चिन्ताएँ खा डालती हैं। कितने ही लोग धन एकत्र तो करते हैं, परन्तु उसका उपभोग नहीं करते। वे जीवित ही मृत के समान रहते हैं।

मनुष्य अपनी उक्त इच्छाओं को नष्ट नहीं कर सकता। ये इच्छाएँ मनुष्य की मानसिक शक्तियाँ हैं। इन्हीं के आधार पर मनुष्य अनेक प्रकार के कार्य करता है। इन इच्छाओं को नष्ट करने में लग जाना ही विनाशक है। एक इच्छा दूसरी इच्छा से दबाई जा सकती है, परन्तु सभी इच्छाओं को किससे दबाया जा सकता है। धन की इच्छा काम इच्छा और सामाजिक भावों को दबा देती है; काम-वासना धन-संग्रह और समाज-प्रशंसा के भाव को तथा सामाजिक भाव काम-वासना एवं धन की इच्छा को दबा देते हैं, परन्तु सभी को दबा देना सम्भव नहीं। ये सभी की सभी किस शक्ति से दबाई जा सकती हैं? विवेक स्वयं शक्ति-धारी नहीं है वह केवल शक्ति का चालक है। जिस प्रकार घोड़े ही रथ को खींचते हैं, सारथी रथ को नहीं खींचता इसी प्रकार विवेक मानसिक शक्तियों को सन्मार्ग पर लगा देता है। यदि विवेक सभी शक्तियों को क्रियाहीन बनाकर जीवन-रथ को चलने ही न दे तो वह अविवेक बन जायगा। सभी मानसिक प्रवृत्तियों को नष्ट कर देने की इच्छा करना पागल बन जाने की इच्छा करना है। जब मानसिक प्रवृत्तियाँ अपने प्रकाशन का उचित मार्ग न पावेंगी तो वे अनुचित मार्ग से ही प्रकाशित होने लगेंगी। यदि उन्हें कोई मार्ग न मिला तो वे मनुष्य के शरीर को ही नष्ट कर डालेंगी। मनुष्य का व्यक्तित्व क्रियामय और भावमय है, मनुष्य का शरीर इनके प्रकाशन का साधन है। जब क्रिया और भाव का अन्त हो जाता है तब शरीर की आवश्यकता नहीं रहती। भगवान राम अपनी किशोरावस्था में निष्क्रिय बनना चाहते थे, परन्तु उन्हें अपने जीवन को विकसित करना ही पड़ा। भगवान बुद्ध भी संसार में भाग नहीं लेना चाहते थे, परन्तु उन्हें भी लोक-सेवा करनी पड़ी। अतएव मानसिक परावलम्बन के अन्त करने का उपाय क्रियात्मक

प्रवृत्तियों अर्थात् वासनाओं और भावों का अन्त करना नहीं, वरन् उनका उदात्तीकरण है।

मनुष्य की नैसर्गिक प्रवृत्तियों का उदात्तीकरण उनके आत्मसाक्षात्कार करने में सहायक होने से होता है। जब किसी मनुष्य की किसी प्रबल प्रवृत्ति का दमन होता है तब वह प्रवृत्ति मनुष्य के मन में उत्पात मचाने लगती है। इस तरह मनुष्य के मन में भारी असंतोष हो जाता है। जब काम-वासना का दमन होता है तब मनुष्य को नपुंसक हो जाने का भय हो जाता है, धन कमाने की प्रवृत्ति का दमन होता है तो उसे निर्धन होने का भय होता है और सामाजिक प्रवृत्ति का दमन होता है तो उसे सम्मान खोने का भय होता है। ये भय और चिन्ताएँ मनुष्य को खाये डालती हैं। मनुष्य के मन में किसी प्रकार के भय का होना किसी विशेष प्रकार की प्रवृत्ति के दमन का परिचायक है। मानसिक प्रवृत्तियों के दमन से भी मनुष्य को आत्म-ज्ञान नहीं होता, मनुष्य को आत्म-ज्ञान उनके उचित नियन्त्रण से होता है। मनुष्य की इच्छाशक्ति उसकी नैसर्गिक प्रवृत्तियों को एक ओर मोड़ सकती है अथवा दूसरी ओर। इस प्रकार नैसर्गिक प्रवृत्तियों के मोड़ने के कार्य से ही मनुष्य को आत्म-ज्ञान होता है। जो मनुष्य नैसर्गिक प्रवृत्तियों पर उक्त प्रकार का जितना ही अधिक नियन्त्रण रखता है, वह उतना ही अधिक स्वावलम्बी है। परावलम्बन से मुक्त होना अपने आपको निष्क्रिय बनाना नहीं है। निष्क्रियता मानसिक विषाद की जनक है। यह एक प्रकार का परावलम्बन ही है। स्वावलम्बी बनना अपनी सभी मानसिक शक्तियों को अपने वश में रखना और प्रत्येक शक्ति को उस काम में लगाना है, जिसके लिए वह प्रकृति से पैदा की गई है। जब मनुष्य की सभी शक्तियों में उचित सन्तुलन रहता है तभी उसके मन में स्वावलम्बन का भाव भी रहता है।

मनुष्य की इच्छाशक्ति का बल अपने आपको काम से रोक देने से नहीं बढ़ता और न वह सभी रागात्मक प्रवृत्तियों के समाप्त कर देने से ही बढ़ता है। जब मनुष्य अपने शरीर और इन्द्रियों को निष्क्रिय बनाने की चेष्टा करता है, तब मन और भी चंचल हो जाता है। मनुष्य अधिक से अधिक चेतन मन को निष्क्रिय बना सकता है, परन्तु अचेतन मन की क्रियाओं को वह कैसे रोकेगा? मनुष्य की चेतन और अचेतन मन की क्रियाओं में विशेष प्रकार का समीकरण का नियम कार्य करता है। जो क्रियाएँ चेतन मन में कम होने लगती हैं वे अचेतन मन में बढ़ जाती हैं; और जो चेतन मन में बढ़ती हैं वे अचेतन मन में घट जाती हैं। अतएव यदि किसी विशेष प्रकार की शक्तियों का प्रकाशन चेतन

मन में न हुआ तब वे शक्तियां अचेतन मन में और भी आवेग के साथ कार्य करेंगी। ये कार्य चेतन मन के विरोध के होते हुये होने के कारण प्रायः अनुचित कार्य होंगे। जो लोग काम-वासना, झगड़े की प्रवृत्ति, अथवा खाने-पीने की प्रवृत्ति को अपनी जाग्रतावस्था में उचित स्थान नहीं देते वे इनके द्वारा निर्मित अनेक प्रकार के स्वप्न देखते हैं। जिस प्रकार हमारा स्वप्न-संसार हमारी मानसिक प्रवृत्तियों द्वारा निर्मित होता है, इसी प्रकार हमारा जाग्रत संसार भी हमारी मानसिक प्रवृत्तियों द्वारा निर्मित है। हमारा मन और बाह्य जगत एक दूसरे का सापेक्ष है। जिस प्रकार जगत चलायमान है उसी प्रकार मन भी चलायमान है। किसी की गति को रोका नहीं जा सकता।

परन्तु गति के होते हुए भी मनुष्य गति से स्वतन्त्र स्वत्व के अस्तित्व का अनुभव कर सकता है। मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छाशक्ति मन के प्रवाह को इधर का उधर मोड़ दे सकती है। इस प्रकार मन पर नियंत्रण होता है। मन के प्रवाह को सदा मोड़ते रहने में ही उनकी महानता है। हम अपने अनजाने भी अपने मन के प्रवाह को इधर से उधर मोड़ा करते हैं, परन्तु इस प्रकार मानसिक प्रवाह के इधर से उधर मुड़ने से मनुष्य को आत्म-ज्ञान नहीं हो पाता। प्रवाह का इस प्रकार मुड़ना केवल वातावरण का परिणाम मात्र दिखाई देता है। पूर्व मानसिक क्रियाएँ पीछे की मानसिक क्रियाओं की जनक होती हैं। नियतिवादी मनोवैज्ञानिक स्वतन्त्र इच्छाशक्ति का अस्तित्व ही नहीं मानते। यह जड़बुद्धि है। सूक्ष्म बुद्धि से देखने से पता चलता है कि मनुष्य का व्यक्तित्व केवल प्राकृतिक प्रवृत्तियों का नहीं बना है, उसमें प्राकृतिक प्रवृत्तियों के अतिरिक्त चेतन तत्व भी है जो कभी मूल प्रवृत्तियों के साथ-साथ चलता है और कभी उनका विरोध भी करता है। जब वह केवल मूल प्रवृत्तियों के अनुसार चलता है तब वह परावलम्बी हो जाता है, परन्तु जब वह अपने सच्चे स्वरूप के अनुसार काम करता है तो वह स्वतन्त्र हो जाता है।

मनुष्य की प्रत्येक प्रवृत्ति का विशेष कार्य है। सभी प्रकार की प्रवृत्तियों को कार्यान्वित करने के लिये स्वत्व की सहायता की आवश्यकता होती है। परन्तु बार-बार सहायता देते-देते आत्मा अपने स्वरूप को भूल जाता है। वह प्राकृतिक प्रवृत्तियों का गुलाम बन जाता है। ऐसी अवस्था में मनुष्य की इच्छाशक्ति निर्बल हो जाती है और उसका चित्त दुःखी रहता है। सुख के लिये आवश्यक है कि जिस प्रकार प्रत्येक प्रवृत्ति अपना कार्य करती है उसी प्रकार मनुष्य की इच्छाशक्ति भी अपना कार्य करे। स्वतन्त्र इच्छाशक्ति का कार्य विभिन्न प्रकार

की प्राकृतिक प्रवृत्तियों में सन्तुलन और उन पर नियन्त्रण रखना है। जो व्यक्ति जितनी ही कुशलता से इस कार्य को करता है वह उतना ही सुखी रहता है। ऐसे व्यक्ति को हम स्वावलम्बी व्यक्ति कह सकते हैं।

प्रत्येक मनुष्य को स्वावलम्बी बनना पड़ता है। यदि मनुष्य अपनी ही इच्छा से स्वावलम्बी बनने की चेष्टा करे तो अच्छा है। यदि वह ऐसा नहीं करता तो उससे अनेक प्रकार के कष्ट भोगकर स्वावलम्बी बनना पड़ता है। कष्ट का उद्देश्य ही मनुष्य को विषय-परायणता और आत्म-विस्मृति से मुक्त करना है। जब तक मनुष्य परावलम्बी बना है, जब तक वह अपने पर भरोसा न करके दूसरे लोगों पर भरोसा करता है तब तक वह दुःखी ही रहता है। इसी तरह जब तक मनुष्य अपनी इच्छा-शक्ति का उचित उपयोग नहीं करता वह निर्बल मन का बना रहता है। ऐसा व्यक्ति आवेगों के प्रवाह में बह जाता है। इसके परिणाम-स्वरूप उसे अपने सच्चे स्वत्व का ज्ञान भी नहीं होता।

मानसिक परावलम्बन आत्मविस्मृति का परिणाम है। जब मनुष्य का आत्मज्ञान बढ़ता है तब उसे स्वावलम्बन प्राप्त होता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से आत्मज्ञान की वृद्धि का अर्थ है अपनी इच्छाओं, वासनाओं और भावनाओं का ज्ञान प्राप्त करना। हमारी बहुत सी इच्छाएँ, वासनाएँ एवं भावनाएँ ज्ञात रहती हैं और बहुत सी हमारे अन्तर्मन में छिपी रहती हैं। दोनों प्रकार की इच्छाएँ और भावनाएँ हमको स्वावलम्बी बनाती हैं। ज्ञात इच्छाओं को सरलता से वश में किया जा सकता है परन्तु अज्ञात को वश में करना असम्भव है। इन्हें जानने के लिए मनुष्य को अपने प्रति साक्षी भाव रखना पड़ता है। जो मनुष्य नित्य प्रति अपने भीतरी मन में घुसकर उसका खेल देखता है वह मानसिक स्वावलम्बन प्राप्त करता है। भगवान बुद्ध ने कई दिनों के अभ्यास के पश्चात् मार-दर्शन किया, अर्थात् अपनी सभी प्रकार की दमित वासनाओं को जाना। इस प्रकार के ज्ञान से वे उन इच्छाओं पर विजय प्राप्त कर सके। फिर वह मार ही निर्वाण बन गया। छिपी इच्छा मनुष्य को दुःख पहुँचाती है और ज्ञात इच्छा जब वश में कर ली जाती है तो वह मनुष्य का आनन्द बढ़ाती है।

पन्द्रहवाँ अध्याय

नैतिक बुद्धि का दमन और मानसिक रोग

आधुनिक मनोविज्ञान के अध्ययन ने मनुष्य की नैतिक धारणा के विषय में बड़ी उथल-पुथल मचा दी है। जिन लोगों ने फ्रायड और उनके अनुयायी मनोवैज्ञानिकों के विचारों का अध्ययन किया है उनकी यह धारणा बन गई है कि मनुष्य की नैतिक बुद्धि ही अनेक प्रकार के मानसिक झंझटों, चिन्ताओं, अकारण भयों और अनेक प्रकार के मानसिक रोगों का कारण होती है। यदि मनुष्य को उसके इच्छानुसार अपनी वासनाओं को तृप्त करने दिया जाय और उनकी तृप्ति में कोई अड़चन न डाली जाय, तो मनुष्य को वे रोग न हों जो अन्यथा उसे होते हैं। फ्रायड महाशय ने हिस्टीरिया से पीड़ित बहुत से रोगियों की चिकित्सा की थी। इन रोगियों के मानसिक अध्ययन से पता चला कि उनकी काम-वासना की पर्याप्त तृप्ति नहीं हुई। मान लीजिये कि किसी विवाहित महिला का अपने से छोटी उम्र के किसी आकर्षक नवयुवक से प्रेम हो जाता है। वह इस नवयुवक के साथ काम-सुख की इच्छा करती है, परन्तु उसकी नैतिक बुद्धि उसे ऐसा करने से रोकती है। ऐसी अवस्था में उसके मन में भारी संघर्ष चलने लगता है। इस संघर्ष के परिणामस्वरूप उसका जीवन दुःखी हो जाता है। वह अपनी भर्त्सना करने लगती है और फिर वह अपनी वासना को भुला देने में समर्थ होती है। ऐसी अवस्था में उसे मानसिक रोग—हिस्टीरिया का रोग—हो जाता है। कितने ही लोगों को अकारण भय की बिमारी होती है। बहुत से लोगों को घर के बाहर जाने में भय लगता है। कुछ को बन्द कमरे में जाने से भय लगता है। कुछ को साँप का भय इतना त्रास देता है कि इसके कारण वे चैन नहीं पाते। कितने ही लोगों को गन्दगी से बड़ा भय होता है और उन्हें दिन भर अपना मकान और कपड़ा साफ करने की फ़िक रहती है। फ्रायड के सिद्धान्तवादियों ने इस प्रकार के भय का कारण काम-वासना का दमन बताया है।

वर्त्तमान काल में फ्रायड के पुराने सिद्धान्तों में अनेक प्रकार की त्रुटियां देखी जाने लगी हैं। आधुनिक काल के सभी मानसिक चिकित्सकों ने मनोविश्लेषण करने की विधि फ्रायड से ही सीखी है। परन्तु उसके बहुत से पुराने अनुयायी अब फ्रायड के विचारों से सहमत नहीं हैं। फ्रायड महाशय के उक्त

विचारों से भिन्न विचार रखनेवाले आधुनिक-काल के प्रसिद्ध मानसिक चिकित्सक विलियम स्टैकिल महाशय हैं। ये भी उसी नगर के (वियना के) निवासी हैं, जिस नगर के निवासी फ्रायड महाशय थे। स्टैकिल महाशय की मनोविश्लेषण-पद्धति बहुत कुछ वैसी ही है जैसी फ्रायड महाशय की है और वे उनके विचारों से अत्यधिक प्रभावित हैं। परन्तु वे फ्रायड के इस विचार से सहमत नहीं हैं कि कामवासना के दमन के कारण ही मानसिक रोगों की उत्पत्ति होती है। उन्होंने ऐसे अनेक रोगियों को पाया, जिन्हें मानसिक रोग उसी समय तक रहा जब तक वे काम-वासना को भली प्रकार से तृप्त करते रहे और जब उन्होंने उसे मनमानी करने की छूट दे रखी थी। स्टैकिल महाशय का कथन है कि मनुष्य की नैतिक बुद्धि उसको सभ्य बनाने में सबसे अधिक सहायता करती है। सुदूर अतीत काल में मनुष्य जंगली जानवर के समान था। वह अपनी नैसर्गिक प्रवृत्तियों के अनुसार कार्य किया करता था और यह कल्पना करना संभव है कि उसको किसी प्रकार की आंतरिक यन्त्रणा न होती होगी। जिस प्रकार जंगल के पशुओं को दूसरे पशुओं के मारने-काटने में कोई आन्तरिक यन्त्रणा नहीं होती, उसी प्रकार मनुष्य को बर्बर अवस्था में अपनी नैसर्गिक प्रवृत्तियों के अनुसार कार्य करने में कोई यन्त्रणा नहीं होती। हममें आज भी वे ही पुरानी पाशविक प्रवृत्तियां मौजूद हैं, जो पुराने समय के लोगों में थीं; सभ्यता के द्वारा ये पालतू बनाई गई हैं और दमन करके उन्हें अचेतन-मन में भेज दिया गया है। परन्तु हमें यह न समझना चाहिए कि ये प्रवृत्तियाँ मर गई हैं। ये अभी जिन्दा हैं और जब भी सभ्यता की कलई कम होती है तभी प्रवृत्तियाँ स्वच्छन्दता-पूर्वक मानव-जीवन में प्रकाशित होने लगती हैं।

स्टैकिल महाशय का कथन है कि प्रत्येक बालक जन्म से असभ्य और बर्बर होता है। शिक्षा के द्वारा उसे सभ्य बनाया जाता है। जो बात एक बालक के विषय में सत्य है, वही पूरे मानव-समाज के विषय में सत्य है। शिक्षा के द्वारा मनुष्य के आदि स्वभाव के ऊपर शिष्ट स्वभाव का आरोपण किया जाता है। यदि शिक्षा अपने लक्ष्य को ठीक से प्राप्त करने में समर्थ हो, तो इसके लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य इस आरोपित अंग को पूरी तरह से अपना ले और उसे अपने स्वभाव का अंग बना ले। मनुष्य की नैतिक बुद्धि इसी क्रिया का परिणाम है। यह समाज में सभ्यता के विकास से उत्पन्न होती है। शिक्षा मनुष्य की व्यक्तिगत प्रवृत्तियों को सामाजिक भावना की वृद्धि के लिए दबा देती है और इस प्रकार उसमें सामाजिक बुद्धि उत्पन्न करती है। इस तरह मनुष्य की नैतिक बुद्धि उसके व्यक्तित्व की विरोधी समाज-भावना है।

स्टैकिल महाशय आगे चलकर कहते हैं कि मेरा कई वर्षों का मानसिक चिकित्सा का अनुभव मुझे यह निश्चित कराता है कि मनुष्य को अनेक प्रकार की मानसिक व्याधियाँ उसकी नैतिक अथवा धर्मबुद्धि की यन्त्रणा के कारण होती हैं। यह बात अवश्य है कि बहुत-से मानसिक रोगी अपनी धर्म-बुद्धि को पहचानने में असमर्थ रहते हैं और बहुत-से कहते हैं कि उन्हें किसी प्रकार की धर्म-बुद्धि नहीं है। वास्तव में वे अपनी अन्तरात्मा (धर्म-बुद्धि) की यन्त्रणा से बचने के लिये ही किसी शारीरिक रोग की शरण लेते हैं। परन्तु कभी-कभी मानसिक चिकित्सा करते समय वे एकाएक अपनी अन्तरात्मा की इस भर्त्सना की अनुभूति करने लगते हैं और एकाएक वे बहुत ही फूट-फूटकर रोने लगते हैं। उनके इस व्यवहार से स्पष्ट है कि उनके रोग का प्रधान कारण अन्तरात्मा की भर्त्सना ही था। जब कभी ऐसे रोगी अपनी पुरानी भूल के लिए पूरी तरह से दुःख मान लेते हैं और अनुचित कृत्य से अपने आपको पूरी तरह से अलग रखने का यत्न करते हैं, तो उनका रोग भी चला जाता है। इससे स्पष्ट है कि उनका रोग आत्म-यंत्रणा के कारण ही हुआ था।

स्टैकिल महाशय ने अपने उक्त सिद्धान्त का समर्थन दो-एक बड़े ही शिक्षाप्रद उदाहरणों से किया है; जो यहाँ उल्लेखनीय हैं :—

एक ४० वर्ष की प्रौढ़ अभिनेत्री को पानी के बहने की आवाज से बहुत ही मानसिक घबराहट होती थी। वह एक पुराने ढंग के मकान में रहती थी जहाँ पर लोग पानी हाथ से उठाकर नाली से लेते थे। इस तरह पानी के आने में आवाज होती थी। यह आवाज उसको बड़ी ही असह्य थी। इसके कारण वह दिन भर अपने मित्रों और परिचितों के पास रहा करती थी। परन्तु जब वह रात में घर पर आती थी, तो पानी गिरने की आवाज उसे इतनी बुरी लगती थी कि वह इसके कारण आत्महत्या करने तक को उतारू हो जाती थी। इस महिला के मनोविश्लेषण से पता चला कि उसके आन्तरिक मन में एक बहुत बड़े पाप की स्मृति दबी हुई थी। वह अपना जीवन बच्चों के भार से स्वतन्त्र रहकर व्यतीत करना चाहती थी। उसका प्रेम-सम्बन्ध कई लोगों से था। जब उसके पेट में बच्चा आ जाता था, तो वह उसे औषधियाँ खाकर गिरा दिया करती थी। इस प्रकार उसने पाँच बार गर्भपात किया। पीछे उसने अपने आपको डाक्टरी विधि से बाँझ बना लिया, जिससे वह गर्भ-धारण करने के भय से मुक्त होकर अपनी काम-वासना को खूब तृप्त कर सके। इस प्रकार उसने अपना जीवन बहुत दिनों तक व्यतीत किया। अब जब वह प्रौढ़ हो गई तो उसे अपनी बाँझ

अवस्था पर दुःख होने लगा। वह देखती थी कि उसके बचपन की सहेलियों को बच्चे हैं, परन्तु उसको नहीं हैं। इस आत्मभर्त्सना के कारण उसे यह नई बीमारी उपस्थित हुई। पानी का बहना उसके अचेतन मन के लिये मासिक धर्म का प्रतीक था। जब उसके मन में मासिक धर्म की स्मृति की उत्तेजना होती थी, तो उसे गर्भपात करने की बेचैनी भी होती थी। इस तरह वह अपने चेतन मन में बिना कारण जाने ही बहते हुए पानी से घबड़ाती थी।

दूसरा उदाहरण एक मानसिक रोगी का है, जिसको दमा का रोग था। दमा से मुक्त होने के लिये उसने सभी प्रकार की साधारण चिकित्साएँ करायी थीं, परन्तु उसका दमा नहीं गया। वह सम्पन्न घर का व्यक्ति था, अतएव उसने दमा से मुक्ति पाने के लिये जलवायु के परिवर्तन का विचार किया और इसके लिये वह आस्ट्रिया से मेजारिका नाम के द्वीप पर चला गया। वहाँ वह तीन महीने रहा। इस बीच उसका दमा कम हो गया। उसने मन में सोचा कि सम्भवतः जलवायु का परिवर्तन ही मुझे सदा के लिये चंगा बना देगा, अतएव उसने इस द्वीप को अपना स्थायी घर बनाने का विचार किया। वह इस विचार से जब दूसरी बार पहुँचा, तो वहाँ पहुँचने के एक हफ्ते के भीतर ही उसे दमा का रोग बहुत तेजी से उभड़ आया और जब तक उसने उस द्वीप को नहीं छोड़ दिया तबतक उसे दमा से चैन नहीं मिली।

इस व्यक्ति का विवाहित-जीवन अच्छा था, परन्तु उसकी स्त्री गर्भाशय का कुछ रोग होने के कारण बच्चे पैदा नहीं कर सकती थी। उसका व्यापार अच्छा था और दमा के उभड़ने के पहले उसका स्वास्थ्य भी सुन्दर था, परन्तु छः वर्ष से वह दमा के रोग से पीड़ित था। उसके स्वप्नों के अध्ययन से पता चला कि उसके मन में कोई अन्तर्द्वन्द्व है, जिसे मिटाने में वह असमर्थ है। उसे कभी-कभी स्वप्न होता था कि वह एक बड़ी प्रचण्ड जल-धारा में तैर रहा है। वह डूब जाता है और फिर एक बड़ी चिल्लाहट के साथ जाग उठता है। इस प्रकार के स्वप्न के बाद उसे तुरन्त ही दमा का दौरा हो जाता था।

स्टैकिल महाशय ने इस रोगी की चिकित्सा थोड़े ही दिन करने के बाद उससे कहा कि तुम्हारी अन्तरात्मा पर किसी बड़े अपराध का बोझ लदा हुआ है और जब तक तुम इस बोझ को उतार नहीं देते अर्थात् जब तक तुम अपनी गुप्त बात को नहीं कह देते, तब तक तुम्हारे चंगा होने की कोई आशा नहीं है। रोगी ने बड़ी दृढ़ता के साथ स्टैकिल महाशय के इस प्रकार के कथन का विरोध किया। उसने कहा कि उसके जीवन में कोई ऐसी बात नहीं है जो गुप्त रखी जाय।

परन्तु जब-जब वह यह कहता था, तभी उसकी जबान कुछ लड़खड़ाती थी। इससे स्पष्ट होता था कि वह झूठ बोल रहा है, अतएव स्टैकिल महाशय ने उससे बार-बार पहली बात कही। थोड़ी देर के बाद ही वह रोगी एकाएक फूट-फूटकर रोने लगा और लगभग एक घण्टे तक रोता रहा। स्टैकिल महाशय ने उसे छेड़ा नहीं। वे उसके सामने चुपचाप बैठे रहे। अन्त में वह शान्त हुआ और फिर वह धीरे-धीरे बोलने लगा। उसने अपना अपराध स्वीकार किया। वह निम्नलिखित है—

रोगी और उसके प्रिय मित्र ने एक ही घर की दो बहिनों से विवाह किया था। रोगी एक बहुत धार्मिक बुद्धि और ऊँचे चरित्र का व्यक्ति था। परन्तु इतना होने पर भी वह अपने दोस्त की स्त्री—अपनी साली—के साथ प्रेम करने लगा। इस प्रकार बहुत दिनों तक इनका प्रेम-संबंध चलता रहा। रोगी को इससे आत्म-भर्त्सना होती थी। इसके कारण दोनों व्यक्तियों ने कई बार प्रण किया कि वे अब उस जघन्य अपराध को न करेंगे, परन्तु वे अपने प्रण को न रख सके। उसका पतन होना भी स्वाभाविक था, क्योंकि दोनों परिवार एक ही घर में रहते थे। वह नीचे के तल्ले पर रहता था और उसकी साली ऊपर के तल्ले पर रहती थी। इस तरह उन्हें कई बार मिलने का अवसर मिल जाता था। जब रोगी को अपने कुकृत्यों का स्मरण आ रहा था और वह बार-बार कहता था कि मैं कितना दुष्ट हूँ कि एक ओर अपनी स्त्री को भी धोखा देता रहा हूँ, जिसको मैं प्यार करता हूँ, और दूसरी ओर अपने प्रिय मित्र को भी। इस रोगी को दमा पहली बार अपनी साली से मिलने के एक वर्ष बाद उभड़ा था और फिर वह ठीक बँधे समय पर उभड़ा करता था।

इस रोग के अन्त होने का एक ही उपाय था कि रोगी अपने पाप को समझे और अपनी साली से दूर रहे। जब पहली बार रोगी मैजारिका गया था, तो वह केवल अपनी स्त्री को अपने साथ ले गया था। अतएव वह स्वभावतः ही अपनी साली से अलग हो गया था और उसे उस काम को बन्द कर देना पड़ा, जो उसकी धर्म-बुद्धि को भार रूप दिखाई देता था। जब वह दूसरी बार मैजा-रिका गया था, तो वह अपने साथ अपनी साली को भी लेता गया था। ज्योंही वह उस द्वीप पर पहुँचा, त्योंही उसे तुरन्त ही दमा फिर तेजी से उभड़ आया। स्टैकिल महाशय ने इस रोगी को समझाया कि इस रोग के उभड़ने का कारण यह है कि उसकी धर्म-बुद्धि की भावना इस पाप को नहीं सह सकती। अतः उन्होंने सलाह दी कि वह अपनी साली से हमेशा के लिए अलग हो जाय। रोगी

ने ऐसा ही किया। वह अपना घर छोड़कर इतनी दूर चला गया कि वहाँ से साली के घर तक पहुँचने में दिन भर की यात्रा की आवश्यकता होती थी। अब वह १० वर्ष से पूर्ण स्वस्थ है।

धर्म-बुद्धि की यन्त्रणा के रोग न केवल उन लोगों को होते हैं, जो अपने जीवन में धार्मिक होते हैं और ईश्वर की सत्ता में विश्वास करते हैं, बल्कि वे उन लोगों को भी होते हैं, जो ईश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं करते, जो स्वतंत्र विचार के अथवा दार्शनिक और अद्वैतवादी होते हैं। इस प्रकार के रोग बचपन की धार्मिक और नैतिक शिक्षा के परिणामस्वरूप होते हैं। इस प्रसंग में एक हिन्दुस्तानी नवयुवक का उदाहरण उल्लेखनीय है। यह विद्यार्थी आधुनिक चिकित्सा-शास्त्र पढ़ने वियना गया था और वहाँ जाकर उसने अपने आपको परिवर्तित कर दिया था। वह बचपन से धार्मिक वातावरण में पला था। उसने विदेश-यात्रा के पूर्व कभी मांस नहीं खाया था और न परस्त्री-गमन किया था। परन्तु विदेश जाते ही उसका यह व्यवहार बदल गया। विदेश जाने के पूर्व ही उसका विवाह हुआ था। उसकी स्त्री रूपवती नहीं थी, परन्तु उसके ससुर ने उसके विलायत में पढ़ने के खर्च का भार अपने ऊपर ले लिया था; अतएव उसने विवाह कर लिया था। विलायत में जाकर वह मौजी जीवन व्यतीत करने लगा। थोड़े ही दिन इस प्रकार का जीवन व्यतीत करने के बाद उसके शरीर में फोड़े-फुन्सियाँ और अनिद्रा की भयानक बीमारी हो गई। वह जब स्टैकिल महाशय के पास आया, तो उन्होंने उसे सलाह दी कि वह अपनी इन नई आदतों को छोड़ दे और वह जैसे भारतवर्ष में रहता था वैसे ही रहे। उसने दो महीने तक ऐसा ही किया और इससे उसका रोग जाता रहा। परन्तु स्टैकिल महाशय के उपदेश से उसे भारी असन्तोष हो गया और उनकी सलाह के प्रतिकूल ही उसने विषय-वासना को तृप्त करना प्रारम्भ कर दिया। इससे उसका पुराना रोग पहले से भी अधिक हो गया।

उपर्युक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि जब कोई मनुष्य अपनी नैतिक बुद्धि के प्रतिकूल काम करता है, तो नैतिक बुद्धि उसे अवश्य दण्ड देती है। इस सिद्धान्त का समर्थन डाक्टर चार्ल्स युङ्ग, ब्राउन, मैगडूगल और हैडफील्ड महाशयों ने भी किया है। चार्ल्स युङ्ग के अनुसार मनुष्य की नैतिक बुद्धि उसके जीवन के व्यक्तिगत संस्कारों का परिणाम नहीं है; यह बुद्धि उसके जन्म-परम्परागत संस्कारों का परिणाम होती है और यह उसे समाज की देन है। मनुष्य चाहे व्यक्तिगत इच्छा से किसी प्रकार की नैतिक बुद्धि में विश्वास न करे और

न उसे दृढ़ करने की चेष्टा ही करे, परन्तु इस पर भी उसे नैतिक बुद्धि अपने आप ही आ जायगी। जिस प्रकार कोई मनुष्य भाषा के बिना नहीं रह सकता, उसी प्रकार वह नैतिक बुद्धि के बिना नहीं रह सकता और जिस प्रकार भाषा-ज्ञान की वृद्धि मनुष्य के मानसिक विकास का कारण बनती है, उसी प्रकार मनुष्य की नैतिक बुद्धि उसके मानसिक विकास का कारण बनती है। मानसिक रोगों की उत्पत्ति इस नैतिक बुद्धि की वृद्धि के कारण नहीं होती, जैसा कि फ्रायड के सिद्धांतवादी मानते हैं, वरन् इसकी अवहेलना के कारण होती है।

दबी हुई पाप की भावना, मनुष्य में पेट का रोग, भूख नष्ट होना, कै (वमन) की इच्छा, दुर्गन्ध का भ्रम, स्वाद का बिगड़ जाना, अत्यन्त घबड़ाहट का अनुभव करना, हृदय की धड़कन, एक्जिमा (उकवत), मृत्यु का भय आदि अनेक रोग उत्पन्न कर देती है। इस प्रसंग में लेखक के अनुभव में आए हुए कुछ रोगियों के दृष्टान्त उल्लेखनीय हैं:—

एक नवयुवक को अचानक हृदय की धड़कन और मृत्यु का भय हो गया। इसके मानसिक अध्ययन से पता चला कि जब वह एक बार मलेरिया से बीमार था, तो उसकी काकी (चाची) उसकी सेवा-सुश्रूषा किया करती थी। रोगी की माँ मर चुकी थी। वह धीरे-धीरे स्वस्थ होने लगा। रोगी की उम्र २० वर्ष के लगभग थी, और उसकी काकी की उम्र ३० वर्ष की थी। काकी कभी-कभी रोगी को सान्त्वना देने के लिये उसी के पास सो जाती थी। एक बार काकी को अपने भतीजे के प्रति विशेष प्रेम हो गया और उसने अपने भतीजे को लेटे-लेटे शरीर से चिपका लिया। इससे रोगी को कामोत्तेजना हो गई। उसने अपने आपको व्यभिचार से बचाया, परन्तु मन की अवस्था बिगड़ चुकी थी। यह अनुभव पीछे भारी आत्म-ग्लानि का कारण बन गया। कुछ समय के बाद सारी स्मृति जाती रही, परन्तु फिर भी रोगी को अकारण मृत्यु का भय और हृदय की धड़कन का रोग हो गया। उसके हृदय की धड़कन का अनुभव इतना प्रबल था कि वह अपने हृदय की धड़कन को सोते-सोते कान में भी सुनता था।

एक दूसरे रोगी ने अपनी समवयस्का काकी के साथ पूरा प्रेम-सम्बन्ध स्थापित कर लिया। इसके परिणामस्वरूप उसे अकारण चिंता और स्मृतिह्रास तथा शक्ति नष्ट होने का भय हो गया। उसने जब अपनी आत्म-ग्लानिजनक घटना की स्वीकृति लेखक के समक्ष की और व्यभिचार करना बंद कर दिया, तो उसने स्वास्थ्य लाभ किया।

एक दूसरे रोगी को हृदय की धड़कन का भय कई दिन तक त्रास देता रहा। उस रोग का प्रारम्भ अपने एक निकटवर्ती संबंधी की मृत्यु था। वह संबंधी रोगी की अवस्था का ही व्यक्ति था। उसके मरने पर उसकी धन-दौलत बरबाद होने लगी। रोगी के मन में अनायास कल्पना उठी कि यदि वह भी मर गया तो उसकी भी दौलत इसी प्रकार बर्बाद हो जायगी। कल्पना के प्रबल होने पर उसे हृदय की धड़कन और पेट का रोग हो गया। उसकी जीवनी के अध्ययन से पता चला कि अपने ही साले की लड़की के साथ उसका अनुचित संबंध था। यह लड़की उसके घर में ही रहती थी।

एक महिला को वमन का भारी रोग था। इस रोग के कारण उसका वजन ११६ पौंड से घटकर ८० पौंड हो गया था। इसके मानसिक अध्ययन से पता चला कि वह अपने आंतरिक मन में अपने पति से घृणा करती थी। वह किसी दूसरे नवयुवक से विवाह करना चाहती थी और किसी दूसरे से ही उसका विवाह हो गया। विवाह होने के पश्चात् उसने अपनी आंतरिक भावना को दबाने की चेष्टा की क्योंकि वह उसकी नैतिक धारणा के प्रतिकूल थी। यह दबी हुई भावना वमन के रोग में प्रगट हुई। जब महिला ने अपनी दबी हुई भावना को अपने ही पति के समक्ष प्रगट कर दिया और जब उसके आंतरिक मन में परिवर्तन हो गया, तो उसका रोग जाता रहा।

एक दूसरे रोगी को अपने भाई के प्रति प्रबल द्वेष की भावना थी। उसका विश्वास था कि उसके बड़े भाई ने उसकी अनुपस्थिति में उसकी स्त्री के साथ व्यभिचार किया है। इस भावना को लेकर वह मन ही मन घुलता रहता था। समाज में इस रोगी की बड़ी प्रतिष्ठा है, अतएव वह अपनी स्त्री को छोड़ भी नहीं सकता था। इस दबी हुई पूर्व भावना के परिणामस्वरूप उसे पेट का रोग हो गया। लेखक के समक्ष अपनी दबी भावना को प्रकाशित करने के पश्चात् और भाई के प्रति मैत्री-भावना का अभ्यास करनेपर उसके पेट का रोग जाता रहा। इस द्वेषभावना को नष्ट करने के लिये कई दिनों तक रोगी से मैत्री-भावना का अभ्यास कराया गया। अपनी ही स्त्री के प्रति चरित्र-हीनता का सन्देह मन में सदा रहने पर मनुष्य को नपुंसकता, अनिद्रा, न्यूरेस्थेनिया अथवा आंत का रोग हो जाता है।

एक सुशिक्षित नवयुवक अपनी किशोरावस्था में हस्तमैथुन किया करता था। फिर ब्रह्मचर्य के विषय में कुछ अच्छी पुस्तकें पढ़ने पर उसने इस कार्य को छोड़ दिया। इसके कुछ दिनों के पश्चात् उसे उकवत का रोग हो गया। यह रोग उसे

तब तक रहा, जब तक उसने अपने पुराने कृत्य को लेखक के समक्ष स्वीकार नहीं किया और उसने अपने प्रति मैत्री भावना का अभ्यास नहीं किया। दूसरों के प्रति मैत्री भावना का अभ्यास आत्म मैत्री में परिणत हो जाता है और उससे आत्म-समन्वय स्थापित हो जाता है।

किसी भी प्रकार का मानसिक रोग मनुष्य के मन के विभाजन से उत्पन्न हो जाता है। यह मन का विभाजन व्यक्तिगत सुखों की इच्छा और दूसरे से सम्मान-प्राप्ति की इच्छा में वैषम्य होने के कारण होता है। मनोविश्लेषण विज्ञान के विद्वान् इस विभाजन को ईड और सुपरइगो अर्थात् प्राकृतिक भोगेच्छुक स्वत्व और नैतिक बुद्धि का विभाजन कहते हैं। मैगडूगल महाशय के कथनानुसार इस विभाजन का कारण मनुष्य की भोग-वासनाएँ और आत्म-प्रतिष्ठा के भाव की विषमता है। मनुष्य को किसी प्रकार का मानसिक रोग तब तक नहीं होता, जब तक कि उसकी विभिन्न प्रकार की विषम प्रवृत्तियों का संघर्ष उसकी चेतना की सतह पर होता है। जब मनुष्य इस संघर्ष को सुलझाने की अपेक्षा उसे भुलाने की चेष्टा करता है, तो उसे अकारण चिन्ता और दूसरे प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं। आत्म-समन्वय स्थापित करने के लिये मनुष्य को कभी अपनी प्रवृत्तियों को ऊँचे उठाना पड़ता है, और कभी उसे अपनी नैतिकता को ही नीचे लाना पड़ता है।

मनुष्य जो नैतिक शिक्षा बचपन में बिना समझे-बूझे पाता है और जो अभ्यास के रूप में उसके स्वभाव का अंग बन जाती है, परन्तु जिसके अनुसार चल सकने की सामर्थ्य उसमें नहीं होती, वही मनुष्य में पाप-बुद्धि, मानसिक दमन और मानसिक संघर्ष उत्पन्न करती है। यदि बालक को उसकी क्षमता के अनुसार नैतिक शिक्षा दी जाय अर्थात् उससे उतनी ही भलाई की आशा की जाय जितनी कि उसमें क्षमता है; तो उसके मानसिक विकास में किसी प्रकार की रुकावट न पड़े। फिर न उसे किसी प्रकार का मानसिक द्वन्द्व हो, न मानसिक ग्रन्थियाँ बनें और न मानसिक रोगों की उत्पत्ति हो।

समाज व्यक्ति में नैतिकता के विचार डालता है। जो घर जितना ही सुशिक्षित और प्रतिष्ठित होता है, उसमें बालक को अभ्यास के द्वारा उतना ही अधिक शिष्ट और सदाचारी बनाने की चेष्टा की जाती है। इस प्रयत्न के परिणामस्वरूप बालक की नैसर्गिक प्रवृत्तियों का सहजभाव से विकास न होकर दमन हो जाता है। कभी-कभी ये प्रवृत्तियाँ नैतिक-धारणा के प्रतिकूल किसी कार्य में प्रकाशित हो जाती हैं। इनके कारण बालक आत्मभर्त्सना करने लगता है। वह सोचता है

कि मैंने कोई बड़ा जघन्य पाप किया। फिर वह इस पापको भुलाने की चेष्टा करता है। इस प्रकार अपने कृत्य को भुलाने की चेष्टा करने से ही मनुष्य में मानसिक अन्तर्द्वन्द्व की अवस्था उत्पन्न होती है। इसके परिणामस्वरूप ऐसा बालक या तो मानसिक रोगी बन जाता है अथवा अपराधी बनकर जीवन व्यतीत करता है। पाप की भावना दबी हुई अवस्था में रहने पर मानसिक रोग उत्पन्न कर देती है और जब वह प्रकाशित होती है, तो अपराध की मनोवृत्ति का रूप लेती है। कभी-कभी मनुष्य इसलिए अपराध करता है कि उसका अचेतन मन उसके अभिमानी स्वत्व को उसके दमन के लिए दंड देना चाहता है। इस तरह शिक्षित और शिष्ट घरों में पले हुए लोगों में जितना मानसिक संघर्ष होता है, उतना अशिक्षित घरों के बालकों में नहीं होता। अशिक्षित घर के बालकों में आत्मसंयम की शिक्षा का बिलकुल अभाव होने के कारण अपराध और उद्दण्डता अधिक हो सकती है क्योंकि उनके जीवन में नैसर्गिकरूप से ही मूल प्रवृत्तियां प्रकाशित होती रहती हैं, परन्तु मानसिक विभाजन की संभावना ऐसे लोगों में कम रहती है। उनके मन में नीचे स्तर की एकता रहती है। ऐसे लोग स्वार्थी, विषयी-विलासी और लड़ाकू भले ही हों, आत्म-भर्त्सना करनेवाले अथवा मानसिक रोगी नहीं होते।

फ्रायड महाशय का कथन है कि मनुष्य में अपने किसी पुराने कृत्य के प्रति पाप का भाव इसलिए उदय हो जाता है, क्योंकि उसकी काम-प्रवृत्तिका संघर्ष उसके नैतिक स्वत्व से होता है। फिर इस भाव का विस्मरण रोग की उत्पत्ति करता है। पाप-भाव के विस्मरण के साथ-साथ उस प्रवृत्ति का भी दमन होता है, जिसके कारण पापाचरण किया गया। अब इस प्रवृत्ति की शक्ति रचनात्मक न बनकर ध्वंसात्मक कार्य करने लगती है। यही प्रवृत्ति दमन की अवस्था में अकारण चिन्ता और भय का रोग उत्पन्न करती है। ये चिन्ता और भय उस घटना को छिपे रूप से व्यक्त करते रहते हैं, जिनके कारण प्रवृत्ति का दमन प्रारम्भ हुआ। इस तरह मनुष्य की विस्मृत पाप-भावना उसकी रचनात्मक शक्ति को ध्वंसात्मक बना देती है। जब किसी मानसिक रोगी का मनोविश्लेषण किया जाता है, तो उसकी पाप-भावना उसकी चेतना की सतह पर आ जाती है। इस प्रकार विस्मृत पाप-भावना के चेतना की सतह पर आने से उसकी उलझन का अन्त हो जाता है। कभी-कभी मनुष्य अपने सामान्य नैसर्गिक कृत्य को ही पाप मान बैठता है। ये उसकी विकृत अथवा अविवेकयुक्त नैतिक बुद्धि के कारण होते हैं। जब मनुष्य जान लेता है कि जिस कृत्य को वह पाप समझ रहा है,

वह स्वाभाविक था और उसका रोका जाना सम्भव न था; तो वह अपने आपको इस प्रकार के कृत्य के लिए कोसना बन्द कर देता है। फिर उसकी मानसिक ग्रन्थि सुलझ जाती है और उसके रोग का अन्त हो जाता है।

मनुष्य के पाप की ग्रन्थि कभी-कभी विवेक के प्रतिकूल आचरण से बनती है और कभी नासमझी के कारण भी हो जाती है। मनुष्य कभी-कभी अपने आपसे इतनी आशा करने लगता है, जितना उसके स्वभाव के लिए सम्भव नहीं है और जब वह इस प्रकार के अपने माने हुए आदर्श के प्रतिकूल आचरण करता है, तो उसे पाप-भावना त्रास देने लगती है। इस प्रसंग में मेगडूगल महाशय का एबनार्मल साइकोलोजी में दिया निम्नलिखित उदाहरण उल्लेखनीय है—

एक व्यक्ति को अकारण चिन्ता और जीवन से नैराश्य का रोग हुआ। इसके मनोवैज्ञानिक अध्ययन से पता चला कि वह अपने आपको अपने छिपे मन में पापी समझता था। पुराने अनुभवों की मनोवैज्ञानिक खोज से पता चला कि वह पिछली लड़ाई के समय फौज का आफिसर था। जब वह फ्रांस से इंगलैंड आ रहा था, तब उसका जहाज किसी टारपीडो से टकराकर डूबने लगा। उसके आदमी अपनी जान बचाने की कोशिश करने लगे। इस आफिसर के साथी अपनी जीवन-रक्षा के लिए पानी में कूद गये। एक साथी के पास 'लाइफबेल्ट' था। वह पानी में कूदा। परन्तु अपनी सुरक्षा के लिए वह उक्त आफिसर का भी लाइफबेल्ट माँगता था। इसने उसे नहीं दिया। इसका उपयोग उसने अपनी जीवन-रक्षा के लिए किया। अन्त में केवल इस आफिसर को छोड़ सभी लोग डूबकर मर गये। जहाज के डूबने का वृत्तान्त इस आफिसर ने ही लिखा। इस वृत्तान्त में उसने अपने बचने के सम्बन्ध की चर्चा का पूरा वर्णन नहीं किया। वह धार्मिक वातावरण में पाला गया था। अतएव वह अपने आपको उक्त डूबे हुये व्यक्ति की हत्या का दोषी मानता था। इसके कारण उसे भारी आत्म-भर्त्सना हुई थी और फिर वह अपनी उक्त स्मृति को भूल चुका था अब प्रयत्न करने पर भी वह याद नहीं आती थी। जब मनोवैज्ञानिक विधियों-द्वारा उसे पुरानी स्मृति याद कराई गई और समझा दिया गया कि उसका आचरण पूर्णत: नैतिक था तो उसका मानसिक रोग जाता रहा।

एक दूसरे रोगी को अकेले चलने में भय होता था। उसे डर रहता था कि वह कहीं किसी को मार न डाले। इस रोग का कारण ढूँढ़ने से पता चला कि उसने अपनी संरक्षकता में रखे हुये कैदी को मार डाला था। वह इस कैदी को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जा रहा था। यही कैदी उसके साथ कुछ

समय पूर्व युद्ध कर रहा था और वह उसको मार डालनेवाला ही था, परन्तु किसी प्रकार वह बच गया था। जब वह उक्त कैदी को अकेला ले जा रहा था, तो उसका पुराना क्रोध जाग्रत हो गया और उसकी बदला लेने की भावना ने अपनी कर्तव्य-बुद्धि के प्रतिकूल उससे आचरण करा डाला। इससे उसे आत्म-ग्लानि अवश्य हुई। यह घटना उसने किसी को नहीं बताई। परन्तु वह उसकी धर्म-बुद्धि पर बोझ के रूप में पड़ी थी और वह अपना बदला ले रही थी। जब सिपाही को ज्ञात हो गया कि उसका आचरण स्वाभाविक ही था, तो उसका रोग जाता रहा। अपने आत्म-भर्त्सनाजनक कार्य को दूसरों के समक्ष कहने से भी पाप-बुद्धि का विनाश हो जाता है। इस प्रकार की स्वीकृति से दूसरों की आँखों से हमारा सम्मान घट जाता है और हमें उतना ही सम्मान मिलता है, जितना मिलना चाहिए। जब मनुष्य का आत्म-सम्मान का भाव कम हो जाता है, तब उसके भीतरी और बाहरी स्वत्व में एकता स्थापित हो जाती है। फिर आत्मोत्सर्ग का मार्ग खुल जाता है।

भीतरी और बाहरी मन में एकता स्थापित होने से मनुष्य के मानसिक रोग का अन्त कैसे हो जाता है, इसके कुछ उदाहरण स्टेकिल महाशय की टेकनिक आफ साइकोथेरेपी नामक पुस्तक से देना अनुपयुक्त न होगा। एक महिला को आत्म-हत्या की भावना त्रास देती थी। इसने एक बार जहर खाकर अपने आपको मार डालने की चेष्टा की। इस भावना की जड़ खोजने से पता चला कि वह अपने पति से असंतुष्ट है। उसका पति एक प्रतिष्ठित व्यक्ति था। प्रारम्भ में एक दूसरे से प्रेम के कारण ही उन लोगों ने विवाह किया था। परन्तु पति अपनी स्त्री की कामवासना को तृप्त नहीं कर पाता था। उसको किसी प्रकार एक लड़का हो गया। यह लड़का आठ वर्ष का हो गया था। पति अपनी स्त्री को बहुत चाहता था, परन्तु स्त्री को उसकी चिंता खाए जाती थी। स्टेकिल महाशय को उसके मनोवैज्ञानिक अध्ययन से पता चला था कि उसका प्रेम उस लड़के के पढ़ानेवाले एक सुन्दर नवयुवक से हो गया था। इसका पता उसके पति को न था। परन्तु यह नवयुवक भी मनमौजी था। उसका मन उस घर की एक रूपवती नौकरानी पर दौड़ गया। इसे यह महिला जान गई और उसके प्रेम-संबंध का जब उसे पूरा प्रमाण मिल गया, तो उसने उस नौकरानी और मास्टर को अपने यहां से हटा दिया। परन्तु अब उसकी अतृप्त वासना ने मृत्यु की इच्छा का रूप ले लिया। जब उसने अपनी सब कथा डाक्टर स्टेकिल से आत्म-स्वीकृति के रूप में कह दी, तो उसका मन कुछ हलका हो

गया। इधर डाक्टर स्टेकिल ने उसके पति के नपुंसकता के लिए भी उपचार किया। उसका पति उदार व्यक्ति था। उसने बात-बात में स्टेकिल महाशय से कहा कि मेरी कमजोरी को ध्यान में रखते हुए यदि मैं जान लूँ कि मेरी स्त्री दूसरे व्यक्ति से प्रेम करती थी, तो वह भी क्षम्य होगा। स्त्री अपने सभी पापों की स्वीकृति अपने पति के समक्ष करना चाहती थी। परन्तु डाक्टर ने इसके लिए उसे अभी तक रोका था। उसको डर था कि इससे पति के मन को धक्का लगेगा और उनके गृहस्थ जीवन का अन्त भी हो जाने की संभावना थी। परन्तु जब पति को यह बात ज्ञात हो गई और जब उसने कहा कि मैं अपनी स्त्री के किसी दोष को सुनना न चाहूँगा, तो उक्त महिला का मन हलका हो गया।

यह महिला किसी प्रकार की काम-तृप्ति के अभाव में कृत्रिम मैथुन भी करती थी। इसके लिए भी उसे आत्म-भर्त्सना होती थी। परन्तु जब स्टेकिल महाशय ने उसे समझाया कि उसकी परिस्थिति में उक्त कृत्य का होना स्वाभाविक है और इससे मानसिक खिंचाव कम होता है तो उसकी आत्म-भर्त्सना की दबी मनोवृत्ति का अन्त हो गया। फिर वह अपनी काम-शक्ति को बालक के लालन-पालन में ही खर्च करने लगी। उसने अनेक प्रकार की लोक-सेवा और साहित्यिक कार्य में भाग लेना प्रारम्भ कर दिया। फिर जब पति का उपचार भी हो गया, तो उक्त दम्पत्ति का जीवन आदर्श-जीवन बन गया।

यहाँ इस बात को जान लेना आवश्यक है कि पाप-भावना के कारण मानसिक शक्ति दब जाती है। फिर वह विकृत मार्ग से प्रकाशित होती है। इसीसे रोग होते हैं। पाप की स्वीकृति करने से मनुष्य की आत्म-प्रतिष्ठा का भाव कम हो जाता है। दबी हुई पाप-भावना मनुष्य का अभिमान बढ़ाती है। ऐसा व्यक्ति अपने आचरण में आवश्यकता से अधिक नैतिक बनने की चेष्टा करता है, जिससे कि वह समाज का सम्मान प्राप्त कर सके और अपनी आत्म-प्रतिष्ठा के भाव को ऊँचा उठाये रखे। परन्तु इससे उसका मानसिक खिंचाव बढ़ जाता है। जब मनुष्य अपने पुराने पाप को दूसरों के समक्ष कहता है और अपना सम्मान खोने की परवाह नहीं करता*; अर्थात् जब वह वास्तव में अपने आपको

* यहाँ यह बताना आवश्यक है कि आत्म-स्वीकृति ऐसे ही व्यक्ति के समक्ष करना उपयोगी होता है जिसमें रोगी की श्रद्धा है और जो उसका अनुचित लाभ नहीं उठायेगा। जो व्यक्ति सभी लोगों से अपने पाप-कृत्यों को कहते फिरते हैं वे अपने आपको तथा दूसरों को नीचा गिराते हैं। ऐसे व्यक्ति वास्तव में आत्म-सुधार नहीं चाहते। श्रद्धास्पद व्यक्ति के समक्ष आत्म-स्वीकृत करना अपने नैतिक स्वत्व के प्रति

एक सामान्य व्यक्ति मानने लगता है तो उसकी पाप-भावना का अन्त हो जाता है इस प्रकार की आत्म-स्वीकृति से मनुष्य के अभिमान का नैतिक स्तर कम हो जाता है और वह अपनी भोग-वासनाओं से घृणा करना छोड़ देता है। तब वह शक्ति का शोध करने अर्थात् उसे रचनात्मक कार्य में लगाने में समर्थ होता है।

यहाँ वास्तविक आत्म-स्वीकृति और झूठी आत्म-स्वीकृति के भेद को समझना अत्यन्त आवश्यक है। वास्तविक आत्म-स्वीकृति का हेतु अपने आत्म-सम्मान को घटाना होता है और झूठी आत्म-स्वीकृति का हेतु उसे बढ़ाना होता है। यदि किसी प्रकार की आत्म-स्वीकृति से व्यक्ति का आत्म-सम्मान और भी बढ़ जाय, तो इससे उसको कोई लाभ नहीं होता। अपने से नीचे नैतिक स्तर के लोगों के समक्ष भी आत्म स्वीकृति करने से कोई लाभ नहीं। इस प्रकार की आत्म-स्वीकृति मनुष्य के अभिमान को ही बढ़ाती है और इसका आरोग्य-लाभ अथवा मानसिक विपन्नता को हटाने में कोई महत्त्व नहीं।

हम अपने बचपन में अनेक प्रकार के अनैतिक आचरण करते हैं। हम कई ऐसे कार्य करते हैं जिनके प्रकाश में आने पर आत्म-भर्त्सना का होना स्वाभाविक है। जब मनुष्य अपने इन पुराने कृत्यों को अपनी स्मृति में खोज-खोज कर विचार कर लेता है और वह जान लेता है कि उस समय के लिए उक्त कार्य स्वाभाविक था और बचपन की भूलों के लिए उसे आज दुःख मानना आवश्यक नहीं, क्योंकि आज उसका नैतिक स्तर ऊँचा उठ चुका है तो उसके मानसिक खिंचाव का अन्त हो जाता है। मनुष्य अपने अतीत को जितना ही अधिक जानता है और अपने स्वभाव को स्वीकार करता है। उतना ही वह अपनी शक्ति को उपयोगी कामों में लगाने में समर्थ होता है।

इस प्रसंग में मेगडूगल महाशय का दिया हुआ निम्नलिखित उदाहरण उल्लेखनीय है। एक रोगी को पीछे से पकड़ लिए जाने का भय था। उसकी आयु पचास साल की हो गई थी। इस भय के कारण उसे बार-बार पीछे लौटकर देखना पड़ता था। यदि वह कहीं बैठता तो उसे दीवाल से ओटँगकर बैठना पड़ता था। इस रोग का अध्ययन करने से पता चला कि उसका प्रारम्भ उसके

आत्म-स्वीकृत करना है और इस प्रकार अपने मन के दो भागों में समन्वय स्थापित करना है! श्रद्धास्पद व्यक्ति मनुष्य के नैतिक स्वत्व का प्रतीक होता है और उसके द्वारा क्षमा किया जाना अपने आपसे ही क्षमा किया जाना है। अपने ही साथियों से गुप्त बातें कहना बड़ा ही हानिप्रद सिद्ध होता है। कभी-कभी इससे ये साथी लोग अनुचित लाभ उठाते हैं।

बचपन से हुआ। इस बालक में खाने की चीजों की चोरी करने की आदत थी। वह अपने पास के एक व्यापारी के बोरे से कभी-कभी अखरोट चुपके-चुपके ले जाया करता था। एक बार जब वह अखरोट लेकर अँधेरी कोठरी से बाहर निकल रहा था। दूकान के मालिक ने धीरे से आकर उसकी कमीज का गला पीछे से पकड़ लिया। इससे उसे बड़ी लज्जा लगी। सौदागर ने उसे छोड़ दिया। परन्तु उसे अपने काम के लिए बड़ी भर्त्सना हुई। पीछे वह इस घटना को भूल गया। परन्तु अब उसे सदा पीछे देखने की झक लग गई जो कई साल तक रही। एक दिन यह व्यक्ति उसी सौदागर से बातचीत कर रहा था तो उसने हँसी-हँसी में उस व्यक्ति से कहा कि अब तो अखरोट चुराने की आदत तुममें नहीं है। इस पर उसकी सारी स्मृति जागृत हो गई और रोग का एकाएक अन्त हो गया।

एक दूसरे रोगी को बन्द कमरे अथवा गली में जाते हुये भय होता था। उसके मानसिक अध्ययन से पता चला कि वह एक बार कुछ सामान चुराकर गुदड़ी बाजार के एक व्यापारी को दे रहा था। इस व्यापारी के घर पहुँचने के लिए एक तंग रास्ते से होकर जाना पड़ता था। जब बालक व्यापारी को सामान देकर और कुछ पैसे लेकर घर के बाहर आ रहा था उस समय तंग रास्ते का दरवाजा किसी ने बन्द कर दिया। इधर व्यापारी के दरवाजे के सामने बैठा कुत्ता बालक की परेशानी देखकर गुर्राने लगा। अब तो बालक बेहद डर गया। तंग रास्ता, अकेलापन, भय और अनैतिक आचरण का इस प्रकार सम्बन्ध हो गया। अनैतिकता के विचार ने पुरानी स्मृति को दबा दिया। अतएव अब जब कभी वह व्यक्ति अकेले किसी स्थान पर जाता तो उसे पुराना भय त्रास देने लगता था। जब अपने आप के प्रति पाप-भावना की मनोवृत्ति हट गई और उसने अपनी स्मृति को स्वीकार किया तो उसका भय जाता रहा और वह स्वस्थ हो गया।

नैतिक भावना की अवहेलना मानसिक रोगों में तथा शारीरिक रोगों में प्रकाशित होती है। ये रोग दबी भावना को प्रतीक रूप से प्रकाशित करते हैं। जिस व्यक्ति ने अकेले में रहकर कुकर्म किया है उसे अकेले रहने का भय हो जाता है। जिसने बाहर दूर जाकर ऐसा काम किया है उसे घर से निकलने का भय हो जाता है। अपनी ही बहिन, भौजाई के प्रति अनुचित भावना मन में आने से स्त्री मात्र को देखने में मनुष्य शर्माने लगता है। कोई अनैतिक बात देरतक पेट में छिपाने से पेट का रोग हो जाता है। ये सभी प्रकार के रोग आत्म-स्वीकृति से समाप्त हो जाते हैं।

सोलहवाँ अध्याय

मानसिक क्लेश का निराकरण

मनुष्य का मन अनेक प्रकार के क्लेशों से पीड़ित रहता है। कितने ही क्लेश मन के भीतर ही रहते हैं और कितने ही अनेक प्रकार के शारीरिक और मानसिक रोगों में प्रकाशित हो जाते हैं। शारीरिक रोग मानसिक रोग को हलका करता है इसीलिये मनुष्य का स्वत्व उसे स्वीकार करता है। किसी भी प्रकार का मानसिक विकार प्रकाशन से नष्ट होता है, चाहे यह प्रकाशन प्रगट रूप से हो अथवा गुप्त रूप से। स्वप्न, सांकेतिक चेष्टा, अकारण भय, झक, चिंता एवं हिस्टीरिया की क्रियाओं में दबी मानसिक अशांति प्रगट होती है। इसी प्रकार सिर की पीड़ा, दमा, पेट का शूल, लकवा, हृदय की धड़कन में भी दबी अशांति, चिंता और भय प्रगट होते हैं।

मनुष्य के मानसिक क्लेश कभी बाहरी घटना के कारण होते हैं और कभी आंतरिक मानसिक परिस्थिति के कारण। जब मनुष्य की आकांक्षा एवं वास्तविकता में विरोध होता है तो उसे मानसिक क्लेश हो जाता है—जब हम किसी घटना को एक प्रकार का चाहते हैं और वह दूसरे प्रकार से घटित होती है तो हमें मानसिक क्लेश हो जाता है। हमें नुकसान करनेवाले, हमारी निंदा करनेवाले लोग हमारे क्लेश को बढ़ाते हैं। कम समझ के लोगों को बाहरी परिस्थितियाँ ही अधिक दुःखी करती हैं। सभी बाहरी परिस्थितियों पर विजय प्राप्त करना असम्भव है, अतएव ऐसे लोगों के मानसिक क्लेशों का कभी अन्त नहीं होता। वे दुःख भोगते-भोगते भाग्यवादी बन जाते हैं। वे यह नहीं जान पाते कि उनकी इच्छाएँ ही उनके दुःखों का प्रधान कारण हैं और इच्छाओं की कमी हो जाने पर दुःखों की कमी अपने आप ही हो जायगी। परिस्थितियों के परिवर्तन से नहीं वरन् अपने आपके परिवर्तन से मानसिक दुखों की कमी होती है।

उच्चकोटि के लोगों को बाहरी परिस्थितियाँ उतना दुःख नहीं देतीं जितना दुःख उनके मन के भीतर चलनेवाला मानसिक संघर्ष देता है। ऐसे लोग अपने किसी पुराने अनुचित व्यवहार के लिये ही पश्चात्ताप करते रहते हैं। यदि उन्होंने किसी व्यक्ति को दुःख पहुँचा दिया तो उन्हें दिन-रात चैन नहीं मिलती। लेखक के एक विद्यार्थी ने अपने एक नौकर को हाल में ही किसी अनुचित कार्य के लिये डाँट दिया। इसके पश्चात् उसे दिन भर मानसिक बेचैनी रही। वह अपनी पढ़ाई-लिखाई कुछ न कर सका। जब तक उसने उस

नौकर को प्रसन्न नहीं कर लिया, तब तक उसे कोई चैन नहीं मिली। कभी-कभी अपनी काम-वासना संबंधी अनाचार के लिये मनुष्य को कई दिनों तक आत्मभर्त्सना होती रहती है। इस प्रकार की भर्त्सना किसी प्रकार के छिपे भय का प्रतीक होती है। बाहरी चिंता केवल भीतरी भय का रूपांतरण मात्र होती है। जब तक मनुष्य चिंता के वास्तविक कारण को नहीं जान लेता, उसके मानसिक क्लेश का अन्त नहीं होता। चिंताएँ सदा एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ पर आरोपित होती रहती हैं। जिन लोगों की कामवासना दबी हुई अवस्था में है, उन्हें छोटी-छोटी घटनाएँ चिंता उत्पन्न कर देती हैं। इसी प्रकार जो लोग धर्म-बुद्धि के प्रतिकूल आचरण कर बैठते हैं, उन्हें भी बदले का भय रहता है। जब तक वे अपने पाप-कृत्य का प्रायश्चित्त नहीं करते, तबतक उनकी चिंताओं की कमी नहीं होती। वे किसी भी घटना को अपने प्रतिकूल ही देखते हैं। उन्हें किसी व्यक्ति के ऊपर विश्वास नहीं होता और वे अपने मित्र को भी शत्रु के रूप में देखते हैं। इस प्रकार भोग-वासनाओं की अवहेलना अथवा धर्म-बुद्धि की अवहेलना दोनों ही मानसिक क्लेश की वृद्धि करते हैं।

इस प्रकार के मानसिक क्लेश के निराकरण के अनेक प्रकार के उपाय बताये गये हैं। इन उपायों को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—सामान्य बुद्धि का उपाय, मनोवैज्ञानिक उपाय और दार्शनिक उपाय। सामान्य बुद्धि के अनुसार अपनी परिस्थितियों पर विजय प्राप्त करने की सदा चेष्टा करना चाहिये उसे निराश होकर कभी भी न बैठना चाहिये। कितने ही लोग अपने आपको किसी बाहरी व्यवसाय में इसलिये लगाये रखते हैं कि वे अपनी मानसिक अशांति और चिंता को भूल जायँ। उनका आराम का दिन बड़ी मुश्किल से कटता है। जो लोग अपने आपको सदा बाहरी काम में लगाये रहते हैं उनका बुढ़ापा बड़ी कठिनाई से कटता है। इस समय न तो वे कोई काम ही कर पाते हैं और न उनके पास बातचीत करने के लिये ही कोई आता है। फिर ऐसे लोग अपने आपसे ही परेशान होकर मृत्यु का आवाहन करने लगते हैं।

यह सामान्य बुद्धि का उपाय कई दृष्टि से सर्वोत्तम है। अपने आपको किसी बाहरी काम में लगाये रखने से मनुष्य को व्यर्थ की अनेक चिंताएँ नहीं सतातीं। उसकी मानसिक शक्तियों का शोध अपने आप हो जाता है। परन्तु जब मनुष्य का मन बाहरी चिंताओं में फँस जाता है, जब उसकी आकांक्षायें बहुत बढ़ी रहती हैं तो वह अपनी समस्याओं के हल करने में समर्थ नहीं होता। जैसे-जैसे वह बाहरी चिंताओं से अपने मन को परेशान करता है, उसकी मानसिक शक्ति का

और भी ह्रास होता जाता है। कर्तव्य-बुद्धि से काम करना मनुष्य की मानसिक शक्ति का एकीकरण करता है। परन्तु लाभ की बुद्धि मनुष्य की चिंता की मात्रा को बढ़ाती है। लाभ की बुद्धि से काम करनेवाले व्यक्ति के मन को अनेक प्रकार के सन्देह त्रास देते हैं। इनके कारण उसके निश्चय बदलते रहते हैं और वह किसी काम को लगन के साथ नहीं कर पाता।

मानसिक क्लेश के अन्त करने का मनोवैज्ञानिक उपाय अपने आपको काम में लगाये हुए अपनी मनोवृत्तियों को समझना है। प्रत्येक प्रकार की चिंता का बाहरी और मानसिक कारण होता है। कभी-कभी चिंता का बाहरी कारण आन्तरिक कारण का आरोपण मात्र होता है। मनुष्य के मन में होनेवाला अन्तर्द्वन्द्व बाहरी चिंता का रूप धारण कर लेता है। मनुष्य की कुछ मनोवृत्तियाँ आदर्शवादी होती हैं और कुछ भोगवादी। इन दोनों के समन्वय से ही मानसिक क्लेश का अन्त होता है। आधुनिक मनोविज्ञान के एक प्रमुख विद्वान् हेडफील्ड का कहना है कि मनुष्य के मन के तीन भाग हैं—भोगासक्ति, अभिमान और आदर्श। इन तीनों में हर समय संघर्ष चला करता है। मनुष्य में जब भोगासक्त मन की प्रबलता होती है, तब मन के दो अन्य भागों की अवहेलना होती है और उनका दमन होता है। इसके कारण मनुष्य नैतिक बुद्धि के प्रतिकूल आचरण कर बैठता है। फिर मनुष्य की नैतिक बुद्धि इसका बदला लेती है। अपने पुराने कृत्य के लिये मनुष्य में आत्म-भर्त्सना का भाव और पाप-बुद्धि उत्पन्न हो जाती है। मनुष्य को अपने कुकृत्य के लिये दण्ड पाने का भय उत्पन्न हो जाता है। जब मनुष्य इस भय को भुलाने की चेष्टा करता है, तो उसे अकारण चिन्ता और निराधार भय सताने लगते हैं। यहाँ मनुष्य की नैतिक बुद्धि चेतना की सतह के नीचे ही काम करती है। इसके कारण मनुष्य को अनेक प्रकार की अकारण चिन्ताएँ और भय उत्पन्न हो जाते हैं।

कभी-कभी पाशविक प्रवृत्तियों की प्रबलता के प्रतिक्रिया-स्वरूप मनुष्य अपनी नैतिक बुद्धि को प्रबल बनाता है। इसके कारण उन प्रवृत्तियों का दमन होता है और फिर वे इस दमन से छुटकारा पाने के लिए अनेक प्रकार के गुप्त मार्ग को खोज निकालते हैं। ऐसी अवस्था में भी मनुष्य को अनेक प्रकार की चिन्ता, भय, बाध्य-विचार आदि सताने लगते हैं। इससे शारीरिक रोगों की भी उत्पत्ति हो जाती है। जिन लोगों की कामवासना का नैतिक बुद्धि द्वारा दमन होता है और जो उसकी उपस्थिति को स्वीकार नहीं करना चाहते, उन्हें काम-वासना के प्रतीक ही सब जगह दिखाई देते हैं। जिस घटना से काम-

वासना का दमन आरम्भ हुआ, वह विस्मृत होकर भी मनुष्य की चेतना को त्रास देती है। ऐसे लोगों को साँप का, छोटे-छोटे कीड़ों का, अकेले रह जाने का और बन्द स्थान में रहने का भय हो जाता है। किसी स्त्री को देखते ही उनकी दृष्टि नीची हो जाती है।

अपनी दबी प्रवृत्तियों को चेतना की सतह पर लाकर मानसिक द्वन्द्व का अन्त किया जा सकता है। परन्तु जब मनुष्य की चिन्ताएँ उसे ज्ञात हों और उनका किसी प्रकार अन्त होता न दिखाई दे, तो फिर मानसिक क्लेश के अन्त करने का क्या उपाय हो सकता है ? यहाँ मनुष्य को जीवन के दर्शन की आवश्यकता होती है। मनोविज्ञान हमें समझा सकता है कि हमारा मित्र और शत्रु हमारे बाहर नहीं, वरन् भीतर ही है। हमारी दबी मनोवृत्तियाँ ही हमारी शत्रु बन जाती हैं। हम अपने आपको दूसरों की दृष्टि में अत्यधिक भला बनाना चाहते हैं। यही कारण है कि हम अपनी ही भर्त्सना करने लगते हैं। अपने आपको अत्यधिक भला बनाने की चेष्टा मनुष्य की पाशविक प्रवृत्तियों के प्रकाशन का अवसर नहीं देती। इससे इन प्रवृत्तियों की शक्ति का शोध नहीं होता। जो मनुष्य सदा अपने-आपसे लड़ा करता है, वह कोई भी रचनात्मक कार्य नहीं कर पाता।

अपनी इस द्वन्द्वात्मक अवस्था का अन्त करने के लिए मनुष्य को अपनी नैतिकता के अभिमान को खोना पड़ता है। मानसिक संघर्ष का अन्त तभी हो सकता है, जब मनुष्य अपने घृणित स्वत्व के प्रति भी उसी प्रकार मैत्रीभाव रखे, जिस प्रकार वह अपने नैतिक स्वत्व के प्रति रखता है। जब तक मनुष्य अपने दोनों स्वत्वों का समान रूप से आदर नहीं करता, तब तक वे दोनों मिलकर कोई उपयोगी रचनात्मक कार्य नहीं कर सकते। जिस प्रकार पुरुष और स्त्री के मेल के बिना मनुष्य का घर अशांत रहता है और परिवार कोई उन्नति नहीं कर पाता, इसी प्रकार मनुष्य के चेतन और अचेतन मन, उसके नैतिक और व्यक्तिगत सुख चाहनेवाले स्वत्व के बीच एकता हुए बिना मनुष्य अशांत मन और दुःखी रहता है। वह किसी प्रकार की उन्नति नहीं कर पाता।

यह मेल कैसे हो ? इसका एक उपाय दबे स्वत्व को चेतना की सतह पर लाकर नैतिक स्वत्व से मेल कराना है। इससे नैतिक स्वत्व नीचे उतरता है और भोगेच्छु स्वत्व ऊँचा उठ जाता है। ऊँचे और नीचे मनोभावों के मेल से मनुष्य के व्यक्तित्व का नवनिर्माण हो जाता है। यह उपाय मनोविश्लेषण-विज्ञान का उपाय है। दूसरा उपाय यौगिक अथवा दार्शनिक है। इसके

अनुसार मनुष्य अपने आपको अपनी मनोवृत्तियों से अलग जानने की चेष्टा करता है। वह झगड़ा करनेवाली सभी मनोवृत्तियों से अपना सम्बन्ध अलग कर लेता है और इस झगड़े को तटस्थ-रूप से देखता है, मानो वह अपने मन के बाहर चल रहा हो। इस प्रकार की तटस्थता से झगड़े का अन्त अपने आप ही हो जाता है। यहाँ सभी मनोवृत्तियों से मनुष्य उदासीन हो जाता है। इनसे उन वृत्तियों का अन्त हो जाता है। मानसिक शैथिलीकरण की अवस्था में इस प्रकार का अभ्यास करने पर मनुष्य को तुरन्त ही शान्ति मिल जाती है। यहाँ मनुष्य का आत्म-निर्देश उसका सहायक होता है। मनोविज्ञान का यह निश्चित सिद्धांत है कि अपने मन की शिथिल अवस्था में मनुष्य जो निर्देश अपने आपको देता है, उसे उसका अचेतन मन ग्रहण कर लेता है और फिर उसके स्वभाव में उसी प्रकार का परिवर्तन हो जाता है जिस प्रकार का परिवर्तन वह अपने आपमें करना चाहता है। इस प्रकार का मानसिक शैथिलीकरण करते और आत्म-निर्देश देते समय मनुष्य को कभी-कभी नींद आ जाती है। यह नींद मानसिक क्लेशों का अन्त करने में बड़ी ही लाभकारी होती है।*

---

* इस प्रसंग में डा॰ विलियम ब्राउन महोदय के निम्नलिखित विचार उल्लेखनीय हैं—

I should like, in conclusion, to emphasise the value and importance of formal auto-suggestion for the normal person as a means of increasing his mental power in various directions. If he makes calm affirmations to himself while lying on a couch in a state of mental and muscular relaxation, such affirmations may be realized by subconscious mental activity and in this way he may improve his powers of mental concentration, his memory, and his mental aptitude along special lines. He may also correct bad habits and increase self-confidence and self-control. Often suggestion treatment from another person is needed to give him a start and then he can carry on by himself. The method acts by releasing mental tension and removing subconscious deadlocks and inhibitions, encouraging spantanity and self-realization. Above all it neutralizes subconscious doubts and fears and clears the way for the creative process that wells up from the depths of the mind"—William Brown—*Psychology and Psychotherapy*, P. 137

जो मनुष्य अपने आपको देश-काल और मनोवृत्तियों के परे निरन्तर तत्त्व के रूप में देखता है, उसे अनेक प्रकार के मानसिक क्लेश कष्ट नहीं देते। वह सरलता से अपने विचारों का स्वामी हो जाता है। अपने आपको शरीर के रूप में जानना मनुष्य को बाहरी परिस्थितियों का दास बनाता है। अपने आपको मन के रूप में जानना उसे मानसिक परिस्थितियों से दुःखी बनाता है। अनुकूल परिस्थितियाँ सुख देती हैं और प्रतिकूल दुःख। जब मनुष्य न केवल बाह्य जगत से उदासीन हो जाता है, वरन् अपनी मनोवृत्तियों से भी उदासीन हो जाता है अर्थात् वह अपने आपको न भौतिक शरीर के रूप में और न मन के रूप में वरन् नित्य तत्त्व के रूप में जान लेता है; तो उसके सभी मानसिक क्लेश शांत हो जाते हैं। अपने केन्द्र से दूर होने पर मनुष्य को मानसिक क्लेश होते हैं। मनुष्य ज्यों-ज्यों अपने केन्द्र के समीप जाता है, त्यों-त्यों उसके दुःखों में कमी होती है। जब वह अपने केन्द्र से पूर्ण एकत्व स्थापित कर लेता है, तब उसे कोई दुख ही नहीं होता। दुःख परिवर्तनशील तत्त्व से एकीकरण करने से होता है। स्थित तत्त्व में दुःख कैसा?

मानसिक क्लेश के अन्त करने का एक मार्ग सभी परिस्थितियों को अपने ही भीतर देखने लग जाना और उनसे मैत्री-भाव स्थापित करना है। सभी मनुष्यों के साथ आत्म-भाव का अनुभव करना और सभी परिस्थितियों में अनुकूलता देखने का अभ्यास करने से मानसिक क्लेश का अन्त होता है। कभी-कभी हम जिस विचार को मन से निकालना चाहते हैं, वही विचार बार-बार मन में आता है। जब बार-बार मन में आनेवाले ऐसे विचार को दबाने की चेष्टा की जाती है, तो वह रोग का रूप धारण कर लेता है। वह मानसिक अथवा शारीरिक रोग के रूप में प्रगट होता है। कामवासना सम्बन्धी अनाचार का जब दमन होता है और उसकी स्मृति को भुलाने की चेष्टा की जाती है, तो वह सिर का दर्द, दमा, क्षय, अकारण चिन्ता और भय का रूप धारण कर लेता है। अतएव इस प्रकार की स्मृति को भुलाने की चेष्टा करना ही हानिकारक है। इस प्रकार की घटनाओं के प्रति मैत्रीभाव का अभ्यास करना लाभदायक होता है। अतीत काल की सभी घटनाओं को अपने लिये कल्याणकारी मानना मनुष्य के मानसिक क्लेश का विनाशक है। बाहरी अप्रिय घटनाएँ भीतरी अप्रिय मानसिक स्थिति को व्यक्त मात्र करती हैं। बाहरी घटनाओं से हम अपने आपको जानते हैं और इस प्रकार अपने आप पर नियन्त्रण प्राप्त करने में समर्थ होते हैं। हमारा ज्ञातजगत भौतिक दृष्टि से हमारे बाहर है, परन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से

हमारे भीतर ही है। सभी घटनाओं और मनुष्यों से अपनत्व का भाव स्थापित करने से मनुष्य के मानसिक क्लेश का अन्त होता है।

प्रकृति का कोई भी कार्य निरर्थक नहीं होता। वह मनुष्य के हित के लिये ही होता है। हमारे जीवन में जो कुछ अप्रिय घटनाएँ घटित होती हैं, वे सब ऊपरी दृष्टि से हानिकारक प्रतीत होती हैं, परन्तु अन्त में हमारी भलाई ही करती हैं। संसार का विधान भला है।* इस संसार की घटनाएँ अपने आप किसी भी प्रकार नहीं चलतीं। इनका लक्ष्य मानव का विकास करना है। इस प्रकार का विचार मनुष्य की चिन्ताओं को समाप्त कर देता है। ऐसे विचार का अभ्यास करने से अहितकर घटनाएँ भी हितकर बन जाती हैं।

चार्ल्स युंग के कथनानुसार मनुष्य को किसी प्रकार के रोग उसके स्वास्थ्य रक्षार्थ होते हैं। शारीरिक रोग भी मानसिक विकार को प्रकाशित करके उसे समाप्त करते हैं। जिस प्रकार भयानक स्वप्नों से मनुष्य की नींद की रक्षा होती है, उसी प्रकार शारीरिक रोग भी मनुष्य के स्वास्थ्य का साधन है। इसी प्रकार मानसिक रोग भी मानसिक विचार का रेचन करके मनुष्य को स्थायी आरोग्य प्रदान करता है। इस प्रकार का विचार वास्तव में रोगी के लिये लाभप्रद होता है और उसे रोगमुक्त करता है। जब तक हम रोग को अपना शत्रु मानते हैं, तब तक वह हमें त्रास देता है। जब हम उसे अपना मित्र मानने लगते हैं, तो वह हमें छोड़ जाता है।

---

* इमरसन महोदय का कथन है कि मनुष्य का भला काम व्यर्थ नहीं जाता, उसका भला परिणाम अवश्य होता है। परिणाम के मिलने में जितनी देरी होती है उतना ही वह अधिक भला होता है। दैविक नियम के अनुसार सभी भले कामों का भुगतान चक्रवृद्धि ब्याज की दर से होता है।

—*Essay on Compensation*

सत्रहवाँ अध्याय

मनुष्य की वासना का विकास

वासना मनुष्य की मूल शक्ति है। वह एक ओर अनेक प्रकार की भोगेच्छाओं में व्यक्त होती है और दूसरी ओर वह उन पदार्थों में व्यक्त होती है जिनसे इच्छाओं की तृप्ति हो सकती है। इच्छा और संसार के पदार्थ एक दूसरे के सापेक्ष हैं। जब तक इच्छा रहती है, तब तक उसके पदार्थ रहते हैं और जब तक संसार एवं उसके पदार्थ रहते हैं, तब तक इच्छा रहती है। आधुनिक मनोविज्ञान इस तथ्य को बता रहा है कि मनुष्य के ज्ञान का उसकी इच्छा से घनिष्ट सम्बन्ध है। मनुष्य के ज्ञान का प्रसार उसी ओर होता है, जिस ओर उसकी इच्छा का विकास होता है। इच्छा से स्वतन्त्र ज्ञान का अस्तित्व नहीं। किसी पदार्थ का ज्ञान करने में मनुष्य की एक ही इन्द्रिय काम नहीं करती, उसका सम्पूर्ण मन काम करता है। इस प्रकार देखने में सुनने की शक्ति, समझने की शक्ति और मनुष्य के मन का रुख—ये सभी बातें काम करती हैं। इसी बात को प्रेगमेटिज्म के दर्शन ने बताया है। मनुष्य का साधारण ज्ञान और सत्य का ज्ञान उसकी इच्छा से सम्बन्धित है।

मनुष्य की मूल वासनाएँ शरीर के भरण-पोषण की वासना और काम-वासना हैं। भोजन की चाह मनुष्य में केवल स्वार्थ-भाव से काम करती है। वह दूसरों के सम्पर्क में केवल अपनी स्वार्थ-पूर्ति के लिए आता है। काम-वासना इससे ऊँची है। इस वासना की पूर्ति बिना दूसरे व्यक्ति को सुख दिये सम्भव नहीं। जो मनुष्य दूसरे के हित की दृष्टि को ध्यान में रखकर काम-वासना की पूर्त्ति करते हैं, वे काम-वासना से मुक्त हो जाते हैं। उनका आध्यात्मिक विकास हो जाता है। वे सदा भूखे मनुष्य के समान इन्द्रिय-सुख के लोलुप बने रहते हैं। काम-वासना मनुष्य में प्रेम-भाव की वृद्धि का हेतु है। निम्न कोटि की वासना केवल व्यक्तिगत सुख से सम्बन्ध रखती है। उच्चकोटि की वासना में मनुष्य अपना सुख दूसरे के सुख के द्वारा खोजता है। जिस व्यक्ति का सुख दूसरों को सुखी बनाने में है और जो अपने लिए कुछ भी नहीं चाहता, वही महात्मा है।

इस प्रकार मनुष्य की इच्छाओं का विकास धीरे-धीरे होता है, आरम्भ में मनुष्य और पशु में कोई भेद नहीं रहता, परन्तु अपने अनुभव की वृद्धि के साथ-साथ मनुष्य अपना स्वार्थ छोड़ देता है; वह व्यक्तिगत और क्षणिक सुखों

के पीछे न पड़कर व्यापक और स्थायी सुखों की इच्छा करता है। सभी प्रकार के सुखों का अन्त दुःख में होता है। मनुष्य का स्वार्थी भाव भी इसी प्रकार उसके सुखों की वृद्धि न करके उसके दुःखों की वृद्धि करता है। बार-बार दुःखों के अनुभव करने के परिणाम-स्वरूप मनुष्य व्यक्तिगत सुखों और स्वार्थ के भावों से मुक्त हो जाता है। वह फिर स्वभावतः नित्य सुख की ओर आकर्षित होता है।*

वासना का विकास एक ओर दुःख के भाव के साथ-साथ होता है और दूसरी ओर विचार की वृद्धि के साथ। जो मनुष्य जन्म से प्रखर बुद्धि का होता है, वह अपने सामान्य अनुभव से लाभ उठाता है। वह अनित्य सुखों में अपने मन को इसलिए नहीं फँसाता कि उनका अंतिम परिणाम दुःखद होगा। नित्य-चिन्तन करने के अभ्यास से मनुष्य की वासना में इस प्रकार विकास होता है। आरंभ में विचार इच्छा का दास होता है, आगे चलकर वह इच्छा का संचालक होता है, जो व्यक्ति जितना ही विवेक से अपने जीवन को संचालित करता है वह उतना ही विकसित मन का है।

वासना का नियंत्रण केवल उसके दमन से नहीं होता। उसका दमन मनुष्य में विषमता, उद्विग्नता और व्यक्तित्व-विच्छेद की अवस्था को उत्पन्न करता है। वासना का दमन उसके सफल नियन्त्रण से भिन्न वस्तु है। वासना के सफल नियन्त्रण से मनुष्य की शक्ति का प्रसार होता है। वह असाधारण कार्य करने की क्षमता प्राप्त करता है। वासना का सफल नियंत्रण उसकी शक्ति के उपयोग के लिए नितान्त आवश्यक है। वासना शक्ति के संचय से ही मनुष्य किसी भी कार्य को लगन के साथ करता है। जब मनुष्य की इच्छा-शक्ति निर्बल हो जाती है, तो कार्य में उसकी लगन भी नहीं रहती।

मनुष्य के जीवन में प्रबल वासनाओं का रहना एक दृष्टि से अच्छा है। संसार के लोगों के लिए कल्याण का काम करना, सुन्दर पदार्थों का निर्माण

---

* जर्मन लेखक विलियम वुन्ट ने उक्त विकास के सिद्धान्त को अपनी एथिक्स नामक पुस्तक में बड़ी योग्यता के साथ प्रतिपादित किया है। उन्होंने बताया है कि मनुष्य की प्राथमिक इच्छाएँ पूर्णतः स्वार्थमय होती हैं, वह धीरे-धीरे उदार बनता है। सम्पूर्ण प्रकृति उसे उदारता की ओर प्रेरित करती है। प्रारम्भ में बालक स्वार्थ से ही प्रेरित होता है। जैसे-जैसे उसका मानव-जाति से सम्पर्क होता है और वातावरण से वह प्रभावित होता है, वह उदारता की ओर अग्रसर होता है। अर्थात् सम्पूर्ण प्रकृति का विधान उसे उदार बनने के लिये बाध्य करता है। इस नियम को वुन्ट महोदय ने इमरजेण्ट इवोल्यूशन (Emergent Evolution) का नियम बताया है।

करना, वैज्ञानिक सत्य की खोज करना तथा अनेक प्रकार के सांस्कृतिक विषयों का निर्माण करना वासना का ही कार्य है। जिस मनुष्य को संसार से पूर्ण वैराग्य हो जाता है, वह संसार के काम का भी नहीं रहता। ऐसे मनुष्य का जीवन न तो संसार के लोग चाहते हैं और न वह स्वयं संसार में रहना चाहता है। अतएव ऐसे व्यक्ति का शरीरान्त भी शीघ्र हो जाता है। मनुष्य संसार में तभी तक जीता है, जब तक उसका आन्तरिक मन जीना चाहता है। इसके लिए अपने आपमें लौकिक पदार्थों के लिए आसक्ति आवश्यक है। दूसरे लोगों की इच्छा भी हमारी जीने की इच्छा को बली बनाती है। जिस मनुष्य का मरना सभी लोग चाहने लगते हैं, अथवा जिसके जीने-मरने से सभी लोग उदासीन हो जाते हैं; उसका जीना अधिक दिन तक नहीं होता।

हमारे लौकिक जीवन का ध्येय केवल उसका विसर्जन कर देना मात्र नहीं है। लौकिक जीवन किसी प्रयोजन के लिये है। पशु-योनि में लौकिक जीवन का अंतिम ध्येय नहीं प्राप्त होता। मनुष्य-योनि में यह संभव है। इसके लिये मनुष्य को अपनी आकांक्षाओं का उत्तरोत्तर विकास करना आवश्यक है। यों तो स्वयं प्रकृति ही दुःख-सुख के विनियमन के नियम* के अनुसार मानव-जीवन को विकसित कर रही है। परन्तु इस प्रकार का प्राकृतिक विकास सफल जीवन की कसौटी नहीं है। प्रकृति द्वारा इच्छाओं का जो विकास होता है, वह धीरे-धीरे होता है; स्वेच्छा से वासनाओं का जो विकास होता है, वह शीघ्रतापूर्वक होता है और उसमें मनुष्य को दुःख नहीं होता। मनुष्य और पशु में केवल इतना ही भेद है कि पशु के दुःख-सुख प्रकृति अर्थात् बाह्य परिस्थितियों पर निर्भर हैं और मनुष्य अपने सुख-दुःखों का नियामक स्वयं बन जाता है। जिस मनुष्य का जीवन जितना ही अधिक विकसित होता है, उसका अपने सुख-दुखों पर उतना ही अधिक अधिकार होता है। ज्ञानी मनुष्य के सुख और दुख उसकी मानसिक स्थिति पर ही निर्भर करने लगते हैं। वास्तव में सभी लोगों के सुख-दुख उनकी मानसिक स्थिति पर निर्भर करते हैं। विवेकी पुरुष इस तथ्य को समझ जाता है और अविवेकी इसे न समझकर अपने को सदा पराधीन और गरीबी की अवस्था में बनाये रखता है।

काम-वासना का विकास उसकी भर्त्सना से नहीं होता; उसकी स्वीकृति अपने आप में करके उसको सुन्दरता से प्रकाशित होने का अवसर देने से होता है।

---

* The Law of Hedonic Selection.

काम-वासना एक तो रति-क्रिया में प्रकाशित होती है, परन्तु यही दाम्पत्य-प्रेम, वाल-प्रेम, लोक-प्रेम, कला-प्रेम, संगीत-प्रेम तथा अनेक प्रकार की लोक-सेवा में भी प्रकाशित होती है। काम-वासना की भर्त्सना करने से मनुष्य अपनी शक्ति का ज्ञान नहीं कर पाता। वह अपने जीवन के सौंदर्य को भी नहीं समझ पाता। काम-वासना के प्रति उसकी घृणा की मनोवृत्ति उसके सभी प्रकार के मानसिक विकास को रोक देती है। वह फिर आत्म-भर्त्सना करता हुआ जीवन व्यतीत करता है। मनुष्य में आनन्द की स्थिति आत्म-प्रसाद से आती है। यह आत्म-प्रसाद मनुष्य को तभी प्राप्त होता है, जब मनुष्य अपनी जन्मजात शक्ति को उत्तरोत्तर ऊँची रीति से प्रकाशित करे। दाम्पत्य-प्रेम, वाल-प्रेम, लोक-प्रेम, कला-प्रेम, संगीत-प्रेम और लोक-सेवा काम-वासना के उदात्तीकरण के उपाय हैं। ये वासना के विकास की भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ हैं और एक-एक करके ही पार की जा सकती हैं। कोई भी मनुष्य एकाएक सभी सीढ़ियाँ पार नहीं कर पाता। कभी-कभी एक सीढ़ी से दूसरी पर जाते समय पैर फिसल जाता है। परन्तु इस प्रकार के फिसलने को स्वाभाविक समझना चाहिए। जो मनुष्य प्रयत्न करता है, वह भूल भी करता है। मनुष्य प्रयत्न और भूल के द्वारा ही किसी नये काम को सीखता है। अतएव किसी प्रकार की भूल से निराश न होकर सदा आगे की ओर बढ़ते जाने में ही मनुष्य का पुरुषार्थ है।

मनुष्य की मानसिक प्रगति स्वयं एक दैवी वस्तु है। इस प्रगति के नियम का उल्लंघन करने की चेष्टा से भारी अनर्थ हो जाता है। जिस प्रकार किसी फल के पक जाने से वह स्वभावतः डाली से अलग हो जाता है, उसी प्रकार जब निम्नकोटि की इच्छाओं का समय चला जाता है, तब वे अलग होकर दूसरी उच्च-कोटि की इच्छाओं को अपना स्थान देती हैं। परन्तु यह तभी होता है, जब कि निम्न कोटि की इच्छाओं को अपने समय में ठीक से तृप्त कर लिया गया हो। जब ऐसा नहीं होता, तब उच्च कोटि की इच्छाओं का उद्भव नहीं होता। मनुष्य एक ओर विचार में बढ़ता जाता है, परन्तु इच्छाओं की दृष्टि से वह बालक ही बना रहता है।* जब वह इन इच्छाओं के अस्तित्व को अपनी परि-

---

* यहाँ हेडफील्ड महोदय के साइकालाजी एण्ड मेण्टल हेल्थ नामक पुस्तक में प्रकाशित निम्नलिखित विचार उल्लेखनीय हैं जो उन्होंने कामुक दुष्प्रवृत्तियों के लोगों के बारे में कहे हैं—

Sexual perverts are men of highest character and idealism, and this makes the perversions the more depressing. Paradoxi-

स्थिति के कारण स्वीकार नहीं करता और उनके शान्त होने का कोई उपाय नहीं खोज निकालता, तो वह मानसिक अथवा शारीरिक रोगों का शिकार बन जाता है। अविकसित दबी हुई निम्नकोटि की इच्छाएँ रोग के रूप में दमन करनेवाले व्यक्ति के जीवन में प्रकाशित होती हैं। ये रोग दबी इच्छाओं के प्रतीक होते हैं।

लेखक के एक विद्यार्थी को सांप का असाधारण भय था। साधारण-सी कोई वस्तु शरीर के किसी अंग में गड़ जाने से उसे विचार आता था कि उसे कहीं सांप ने तो नहीं काट लिया। चूहों से भी उसे उसी प्रकार का भय था। एक दूसरे व्यक्ति को अकेले कहीं जाने का भय था। एक अन्य व्यक्ति को गन्दगी का विचार बहुत सताया करता था। एक को सफाई की झक थी। स्त्रियों को देखते ही एक साधक को उसके गुप्त अंगों की कल्पना सताती है। एक व्यक्ति किसी भी व्यक्ति की ओर देखकर बातचीत नहीं कर सकता; उसे विशेष प्रकार की झेंप-सी होती थी। ये सभी मानसिक रोग दबी वासना के प्रतीक हैं। काम-वासना को घृणा की दृष्टि से देखने से एक ओर उसकी शक्ति प्रबल हो जाती है और दूसरी ओर वह रचनात्मक ढंग से प्रकाशित न होकर ध्वंसात्मक रूप में प्रकाशित होती है। वासना को जान-बूझकर प्रकाशित करने से उसका उदात्तीकरण सरलता से ही हो जाता है। वासना-सम्बन्धी इच्छाएँ जब तक दमन की अवस्था में रहती हैं, तब तक वे प्रबल होती जाती हैं और जब उन्हें प्रकाशित होने की छूट दे दी जाती है; तो बहुत सी केवल चेतना के स्तर पर आकर ही शान्त हो जाती हैं। उपरोक्त सभी मानसिक रोगी अब स्वास्थ्य लाभ कर चुके हैं। इनके अनुभव से ही उत्तम सिद्धान्तों की सत्यता प्रकाशित होती है।

किसी भी रोगी के मानसोपचार में दबी वासना को प्रकाशन का अवसर दिया जाता है। इससे मानसिक रोग का निराकरण होता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि सामान्य व्यक्ति भी अपनी निम्नकोटि की वासनाओं को अथवा अनैतिक इच्छा को मनमाने ढंग से तृप्त करने लग जाय। उसका इस प्रकार इच्छाओं की तृप्ति करने में लग जाना न तो नैतिक दृष्टि से ठीक है और न मानसिक स्वास्थ्य की दृष्टि से। यदि कोई मानसिक रोगी अपनी दमित अनैतिक इच्छा को अनुचित ढंग से तृप्त करे तो इससे उसका मानसिक रोग घटेगा नहीं

---

cally enough, it is the maintenance of this excessively rigid standard of morality or aesthetics which keeps the sexuality arrested in development, and so perpetuates the very perversions it condemns."—*Psychology and Mental Wealth.*

अपितु बढ़ ही जायगा। उसे जो उलझनें पहले थीं उनके अतिरिक्त उसे नई उलझनें उत्पन्न हो जावेंगी। मानव-जीवन लक्ष्यहीन वस्तु नहीं है। उनका स्वाभाविक लक्ष्य मनुष्य में नैतिकता सामान्य लोगों की अपेक्षा अधिक होती है। पर इसमें कृत्रिमता रहती है। यह कृत्रिम नैतिकता ही उनकी वासना का दमन करती है। दमित वासना के प्रकाशन से उसकी कृत्रिम नैतिकता समाप्त हो जाती है और सची ठोस नैतिकता का उदय होता है। दमित वासना का मनोवैज्ञानिक प्रकाशन सामान्य प्रकाशन से भिन्न वस्तु है। यह आत्मस्वीकृति मात्र के हो जाता है। इससे रोगी नैतिकता में नीचे न गिर ऊँचा ही उठता है।

आधुनिक मनोविश्लेषण-विज्ञान की यह एक बड़े महत्व की खोज है कि किसी भी दमित वासना के चेतना के स्तर पर आने से उसकी मानसिक शक्ति का सदुपयोग किया जा सकता है।* उसकी ध्वंसात्मक प्रवृत्ति को भी निर्बल बनाया जा सकता है। दमित मनोभाव का रेचन करना मनोविश्लेषण-चिकित्सा का उद्देश्य है। बिना इस प्रकार के रेचन के वासना की शक्ति का सदुपयोग नहीं किया जा सकता। सभी इच्छाओं का आचरण में प्रकाशित होना उनके शांत होने के लिए आवश्यक नहीं होता; परन्तु उनके प्रति विरोध के भाव का अन्त होना उनके विकसित होने के लिए नितान्त आवश्यक है। अपने आपसे घृणा करनेवाले व्यक्ति का कल्याण कभी नहीं होता। अपने आपसे घृणा करना अपने को अपना शत्रु बनाना है। जिस व्यक्ति के मन में इस प्रकार का द्वन्द्व चलता है, वह सुखी कैसे रह सकता है। स्थायी शान्ति के लिए अपने प्रति अर्थात् अपने भूतकालीन और वर्तमान स्वत्व के प्रति मैत्री-भाव की स्थापना करना आवश्यक है। जो कुछ हमने पहले सोचा, समझा और किया, उसी का फल आज का व्यक्तित्व है। आत्म-शान्ति के लिए अपने पूर्व स्वत्व को स्वीकार करना और उसकी माँगों को न ठुकराना आवश्यक है।

---

* किसी भी प्रकार की आत्म-स्वीकृति दबी वासना को चेतना के स्तर पर लाने का उपाय है। कितने ही लोग वासना का उदात्तीकरण बिना आत्म-स्वीकृति के ही करना चाहते हैं। इससे वासना का उदात्तीकरण न होकर दमन ही होता है और मन का विभाजन बढ़ता है। ऐसे लोगों का मन उन्हें चैन नहीं लेने देता। वे सामाजिक सेवा में लगे रहते हैं पर उनकी सेवा से लोग सुखी न होकर दुखी ही होते हैं।

अठारहवाँ अध्याय

क्रिया द्वारा मानसिक विकास

मनुष्य के मन का विकास दो प्रकार से होता है; एक ज्ञान की वृद्धि से और दूसरा क्रिया के द्वारा। प्राचीन काल में शिक्षा का प्रधान तात्पर्य बालक की ज्ञान-वृद्धि से था। आधुनिक जगत में दृष्टिकोण परिवर्तित हो गया है। वर्तमान काल में हम उसी शिक्षा को ठोस शिक्षा मानते हैं, जो क्रिया के द्वारा दी गई हो। क्रिया के बिना प्राप्त ज्ञान जड़ता का द्योतक होता है। इस प्रकार का ज्ञान बालक को पोथी-पंडित बनाता है। वह उसके मस्तिष्क पर भाररूप बनकर रहता है और उसमें आत्महीनता की भावना उत्पन्न करता है। आधुनिक शिक्षा-शास्त्रियों का विचार है कि वही ज्ञान सच्चा ज्ञान है जिसे बालक अपने स्वतन्त्र प्रयत्नों से प्राप्त करे और जिसके लिए उसे अपनी कर्मेन्द्रियाँ एवं ज्ञानेन्द्रियों को अधिक से अधिक काम में लाना पड़े।

भारतवर्ष में इस नये विचार के प्रचार की आवश्यकता है। वास्तव में यह मनुष्य की आध्यात्मिक स्वतन्त्रता का द्योतक है। क्रियाशीलता मनुष्य को अपनी शक्ति का ज्ञान कराती है, और उसमें आत्मविश्वास को उत्पन्न करती है। जो लोग आत्म-स्फूर्ति से कार्य करते हैं, वे ही अपने जीवन में अधिक-से-अधिक आध्यात्मिकता प्रदर्शित करते हैं। काम तो सभी को करना ही पड़ता है। कुछ लोग दूसरों से ढकेले जाने पर काम करते हैं और कुछ लोग आत्मस्फूर्ति से। आत्मस्फूर्ति से काम करनेवाले लोग समाजरूपी गाड़ी की इञ्जन के समान हैं, जो निश्चित लक्ष्य पर न केवल अपने आप ही जाते हैं वरन् अपने पीछे अनेक क्रियाहीन डब्बों को भी घसीटकर ले जाते हैं। स्वतः चलनेवाले लोग जीवन में सुखी रहते हैं। पिछलगुआ अथवा ढकेले जानेवाले जीवन को भार-रूप से ढोते हैं। सच्ची शिक्षा बालक को अपनी स्फूर्ति से चलनेवाली इञ्जन के समान बनाती है।

ऐसी शिक्षा का निर्माण यूरोप के कुछ उदार-हृदय मनस्वियों ने किया है। इनमें से रूसो एवं फ्रेबेल के नाम चिरस्मरणीय रहेंगे। दोनों ने ही बालक की स्वतंत्रता को दैवी वस्तु बताया है। इसकी रक्षा तथा इसके अधिक-से अधिक विकास के लिए उन्होंने नई शिक्षा-प्रणालियों का निर्माण किया है। शिक्षा का

मुख्य ध्येय बालक को अधिक-से-अधिक स्वतंत्रता, स्वावलम्बन, सक्रियता और शक्ति की अनुभूति कराना है। जिस वातावरण में बालक को प्रारम्भ से रखा जाता है, उसी के अनुरूप उसके व्यक्तित्व का निर्माण होता है। स्वतंत्रता, स्नेह, स्वावलम्बन तथा सक्रियता के वातावरण में रहनेवाला बालक न तो समाज का लद्दू घोड़ा बनेगा और न उसका खटमल। जिन लोगों में आत्म-विश्वास की कमी और झूठी पंडिताई का पाखंड रहता है, जो भीतर से निकम्मे रहते हैं, वे ही समाज के शोषक बनते हैं अथवा अपंग बनकर समाज में भाररूप से जीवित रहते हैं।

इस प्रसंग में जर्मनी के प्रसिद्ध दार्शनिक फिक्टे तथा शिक्षाविशेषज्ञ फ्रोय-बेल से जो शिक्षा मिलती है, वह अनुकरणीय है। भारतवर्ष बहुत दिनों तक मानसिक जड़ता में पड़ा रहा। रटन्त ज्ञान का उसने बहुत कुछ सहारा लिया। आत्म-स्फूर्ति को खो देने के कारण ही हमें विदेशियों की गुलामी स्वीकार करनी पड़ी। अब समय आया है कि हम विश्व के ऐसे विद्वानों के विचार राष्ट्र की शिक्षा-प्रणाली में समाविष्ट कर लें, जो हमें उपर्युक्त जड़ता से मुक्त करते हैं। फिक्टे महाशय के कथनानुसार प्रत्येक मनुष्य में उस परम तत्व की उपस्थिति है, जो सम्पूर्ण विश्व का निर्माता है। यह तत्व अपनी शक्ति के साक्षात्कार के लिए बाह्य परिस्थितियों को उपस्थित करता है एवं उनपर विजय प्राप्त करने की कोशिश करता है। जो मनुष्य जितना ही क्रियाशील बनकर इन परिस्थितियों को अपने काबू में लाने की चेष्टा करता है, वह अपने जीवन में उतनी ही अधिक दैविकता व्यक्त करता है। इसके प्रतिकूल जो परिस्थितियों से हारकर अपने जीवन को परिस्थितियों के अनुसार बना लेता है, वह दैविकता से उतनी ही दूर हो जाता है। सद्गुण जीवन में शुद्ध क्रिया का प्रदर्शन है। अतएव जो व्यक्ति जितना ही अधिक सभी प्रकार की कठिनाइयों का सामना करके जीवन-संग्राम में आगे बढ़ता जाता है, वह उतना ही सद्गुणी है।

फिक्टे महाशय की यह शिक्षा गीता में दी हुई भगवान कृष्ण की शिक्षा के समान है। यह शिक्षा मनुष्य को पलायनवादी न बनाकर क्रियाशील बनाती है। बाध्य होकर किसी क्रिया को करने से मनुष्य की इच्छा शक्ति दुर्बल होती है। आत्म-स्फूर्ति से किया गया कर्म मनुष्य को जीवन के अनेक प्रकार के बन्धनों से मुक्त करता है। वह जीवात्मा को परमात्मा से मिलाता है। अर्थात् जीव को उसकी अपार शक्तियों का अनुभव कराता है। प्रत्येक जीव के द्वारा

इन अपार शक्तियों की अनुभूति करना ही कर्म-योग है। मनुष्य की सर्वोत्तम शिक्षा का यही लक्ष्य है।*

गीता के कर्म-योग की शिक्षा का सर्वोत्तम नमूना उन्नीसवीं शताब्दी के जर्मन विद्वानों के जीवन में देखा जाता है। कर्मयोगी बनने के लिए बचपन से ही हमें बालक को सतत क्रियावान् बनानेका अभ्यास कराना होगा। क्रिया के द्वारा शिक्षा अर्थात् क्रिया के द्वारा ज्ञान एवं आनन्द की वृद्धि ही हमारी शिक्षा का लक्ष्य होगा। इस प्रकार की शिक्षा-पद्धति का निर्माण फिक्टे के अनुयायी फ्रोबेल ने अपनी किन्डर गार्टेन शिक्षा-प्रणाली में किया। 'किन्डर गार्टेन' शब्द का अर्थ 'बालबाड़ी' है। वर्तमान काल में यहाँ के कुछ भले शिक्षा शास्त्रियों ने इस बाल-शिक्षा प्रणाली को अपने देश में व्यापक बनाने की चेष्टा की है। बालक उसी शिक्षा से सबसे अधिक लाभ उठाता है, जिसमें वह अपनी क्रियाशीलता आत्मस्फूर्ति और स्वतन्त्र चिन्तन को अधिक से-अधिक काम में लाता है। इस प्रकार की शिक्षा-प्रणाली को स्वराज्य-शिक्षा-प्रणाली कहा जा सकता है। इस शिक्षा-प्रणाली में बालक को बाध्य होकर कुछ भी नहीं करना पड़ता। वह जो कुछ करता है, अपने आनन्द की वृद्धि के लिए करता है।

यह 'स्वराज्य शिक्षा-प्रणाली' अकेले में रहकर सम्भव नहीं। मनुष्य सामाजिक प्राणी है और वह समाज में आकर अपनी अनेक प्रकार की मानसिक शक्तियों का प्रादुर्भाव होते देखता है। हमारी उच्च कोटि की इच्छाएँ व्यक्तिगत नहीं, अपितु सामाजिक हैं और हमारे उच्च कोटि के आनन्द भी वैयक्तिक नहीं, सामाजिक ही हैं। बालक में चाहे कितनी भी बड़ी प्रतिभा क्यों न हो, यदि उसे समाज से अलग रख दिया जाय, तो वह एक निम्न कोटि का मुमूर्षु व्यक्ति बन जायगा। उसका जीवन नीरस और निराशावादी हो जायगा। समाज ही हममें वह प्रेरणा उत्पन्न करता है, जिसके कारण हम अपने जीवन में अनेक प्रकार के चमत्कार दिखाते हैं। समाज ही हमें उस आनन्द की अनुभूति कराता है, जिसके कारण हम व्यक्तिगत स्वार्थों को ठुकरा देते हैं और कठिन से-कठिन

---

* गीता की निम्नलिखित पंक्तियाँ इस प्रसंग में उल्लेखनीय हैं—

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्॥
कायेन मनसा बुद्धया केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥

शरीरिक कष्ट को हँसते-हँसते झेल लेते हैं। अतएव फ्रोबेल ने बालकों की शिक्षा उन्हें समुदाय में रखकर ही करने की चेष्टा की। बालक बाल-समाज में रहकर कहानी-किस्से कहता, गीत गाता, नाचता, अनेक प्रकार के अभिनय करता और टोलियां बनाकर प्रकृति-निरीक्षण के लिए जाता है। इस तरह जो ज्ञान उसे प्राप्त होता है, वह उसके जीवन में काम आता है।

क्रिया-शीलता मनुष्य में आत्म-विश्वास उत्पन्न करने का सर्वोत्तम साधन है। हम जिस काम को नहीं किये रहते, उसके करने की पूरी क्षमता हममें नहीं रहती; चाहे हम उस काम के विषय में कितनी ही जानकारी क्यों न रखते हों। वे ही लोग अच्छे इन्जीनियर, डाक्टर और शिक्षक होते हैं, जो क्रिया के द्वारा इन व्यवसायों को सीखते हैं। क्रिया के अनुभव के संस्कार मनुष्य की क्रियात्मक रचनाओं में विशेष प्रकार के परिवर्त्तन कर देते हैं। इसके कारण बिना अधिक चिन्तन किये ही व्यक्ति योग्य काम करता है। यदि सोच-विचार करके ही जीवन में सभी काम करें, तो हमारा जीना ही असम्भव हो जाय। हम एक-एक बात के निर्णय करने में घंटों लगा दें और जो समय हमें काम करने में खर्च करना चाहिए, उसे हम काम के विषय में चिन्तन कर देने में ही खो देंगे। इस प्रकार का चिन्तन करने से अपनी कार्य-क्षमता में मनुष्य का विश्वास नहीं रहता है। यही कारण है कि अधिक विद्वान व्यक्ति अधिक उपयोगी बातों की सृष्टि नहीं कर पाते और वे समाज के नेता नहीं होते। जब तक हमारा चिन्तन क्रियात्मक नहीं होता, तब तक वह हमारे मानसिक विकास में उपयोगी न बनकर बाधक ही बन जाता है।

क्रिया के संस्कार मनुष्य में जो आत्मविश्वास उत्पन्न करते हैं, वे मनुष्य के चरित्र की ठोस आधार-शिला बनते हैं। जो मनुष्य जितना ही अधिक सफल क्रियाओं को कर चुकता है, वह अपने आपमें उतना ही अधिक विश्वास रखता है। ऐसा व्यक्ति अनेक प्रकार के प्रलोभन, भय और आदेशों के दबाव में नहीं आता, वह उनका सामना करता है। उसका आत्मविश्वास उसे भय, प्रलोभन अथवा किसी दूसरे निम्न आवेग के वशीभूत होकर काम करने से रोकता है। निकम्मा मनुष्य कभी भी सद्गुणी नहीं हो सकता। आलस्य और दीर्घसूत्रीपन सभी दुर्गुणों की जड़ है। इसीलिए कहा है कि 'बैठे से बेगार भली।'

मनुष्य के आनन्द दो प्रकार के होते हैं। एक प्राप्यात्मक अथवा ग्रहणात्मक और दूसरा रचनात्मक। पहले प्रकार का आनन्द सुख कहलाता है और दूसरे प्रकार का आनन्द शुद्धानन्द है। सुख किसी वस्तु की प्राप्ति से उत्पन्न होता

है। सुख की अवस्था में मनुष्य का मन दासभाव में रहता है। इसके प्रतिकूल विशुद्धानंद मनुष्य को किसी प्रकार की रचना अथवा दूसरों को प्रसन्न करने के प्रयत्न से उत्पन्न होता है। जो मनुष्य सदा रचनात्मक कार्यों में लगे रहते हैं, उन्हें उच्च से उच्च कोटि के आनन्द की अनुभूति होती है। रचनात्मक कार्यों से जो आनन्द उत्पन्न होता है, उसका उपभोग न केवल रचनात्मक क्रिया को करनेवाला करता है, वरन् उसका उपभोग दूसरे लोग भी करते हैं। अतएव ऐसा व्यक्ति दूसरों का शोषक न बनकर उनका पोषक बनता है। मनुष्य के मानसिक विकास का लक्ष्य भी ऐसे ही मूल्यों का निर्माण करना है, जिनसे सर्व-साधारण का कल्याण हो।

यहाँ यह बताना आवश्यक है कि ऐसी ही क्रिया मनुष्य का वास्तविक मानसिक विकास करती है जो सहज भाव से की जाती है। गुलाम की मनोवृत्ति से की गई क्रियाएँ मनुष्य को निकम्मा बनाती हैं, वे उनमें आत्मविश्वास बढ़ाने के बदले उसे घटाती हैं। एक भी काम को निजानन्द की वृद्धि के लिये आत्म-स्फूर्ति से करना मनुष्य के जीवन को दैविक बना देता है। वह उसकी इच्छाशक्ति का बल और उसका ज्ञान बेहद बढ़ा देता है।

दूसरी बात यह जानने योग्य है कि जो लोग अपने आपको अनेक प्रकार के कामों में इतना फँसाये रहते हैं कि अपने आपके विषय में सोचने की फुरसत नहीं रखते वे अन्त में मानसिक रोगी ही बन जाते हैं। सभी समय अपने आपको काम में बझाये रखना स्वयं को भुलाने का उपाय है। स्वयं को भुला-कर नहीं वरन् स्वयं का ज्ञान करके ही मनुष्य जीवन में प्रगति कर सकता है। कुछ लोग क्षणभर भी अकेले नहीं रह सकते। उन्हें अपने ही विचारों से डर लगता है। ऐसे लोग अपने आपको काम में लगाये रखते हैं। यह भी एक प्रकार का अतिक्रम है। सभी बातों में बीच का मार्ग (मध्यममार्ग) ही श्रेयस्कर होता है।

उन्नीसवाँ अध्याय

काम-वासना का उदात्तीकरण

कामुकता और प्रेम एक दूसरे के बहुत ही समीप हैं। कहा जाता है कि मनुष्य का जन्म प्रेम से होता है। वह प्रेम में ही जीवित रहता है और प्रेम के द्वारा ही वह अनन्त की प्राप्ति करता है। यह कथन कामुकता के विषय में उतना ही सत्य है जितना वह प्रेम के विषय में सत्य है। कामुकता प्रेम का भौतिक रूप है। जिन लोगों की दृष्टि भौतिक है, वे कामुकता को ही जीवन का प्रधान तत्व मानते हैं। फ्रायड महाशय के कथनानुसार मनुष्य का सारा जीवन काममय है। काम-वासना उसके जन्म का, उसकी मानसिक वृद्धि का और उसकी सन्तानोत्पत्ति का कारण अर्थात् अनंत से मिलने का कारण होता है। मनुष्य के समाजीकरण का आधार काम-वासना है। परिवार कामवासना के कारण ही बनता और स्थिर रहता है। मित्रों का मिलन भी काम-वासना की तृप्ति के लिए होता है और कामवासना से प्रेरित होकर ही मनुष्य समाज-सेवा करता है।

कामवासना का प्रकाशन दो प्रकार से होता है—समलिंगी और विषमलिंगी। इस प्रकार के प्रकाशन का लक्षण एक दूसरे के प्रति आकर्षण होता है। काम वासना पहले-पहल अपने आपमें ही रहती है। इस अवस्था में मनुष्य अपने आपको ही प्यार करता है। फिर वह दूसरों को प्यार करने लगता है। यह प्रेम का प्रसार है। काम-वासना का प्रसार धीरे-धीरे समलिंगी से विषमलिंगी मानव की ओर होता है। जब किसी व्यक्ति का जीवन संकीर्ण रहता है, और उसे विषमलिंगी लोगों से मिलने, बोलने-चालने का अवसर नहीं मिलता तो उसका प्रेम समलिंगी व्यक्तियों तक ही सीमित रह जाता है।

मनुष्य स्वाभाविक रूप से ही दूसरों की ओर आकर्षित होता है। इस प्रकार का आकर्षण उसकी आत्मा की महानता को प्रदर्शित करता है। जब इस आकर्षण का लक्ष्य अपने आपको दूसरों में देखना होता है और उनके सुख में अपने सुख का अनुभव करना होता है, तब हमारा सभी प्रकार का विकास होता है। दूसरों की चाह का अनुभव ही मनुष्य को समाज-सेवी बनाता है। इसी के कारण मनुष्य कला, कविता और साहित्य का निर्माण करता है। हम अपने आपको सुन्दर इसलिए बनाते हैं, जिससे दूसरे लोग हमें चाहें। सुन्दरता भी हम वहीं देखते हैं, जहां प्रेम की उपस्थिति होती है। कामुकता का आधार भी यही प्रेम है। परन्तु कामुकता से इसका अन्त नहीं हो जाता। कामुकता प्रेम के शरीर को

व्यक्त करती है, वह उसकी आत्मा का रूप नहीं दर्शाती। प्रेम के अभाव में कामुकता बीभत्स हो जाती है।

व्यभिचार और वेश्यावृत्ति को सभी लोगों ने बुरा कहा है। इससे मनुष्य की भौतिक इच्छा की पूर्ति हो जाती है, परन्तु इससे उसकी आध्यात्मिक मांग की पूर्ति नहीं होती। प्रेमाभाव की स्थिति में काम-वासना सम्बन्धी सभी क्रिया-कलाएँ मनुष्य के मानसिक विकास के लिए हानिकारक होती हैं। जो मनुष्य केवल इन्द्रिय-सुख के लिए दूसरे व्यक्ति का आलिंगन करता है, वह मानसिक रोगों का भागी बन जाता है। मनुष्य की अन्तरात्मा इस प्रकार के सुख को नहीं चाहती। अतएव केवल सुख के हेतु काम-व्यापार में लगे लोगों को मानसिक नपुंसकता, अकारण चिन्ता, भय और अनेक प्रकार के शारीरिक रोग हो जाते हैं। प्रेम से प्रेरित होकर जो काम-व्यवहार किये जाते हैं, वे ही मनुष्य के स्वास्थ्य को सुधारते हैं और उसके जीवन को विकसित बनाते हैं।

कामवासना को प्रेम का एक अंग मानने से वह मनुष्य के मानसिक विकास का कारण बन जाती है। मनुष्य अपने प्रेम की पूर्ति न केवल शारीरिक कामक्रियाओं से कर सकता है, वरन् वह दूसरे लोगों की अनेक प्रकार की सेवा करके भी कर सकता है। अपने परिवार के लोगों की सेवा करना, बच्चों की सेवा करना, उनका लालन-पालन और शिक्षण करना, रोगी की सेवा और चिकित्सा करना, कला संगीत और साहित्य की रचना करना कामवासना का उदात्तीकरण है। जो व्यक्ति इन कामों में अपने आपको लगाये रखता है उसकी काम-वासना की भूख प्रबल नहीं होती। जिस प्रकार मनुष्य अपनी काम-शक्ति का उदात्तीकरण अपने बच्चों की सेवा करके कर सकता है, उसी प्रकार वह दूसरे लोगों के बालकों की सेवा करके उनका लालन-पालन करके अपनी कामवासना का उदात्तीकरण करता है। अपने मित्रों की सेवा करना और समाज की सेवा करना कामवासना के उदात्तीकरण के अन्य मार्ग हैं। इस तरह जिस व्यक्ति में जितनी अधिक काम-शक्ति होती है और जो उसका जितना ही सदुपयोग करता है, वह उतना ही संसार का सेवी होता है। उससे लोक-कल्याण उतना ही अधिक होता है।

अपने सुख का ध्यान कामुकता है और दूसरे के सुख का ध्यान प्रेम है। एक से हम स्वार्थी होते हैं और दूसरे को अपने अधिकार में लाना चाहते हैं, दूसरे से हम परोपकारी होते हैं और अपने आपको दूसरे व्यक्ति के लिए खो देना चाहते हैं। यह अपने आपको खो देने का भाव ही प्रेम है। इसके द्वारा अहंकार का विनाश हो जाता है। जो व्यक्ति जितना ही अधिक समाज-सेवा में लगा रहता है, वह उतनी कम कामुकता की अनुभूति करता है।

मानवजीवन का यह अचूक सिद्धान्त है कि मनुष्य की स्वार्थमय और परार्थमयी प्रवृत्तियाँ कभी भी एक दूसरे से बिल्कुल अलग नहीं रहतीं। कोई मनुष्य कितना ही परमार्थी क्यों न हो उसकी परमार्थ की मनोवृत्ति में कुछ स्वार्थ भाव भी बना रहता है। इस नियम के अनुसार लौकिक प्रेम के भीतर कामुकता भी रहती है। कभी-कभी यह थोड़ी रहती है और कभी यह प्रबल हो जाती है। प्रेम के कारण मनुष्य अपने आपकी और समाज की दृष्टि में ऊँचा उठता है और कामुकता के कारण वह नीचे गिर जाता है और उसे आत्म-भर्त्सना होने लगती है। इसके कारण उसे अनेक प्रकार की चिन्ताएँ और मानसिक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। जो व्यक्ति जितना ही अधिक नैतिकता में ऊँचा उठा है वह कामुकता के आवेश में आने पर उतना ही अधिक आत्म-भर्त्सना का अनुभव करता है। इस प्रकार प्रत्येक ऊर्द्धगामी व्यक्ति के लिए अपने आपको ऊँचा बनाये रखना आवश्यक हो जाता है।

स्वार्थी और कामुक व्यक्ति भी अपने स्वार्थमय जीवन से संतोष नहीं पाता। उसे अनेक प्रकार के रोग हो जाते हैं। यदि वह अपना जीवन नैसर्गिक रूप से ही व्यतीत करे, तो वह स्वभावत: अपने सुख से धीरे-धीरे विरत होकर दूसरों के सुख के चिन्तन में लग जाता है। काम-वासना के नैसर्गिक प्रकाशन से सन्तान की वृद्धि होती है। जब मनुष्य को सन्तान हो जाती है तो उसका अधिक समय उन्हीं के लालन-पालन और शिक्षा में लग जाता है। उनके लिये उसे अनेक प्रकार के रोजगार करने पड़ते हैं। उनके लिये वह समाज के दूसरे लोगों से मित्रता स्थापित करता है और उनकी सेवा करता है। इस प्रकार उसका स्वार्थ का भाव, अपने सुख का भाव ही उसे विश्वप्रेमी बनने के लिये बाध्य करता है। यह काम-वासना का सहज उदात्तीकरण है।

काम-वासना का दमन होने पर उसका उदात्तीकरण नहीं होता। काम-वासना की शक्ति के उदात्तीकरण के लिए उस शक्ति की उपलब्धि होना आवश्यक है। परन्तु जो लोग किसी प्रकार की आत्म-ग्लानि से दबे हुए हैं और जो काम-वासना को घृणा के रूप में देखते हैं वे समाज का कोई भी उप-योगी कार्य नहीं कर पाते। उनकी मानसिक शक्ति रोग के रूप में ही प्रकाशित होती है। काम-वासना की शक्ति का सदुपयोग करने के लिए उसे जानना, उसके प्रति उदार भाव रखना और उसे अपनी निधि समझना आवश्यक है। काम-वासना के प्रति मैत्री-भावना का अभ्यास करके ही उसकी शक्ति मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास में काम आती है।

बीसवाँ अध्याय

निर्भीक कैसे बनें ?

निर्भीकता एक अमूल्य सद्गुण है। यह सद्गुण बड़ी तपस्या के परिणाम-स्वरूप आता है। निर्भीकता मानसिक शक्ति की उपस्थिति का द्योतक है। जब मनुष्य की इच्छा-शक्ति दृढ़ होती है, जब उसमें मन को वश में रखने की क्षमता होती है, तभी वह निर्भीक होता है। जिस मनुष्य का मन अपने वश में नहीं है, जो विलासी है, जो छोटी-छोटी बातों पर क्रुद्ध हो जाता है अथवा छोटे-छोटे प्रलोभनों में फँस जाता है, उसमें इच्छा-शक्ति का बल नहीं रहता। ऐसा व्यक्ति निर्भीक भी नहीं होता। सिद्धान्तों को अपने जीवन में प्रथम स्थान देनेवाला व्यक्ति ही निर्भीक होता है। सिद्धान्तवादी लोगों को अपने सिद्धान्तों की रक्षा के लिए अपना सर्वस्व त्यागना पड़ा है, उन्हें अपने प्राणों की बाजी भी लगानी पड़ी है। जिन लोगों को अपने लक्ष्य के प्रति दृढ़ लगन होती है, वे ही निर्भीक होते हैं।

संसार के सभी महान् पुरुष निर्भीक हुये हैं। अपनी निर्भीकता के कारण ही वे संसार के करोड़ों व्यक्तियों को निर्भीक बनाकर एक विशेष लक्ष्य की ओर ले जा सके। एक ही व्यक्ति अपनी निर्भीकता से लाखों व्यक्तियों को निर्भीक बना देता है। जिस प्रकार भय का भाव संक्रामक है, उसी प्रकार निर्भीकता भी संक्रामक है। जब तक नेपोलियन सेना के बीच उपस्थित रहता था, तब तक उसकी सेना अजेय रहती थी। नेपोलियन की उपस्थिति मात्र से उसकी सेना का प्रत्येक सिपाही उसी के समान वीर बन जाता था। लूथर के पहले यूरोप के सभी लोग पादरियों की मानसिक गुलामी करते थे। पादरियों का विरोध करने पर विरोधियों को जिन्दा जला दिया जाता था। लूथर ने पादरियों का विरोध करने की हिम्मत की। उसने स्वर्ग का टिकट बेचने के सिद्धान्त को झूठा कहने का साहस किया। इसके परिणामस्वरूप उसे पोप का क्रोधभाजन बनना पड़ा। उसे पोप के न्यायालय में बुलाया गया और उससे अपनी राय को झूठा कहने और उसके लिए माफी माँगने की आज्ञा दी गई। परन्तु उसने ऐसा नहीं किया। यहाँ उसने अपने प्राणों से बाजी खेली। इसके परिणाम-स्वरूप पोप उसपर क्रुद्ध हुआ और उसने उसे मरवा डालना चाहा। किसी प्रकार उसके प्राण बच गये। परन्तु उसके द्वारा इस प्रकार की निर्भीकता के प्रदर्शन से सारे यूरोप में प्रोटेस्टेन्ट

धर्म फैल गया और कुछ काल में ही उसके लाखों अनुयायी हो गये और सभी लोगों की आँखें धार्मिक अंध-विश्वास के प्रति खुल गईं।

जिस प्रकार मनुष्य की धार्मिक प्रगति बिना निर्भीकता के नहीं होती, उसी प्रकार उसकी राजनैतिक और सामाजिक प्रगति भी बिना निर्भीकता के नहीं होती। जोसेफ मैजनी ने जब इटली की स्वाधीनता का संकल्प किया था, उस समय उसका साथी कोई न था। उसे अपने प्राण सदा हथेली पर लिए घूमना पड़ता था। परन्तु उसकी निर्भीकता ने लाखों इटालियन देशभक्त वीरों को तैयार कर दिया और वे अपने देश की स्वाधीनता लेने में समर्थ हो गये। लोकमान्य तिलक ने जब भारतवर्ष की स्वाधीनता की आवाज उठाई, तब ब्रिटिश सरकार का सितारा चमक रहा था। उनका साथ देने की हिम्मत किसी में न थी। परन्तु धीरे-धीरे लोगों के मन में उनके प्रति श्रद्धा का भाव उत्पन्न हो गया। फिर कुछ देश-भक्त उनके अनुयायी बने। कुछ काल के बाद सारे देश में उनका विचार फैल गया और जिस कल्पना को उन्होंने जन्म दिया वह वास्तविकता में परिणत हो गई। यदि वे डर के कारण अपने संकल्प को छोड़ देते, तो क्या आज हमें भारतवर्ष की स्वतन्त्रता के दिन देखने को मिलते ?

निर्भीकता का बड़ा ही अच्छा प्रभाव मनुष्य की कार्यक्षमता पर पड़ता है। भय की मनोवृत्ति से काम करनेवाले व्यक्ति अपने कामों में प्रायः असफल ही होते हैं। भय के कारण वे अपने कामों में अनेक भूलें कर देते हैं, अपनी घबड़ाहट में ही मनुष्य कुछ-का-कुछ कर डालता है और इस प्रकार उसकी सफलता विफलता में परिणत हो जाती है। जब अनंगपाल से महमूद गजनवी का युद्ध हो रहा था और अनंगपाल के सैनिक बड़े जोश से शत्रुओं पर आक्रमण कर रहे थे, तभी अनंगपाल का हाथी युद्ध से भाग चला। लोगों ने समझा कि राजा रण से भाग रहा है। अतएव सभी सैनिक हताश हो प्राण-रक्षा के लिए भागने लगे। इस प्रकार अनंगपाल की विजय ही पराजय में परिणत हो गई।

इस घटना के ठीक विपरीत परिणाम अंग्रेज और सुभाष बोस के युद्ध का हुआ। सुभाष बोस की भारतीय फौज अंग्रेजों से युद्ध करने के लिए बिलकुल अपर्याप्त थी। परन्तु उन्होंने अपनी चेष्टा से भारतीय सेना में स्वतन्त्रता और राष्ट्रीयता का भाव जाग्रत कर दिया। इसके कारण अंग्रेज लोगों में भारतवर्ष पर अपना शासन जमाये रखने की हिम्मत जाती रही और वे लड़ाई में विजय प्राप्त करके भी भारतवर्ष छोड़कर चले गये।

जब मनुष्य के मन में डर हो जाता है, तो वह कोई भी काम भली-भाँति नहीं कर पाता। डर के अधिक बढ़ जाने पर बुद्धि बेठिकाने हो जाती है। कहा जाता है कि जब घोड़ा शेर की चिंघाड़ सुन लेता है, तो अपनी जान बचाने के के लिये वह किसी एक ओर न भागकर एक ही स्थान पर चक्कर काटने लगता है। इससे उसका मारा जाना सरल हो जाता है। इसी प्रकार अपने सामने किसी को देखकर कबूतर आँखें बन्द कर लेता है। इससे कबूतर को खा-लेना बिल्ली के लिये सरल हो जाता है। भय की अवस्था में मनुष्य को अपने शरीर के स्नायुओं पर काबू नहीं रहता। वह एक बात करना चाहता है और दूसरी बात हो जाती है। जब मनुष्य अधिक भयभीत हो जाता है, तो वह भाग भी नहीं सकता। कभी-कभी बच्चे रात में भयावना दृश्य देख लेते हैं। वे जोर से चिल्लाकर बेहोश होकर गिर पड़ते हैं। कितने ही लोग डर जाने से पेशाब-पैखाना कर देते हैं। अधिक डर जाने से हृदय की गति ही रुक जाती है।

निर्भीक बनना एक बड़ा ही दुष्कर पुरुषार्थ है। संसार का बिरला पुरुष ही सर्वथा निर्भीक होता है। संसार के बहुत-से व्यक्ति अपनी हिम्मत की डींग मारते हैं, परन्तु जब वे किसी कठिनाई में पड़ जाते हैं; तो उनकी हिम्मत खो जाती है। फौज के कुछ सिपाही अपनी बहादुरी की चर्चा अपने साथियों से करते हैं। ऐसे ही लोग तोप के गोले की आवाज से लकवा के रोग से ग्रस्त हो जाते हैं। एक सिपाही अपनी बहादुरी की डींग बहुत मारा करता था। एक बार लड़ाई में उसके सामने तोप का गोला गिरकर फट गया! उसकी आवाज से वह एकदम घबड़ा गया और उसका मुँह खुल गया। उसका खुला मुँह लकवा की अवस्था में खुला-का-खुला रह गया। इस प्रकार की मुखाकृति से मानो वह संसार को जाहिर करता था कि वह कितना भयातुर है।

जो लोग अपने शत्रुओं से संघर्ष की कहानियाँ कहा करते हैं; वे वास्तव में उनसे डरा करते हैं। अपने डर को भुलाने के लिये ही वे अपनी हिम्मत की चर्चा करते रहते हैं। भूत-प्रेत से निर्भीक होने की चर्चा करनेवाले लोग भूत-बाधा से पीड़ित हो जाते हैं। एक व्यक्ति भूतों से निर्भीकता की चर्चा बहुत किया करता था। एक दिन वह बगीचे में दोपहर को आम के पेड़ के नीचे छाया में सो रहा था। सोते हुए उसे ज्ञात हुआ कि किसी व्यक्ति ने उसके ऊपर रेत फेंक दी। उसने समझा कि किसी भूत ने उसके ऊपर रेत फेंकी है। अतएव उसने उस आम के पेड़ को दो जूते मार दिये। इतना करने के बाद वह बेहोश होकर गिर पड़ा। उसे उसी दशा में घर लाया गया। कुछ

उपचार के बाद उसे सुधि आई। वह फिर बार-बार अचानक ही बेहोश हो जाया करता था।

मनुष्य में वास्तविक निर्भीकता कैसे आवे; इसे जानने के लिये हमें पहले भय के कारण जान लेना चाहिए। मनुष्य के भय दो प्रकार के होते हैं; एक बाहरी और दूसरे आन्तरिक। हमें दोनों प्रकार के भय सताते हैं। मानसिक रोगों की अवस्था में मनुष्य किसी वास्तविक परिस्थिति से भयभीत न होकर कल्पित बातों के लिये ही भयभीत होता है। भय का वास्तविक कारण मन के भीतर ही होता है, हम उसे किसी बाहरी परिस्थिति पर आरोपित करते हैं। मनुष्य जितना ही अधिक अपने भय के वास्तविक कारण को जान लेता है, वह भय के ऊपर विजय प्राप्त करने में उतना ही समर्थ होता है।

मनुष्य के भय की जड़ उसकी इच्छा-शक्ति की दुर्बलता में रहती है। आवेगों के वशीभूत होने से इच्छा-शक्ति निर्बल होती है। जो मनुष्य जितना ही अधिक अपने मन को भावावेश में बह जाने देता है, जो अपने भावों को विवेक के नियन्त्रण में नहीं रखता, वह अपने मन को उतना ही निर्बल बनाता है। मनुष्य के मन में अनेक प्रकार के प्रबल आवेग उठते हैं। इनको अपने वश में करके रखना मानसिक शान्ति के लिये नितांत आवश्यक है। आवेगों पर नियंत्रण बचपन से ही स्थापित होता है। लाड़-प्यार में पले बालक अपने आवेगों को रोकने का अभ्यास नहीं रखते। अतएव वे सरलता से काम, क्रोध अथवा लोभ के वश में हो जाते हैं। मनुष्य का विलासी जीवन उसे भावुक बना देता है। वह उसकी इच्छा-शक्ति को दुर्बल कर देता है। अतएव विलासी पुरुष के मन में अकारण ही अनेक प्रकार के भय उत्पन्न हो जाते हैं। विलासी जीवन काम-वासना को प्रबल बनाता है। काम-वासना के प्रबल हो जाने पर मनुष्य अनेक प्रकार के व्यभिचार करता है। इसके कारण संसार में उसकी निंदा होने लगती है। अब वह मनुष्य निंदा का कारण अपने आप में न खोजकर निंदकों से बदला लेने की चेष्टा करने लगता है। वह उनके विनाश के लिए अनेक प्रकार की योजनाएँ बनाता है। इसके बाद उसे उनसे भय हो जाता है। यह भय का भाव उसकी इच्छा-शक्ति को और भी निर्बल बना देता है। तब मनुष्य छोटी-छोटी बातों से डरने लगता है।

कभी-कभी मनुष्य अपनी काम-वासना के दुष्परिणाम पर विचार करके उसका एकाएक दमन कर देने की चेष्टा करता है। इससे कामवासना पर विजय प्राप्त न होकर मानसिक संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। दबी हुई वासना

मनुष्य के चेतन स्वरूप के विरुद्ध षड्यंत्र रचने लगती है। ऐसी अवस्था में मनुष्य के मन में अनेक प्रकार के अकारण-भय उत्पन्न हो जाते हैं। ऐसे ही लोगों को भूत बाधाएँ और हिस्टीरिया का रोग त्रास देते हैं। अपना ही दमित स्वत्व अपना शत्रु बनकर बाहर प्रकाशित होता है और मनुष्य को डरा देता है। कितने ही लोग अपनी किशोरावस्था में अनेक व्यभिचार में फँस जाते हैं। इन व्यभिचारों के लिये उनकी आत्मा उन्हें कोसने लगती है। तब ये लोग अपने व्यभिचार की बातें तो भूल जाते हैं, परन्तु उनके मन में विच्छेद की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। उनके मन का एक भाग दूसरे भाग का शत्रु बन जाता है। यही शत्रु भाग अनेक प्रकार के उत्पात मचाता है। यही भूत बनकर मनुष्य की चेतना के समक्ष प्रगट होता है। फिर मनुष्य भूत की चाल से दुःखी रहने लगता है। मन की विभाजित अवस्था में अनेक प्रकार के मानसिक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। जब तक मनुष्य का मन विभाजित रहता है, तब तक वह अपने किसी भी निश्चय पर दृढ़ नहीं रह पाता। मनुष्य कभी एक निश्चय करता है और कभी दूसरा।

जिस प्रकार काम-वासना के प्रबल हो जाने से मनुष्य की इच्छा-शक्ति दुर्बल हो जाती है और वह डरपोक बन जाता है; उसी प्रकार लोभ की वृद्धि से मनुष्य अपनी इच्छा-शक्ति के बल को खो देता है और वह छोटी-छोटी बातों से डरने लगता है। जिस व्यक्ति ने काम-वासना सम्बन्धी कोई कुकृत्य किया है, वह प्रत्येक व्यक्ति से खुलकर बातचीत करने में डरता है। जब कोई दो व्यक्ति आपस में बात करेंगे, तो वह सोचेगा कि वे उसी के सम्बन्ध में चर्चा कर रहे हैं। ऐसा व्यक्ति किसी सभा में खुलकर नहीं बोल पाता, नैतिकता में ऊँचे व्यक्ति से बातचीत करते समय उसका हृदय धड़कने लगता है। इसी प्रकार अपनी नैतिक बुद्धि के प्रतिकूल किसी का धन ले लेने से मनुष्य की इच्छा-शक्ति निर्बल हो जाती है। यदि ऐसे व्यक्ति को सुझा दिया जाय कि उसके लोभ की मनोवृत्ति के कारण उसकी अमुक हानि होगी, तो वह इस हानि की कल्पना से दुःखी रहने लगता है। हानि का भय उसकी इच्छा-शक्ति को इतना दुर्बल कर देता है कि कभी-कभी उसकी मृत्यु तक हो जाती है। मुफ्त का धन मिल जाना एक बड़ी बुरी घटना है। ऐसे धन से जितनी ही शीघ्र मुक्ति प्राप्त हो उतना ही अच्छा है। मुफ्त का धन मनुष्य की इच्छा-शक्ति को दुर्बल बना देता है। फिर अनेक प्रकार की अभद्र कल्पनाएँ ऐसे व्यक्ति को त्रास देने लगती हैं। कितने ही लोग जब किसी प्रकार की चोरी कर लेते हैं, तब उनके मन में भय

उत्पन्न हो जाता है कि पुलिस उनकी तलाशी कर रही है। घूस का रुपया खानेवाले लोगों का मन सदा डर की अवस्था में रहता है। जो लोग जितना ही अधिक बिना कमाये धन को खाते हैं; अथवा उसे पाने की इच्छा करते हैं; वे उतने ही अभागे हैं। उन्हें भौतिक सुख तो मिलते हैं, परन्तु वे अपनी इच्छा-शक्ति के बल को खो देते हैं। इच्छा-शक्ति का बल संग्रह से नहीं, वरन् त्याग से आता है। सभी प्रकार के भोग इच्छा-शक्ति के बल को घटाते हैं। और तप से ही इच्छा-शक्ति का बल बढ़ता है।

मनुष्य के डर को वृद्धि का एक कारण अमैत्रीभावना का अभ्यास है। जो मनुष्य जितना ही अधिक दूसरे लोगों की बुराई का चिन्तन करता है, जो उन्हें जितनी ही क्षति पहुँचाना चाहता है; वह उतना ही डरपोक होता है। मनुष्य स्वार्थवश ही दूसरे व्यक्ति से द्वेष करता है। द्वेष की भावना का पूरक डर की भावना है। जब मनुष्य अपने द्वेष को प्रकाशित नहीं कर पाता, तो वह उसी का शत्रु बन जाता है। प्रबल शत्रु के प्रति द्वेष करने से इच्छा-शक्ति ही दुर्बल बन जाती है। जब हम किसी व्यक्ति के विषय में कल्पना करते हैं कि वह हमसे घृणा करता है, तो हम भी उससे घृणा करने लगते हैं। इस प्रकार की घृणा से मनुष्य का मन अपने आपमें ही विभाजित हो जाता है। एक भाग दूसरे भाग से घृणा करने लगता है। फिर मनुष्य की मानसिक शक्ति आन्तरिक संघर्ष में समाप्त होने लगती है। ऐसी ही अवस्था में मनुष्य को अकारण भय उत्पन्न हो जाता है।

लेखक के एक मित्र की बड़ी-बड़ी अभिलाषाएँ थीं। उसने विश्वविद्यालय की ऊँची-से-ऊँची परीक्षा पास की, परन्तु अपनी योग्यता के अनुसार उसे स्थान नहीं मिला। वह विद्वान तो था, परन्तु उसके व्यक्तित्व का गठन आकर्षक नहीं था, अतएव उसे दूसरे कारण से भारी असंतोष हुआ। जो लोग उसकी लौकिक प्रगति में रुकावटें डालते थे, उनके प्रति उसकी प्रबल द्वेष-भावना हो गई। परन्तु वह किसी प्रकार उनसे बदला नहीं ले सकता था। अतएव उसे अनेक प्रकार के मानसिक रोग उत्पन्न हो गये। वह रात-रात भर बिना नींद के पड़ा रहता था। पीछे उसे कल्पना होने लगी कि उसके शत्रु सर्वत्र उसके विरुद्ध षड्यंत्र करते रहते हैं। उसके मन में उसके मित्रों के प्रति भी द्वेष की भावना आने लगी। अपनी विक्षिप्तावस्था में वह अपनी स्त्री को शत्रुओं का मित्र समझकर पीटने लगा। वह बेचारी अपने नैहर चली गई। अन्त में वह कल्पित शत्रुओं से भय-भीत रहकर मृत्यु के मुख में चला गया।

जो मनुष्य अपनी इच्छा-शक्ति को बलवान बनाना चाहता है, उसे अपने आवेगों पर नियंत्रण रखना नितान्त आवश्यक है। उसे जीवन के कुछ मौलिक सिद्धान्तों को निश्चित करना होगा। इन सिद्धान्तों के अनुसार जीवन बनाने से मनुष्य की इच्छा-शक्ति बलवती होती है। किसी काम को चुराकर करने से इच्छा-शक्ति का बल घटता है। जो मनुष्य किसी विशेष प्रकार की प्रतिष्ठा पाये हुए है, परन्तु यदि वह अपनी प्रतिष्ठा के प्रतिकूल काम करता है; तो उसके प्रकाश में आने से डरता है। ऐसा व्यक्ति अपनी इच्छा-शक्ति के बल को खो देता है। नैतिकता के प्रतिकूल आचरण करने से मनुष्य की इच्छा-शक्ति निर्बल होती है। मनुष्य की इच्छा-शक्ति उसकी व्यक्तिगत वस्तु नहीं है। उसकी इच्छा-शक्ति सामाजिक भावनाओं का परिणाम है। हम अपनी इच्छा-शक्ति में उतना ही बल रखते हैं, जितना बल हमारे मित्र अथवा हमसे लाभ उठाने-वाले व्यक्ति हमें प्रदान करते हैं। हमारा नैतिक आचरण समाजिक भावों को प्रबल बनाता है और हमें दूसरे लोगों की कृपा और प्रशंसा का पात्र बनाता है। अतएव नैतिक नियमों का पालन करना इच्छा-शक्ति के बल को बढ़ाने तथा निर्भीक होने के लिए आवश्यक है।

महात्मा सुकरात सत्य की पूजा के कारण यूनान देश की राज्य-सभा-द्वारा मृत्यु-दण्ड के भागी घोषित किये गये। उन्हें राज्याधिकारियों ने अपना निर्णय सुनाकर कुछ समय के लिये जेल में रखा। इसी समय उनके क्रीटो नामक एक शिष्य ने उनकी जान बचाने का उपाय रचा। उसने जेलर को घूस देकर एक रात को जेल से दूसरे देश में भगा देने की योजना बनाई। जब उसने सुकरात को इसे सुनाया, तो वे इस प्रकार अपनी जान बचाने के लिए राजी न हुए। उन्होंने कहा कि मेरे जीवन का उद्देश्य यूनान के नवयुवकों को सत्य का पुजारी और निर्भीक बनाना है। यदि मैं अपने सिद्धान्तों के विरुद्ध चलकर अपनी जान बचा सका, तो ऐसे जीने से मुझे क्या लाभ? महात्मा सुकरात किसी धनी व्यक्ति से आर्थिक सहायता नहीं लेते थे। वे रूखी-सूखी रोटी खाते, ठंडा पानी पीते और नंगे सिर और नंगे पैर एथेन्स की गलियों में चला करते थे। अपने सिद्धांतों के लिये उन्हें सभी कष्ट उठाने पड़े। परन्तु तपस्या के कारण उनकी इच्छा-शक्ति बलवती हो गई थी और वे अन्तिम समय तक निर्भीक रहे।

निर्भीक होने का एक सुन्दर उपाय मैत्री-भावना का अभ्यास है। जो व्यक्ति मैत्री-भावना का जितना ही अधिक अभ्यास करता है; वह उतना ही अपने मन की विरोधी शक्तियों को अपने वश में कर लेता है। मैत्री-भावना के अभ्यास से

अनेक लाभ हैं, परन्तु सबसे महत्व का लाभ शत्रु के हृदय पर विजय प्राप्त कर लेना है। भगवान बुद्ध मैत्री-भावना के अभ्यास से ही अपने शत्रुओं पर विजय पाते थे। अंगुलिमाल जैसा डाकू भगवान बुद्ध के मैत्री-भाव के कारण डाकू से एक अर्हत बन गया। मैत्रीभाव के स्थापित हो जाने पर डर का भाव चला जाता है। जिस व्यक्ति से हम घृणा करते हैं और जिसका हम नुकसान करना चाहते हैं, उससे ही हम डरते हैं। यह डर का भाव ही मनुष्य को भीरु बनाता है। जो व्यक्ति एक व्यक्ति से डरता है, वह दूसरे से भी डरता है।

निर्भीक वही मनुष्य हो सकता है, जो अपने अभिमान को खोये हुए है। जिस मनुष्य का अभिमान जितना बढ़ा-चढ़ा रहता है, वह अपने अभिमान को ठेस पहुँचाने वाले व्यक्ति से विरोध भी उतना ही अधिक करता है। अभिमान विभिन्न प्रकार के होते हैं। किसी को धन का अभिमान होता है, किसी को कीर्ति का, किसी को विद्या का और किसी को अपने चरित्र का ही अभिमान होता है। ये सभी प्रकार के अभिमान मनुष्य के मन में अभद्र भावों के जनक होते हैं। अभिमान से क्रोध, ईर्ष्या, भय आत्मग्लानि और चिन्ताएँ उत्तरोत्तर उत्पन्न होती हैं। ये भाव मनुष्य की इच्छाशक्ति को दुर्बल बना देते हैं। अतएव अभिमानी भीतरी मन से खोखला हो जाता है। वह जितना ही अधिक अपने अभिमान की रक्षा के लिये प्रयत्न करता है, उसकी मानसिक दुर्बलता उतनी ही अधिक बढ़ती है। अतएव अभिमान का त्याग करना इच्छा-शक्ति को दृढ़ बनाने के लिये श्रेयस्कर है। जो जमीन पर ही खड़ा है, उसे नीचे कौन गिरायेगा? उसे फिर डर किस बात का?

इच्छा-शक्ति के बल को बढ़ाने का एक उपाय अपने आपको विश्वात्मा के प्रति समर्पित करना है। जब मनुष्य अपने अभिमान को खोता है, तो वह अपने आपको उस महान् शक्ति से मिला देता है, जिसके सम्पर्क से ही मनुष्य की इच्छा-शक्ति में बल आता है। अभिमान का खोना और विश्वात्मा का ज्ञान हो जाना एक ही तथ्य के दो पहलू हैं। शक्ति के अनुभव से ही मनुष्य को निर्भीकता आती है। व्यक्तिगत शक्ति पर भरोसा करना एक भारी भूल है। मनुष्य की व्यक्तिगत शक्ति व्यक्तिगत समस्याओं को हल करने में समर्थ नहीं होती, उससे आगे और क्या हो सकता है? व्यक्तिगत शक्ति का अभिमान होना विनाश का सूचक है। जब मनुष्य को अपने धन का अभिमान होता है, तो वह धन खो देता है, जब उसे कीर्ति का अभिमान होता है, तो वह अपनी कीर्ति को खो देता है और जब उसे विद्या का अभिमान होता है, तो वह विद्या को भी खो देता

है। इसी प्रकार जब मनुष्य को अपने चरित्र का अभिमान हो जाता है, तो वह चरित्र को भी खो देता है।

अभिमान का भी विशेष प्रकार का मनोविज्ञान है। जब मनुष्य के भीतरी मन में किसी विशेष प्रकार की शक्ति की कमी की आशंका होती है अथवा अपनी शक्ति में सन्देह होता है, तभी उसे शक्ति का अभिमान होता है। अपने चारित्रिक पतन के पूर्व नारद ऋषि को चरित्र का अभिमान हुआ था। उनका अभिमान उनके आगे होनेवाले पतन का द्योतक था। नेपोलियन बोनापार्ट को अपने पतन के पूर्व अपने रण-कौशल का अत्यधिक अभिमान हो गया था। इसी समय वह अपनी शक्ति की रक्षा के लिए रूस के जार और आस्ट्रिया के बादशाह की मित्रता का इच्छुक बन गया। यह उसके आन्तरिक आत्म-विश्वास की कमी को दर्शाता है। इस समय वह अपनी प्रतिभा की डींग मारने लगा था। रूस पर आक्रमण करते समय उसके सामने शहर पर शहर जलते जाते थे, तिस पर भी वह आगे बढ़ता ही जाता था। जब वह मास्को पहुँचा, तो नगर को जलता देख वह वहाँ से तुरन्त नहीं लौट पड़ा। उसके अभिमान ने उसे वहाँ कुछ सप्ताह व्यतीत करने के लिए बाध्य किया। इसी प्रकार अपने पतन के पूर्व हिटलर में अपनी सामर्थ्य के सम्बन्ध में असीम अभिमान हो गया था। वास्तव में किसी प्रकार का अभिमान अन्तरानुभूति अपनी कमी के भुलाने का उपाय है। इससे मनुष्य की इच्छा-शक्ति दुर्बल हो होती है और उसका विनाश होता है। अभिमानी मनुष्य हठी अवश्य होता है; परन्तु वह सच्चा निर्भीक नहीं होता। निरभिमान व्यक्ति ही निर्भीक होता है।

प्रत्येक मनुष्य की अन्तरात्मा में अनन्त शक्ति है। यह शक्ति ही हमें अपना यन्त्र बनाकर सांसारिक घटनाओं में प्रकाशित होती रहती है। हमारे अपने सामान्य स्वत्व की कार्यक्षमता इस स्वत्व के एकत्व पर निर्भर करती है। जब मनुष्य अपने लौकिक सम्बन्धों और व्यवहारों में अत्यधिक लग जाता है, तो वह अपने उस स्वत्व को भुला देता है जो उसकी सफलता का प्रधान कारण है। फिर वह अपनी ही शक्ति से वंचित हो जाता है। ऐसे व्यक्ति का मन अनेक झंझटों में फँस जाता है। इसके सुलझाने के प्रयत्न करने से वह दुर्बल होता जाता है। जब मनुष्य अपने व्यक्तिगत स्वत्व को अनन्त स्वत्व के प्रति समर्पित कर देता है, तो फिर वह किसी प्रकार के भय का अनुभव नहीं करता। उसे किसी प्रकार के मोह, शोक और भय नहीं सताते। अपने आपको सबमें

घुला-मिला देना अथवा सबको अपने भीतर ही देखना सम्पूर्ण निर्भीकता-प्राप्ति का उपाय है।

मनुष्य को संसार में दो प्रकार के शत्रुओं का सामना करना पड़ता है। इन दोनों प्रकार के शत्रुओं में अधिक प्रबल शत्रु भीतरी शत्रु हैं। जब भीतरी शत्रु मनुष्य के मन को निर्बल कर देते हैं, तभी बाहरी शत्रु भी उसे भयभीत करते हैं और उस पर विजय प्राप्त करते हैं। जिस मनुष्य ने अपने भीतरी शत्रुओं को जीत लिया है अर्थात् जिसके मन के भीतर पूर्ण स्वराज्य है, वह बाहरी शत्रुओं से नहीं डरता। कभी-कभी साधारण-सी घटना हमें खाये डालती है। प्रतिदिन होनेवाली कोई चिन्ता हमें कभी-कभी सोने तक नहीं देती। इसका कारण हमारा आत्म-विजय प्राप्त न कर सकना ही है।

इस प्रसंग में लेखक के उपचार में आये एक मानसिक रोगी का निम्नलिखित अनुभव उल्लेखनीय है—हाल में ही हमारे एक रोगी को मिठाई की दुकान पर जलपान करते समय दूकान के सामने पड़े पत्तों को चाटनेवाले कुत्ते ने अनायास चाट लिया। इस समय इस घटना पर उसने कुछ नहीं सोचा। घटना सवेरे घटित हुई। दिन भर वह अपने दूसरे कामों में व्यस्त रहा। रात को सोते समय कुत्ते के उसके पैर को चाट लेने का विचार उसे त्रास देने लगा। उसके मन में विचार आया कि कहीं वह कुत्ता पागल न हो। सुना जाता है कि पागल कुत्ते के न केवल काटने से वरन् चाटने से भी मनुष्य पागल हो जाता है। इस विचार को लेकर वह अनेक डाक्टरों के पास गया। बहुत से डाक्टरों ने बताया कि यह विचार व्यर्थ है। परन्तु फिर भी उसे विचार नहीं छोड़ता था। उसे ध्यान आया कि कभी-कभी दो-तीन वर्ष के बाद भी पागल कुत्ते का जहर असर करता है। उसे मन में कल्पना आने लगी कि वह कभी पागल कुत्ते के समान भूकने न लग जाय। वह तुरन्त ही सौ मील दूरी से लेखक के पास आया। उसने लेखक की मनोविज्ञान की पुस्तकों को पढ़ा था। इनमें आत्म-निर्देश की शक्ति की चर्चा की गई है। उनमें बताया गया है कि मनुष्य का बार-बार मन में आनेवाला विचार उसका आत्म-निर्देश बन जाता है और घटनाएँ भी इसी विचार के अनुसार घटित होने लगती हैं। अब उसे यह विचार त्रास देने लगा कि उसकी पागल होने की कल्पना भी उसका आत्म-निर्देश बनकर उसे पागल बना देगी। इस प्रकार वह प्रत्येक विचार से त्रसित होते रहता है।

कुछ लोगों ने बताया कि इंजेक्शन लेने से सब ठीक हो जायगा। इसके विरुद्ध विचार आया कि इससे उसका पेट बिगड़ जायगा और उसकी आँतें ही

सड़ जायँगीं। अतएव चैन देनेवाला कोई विचार टिक नहीं पाता था। ऐसे मानसिक त्रास देनेवाली कल्पनाओं का वास्तविक कारण खोजने पर पता चलता है कि ये कल्पनायें अनैतिक, अचेतन वासनाओं के चेतन में उद्भूत होने के प्रयास के परिणामरूप मन में उठती हैं। इस प्रकार की वासनाओं का दमन मनुष्य की नैतिक बुद्धि उसके अनजाने ही करती है। यह आन्तरिक मन का द्वन्द्व चेतना के स्तर पर किसी झूठी घटना पर आरोपित होकर प्रकाशित होता है।

उक्त रोगी को कामुक उत्तेजना अपने मित्र की पत्नी को देखकर दो दिन पूर्व हुई। वह उत्तेजना नैतिक बुद्धि द्वारा दमित हो गई। यह घटना रोगी के आत्म-सम्मान के प्रतिकूल होने के कारण रोगी उसे भूल गया। परन्तु अब उसका त्रास निरर्थक घटनाओं पर आरोपित होकर व्यक्त होने लगा। उसे चाटनेवाला कुत्ता बाहरी वातावरण में नहीं था वरन् उसके अचेतन मन में ही वर्तमान था। बाहरी कुत्ता उसकी अनैतिक कामलिप्सा का प्रतीकमात्र था। बाहरी कुत्ता उसके भौतिक शरीर को नुकसान पहुँचा सकता था, परन्तु भीतरी कुत्ता उसके मानसिक शरीर अर्थात् व्यक्तित्व को हानि पहुँचा रहा था। भीतरी कुत्ते के द्वारा काटे जाने का भय ही बाहरी कुत्ते द्वारा काटे जाने के भयावने परिणामों की कल्पनाओं में प्रकाशित हो रहा था। जिस प्रकार उसे बाहरी कुत्ते ने हाल में चाट लिया था, उसी प्रकार उसे भीतरी कुत्ते ने भी चाट लिया था। जिस जहर से वह प्रतीक रूप से मुक्त होना चाहता था वह भीतरी कुत्ते के चाटे जाने का है। इस भीतरी मनोस्थिति का उपचार न कर जब मनुष्य बाहरी स्थिति का उपचार करता है तो वह मूल रोग से मुक्त नहीं होता। उसका रोग किसी दूसरी घटना पर आरोपित होकर प्रकाशित होने लगता है।

जिस प्रकार उक्त रोगी को साधारण सी घटना अनेक दिन तक त्रास देती रही उसी प्रकार एक और रोगी को दो साल तक एक साधारण सी घटना त्रास देती रही। इस युवक को एक दिन रात को परिवार सहित सिनेमाघर जाते समय एक साधारण सी लकड़ी पैर के अंगूठे में गड़ गई। इससे एक दो बूंद खून भी आया। वह सिनेमा चला गया। सिनेमा देखते समय उसे विचार आया कि कहीं उसे सांप ने न काट लिया हो। सिनेमाघर छोड़ने पर यह विचार और भी अधिक त्रास देने लगा। घर पहुँचने पर वह मरने की बाट देखने लगा। इस प्रकार उसकी सारी रात बीती। दो तीन दिन तक वह मरने-जीने के बीच अपना समय काटते रहा। जब उसे कुछ भी न हुआ तो उसे निश्चय हुआ कि उसे सांप ने नहीं काटा था। फिर भी उसे बार-बार विचार आता रहा कि कहीं बाद को ही सांप का जहर

असर न करे। वह इस भय से भी अकारण भयभीत रहने लगा। इस प्रकार जब एक साल बीत गया तो उसे विचार आया कि आखिर उसे साँप ने तो नहीं काटा और साँप के द्वारा काटे जाने का विचार निरा पागलपन है। इस पागलपन का कारण अवश्य होना चाहिये। इसके जाने बिना उसे चैन नहीं मिलती थी। रोगी द्वारा इसका कारण खोजते-खोजते उसे पता चला कि तीन साल पूर्व उसे कुत्ते ने काटा था। कुत्ता साधारण था, अतएव उपचार नहीं किया गया था। उसने सुन रखा था कि कभी-कभी कुत्ते का जहर दो तीन साल बाद भी असर करता है। अब उसके मनमें कल्पना आई कि कुत्ते के जहर ने ही पागलपन के विचार उसके मन में उत्पन्न किये हैं। अब यह विचार पहले से भी अधिक त्रास देने लगा।

रोगी के मनोविश्लेषण से पता चला कि जिस साँप अथवा कुत्ते ने उसे एक समय काट लिया था वह उसकी कामवासना ही थी। इसके वशीभूत होकर उसने अपने नजदीक के सम्बन्धी की लड़की के साथ प्रेम स्थापित करने की चेष्टा की थी। पीछे इस कृत्य से उसे आत्म-भर्त्सना हुई थी। वह इस घटना को भूल चुका था। यही मानसिक त्रास अब बाहरी घटनाओं में प्रतीक रूप से व्यक्त होकर प्रकाशित होता था। जब रोगी का मनोविश्लेषण हुआ और उसने अपनी आत्म-ग्लानि-जनक बातों को स्मरण किया और जब उसका आत्म-समन्वय स्थापित हो गया तो उसके सभी प्रकार के अकारण भय समाप्त हो गये।

मनुष्य सच्ची निर्भीकता आत्मविजय प्राप्त करके प्राप्त करता है। आत्म-विजय के दो मार्ग हैं। जिस प्रकार हम अपने बाहरी शत्रु को दो प्रकार से जीत सकते हैं—एक उसे दबाकर और दूसरे उसको मित्र बनाकर, उसी प्रकार हम अपने आप पर विजय दो प्रकार से प्राप्त कर सकते हैं—एक अपनी वासनाओं को कुचलने की चेष्टा करके और दूसरे उनके प्रति उचित सम्बन्ध स्थापित करके। पहले प्रकार के उपाय से हम शत्रु को दबा देने में तो अवश्य समर्थ रहते हैं, परन्तु उसके षड्यन्त्र से सर्वथा निश्चिन्त नहीं रहते। हमें सदा डर बना रहता है कि कहीं हार बैठा हुआ शत्रु हमारे विनाश की कोई योजना न बनाता हो। फिर हम शत्रु की शक्ति से तो वंचित रहते ही हैं। हमें अपनी शक्ति भी उसे सदा दमित रखने के लिए खर्च करते रहना पड़ता है। इसी प्रकार जब हम अपनी वासनाओं का निर्दयतापूर्वक दमन करते हैं, तो वे हमारे व्यक्तित्व का बल बढ़ाने के बदले उसके विरुद्ध षड्यंत्र रचती रहती हैं और उनकी रचनात्मक शक्ति से हमारा व्यक्तित्व वंचित रहता है। ऐसी अवस्था

में साधारण-सी कठिनाइयाँ हमें भयभीत कर देती हैं। जब तक हमारी इच्छा-शक्ति प्रबल रहती है, तब तक हमारे सब काम ठीक से चलते जाते हैं, परन्तु एक बार इच्छा-शक्ति का बल घटने पर मनुष्य दयनीय अवस्था में आ जाता है। जिन लोगों ने लोक-लाजवश विषय-भोग से अपने आपको वंचित रखा है, वे कभी-कभी अपनी बुढ़ौती में एकाएक विषयगामी बन जाते हैं। पचास वर्ष की अवस्था तक संयमी जीवन बितानेवाले कई व्यक्ति आगे चलकर विलासी बन जाते हैं। जब उन्हें यह सामग्री नहीं मिलती, तो वे अपनी भर्त्सना करते हैं और सोचते हैं कि उनका जीवन व्यर्थ ही गया। जीवन भर बड़े ऊँचे चरित्रसंबन्धी विचार रखनेवाले कोई-कोई व्यक्ति अपनी वृद्धावस्था में चरित्र में इतने गिर जाते हैं कि वे दया के पात्र बन जाते हैं। मस्तिष्क के स्नायुओं के कमजोर हो जाने पर मनुष्य में अपने प्रबल आवेगों को काबू में रखने की शक्ति नहीं रहती। बुढ़ापे में ये प्राकृतिक रूप से ही कमजोर हो जाते हैं, जिससे मनुष्य की इच्छा-शक्ति भी निर्बल हो जाती है। मनुष्य के दबे आन्तरिक शत्रु खुले आम अपनी घृणित कारसाजी दिखाते हैं। अतएव मनुष्य का कर्तव्य है कि वह न केवल अपने आन्तरिक शत्रुओं अथवा भोग-प्रवृत्तियों पर विजय प्राप्त करे, वरन् वह उन्हें मित्र भी बना ले।* संघर्ष की मानसिक स्थिति के अन्त होने में ही मनुष्य की इच्छा-शक्ति का बल संचित रहता है और तभी मनुष्य भीतरी शत्रुओं से निर्भीक रहता है। आन्तरिक निर्भीकता के लिये आत्म-समन्वय का हो जाना नितांत आवश्यक है। आत्म-समन्वय की स्थिति में मन के विभाजन का अन्त हो जाता है और पूरा मन एक हो जाता है। ऐसी अवस्था में भय के लिये स्थान ही कहाँ?

---

* यहाँ यह बताना आवश्यक है कि मनुष्य को आत्म-समन्वय एक दिन में प्राप्त नहीं हो जाता है। यह कार्य अनेक दिनों के प्रयास से सफल होता है। इसके लिए मनुष्य को अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व को नया बनाना पड़ता है। इस कार्य को पुनः-शिक्षा का कार्य कहा जाता है। यह दिन प्रतिदिन अपनी मनोभावनाओं के खोज करने; उन पर विचार करने और उनकी शक्ति को रचनात्मक कार्य में लगाने से संभव होता है।

इक्कीसवाँ अध्याय

मानव-जीवन में आत्म-निर्देश का महत्व

बाइबिल में कहा गया है 'तुम विश्वास करो और संशय न करो फिर इस पहाड़ को कहो कि तुम जाओ और समुद्र में गिर पड़ो; तो तुम्हारी इच्छा पूरी हो जायगी।'* बाइबिल के इस पुराने कथन को आधुनिक वैज्ञानिक युग में कोरी कल्पना मात्र कहा जायगा। परन्तु इसकी सत्यता अब बहुत कुछ प्रमाणित हो रही है। मनुष्य का स्वास्थ्य, उसकी कार्यक्षमता और जीवन में उसकी सफलता—ये सभी बहुत कुछ उसके आत्म-निर्देश के ऊपर निर्भर करते हैं। जो मनुष्य सदा रोग के भय से डरा करते हैं, वे रोगी हो जाते हैं। जो लोग रोगियों की सेवा करते हुए सोचते हैं कि उन्हें वह रोग न होगा, वे उस रोग को नहीं पकड़ते। जो सोचते हैं कि हम कमजोर हैं, वे कमजोर ही बने रहते हैं और जो सोचते हैं कि हम बलवान हैं, वे बली बने रहते हैं। यदि किसी काम को हाथ में लेते ही हम सोचने लगें कि हम उसमें सफल न होंगे, तो उस काम में सफल होना असंभव होता है और यदि हम सोचें कि हम उसमें अवश्य ही सफल होंगे, तो हमें सफलता मिलती है। मानसिक ग्रन्थियों की उपस्थिति का एक बुरा परिणाम यह होता है कि अपनी शक्ति से मनुष्य का विश्वास उठ जाता है। वह किसी प्रकार का संकल्प क्यों न करे, विरोधी विचार उसके मन को डांवाडोल बना देते हैं। वह अपनी भाग्यवादिता की अपेक्षा अपने दुर्भाग्य में ही अधिक विश्वास करता है। पाप की दबी हुई भावना का यही परिणाम होता है।

आत्म-निर्देश की शक्ति के विषय में आधुनिक मनोवैज्ञानिकों के भिन्न-भिन्न विचार हैं। फ्रांस के प्रसिद्ध डाक्टर इमील कूये महाशय इसका उपयोग मानसिक रोगों के उपचार में विशेष रूप से करते थे। इसके द्वारा वे हिस्टीरिया और दमा आदि रोगों को हटा देते थे। अनेक प्रकार के शारीरिक रोग भी आत्म-निर्देश के द्वारा नष्ट कर दिये जाते थे। एक बार इमील कूये महाशय ने दांत के निकाले जाने पर रुधिर का बहना भी आत्म-निर्देश के द्वारा बन्द कर दिया था। कई प्रकार की शारीरिक पीड़ाएँ भी आत्म-निर्देश से चली जाती हैं।

फ्रायड और उनके अनुयायी मानसिक रोगों के उपचार में आत्म-निर्देश को वैसा महत्त्व नहीं देते, जैसा डा० इमील कूये महाशय देते थे। डा० फ्रायड का कथन है कि आत्म-निर्देश से मानसिक रोग का दमन मात्र होता है, उसका जड़ से

* Have faith and doubt not, then tell this mountain, go and cast thyself into the sea, and it will be done—*New Testament.*

उपचार नहीं होता। इसके लिये रोगी का मनोविश्लेषण होना आवश्यक है। उनके अनुयायी अरनेस्ट जोन्स महाशय भी इसी मत को मानते हैं। मेगडूगल महाशय भी आत्म-निर्देश को एक प्रकार का पर-निर्देश ही मानते हैं और पर-निर्देश से मनुष्य के रोगों का स्थायी उपचार नहीं होता। मेकडूगल महाशय इस बात को स्वीकार करते हैं कि यदि मनुष्य मानसिक शैथिलीकरण की अवस्था में किसी विशेष प्रकार का अपने शरीर में परिवर्तन करना चाहे तो वह परिवर्तन हो जाता है। परन्तु उनका मत है कि इस क्रिया को आत्म-निर्देश की क्रिया न कहकर एक विशेष प्रकार की ऐच्छिक क्रिया ही मानना चाहिए। हेडफील्ड महाशय मानसिक चिकित्सा में न केवल आत्म-निर्देश को उपयोगी मानते हैं, वरन् पर-निर्देश को भी वे उपयोगी मानते हैं।

आत्म-निर्देश की उपयोगिता के विषय में सबसे महत्वपूर्ण विचार डाक्टर विलियम ब्राउन के हैं। डाक्टर ब्राउन का कथन है कि न केवल मानसिक रोगों के उपचार के लिये आत्म-निर्देश उपयोगी है, वरन् वह मनुष्य की सामान्य मानसिक शक्तियों की वृद्धि और विकास में भी उपयोगी है। मानसिक रोगों के उपचार में मनोविश्लेषण का कार्य मनुष्य के मन के गुप्त स्तर में छिपे भय को खोलना और उसे आधार रहित कर देना ही है। इससे मनुष्य की मानसिक ग्रन्थि नष्ट हो जाती है और उसकी चिन्ता जाती रहती है। परन्तु इतने से ही रोगी को पूर्ण स्वास्थ्य का लाभ नहीं होता। अब रोगी की मानसिक शक्तियों का एकीकरण करने और उनका उदात्तीकरण करने अर्थात् उन्हें सदुपयोग में लगाने का कार्य रह जाता है। यह कार्य आत्म-निर्देश के द्वारा होता है। बिना आत्म-निर्देश की सहायता के मनुष्य अपनी मानसिक शक्ति के उदात्तीकरण में समर्थ नहीं होता।* इसके लिये जो चरित्र की दृढ़ता और आत्म-विश्वास तथा त्याग चाहिये ये आत्म-निर्देश से आती हैं।

---

* The subconscious or unconscious mind is the background of the mind wherein are all over primitive impulses and effects of past experiennce, and these combine with and influence our present conscious activity. Analysis works through that unconscious, disentangles its processes, finds how they are related to one another, and in the process of analysis complexes are resolved, the cause of fear removed, and an integration of the mind is brought about. After that analysis has been completed, there is still work for auto-suggestion to reinforce the idea of integration and of the linking of the individual with the totality of the universe.—*Psychology and Psychotherapy, P. 135.*

आत्म-निर्देश न केवल रोगियों के लिये उपयोगी है, वरन् वह सामान्य लोगों के लिये भी बहुत उपयोगी है। ब्राउन महाशय का कथन है कि यदि कोई मनुष्य शारीरिक और मानसिक शैथिलीकरण की अवस्था में बिस्तर पर लेटे हुए किसी विशेष प्रकार का निर्देश अपने आपको देता है, तो यह निर्देश उसका अवचेतन मन ग्रहण कर लेता है, और इससे उसके चित्त की एकाग्रता की शक्ति, स्मरणशक्ति और विशेष प्रकार की योग्यताएँ बढ़ जाती हैं। इस प्रकार वह अपनी बुरी आदतों को भी सुधार सकता है और आत्म-विश्वास तथा आत्म-नियंत्रण को भी बढ़ा सकता है। आत्म-निर्देश को प्रारम्भ करने के लिये उसे अक्सर किसी दूसरे मनुष्य की सहायता लेनी पड़ती है। परन्तु पीछे वह अपने आप ही इस कार्य को करता रह सकता है। उक्त क्रिया मानसिक खिंचाव को घटा देती है, और अवचेतन मन में पड़ी बाधाओं और दमन को हटाकर मनुष्य की मानसिक शक्ति को स्फूर्तिपूर्वक प्रकाशित होने और मनुष्य के आत्म-साक्षात्कार करने में सहायक होती है। यह मन के गुप्त स्तर में पड़े सन्देह और भयों को नाश करती है और मनुष्य की रचनात्मक शक्ति को कार्य करने में सहायता देती है। आत्म-निर्देश मनुष्य के मन में सफलता की कल्पना को जगाकर और कल्पना-शक्ति के ऊपर नियंत्रण स्थापित करके मनुष्य की इच्छा-शक्ति को विशेष प्रकार के कार्य करने में सहायक होता है। आत्म-निर्देश का नित्य अभ्यास मनुष्य के स्वभाव को ही बदल देता है। वह इससे चिन्ता-ग्रस्त और आत्म-भर्त्सना करनेवाले व्यक्ति के बदले शान्त-मन, लगन का पक्का और आत्म-विश्वासी व्यक्ति बन सकता है।*

ब्राउन महाशय ने आत्म-निर्देश की उपयोगिता का प्रयोग अपनी ही एक जटिल आदत के सुधार में किया है। डाक्टर ब्राउन को सिगरेट पीने की बड़ी दृढ़ आदत थी। वे प्रयत्न करने पर इस आदत को कुछ समय के लिए छोड़ सकने में समर्थ होते थे, परन्तु यह आदत फिर से आ जाती थी। जब तक वे सिगरेट नहीं पीते थे, तब तक उनका मन गिरी हुई और बेचैन अवस्था में रहता था। जब वे फिर से सिगरेट पीना प्रारम्भ करते, तो उन्हें पहले से भी अधिक सिगरेट पीना पड़ता था। परन्तु आत्म-निर्देश के एक ही बार के अभ्यास से उनकी यह आदत सब काल के लिए जाती रही। विलियम ब्राउन का कथन है कि जिस काम को इच्छा-शक्ति अपने प्रयत्न से करने में असमर्थ रहती है, वह कार्य आत्म-निर्देश की शक्ति से सरलता से हो जाता है। सामान्य लोगों के

---

* *Psychology and Psychotherapy*, P. 137

लिए आत्म-निर्देश उनकी सफलता की कल्पना को प्रबल करके इच्छाशक्ति के बल को बढ़ाता है, और इस प्रकार वह मनुष्य की आध्यात्मिक और लौकिक उन्नति का कारण बन जाता है।

आज से तीन महीने पूर्व एक नवयुवक, जो कालेज का विद्यार्थी था, लेखक के पास आया। इसे हृदय की धड़कन और मृत्यु का भय था। इसके मनोविश्लेषण से पता चला कि उसके रोग का कारण विस्मृत पाप-भावना थी। इसकी आत्म-स्वीकृति उसने की। परन्तु उसका स्वास्थ्य अब भी गिरा हुआ था। उसने पढ़ने-लिखने का विचार छोड़ दिया था। इस युवक से शान्त भावना के साथ-साथ आत्म-निर्देश द्वारा स्वास्थ्य वृद्धि का अभ्यास कराया गया। इसके परिणाम स्वरूप तीन सप्ताह में ही उक्त युवक के स्वास्थ्य में आश्चर्यजनक परिवर्तन हो गया। उसकी पुरानी निराशा की मनोवृत्ति जाती रही। उसने सभी चिन्ताएँ छोड़कर पढ़ाई में मन लगाया और दो ही महीने में उसने परीक्षा की तैयारी कर डाली। वह बिना सन्देह के परीक्षा में बैठा और उसने परीक्षा के सभी प्रश्नपत्र भले प्रकार से कर डाले। उसे पूरी आशा है कि वह परीक्षा में अवश्य उत्तीर्ण होगा।

आत्म-निर्देश की विधि से पेट की पीड़ा, आँख की पीड़ा, तथा दूसरे प्रकार के शारीरिक रोगों की पीड़ा भी हटाई जा सकती है। आत्म-निर्देश के अभ्यास का सबसे महत्त्वपूर्ण परिणाम अपने खोये आत्म-विश्वास को प्राप्त कर लेने में देखा जाता है। आत्म-निर्देश के द्वारा मनुष्य में कल्पनातीत शक्ति आ जाती है और इसके कारण उसे असाधारण कार्य भी साधारण हो जाते हैं। कितने ही लोग थोड़ा ही काम करने पर थक जाते हैं। इसका एक कारण उनका यह सोचना होता है कि उन्होंने बहुत सा काम कर डाला और अब उनको अवश्य थकावट आ गई है। यह विचार ही मनुष्य का आत्म-निर्देश बन जाता है। जब हम बाध्य होकर किसी काम को करते हैं, तो आत्म-स्फूर्ति से किये गये काम की अपेक्षा अधिक शीघ्रता से थक जाते हैं। इस प्रकार के काम से मनुष्य को न केवल शारीरिक थकावट आ जाती है, वरन् उसकी मानसिक शक्तियों का भी ह्रास हो जाता है। यह आत्म-निर्देश का परिणाम है।

कितने ही विद्यार्थी साल भर अपनी पाठ्यपुस्तकों को भले प्रकार से पढ़ते हैं, परन्तु परीक्षा के समय उनका मस्तिष्क विकृत हो जाता है। नये वक्ता सभा में बोलते समय अपने विचारों को भूल जाते हैं। वे घबड़ाकर बैठ जाते हैं। उनकी इस प्रकार की असफलता का कारण उनका नकारात्मक आत्म-निर्देश होता है

जो लोग अपने कार्यों में सफलता की कल्पना करते हैं, वे उन कार्यों में सफल होते हैं और जो उनमें असफलता की कल्पना करते हैं, वे असफल हो जाते हैं। मनुष्य की कल्पना ही उसका आत्म-निर्देश बन जाती है। जो मनुष्य अपने आपको आत्म-निर्देश देता है कि उसकी विद्या समय पर उसे याद आ जायगी, वह वैसा ही होते हुए पाता है और जो अपने आपको आत्म-निर्देश देता है कि वह काम के समय अपनी विद्या को भूल जायगा, वह ऐसे समय अपनी विद्या को भूल भी जाता है। कितने ही लोग कहा करते हैं कि उन्हें नाम याद नहीं रहते। उनका इस प्रकार का कथन ही उनका आत्म-निर्देश बन जाता है और इसके कारण वे जब अपने जाने हुए नाम का स्मरण करते हैं, तो उसे भूल जाते हैं। हकलाने वाले लोग सदा समाज से डरते हैं। उन्हें सदा भय बना रहता है कि जब वे दूसरों के सामने अपना मुँह खोलेंगे तो वे उनके कुछ कहते ही हँस देंगे। उनका इस प्रकार का विचार उनका आत्म-निर्देश बन जाता है, अतएव जब भी वे बोलने की चेष्टा करते हैं तो हकलाने लगते हैं। ऐसे लोगों के उपचार के लिये पहले उनकी भय की मानसिक ग्रन्थि का रेचन किया जाता है, फिर उनसे मैत्री भावना का अभ्यास कराया जाता है। मैत्री भावना के अभ्यास के परिणाम स्वरूप वे सोचने लगते हैं कि उनकी बोली के दोषों पर कोई लोग ध्यान नहीं देते, वरन् उनकी बातों को कीमती समझ कर वे उन्हें ध्यानपूर्वक सुनते हैं। वे अपनी कल्पना में ऐसे लोगों का चित्रण करते हैं जो उन्हें ध्यानपूर्वक सुनते हैं और उनकी बातों से प्रसन्नता में अनुभूति करते हैं। उनकी इस प्रकार की कल्पना उनका आत्म-निर्देश बन जाती है और फिर वे बड़े धड़ाके के साथ सभा सोइटी में बोलते हैं। जब कोई मनुष्य बोलने में एक बार सफलता पा लेता है तो उसका आत्म-विश्वास बढ़ जाता है। फिर वह अच्छा प्रवक्ता बन जाता है।*

---

* इस प्रसंग में लेखक के उपचार में आये एक नवयुवक का अनुभव उल्लेखनीय है। यह नवयुवक जो अब पच्चीस वर्ष का है, तेरह साल की अवस्था से हकला रहा था। उसके उपचार के लिये उसकी दबी स्मृतियों को जगाया गया। उसके मन में अपने पिता के प्रति तथा अध्यापक के प्रति असाधारण भय हो गया था। अतएव पहले यह इन्हीं लोगों के सामने हकलाता था। बाद में वह सभी के सामने इतना हकलाने लगा कि वह किसी के पूछने पर अपना नाम भी नहीं बता पाता था। कभी-कभी उसे लिखकर अपना नाम बताना पड़ता था। जब वह अपनी मेट्रिक

जिस मनुष्य का आत्म-निर्देश उसे रचनात्मक कार्य की ओर ले जाता है, वह जगत के असाधारण कार्य कर जाता है। नेपोलियन कहा करता था कि वह गोली अभी तक नहीं बनी, जो नेपोलियन को मारेगी। इस प्रकार के आत्म-निर्देश ने उसे समर में अजेय बना दिया था। जब इङ्गलैंड से मद्रास आने पर राबर्ट क्लाइव अपने जीवन से परेशान हो गया था और जब उसने अपने आप पर गोली दागी और जब गोली पिस्तौल से न निकली, तो उसे विश्वास हो गया कि संसार में उसे कोई बड़ा काम करना है। उसका यह विश्वास ही उसका आत्म-निर्देश बन गया और फिर वह भारतवर्ष में अंगरेजी राज्य की नींव डालने में समर्थ हुआ। जिस व्यक्ति की अन्तरात्मा उसे निर्देश देती है कि वह बड़े काम को हाथ में ले, वह उसमें सफल होगा, वह व्यक्ति अपने व्यवसाय में सफल अवश्य होता है। लेखक के परिचित कितने ही विद्यार्थी अपनी गरीबी के होते हुए भी अपने परिश्रम से ही विश्वविद्यालय की ऊँची-से-ऊँची शिक्षा प्राप्त करने में सफल हुए हैं और कितने ही धनी घर के बालक सब सुविधाओं के होते हुए

परीक्षा का फल पूछने प्रेस में गया तो उसने क्लर्क से लिखकर प्रश्न को पूछा। उसका हकलाना उसकी सभी प्रकार की प्रगति में बाधक बन गया था।

मनोविज्ञानशाला के मानसोपचार के पश्चात् यह युवक एक कमीशन्ड फौज का आफिसर बन गया। इसके उपचार के लिये आधुनिक ढंग से उसका मनो-विश्लेषण तो किया ही गया, उससे मैत्रीभावना और भले आत्म-निर्देश का अभ्यास भी कराया गया। पहले पहल अपने उपचारक के सामने ही बिना हकलाये वह बोल पाता था। फिर वह अपनी कल्पना में बोलते समय यही धारणा करता था कि वह उसके गुरु (उपचारक) के सामने बोल रहा है। उसने अभ्यास किया जब कोई लोग उसकी बातों पर हँसते हैं तब वे उसकी मखौल करने के लिये नहीं, वरन् उसकी बातों से प्रसन्न होकर हँसते हैं। जैसे-जैसे उसका समाज के प्रति मैत्री भाव बढ़ा और इससे प्रेरित होकर उसके मन में उत्साह के विचार उठने लगे उसकी बोलने की शक्ति बढ़ती गई और वह अब एक सफल प्रवक्ता बन गया है। वह जिस प्रकार अपने आपको कल्पना में बोलते समय चित्रित करता था वह वैसा ही बोलने लगा। हकलाने की कठिनाई पर विजय प्राप्त कर लेने वाला व्यक्ति जीवन में सभी ओर प्रगति करने लगता है। उसकी सफलता की मनोवृत्ति उनका आत्म-निर्देश बन कर सदा उसे सफलता की ओर ही ले जाती है। इस तरह के आत्म-निर्देश से अनेक नवयुवक न केवल हकलाने से छुटकारा पा चुके हैं, वरन् आज अच्छे अध्यापक, लेखक और प्रवक्ता के रूप में समाज की सेवा कर रहे हैं।

ऊँची शिक्षा नहीं पा सके। इस प्रकार की स्थिति का कारण उनका आत्म-निर्देश ही है।

साधारणतः मनुष्य का आत्म-निर्देश उसके मस्तिष्क में चलने वाले विचारों और कल्पनाओं पर निर्भर करता है। मनुष्य के विचार और कल्पनाएँ जैसी होती हैं, उसी प्रकार की सामर्थ्य का मनुष्य अपने आप में अनुभव करता है। ये विचार और कल्पनाएँ उसके पुराने संस्कार और वर्तमान वातावरण पर निर्भर करती हैं। यदि किसी मनुष्य के पुराने संस्कार भले न हुए और न वर्तमान वातावरण ही शुभ हुआ, तो उसका आत्म-निर्देश उसे विध्वंस की ओर ही ले जाता है। परन्तु मनुष्य अपनी चेष्टा से अपने नकारात्मक आत्म-निर्देश को रचनात्मक बना सकता है। इसके लिये उसे सभी प्रकार के विचारों से अपने आपको अलग करना होता है। इससे विचारों की पुरानी रूढ़ि में परिवर्तन हो जाता है। रूढ़िगत विचार ही मनुष्य के दुःखों का कारण होते हैं। जो मनुष्य कई दिनों से रोगी है अथवा अपने को चरित्र में गिरा हुआ मान बैठा है, वह यह सोचने की सामर्थ्य नहीं करता कि वह रोग से मुक्त हो जावेगा अथवा चरित्र में कोई सुधार कर पावेगा। उसकी इस प्रकार की धारणा ही उसे रोगी अथवा पतित बने रहने में सहायक होती है। परन्तु जब मनुष्य को रूढ़ि से बँधे विचारों के बाहर जाने की आदत बन जाती है, तो फिर वह न तो अतीत के संस्कारों को अमिट मानता है और न वर्तमान कठिनायों को असाध्य मानता है।

आत्म-निर्देश की प्रधान उपयोगिता बँधे हुए विचारों के परिवर्तन करने में है, अर्थात् आत्म-निर्देश के द्वारा मनुष्य इच्छाशक्ति अथवा आत्मा की स्वतन्त्रता का अनुभव करता है। साधारणतः मनुष्य के विचार कार्य-कारण की प्रणाली से उसके मन में उत्पन्न होते अथवा आते जाते हैं। जब तक मनुष्य इस कार्य-कारण के तांते से मुक्त नहीं होता, तब तक वह अपने चरित्र में सुधार कैसे कर सकता है अथवा अपने रोग से भी कैसे मुक्त हो सकता है ? पुराने अनुभवों के संस्कार नये अशुभ विचारों की उत्पत्ति करेंगे, उनसे मनुष्य ध्वंसात्मक कार्य करेगा और फिर वह उनके परिणाम को भोगेगा। इस प्रकार वह इस प्राकृतिक चक्र से मुक्त नहीं हो सकता परन्तु यदि मनुष्य सभी प्रकार के चिन्तन को छोड़ दे और अपने निर्विकल्प स्वत्व में क्षण भर के लिये लय हो जाय, तो वह सरलता से ही अपने कृत्यों के संस्कारों को नष्ट करने अथवा अपने चरित्र में परिवर्तन करने सफल हो जाय। वास्तव में ब्राउन महाशय की बताई आत्म-निर्देश की विधि से यही होता है। मन के शैथिलीकरण की अवस्था में मनुष्य का

मन देश और काल के परे शुद्ध चैतन्य से अपनी एकता की अनुभूति करता है।* यह चैतन्य तत्व मन का स्वामी है। वह व्यापक और सर्वज्ञ है। मन के स्थिर हो जाने पर प्रत्येक आत्मा इस परमात्मा से मिल जाता है और इसके क्षणिक मिलने से ही मनुष्य के जीवन में अलौकिक परिवर्तन हो जाते हैं। यह आत्म-निर्देश की स्थिति निर्वाण की स्थिति है। इसका अभ्यास सभी पापों को क्षण में नाश कर देता है और इसके थोड़े से अनुभव से ही मनुष्य अपने जीवन में असाधारण कार्य कर डालता है।

आत्म-निर्देश का लाभ सबसे अधिक उस व्यक्ति को होता है, जो शरीर, इन्द्रिय और मन के परे एक तत्व की उपस्थिति में विश्वास करता है और जो मन को रोकते समय इस तत्व तक पहुँचने की चेष्टा करता है। यदि एक भी व्यक्ति में इस प्रकार के तत्व की उपस्थिति का विश्वास हो, तो वह अपने विश्वास को दूसरे लोगों के मन में डालने में समर्थ होता है और इसके कारण जिस शक्ति और शान्ति का उपभोग वह कर रहा है, उसी का उपभोग उसके सम्पर्क में आनेवाले लोग भी करने लगते हैं। डाक्टर ब्राउन का कथन है कि इस तत्व का साक्षात्कार करनेवाले व्यक्ति के सम्पर्क में आते ही सैकड़ों प्रकार के मानसिक रोगी तत्काल स्वस्थ हो जाते हैं। एक मनुष्य का आत्म-विश्वास कुछ काल में लाखों का आत्म-विश्वास बन जाता है। अतएव मनुष्य अपना और दूसरों का सबसे अधिक कल्याण अपने अहंकारमय स्वत्व का लय विचार-शून्यता की स्थिति में कर देने से करता है। इस स्थिति में एक बार आने पर

---

* मानव स्वभाव और उसकी शक्ति के विषय में डाक्टर विलियम ब्रांउन के निम्नलिखित विचार उल्लेखनीय हैं—

Reality is beyond time, supera-temporal. It is not out of time—it is beyond time. It is that supera-temporal quality of Reality which gives us freedom, which enables us to control our instincts. If we talk about efforts to control our instincts in terms of mere physical science we reach an impossae; we cannot get any further. Determinism is right there. We cannot do other than we are doing. But Reality is beyond time and space. The fact that I am a part of the spiritual universe puts me in the position of a free agent. The will is free, but how it is free we cannot and never shall be able to explain in terms of mere science—*Psychology and Psychotherapy*, P 706.

मनुष्य के विचार अपने आप ही सुधर जाते हैं। जो मनुष्य अपनी आत्मा को विचारों के परे मानता है, वह उसकी कल्पनातीत शक्ति से भी परिचित हो जाता है। ऐसे व्यक्ति के विचार अपने आप ही रचनात्मक हो जाते हैं। जो मनुष्य अपने आपको शक्तिहीन मान बैठा है, वह अपने आपको कैसे कोई भला निर्देश दे सकता है? शक्ति का स्रोत अहंकारी प्रमाता में नहीं है, उसका स्रोत अहंकार के परे आत्म-तत्त्व में है। जब तक मनुष्य अपने अहंकार को स्मृति में रखता है; अर्थात् जब तक उसकी चेतना में सामान्य विचार चला करते हैं, तब तक उसे कभी भी अपनी आध्यात्मिक शक्ति का ज्ञान नहीं हो सकता। विचार-शून्यता के होने पर अर्थात् अपने अभिमान को खोने पर ही मनुष्य में उस शक्ति का उदय हो जाता है, जो मनुष्य से आश्चर्यजनक कार्य कराने में समर्थ होती है।

मनुष्य की मानसिक शक्ति अपने अभिमान के खोने से बढ़ती है। जो मनुष्य अभिमान को रखकर यह सोचता है कि वह अपने आत्म-निर्देश को बढ़ावेगा, वह मनमोदक ही खा रहा है। आत्म-निर्देश की शक्ति उसी व्यक्ति के मन में जाग्रत होती है जो अपनी सारी शक्ति को विश्वकल्याण के लिये लगाना चाहता है और इसके लिये भी अभिमान नहीं करता। आत्म-निर्देश की शक्ति संकल्पों की वृद्धि से नहीं आती, वरन् मन को संकल्पहीन बनाने से आती है।* जब तक मनुष्य संकल्प की अवस्था में रहता है, तब तक वह सदा डांवाडोल मानसिक स्थिति में ही रहता है। उसे अपनी शक्ति पर कोई विश्वास नहीं होता। संकल्प-विकल्प को हटाने पर ही मनुष्य को अपनी शक्ति में भरोसा आता है। वास्तव में यह शक्ति उसके अहंकारी स्वत्व की नहीं है, यह शक्ति विश्वात्मा की है। यह उसे ही मिलती है, जो उसे उसी के काम में, व्यापक लोक-कल्याण के काम में, खर्च करने के लिये चाहता है परन्तु इस प्रकार प्रकार की एकांगी चाह भी स्वार्थी भाव दर्शाती है। अतएव सहज रूप से जो व्यक्ति लोक-कल्याण के काम करता रहता है, उसका आत्म-निर्देश सबसे अधिक प्रबल होता है।

आत्म-निर्देश की सबसे महत्त्वपूर्ण उपयोगिता मनुष्य के मन में चलनेवाले अन्तर्द्वन्द्व को शान्त करने में होती है। किसी भी प्रकार का अनैतिक काम करने

---

* इस प्रसंग में कबीर की निम्नलिखित पंक्तियाँ उल्लेखनीय हैं—

संया के घर दूर है, जहाँ सिलहली गैल।
पाँव न ठहरे पिपीलिका, तेली लादे बैल॥

पर मनुष्य के मन में आत्म-भर्त्सना का भाव अथवा अनेक प्रकार के भय और चिंताएँ उत्पन्न हो जाती हैं। इन्हें कम करने की जितनी ही चेष्टा की जाती है, वे उतनी ही बढ़ती हैं। जब तक मनुष्य के पाप का भाव दबी हुई अवस्था में रहता है; तब तक आत्म-निर्देश का सदुपयोग करना सम्भव नहीं होता। उसका आत्म-निर्देश लाभ की अपेक्षा हानि का रूप ही धारण कर लेता है। जब मनुष्य अपनी भूल को जानकर उसे सुधारने की चेष्टा करता है तब उसका आत्म-निर्देश उसकी सहायता करता है। आत्म-निर्देश के द्वारा पश्चात्ताप की मनोवृत्ति को रचनात्मक रूप दे दिया जाता है। मनुष्य जब शान्त भावना का अभ्यास करता है और सोचता है कि जो कुछ होता है सब भले के लिए होता है, तो उसकी अनेक प्रकार की मानसिक झंझटों का अन्त अपने आप ही हो जाता है। मनुष्य की बहुत-सी मानसिक समस्याएँ उनको सुलझाने का प्रत्यन करने पर जटिल होती हैं, और उन्हें भुलाने की चेष्टा करने से वे नये रूप में प्रगट होती हैं। ऐसी समस्याएँ आत्म-निर्देश के द्वारा सरलता से हो जाती हैं। मन की शांतावस्था में उसके संशय, भय और चिंताएँ भी अपने आप शांत हो जाती हैं।

मनुष्य के मन में जितनी शक्ति है उसका बहुत ही थोड़ा भाग उसे ज्ञात होता है।* जिस प्रकार मनुष्य जड़ पदार्थों की शक्ति को न जानने के कारण अपने आपको गरीब और निर्बल बनाये रहता है, उसी प्रकार वह अपने स्वत्व की शक्ति को न जानने के कारण भी अपने आपको गरीब और निर्बल मान लेता है। भौतिक वैज्ञानिकों ने बड़ी शोध के पश्चात् जड़ की अणु की खोज की है। आज संसार का सबसे बड़ा अस्त्र अणु बम है। जड़ अणु की शक्ति का पूरा पता अभी भी वैज्ञानिकों को नहीं चला है। इसी प्रकार हमें अपने स्वत्व की सम्पूर्ण शक्ति का ज्ञान नहीं है। अपने सबसे गहरे स्वत्व का ज्ञान होने पर मनुष्य के लिए सभी आश्चर्यजनक कार्य सरल हो जाते हैं। सच्चा आत्म-निर्देश बाहर से लादी हुई वस्तु नहीं। बाहर से मनुष्य की इच्छा-शक्ति को निर्बल बनाने-वाले निर्देश ही मिलते हैं। इनसे मनुष्य को कोई स्थायी लाभ नहीं हो सकता। इसी कारण फ्रायड महाशय ने मानसिक चिकित्सा में किसी प्रकार के निर्देश का उपयोग करना अनुचित बताया है। इससे मानसिक रोग का निवारण न होकर

---

* "The energies at the disposal of us all are very much greater than the energy we at any time manifest"—William Brown : *Psychology and Psychotherapy*, P. 136

उसका दमन मात्र होता है। सच्चा आत्म-निर्देश आत्म-साक्षात्कार करना है। वास्तव में मनुष्य के मन में असीम शक्ति है। संसार की चिंताओं और बाहर से आए विचारों के कारण हम अपनी इस शक्ति को भूले हुए रहते हैं। बाहर से आये दुर्निर्देशों के निराकरण के लिए आत्म-निर्देश की आवश्यकता है।* जो मनुष्य अपने जीवन की सफलता को बाहरी प्राप्ति और दूसरे लोगों के विचार से मापता है वह सदा अपने आपको दीन-हीन अवस्था में ही बनाये रखता है। बाहर से आये अशुभ विचार उसके आत्म-निर्देश बन जाते हैं। इस प्रकार के बुरे आत्म-निर्देश को रोकने के लिये तथा जीवन-गाड़ी को चलाने के लिये अपनी आन्तरिक शक्ति का सदा स्मरण करते रहना अर्थात् आत्मा की शक्ति पर बार-बार विचार करना यह नितान्त आवश्यक है। अपनी आन्तरिक शक्ति का साक्षात्कार मनुष्य को विचार के परे आत्म-सत्ता का शान्त-मन से स्मरण करने से हो जाता है। जब मनुष्य अपने शरीर और मन को सम्पूर्ण शिथिलीकरण की अवस्था में करके शान्त भाव का अभ्यास करता है तो वह सम्पूर्ण जगत को संचालित करनेवाले तत्त्व से अपना एकत्व स्थापित कर लेता है। जो ऐसी शान्त अवस्था के समय विचार आते हैं वे अपनी गम्भीर अन्तरात्मा से ही आते हैं। ये विचार सुखद और आरोग्यवर्द्धक होते हैं। अपने भीतरी मन से उद्भूत विचार ही आत्म-निर्देश कहे जाते हैं। इस प्रकार के आत्म-निर्देश मनुष्य के मन और शरीर दोनों का ही नव-निर्माण हो जाता है। इससे पुराने अशुभ कार्यों के संस्कार नष्ट हो जाते हैं।

बाहर से आये हुए निर्देश मनुष्य की विचार-शक्ति को कम करते हैं। वे स्वतन्त्र चिन्तन और स्वतन्त्र निर्णय की शक्ति को घटाते हैं। जो व्यक्ति सदा दूसरे व्यक्ति अथवा समाज के निर्देशों के अनुसार सोचता और आचरण करता है, वह न तो कोई मौलिक विचार संसार को दे पाता है और न समाज का कोई स्थायी लाभ करने में समर्थ होता है। उसमें इस प्रकार के काम के करने

---

* The primary justification for auto-suggestion in treatment is that there are so many bad auto-suggestions flying about in one's mind—suggestions to the effect that one is unable to do certain things, that one will break down over this task or that test—so that the imagining of failure reinforced by the fear of failure actually tends to bring failure about—Brown : *Psychology and Psychotherapy* P. 134

की हिम्मत ही नहीं होती। प्रसिद्ध लोगों के समीप रहनेवाले व्यक्तियों का आत्म-विश्वास जाता रहता है। उनका व्यक्तित्व संकुचित हो जाता है।* इसके ठीक विपरीत फल आत्म-निर्देश द्वारा अपने आपको बली बनानेवाले व्यक्ति के अभ्यास का होता है। आत्म-निर्देश से मनुष्य के स्वतन्त्र चिन्तन की शक्ति बढ़ती है, वह जटिल समस्याओं को अपने आप हल कर लेता है और उनके विषय में स्वतन्त्र निर्णय कर लेता है। उसकी सभी मानसिक शक्तियाँ और कार्य-क्षमता भी बढ़ जाती हैं। अतएव शुभ आत्म-निर्देश का अभ्यास मनुष्य के आध्यात्मिक विकास का सर्वोत्तम साधन है।

आत्म निर्देश के द्वारा रोगों के उपचार के तथा जटिल बालकों के सुधार सम्बन्धी अनेक प्रयोग डाक्टर विलियम ब्राऊन ने किये हैं। कई प्रकार के अकारण भय और चिन्ताएँ, हठी विचार, परीक्षा सम्बन्धी भय, तथा अनेक प्रकार की जटिल आदतें और जटिल शारीरिक रोग—पेट के रोग, हृदय की धड़कन, तथा मस्तिष्क की पीड़ा से आत्म-निर्देश के अभ्यास से समाप्त हो जाते हैं। इसी प्रकार आत्म-निर्देश के द्वारा उद्दण्ड अथवा डरपोक बालकों का सुधार हो जाता है। जो सुधार उपदेश के द्वारा बालकों के व्यवहार में नहीं होता वह निर्देश के द्वारा हो जाता है। हम जिस प्रकार की आशा किसी बालक से करते हैं वह उसी प्रकार का बन जाता है। रोगी सदा अपने आपको निर्देश देते रहता है कि वह रोग से मुक्त नहीं होगा। किसी भी चिकित्सक की क्षमता में उसका विश्वास नहीं रहता। वास्तव में उसका आन्तरिक मन उसे रोग से मुक्त नहीं होने देना चाहता। कुशल चिकित्सक इस आन्तरिक मन से मैत्री भाव स्थापित करने की चेष्टा करता है। जब इस मन से चिकित्सक का एकत्व स्थापित हो जाता है तो चिकित्सक के विचार ही रोगी के विचार बन जाते हैं। ये उसकी अन्त-रात्मा में पहुँचकर आत्म-निर्देश के शक्ति बन जाते हैं। रोगी के आन्तरिक विचार बदल जाने से उसका रोग भी समाप्त हो जाता है। वास्तव में चिकित्सक नहीं वरन् रोगी स्वयं ही अपने आपको रोग से मुक्त करता है। मेगडूगल महाशय के इस कथन में मौलिक सत्य है कि मनोविश्लेषण चिकित्सा की मुख्य उप-योगिता इसी बात में है कि इसके द्वारा चिकित्सक का रोगी से हार्दिक एकत्व स्थापित हो जाता है। इससे वह रोगी के आन्तरिक विचार बदलने में समर्थ

---

* Great men are like eucalyptus trees that suck up the nourishment of plants that grow about them---G. K. Chesterton

होता है। फिर ये विचार आत्म-निर्देश बनकर रोगी को रोग से मुक्त करते हैं। मेगडूगल के कथनानुसार पर-निर्देश ही आत्म-निर्देश बन जाते हैं।

जब चिकित्सक रोगी के आन्तरिक विचार उसकी जाग्रतावस्था में बदलने में समर्थ न हो तो उसको सुलाकर अथवा उससे शान्त भाव का अभ्यास कराकर वह बदल सकता है। जब रोगी सोता रहता है तब उसका सम्पूर्ण मन नहीं सोता, केवल चेतन मन सोता है; उसका अचेतन मन जाग्रत रहता है और जिस प्रकार का सुझाव यह मन पकड़ लेता है वह उसे कार्यान्वित करने लगता है।* इस प्रकार रोगी की सुप्तावस्था में उसके भीतरी मन में स्वास्थ्य के विचार डाले जा सकते हैं और उसमें आरोग्य प्राप्ति की इच्छा जाग्रत की जा सकती है। जब हम रोगी की आन्तरिक इच्छा को बदल देते हैं तो रोगी को अवश्य नवजीवन मिल जाता है। जाग्रतावस्था में रोगी के आन्तरिक मन का जो विरोध रहता है वह सुप्तावस्था में मिट जाता है। जाग्रतावस्था में हम रोगी के केवल चेतन मन को ही प्रभावित करते हैं। रोगी के चेतन और अचेतन मन में आन्तरिक विरोध होने के कारण जो भी विचार उसका चेतन मन पकड़ता है उसका ठीक उलटा कार्य अचेतन मन करता है। अतएव जब तक हम सीधे अचेतन मन तक अपने विचार नहीं पहुँचाते रोगी को लाभ नहीं होता।

इसी प्रकार जटिल बालक का भी सुधार उपदेश से न होकर निर्देश से होता है। मानसिक जटिलता की अवस्था में बालक का केवल चेतन मन ही अभिभावक के उपदेशों से प्रभावित होता है, उसका अचेतन मन इसके ठीक प्रतिकूल काम करता है। जब बालक से प्रेम बढ़ाया जाता है तो बालक के चेतन और अचेतन मन में एकता स्थापित हो जाती है। फिर विचार शिक्षक

---

*चार्ल्स युङ्ग के कथनानुसार मनुष्य का अचेतन मन ही ईश्वर है—The unconscious of man is God. । यही मन एक ओर हमारी शारीरिक शक्तियों का निर्माण करता है, हमें स्वस्थ अथवा रोगी बनाता है, और दूसरी ओर यह उस वातावरण का भी निर्माण करता है जिससे हम सुखी अथवा दुःखी रहते हैं। हेनरी नाइट मिलर ने इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन अपनी प्रैक्टिकल साइकालाजी (Practical Psychology) नामक पुस्तक में किया है। मनुष्य का मन फिल्म के सदृश है और जगत सिनेमा के चित्रपट पर आनेवाले दृश्यों के समान। यदि मनुष्य का आन्तरिक मन बिगड़ा है तो चित्र पर अभद्र दृश्य दिखाई देते हैं और यदि उसका आन्तरिक मन सुधरा है तो सुन्दर और प्रिय दृश्य सामने आते हैं।

बालक के मन में डालना चाहता है वे चालित होते हैं। बालक सुप्तावस्था में भी ये विचार डाले जा सकते हैं और इस प्रकार उसके आचरण में चमत्कारिक सुधार हो जाता है।

रोगी में और जटिल बालक में उक्त प्रकार का परिवर्तन उससे शान्त भाव का अभ्यास के द्वारा भी होता है। शान्त भाव का अभ्यास करते समय न केवल चिकित्सक और सुधारक के विचार रोगी अथवा बालक के मन में जाकर उनका सुधार करते हैं वरन् ये लोग अपनी अन्तरात्मा से सम्पर्क स्थापित करने के कारण नवशक्ति की प्राप्ति कर लेते हैं। मनुष्य जैसे-जैसे बाहरी वातावरण के प्रभाव से अपने आपको मुक्त करता है वह वैसे-वैसे मन के भीतर उपस्थित शक्ति को प्राप्त कर लेता है। इस भीतरी मन की शक्ति अपार है। यह शक्ति सदा मनुष्य को कल्याण के ओर ही ले जाता है।

मनुष्य की शक्ति उसके चिन्तन पर निर्भर करती है। दूसरों के विषय में अमैत्री भावना के विचार मनुष्य को हतोत्साह करते हैं। यदि हमारा कोई प्रबल शत्रु है और हम सोचते हैं कि वह हमारे विरुद्ध ही काम करता है तो इस प्रकार का विचार मनुष्य की इच्छा-शक्ति को दुर्बल बना देता है। हमारे बारे में जो कुछ दूसरे लोग सोचते हैं, वह हम स्वयं भी अपने बारे में सोचने लगते हैं। फिर हमारे विचार दूसरों के विचारों को और भी प्रभावित करते हैं। ऐसी अवस्था में हम अपने मन का बल दो ही प्रकार से बढ़ा सकते हैं—शुभ निर्देश अर्थात् भले विचार भेजनेवालों की संख्या बढ़ाकर और शान्तभावना का अभ्यास करके। हमें शुभ निर्देश अपने मित्रों से ही मिल सकता है। अत-एव दूसरों की निस्वार्थ सेवा करना हमारे मन को बली बनाता है और हमारी मानसिक शक्तियों को विकसित करता है। शान्त भावना का अभ्यास बाहर से आनेवाले सभी भले और बुरे निर्देशों से हमें मुक्त करा देता है। जब बाहर से आनेवाले सभी विचार शान्त हो जाते हैं, तब मनुष्य का स्वत्व आत्मा की समीपता प्राप्त कर लेता है। अपने अन्तिम स्वत्व से अर्थात् आत्मा से फिर जो प्रेरणा आती है; वह भली ही होती है। जब मनुष्य अपने आपको चारों ओर स्वार्थी लोगों से घिरा हुआ देखता है और इसके कारण अनेक प्रकार की विप-त्तियों में अपने आपको पड़ा पाता है, तो वह सभी बातों को भुलाने की चेष्टा करता है। ऐसा करने से वह आत्मा की अनन्त शक्ति से सम्पर्क स्थापित कर लेता है और फिर वह जीवन में चमत्कारी कार्य कर डालता है।

बाईसवाँ अध्याय

निरभिमानता

जब मनुष्य किसी प्रकार की शक्ति का प्रकाशन करता है, जब वह किसी प्रकार का काम करता है, तो उसे उस शक्ति अथवा अपने किये काम का अभिमान होता है। हम अपने काम से ही अपनी शक्ति और अपने आपको पहचानते हैं। अतएव जो व्यक्ति जितना ही किसी प्रकार का काम करता है, उसे उसी प्रकार के काम का उतना ही अभिमान हो जाना स्वाभाविक है। अधिक काम करनेवाले को अधिक अभिमान होता है और कम काम करनेवाले को कम अभिमान होता है। किसी प्रकार की योग्यता के लिये ज्यों-ज्यों मनुष्य की ख्याति बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों उस विषय में उतना ही अभिमान बढ़ता जाता है। शारीरिक बल का प्रदर्शन करनेवालों को शरीर के बल का अभिमान होता है, विद्या के बल की खूबी दिखानेवालों को विद्या का, धन का प्रभाव दिखानेवालों को धन का तथा चरित्र का बल प्रदर्शन करनेवालों को चरित्र का अभिमान हो जाता है।

जब तक मनुष्य अपनी शक्तियों का सामान्य ज्ञान रखता है, तब तक उसे उसका अभिमान नहीं होता। अपने आपको सामान्य लोगों के स्तर पर रखने से अभिमान का निराकरण होता रहता है। जब किसी मनुष्य में किसी प्रकार की विशेषता हो जाती है और उसे अपनी विशेषता का ज्ञान होने लगता है, तो उसे उसका अभिमान होता है। जो मनुष्य किसी दिशा में जितना ही अधिक असाधारण सफलता प्राप्त करता है वह उतना ही अभिमानी होता है। किसी प्रकार की असाधारणता मनुष्य के मानसिक संतुलन को बिगाड़ देती है। मानसिक संतुलन का बिगड़ जाना मनुष्य में अभिमान की उत्पत्ति करता है। इसके उत्पन्न हो जाने पर मनुष्य अपने आपको विशेष प्रकार का प्राणी समझने लगता है; वह अपने आपको आदर का पात्र मानने लगता है। जब तक उसे यह आदर मिलता है, तब तक वह सुखी रहता है, जब उसे यह आदर नहीं मिलता, तो वह दुःखी और निराश होकर प्राणान्त चाहता है। लेखक के एक मित्र को अपनी वैद्यगिरी का अभिमान था। उनकी फीस बत्तीस रुपये थी। एक समय उन्हें अपनी सारी शक्ति नष्ट होती हुई दिखाई देने लगी। उनकी आमदनी कम हो गई। उनके मन में कल्पनाएँ आने लगीं कि उनके दुर्दिन आनेवाले हैं। ऐसी मानसिक स्थिति में वे लेखक के पास आये। उन्होंने अपने जीवन की सभी बातें

सुनाईं। ये अपने पुराने अभिमान का परित्याग करने में समर्थ हुए और फिर से अपने रोजगार में प्रगति करने लगे। एक दूसरे व्यक्ति को अपने कथा-प्रवचन की शक्ति पर भारी अभिमान था। वे जब अपना प्रवचन करने लगते थे, तो हजारों धनी और विद्वान् लोग उनका प्रवचन सुनने आते थे। उनकी सभा के नियम भी बड़े कड़े थे। देर करके आनेवाले को पीछे ही बैठना पड़ता था, चाहे उस व्यक्ति का समाज में कितना ही ऊँचा स्थान क्यों न हो और एक बार सभा में बैठ जाने पर उठकर जाना बड़ा अशिष्ट व्यवहार माना जाता था। इनके प्रवचन से लाखों लोग प्रभावित होते थे। ये सज्जन आज बड़ी ही दयनीय मानसिक अवस्था में हैं। उनका पुराना आत्मविश्वास जाता रहा। अब उनमें प्रवचन करने की शक्ति नहीं रही। पैसे का अभाव हो गया। अब कोई पूछता नहीं। वे बड़े दुःखी और गिरी अवस्था में हो गये हैं। कहा जाता है कि उनकी अवस्था विक्षिप्त-सी है।

लेखक की चिकित्सा में हाल में एक चालीस वर्षीय रोगी आया। इसे विषाद रोग हो गया है। इसका आत्मविश्वास समाप्त हो गया है। उसे लगता है कि सभी लोग उसके निन्दक बन गये हैं। वह बाहर के लोगों से तथा घर के लोगों से परेशान है। वह सोचता है कि उसे कोई न तो सम्मान करता है और न प्यार। अपनी आत्मकथा सुनाते समय उसने बताया कि वह घर-गृहस्थी के काम में बड़ा ही कुशल था। वह जो कुछ भी करता था उसे सभी लोग मानते थे। उसकी समझ में उसका सभी काम ठीक होता था। आज से चार वर्ष पूर्व यह स्थिति बदल गई। उसके भाई लोग उससे अलग हो गये हैं। वह बड़ा भाई है। अब उसकी बात मानने वाला कोई नहीं है। बाहर के लोग अब अपनी शत्रुता भँजाने की चेष्टा करने लगे हैं। उसका आत्मविश्वास भी समाप्त हो गया है। उसका जीवन भाररूप बन गया है। वास्तव में इस व्यक्ति की घर-गृहस्थी के काम में असाधारण सफलता ही उसकी विफलता का कारण बन गई। सफलता ने उसका अभिमान बढ़ाया, इससे उसके शत्रुओं की तथा आलोचकों की संख्या बढ़ी। जब मनुष्य के शत्रुओं की और आलोचकों की संख्या बढ़ जाती है तो उसका आत्मविश्वास भी समाप्त हो जाता है। हमारा आत्मविश्वास भी हमारे मित्रों की संख्या और उनके सन्निदेशों पर निर्भर करता है। हमारे आस-पास के लोगों का हमारे प्रति स्नेह और विश्वास ही मनुष्य का आत्मविश्वास बन जाता है। दूसरों का स्नेह अभिमान के त्याग से प्राप्त होता है। इसका विनाश अभिमान की वृद्धि से होता है। अभिमान और स्नेह एक साथ नहीं रहते।

जब मनुष्य में किसी प्रकार का अभिमान बढ़ता है, तो उसके पतन के दिन समीप आ जाते हैं। इस तरह अभिमान की वृद्धि निकट में आनेवाले पतन का सूचक है। इस प्रसंग में कुछ पौराणिक कथाएँ उल्लेखनीय हैं। एक समय दक्ष प्रजापति का देवताओं में सम्मान बहुत बढ़ गया। एक बार वे इन्द्र की सभा में आये। उन्हें देखकर सभा के सभी देवता उठकर खड़े हो गये। केवल शिवजी, जो उनके दामाद थे, नहीं उठे। दक्ष उनसे क्रुद्ध हो गये और उन्होंने उनका अपमान करने का विचार किया। उन्होंने शीघ्र ही यज्ञ रचा। इसमें सभी देवताओं को तो निमंत्रण दिया परन्तु शिवजी को निमंत्रण नहीं दिया। निमंत्रण न पाने पर शिवजी यज्ञ में नहीं गये, परन्तु सती गईं। वहाँ शिवजी का अनादर देखकर उन्हें क्रोध हो आया और वे जलकर भस्म हो गईं। फिर शिवजी को दुःख हुआ और उन्होंने दक्ष का विनाश कर डाला। नारद, पाराशर और शृङ्गी ऋषि की कथाएँ जगत-विख्यात हैं। जब उन्हें अपनी तपस्या का अभिमान हुआ और उन्होंने सोचा कि हमने अपनी कामवासना पर विजय प्राप्त कर ली है, तब उन्हें धोखा खाना पड़ा। दुर्वासा ऋषि को अपने तप की शक्ति पर अभिमान हो गया था। उनके शाप से सभी राजा लोग डरते थे। जब उन्होंने निर्दोष अंबरीप राजा को शाप दिया, तो वह शाप उनके ऊपर ही चढ़ गया और उन्हें अंबरीप से क्षमा माँगनी पड़ी।

अभिमान के आने पर मनुष्य में अपने अवगुणों अथवा अपनी त्रुटियों को देखने की क्षमता नहीं रहती। अतएव वह अपना सुधार नहीं कर पाता। अपनी प्रशंसा सुनने के लिये वह सदा उत्सुक रहता है। जो उसकी जितनी प्रशंसा करे वह उसे उतना ही अधिक प्रिय लगता है। ऐसा व्यक्ति अपने आसपास चापलूसों को जमा कर लेता है, जो उसकी झूठी प्रशंसा करके उसे भुलाए रहते हैं। वे उसके अवगुणों को उसकी दृष्टि के सामने नहीं आने देते। जब ऐसा व्यक्ति किसी के मुँह से अपनी निन्दा सुनता है, तो वह उसका शत्रु बन जाता है। वह फिर ऐसे व्यक्ति के विनाश के उपाय सोचने लगता है। इस प्रकार वह अपने शत्रुओं की संख्या बढ़ा लेता है। उसके आस-पास रहनेवाले चापलूस भी वास्तव में उसके शत्रु ही रहते हैं। वे भी अभिमानी व्यक्ति के पतन में सहायक बन जाते हैं। ये लोग उसके चरित्र की त्रुटियों को जान लेते हैं और अपनी बातचीत से उसका ज्ञान अभिमानी व्यक्ति के शत्रुओं को करा देते हैं। फिर ऐसे व्यक्ति का पतन निश्चित हो जाता है।

हाल में ही लेखक के पास एक प्रतिष्ठित परिवार का एक प्रौढ़ व्यक्ति आया। इसे एक प्रकार का विपाद रोग हो गया था। वह सोचने लगा था कि उसके आस-पास के तथा घर के सभी लोग उसके साथ छल-कपट से अथवा शत्रुता से व्यवहार करते हैं। वह अपनी पत्नी के चरित्र को भी सन्देह की दृष्टि से देखने लगा था। इस प्रकार न तो उसे घर के बाहर चैन थी और न घर में। वह सभी काम-काज छोड़ कर अब बैठ गया था। किसी से बोलने को भी उसका मन नहीं चाहता था। वह सोचने लगा था कि उसका तेज और मानसिक शक्तियाँ नष्ट हो गई हैं और उसे किसी काम में हाथ नहीं डालना चाहिये। इस प्रकार की मनोस्थिति उत्पन्न होने का जो कारण उसने बताया, वह बड़ा शिक्षाप्रद है। उसने बताया कि वह घर में बड़ा होने के नाते और परिवार में प्रतिष्ठित होने के कारण बड़े जोश के साथ सभी काम करता था। उसकी सफलता ने उसमें असाधारण अभिमान उत्पन्न कर दिया। वह जो कुछ कहता, उसे बिलकुल ठीक मानता था और यदि उसका कोई विरोध करे तो उसका कठोरता से दमन करता था। इस प्रकार घर के लोग तो पहले-पहल उससे दबे रहे, परन्तु बाहर बहुत से लोग उसके शत्रु बन गये। उसके भाई धीरे-धीरे उससे अधिक शिक्षित हो गये और उसकी बातों पर आलोचना करने लगे। अब उसे न केवल बाहर के लोगों का सामना करना पड़ा, वरन् अपने भाइयों का भी सामना करना पड़ा। उसके सभी भाई धीरे-धीरे उससे अलग हो गये। इस प्रकार घर में फूट हो जानेपर बाहरी शत्रुओं ने अब बदला लेने की ठान ली और उसकी स्त्री के चरित्र के विरुद्ध अनेक प्रकार का अभद्र प्रचार करना प्रारम्भ कर दिया। इधर पति की कठोरता के कारण पत्नी का स्वभाव भी चिड़चिड़ा हो गया था। उससे भी उसे वह प्रेम प्राप्त नहीं हुआ जिसकी उनको अब आवश्यकता थी। अतएव वह जीवन से ही ऊब गया था और संसार से बिदा होने की बात सोचने लगा था। इस व्यक्ति का पतन अवश्य हो जाता, परन्तु समय पर उसे अपने जीवन के सिद्धान्तों को परिवर्तित करने की सलाह मिलने के कारण और उनपर आचरण करने से वह अपनी घोर निराशा की मनोवृत्ति से मुक्त हो गया।

अभिमान की वृद्धि होने पर मनुष्य दूसरों की भावनाओं का आदर नहीं करता। उसे किसी का डर नहीं रहता। ऐसा व्यक्ति दूसरों के प्रति अनेक प्रकार के अत्याचार कर डालता है। इन अत्याचारों के परिणाम-स्वरूप उसका विनाश हो जाता है। इस प्रसंग में लेखक के अनुभव में आई दो-एक घटनाएँ उल्लेखनीय हैं—

लेखक के एक पड़ोसी को अपने बल का बड़ा अभिमान था। वे बड़े उद्दण्ड प्रकृति के थे। वे पुलिस में नौकरी कर चुके थे। अतएव राजकीय कानून-कायदे भी जानते थे। उनसे लेखक के पिता डरकर रहते थे। गाँव में पिता की प्रतिष्ठा थी और वे सदा इस बात से सतर्क रहते थे कि कहीं उनकी प्रतिष्ठा को ठेस न लग जाय। ये पड़ोसी गाँव के लोगों से अनेक प्रकार के झगड़े कर लिया करते थे। सभी लोगों को उनसे दबकर रहना पड़ता था। वे देहाती गाँव में थोड़े ही दिन रहे थे कि उनका एक चचेरा भाई अपनी वृद्धावस्था में मरा। उसकी स्त्री को कोई संतान नहीं थी। अब उन्होंने इस अनाथ बुढ़िया को अपने घर से निकालने की ठानी। धीरे-धीरे उन्होंने उसकी सभी सम्पत्ति पर अधिकार जमा लिया और एक दिन उसे घर से निकाल ही दिया। जब वे उसका घर तोड़-फोड़ रहे थे, तब वह सिर पटक-पटककर बहुत ही कोसती हुई रो रही थी, परन्तु उनके मन में उस बुढ़िया के प्रति तनिक भी दया नहीं आती थी। बुढ़िया घर छोड़कर नैहर के गाँव में चली गई। फिर उसके बारे में कुछ सुनाई नहीं दिया, परन्तु उसकी सम्पत्ति लेनेवाले सभी लोगों का विनाश लेखक ने अपनी आँखों से देखा। बुढ़िया को त्रास देनेवाले व्यक्ति के दो और भाई थे। सभी जवान थे और सभी को स्त्री-बाल-बच्चे थे। तीनों एक-एक करके चार वर्ष में भारी रोगों से पीड़ित होकर मर गये। पाँच वर्ष के भीतर ही उस स्थान पर दस-बारह व्यक्तियों के परिवार में से एक भी न रहा। जो वहाँ से भाग गये और वहाँ कभी न लौटे, वे ही बच गये, बाकी सब मर गये। जो-जो लोग बुढ़िया की जमीन के उत्तराधिकारी बनते गये, वे नष्ट होते गये।

कितने ही लोगों को अपनी विद्या का अभिमान हो जाता है। फिर ऐसे लोगों की विद्या में वृद्धि न होकर उसका ह्रास होने लगता है। अतएव बड़े-बड़े विद्वान् अपनी ख्याति से प्रसन्न न होकर दुःखी ही होते हैं। विद्या के लिये अपना नाम बढ़ाने की चेष्टा करना अपनी प्रतिभा को नष्ट करने का पैगाम है। संसार के सबसे बड़े दार्शनिक इमेनुअल काण्ट महाशय ने अपने ज्ञान को चौंसठ वर्ष की अवस्था तक संसार में प्रकाशित नहीं किया। उनकी जगत्विख्यात पहली पुस्तक 'क्रिटिक आफ प्योर रीजन' बासठ साल की अवस्था में प्रकाशित हुई। चालीस वर्ष तक वे एक ही समस्या पर सोचते रहे। जब उन्होंने समस्या के सभी पहलुओं पर भलीभाँति सोच लिया तभी उन्होंने अपने विचार को लोक के कल्याणार्थ रखा। न्यूटन महाशय ने अपनी गणित की प्रसिद्ध खोज को बहुत दिनों तक प्रकाशित नहीं किया। जब उनकी "प्रिन्सिपिया मेथिमेटिका"

नामक पुस्तक को कालिन्स ने प्रकाशित किया और उस पुस्तक के लिये देश के विद्वानों के अभिवादन आने लगे, तो वे इससे प्रसन्न न होकर कुछ दुःखी ही हुए। उन्होंने अपने एक मित्र से कहा, "अब मेरी ख्याति तो बढ़ेगी, परन्तु जिस विद्या के लिये मैंने अपना जीवन समर्पित कर दिया है, उसका तो ह्रास ही होगा।" विद्वत्ता के लिये ख्याति हो जाना विद्वान् के लिये विघातक होता है। दूसरों की प्रशंसा मनुष्य में वह अभिमान उत्पन्न कर देती है, जिससे वह अपनी नम्रतापूर्वक सीखने की मनोवृत्ति को खो देता है। फिर उसके ज्ञान का भी ह्रास हो जाता है। जिस दिशा में मनुष्य को अभिमान हो जाता है, उस दिशा में उसकी बाढ़ रुक जाती है। जब न्यूटन के मित्र लोग उसकी विद्या की प्रशंसा करते थे और कहते थे कि वह तो सर्वज्ञ हो गया, तो वह उनकी इन बातों पर मुसकरा देता था, वह कहता था कि ज्ञान का असीम समुद्र मेरे सामने पड़ा है, मैं तो किनारे के कंकड़ ही बीन रहा हूँ।

जिस मनुष्य को अपनी विद्या, सामर्थ्य अथवा रूप-रंग आदि पर अधिक अभिमान हो जाता है, उसकी क्रियाएँ असाधरण हो जाती हैं। जिस प्रकार वह प्रगति में असाधारण होता है, उसी प्रकार पतन में भी असाधरण हो जाता है। कहा जाता है कि जब दीमक के विनाश के दिन आते हैं, तो उसको पंख जम जाते हैं। लेखक के एक मित्र ने अपने नीचे काम करनेवाले कर्मचारी के पागल हो जाने का वृत्तान्त सुनाया। वह वृत्तान्त इस प्रसङ्ग में उल्लेखनीय है। इस कर्मचारी ने अपनी नौकरी का जीवन ३०) मासिक वेतन से आरम्भ किया। वह प्रतिभावान व्यक्ति था। अतएव उसने असाधारण परिश्रम करके अपने आफिसर को प्रसन्न किया और कई परीक्षाएँ पास कीं। इस पर उसको उत्तरोत्तर ऊँचा पद मिलता रहा। वह अपने विभाग के मुख्य अधिकारी का परसनल असिस्टेंट हो गया। यहाँ भी उसने बड़ी लगन से काम किया और अपने आफिसर को प्रसन्न करके उसने एक ऊँचा स्थान पा लिया। इस स्थान के पाने में इस मुख्य अधिकारी का सबसे अधिक हाथ था। धीरे-धीरे उसका वेतन ४००) मासिक तक हो गया। अब वह आगे के पद के लिये प्रयत्न कर रहा था। इस पद को उसका प्रधान अधिकारी किसी दूसरे व्यक्ति को देना चाहता था। स्वार्थों का विरोध होने पर वह अपने पुराने स्वामी से ही झगड़ पड़ा और अपने पुरुषार्थ से वह उसके विरुद्ध षड्यंत्र रचने लगा। इसके कारण इस व्यक्ति के नीचे काम करनेवाले कर्मचारी उसके विरुद्ध अनेक प्रकार की शिकायतें लाने लगे। वे कभी-कभी उसे तंग करने के लिये कुछ कामों को बिगाड़ देते थे। इसी बीच एक और ऊँचा

स्थान रिक्त हुआ। इस बार फिर पहले के समान ही उसने ऊँचा पद पाने की चेष्टा की। परन्तु इसमें वह असफल रहा। अब तो उसकी चिन्ता और निराशा का ठिकाना न रहा। वह पहले न केवल असाधारण परिश्रम करता था, वरन् अपने पुरुषार्थ की डींग भी मारा करता था। परन्तु अब तो उसको भय हो गया कि उसके शत्रु बड़े प्रबल हैं और उन पर उसे विजय प्राप्त करना असम्भव है। इस चिन्ता में उसने अपने मन का सन्तुलन खो दिया। वह विक्षिप्तावस्था में हो गया। वह सोचने लगता था कि उसके पीछे कोई भूत-पिशाच आदि लगे हुए हैं। ये उसके शत्रु द्वारा भेजे गये हैं। इस डर के मारे वह दरवाजे बन्द करके घर में बैठता और कभी-कभी वहाँ भी चिल्ला उठता था। उसे अनेक प्रकार के भय होते थे। किसी भी मनुष्य के विषय में वह सन्देह करने लगता कि वह उसके शत्रु-द्वारा भेजा गया गुप्तचर है। उसकी मनोवृत्ति पैरानोइया के रोगी की बन गई। अपने मित्रों को भी वह शत्रु के रूप में देखने लगा। कुछ दिनों तक इस अवस्था में रहकर वह धीरे-धीरे अपनी साधारण मानसिक अवस्था में आया है।

यहाँ यह बताना आवश्यक है कि प्रकृति स्वयं बड़ी दयालु है। जब मनुष्य का अभिमान बढ़ जाता है और वह आध्यात्मिक दृष्टि से खोखला हो जाता है तो उसे प्रकृति रोगी बना देती है। उसे शारीरिक अथवा मानसिक रोग हो जाता है। ये रोग उसकी भीतरी गन्दगी को बाहर निकाल देते हैं। फिर मनुष्य का अभिमान अपने आप कम हो जाता है। कमियों के प्रकाशित होने पर अथवा मानसिक गन्दगी के रेचन हो जाने पर मनुष्य का मानसिक सन्तुलन ठीक हो जाता है और फिर रोग भी अपने आप विदा हो जाता है। किसी प्रकार का पागलपन भी मानसिक स्वास्थ्य की प्राप्ति के लिये उतना ही उपयोगी है जितना प्रति दिन का स्वप्न, जिसे हम मानव मात्र का सामान्य पागलपन कह सकते हैं। स्वप्न और पागलपन के प्राकृतिक हेतु एक से ही हैं। ये दबी भावना का रेचन करके मनुष्य में मानसिक सन्तुलन और स्वास्थ्य लाते हैं। अभिमान किसी प्रकार की कमी को छिपाने का साधन है, जब कमी प्रकाश में ही आ गई तो मनुष्य को अभिमान की आवश्यकता नहीं रहती और इस प्रकार अभिमानजन्य मानसिक खिंचाव समाप्त हो जाता है।

सभी प्रकार का अभिमान अनर्थमूलक होता है। रूप का अभिमान मनुष्य का विनाश किस प्रकार कर डालता है, इसका एक सुन्दर उदाहरण हेनरी फिशर महाशय ने अपनी "एन इन्ट्रोडक्शन टू एबनारमल साइ-

कोलाजी" नामक ग्रन्थ में दिया है। एक नवयुवक बड़ा ही रूपवान था। वह अच्छा पढ़ा-लिखा भी था और राज्य में एक उच्च पुलिस का अधिकारी था। उसको अपने रूप का गर्व था। उसे देखकर कितनी ही महिलाएँ मोहित हो जाती थीं। वह उनसे प्रेम-प्रदर्शन तो करता था, परन्तु विवाह किसी से नहीं करता था। एक महिला से उसका प्रेम-सम्बन्ध कई दिनों तक चला। यह महिला उससे विवाह कर लेने के लिये आतुर हो उठी, परन्तु वह उसकी माँग को टालता ही रहा। वह अपने आपको स्वतन्त्र ही रखना चाहता था। इसे देखकर वह उससे क्रुद्ध हो उठी और उसने अपना विवाह उसके प्रतिद्वन्द्वी से कर लिया। इससे उक्त पुलिस अधिकारीको भारी दुःख और चिन्ता हुई। वह अब अपनी भर्त्सना करने लगा। अपनी चिंता को भुलाने के लिये वह शरावी और वेश्यागामी बन गया। एक बार एक वेश्या ने उससे कह दिया कि वह तो नपुंसक हो गया है। इस बात का उसके मन पर बड़ा धक्का लगा। अब वह वास्तव में किसी स्त्री के पास जाने की हिम्मत नहीं करता था। नपुंसकता की चिन्ता ने उसे वास्तव में नपुंसक बना दिया। इस चिन्ता से उसे पेरानोइया अर्थात् विषम पागलपन हो गया। जिस प्रकार अपने पुरुषार्थ का अभिमान दूसरों पर अत्याचार करता है, उसी तरह अपनी असमर्थता अथवा नपुंसकता का ज्ञान उसे पागल बना देता है। ये एक दूसरे के पूरक हैं।*

जिस मनुष्य को जितना अधिक अभिमान होता है, उसके अभिमान-क्षेत्र में उतने अधिक विरोधी हो जाते हैं। जिस क्षेत्र में एक व्यक्ति काम करता है उसी क्षेत्र में दूसरे लोग भी काम करते रहते हैं। इन लोगों से उसका संघर्ष होता है। जब तक ऊपर बढ़नेवाला व्यक्ति अपने आपको दूसरों से अधिक योग्य सिद्ध न करे, तब तक वह आगे भी नहीं आ सकता। अतएव उसे अपने समान योग्यता के दूसरे लोगों की निन्दा करनी पड़ती है। इसके परिणामस्वरूप वे उसके शत्रु बन जाते हैं। इस प्रकार जैसे-जैसे कोई मनुष्य आगे बढ़ता जाता है, उसके शत्रुओं की संख्या बढ़ती जाती है।

जिस प्रकार आगे बढ़नेवाला व्यक्ति दूसरे लोगों की निन्दा करता है, उसी प्रकार वे भी उसकी निन्दा करते हैं। फिर दूसरे लोगों से उसका द्वेष बढ़ने

---

* महात्मा कबीर का वचन इस प्रसंग में मननीय है—

नीचे नीचे होय रहो, ज्यों पहाड़ की दूब।
ऊँचे ऊँचे जल गये, दूब खूब की खूब॥

लगता है। ऐसी अवस्था में उसमें अपने दुर्गुणों को देख सकने की सामर्थ्य नहीं रहती। उसे अपने ही अवगुण अपने आपमें न दिखाई देकर विरोधियों में दिखते हैं। मान लीजिए, वह दूसरे लोगों से घृणा करता है तो वह सोचता है कि दूसरे लोग ही उससे घृणा करते हैं। वह अपने आचरण में किसी प्रकार की अनुदारता का लक्षण नहीं पाता, परन्तु अपने विरोधी में सभी प्रकार की अनुदारता ही देखता है। यदि वह व्यभिचारी है और इसके कारण उसकी निन्दा होती है, तो वह सोचता है कि लोग द्वेषवश उसकी निन्दा करते हैं। वह अपने किसी विशेष विरोधी में ही व्यभिचार की खोज करता है। दूसरे लोगों में अनेक प्रकार के अवगुण देखने लग जाना मनुष्य के पतन का सूचक है। इससे दूसरे लोगों से घृणा का भाव उत्पन्न हो जाता है। घृणा भय का जनक है। घृणा स्वयं ही दबा हुआ भय है। भय चिन्ता उत्पन्न करता है। चिन्ता से मानसिक शक्ति का अपव्यय होता है। मानसिक शक्ति के अपव्यय से मनुष्य की इच्छा-शक्ति निर्बल होती है। इच्छाशक्ति के निर्बल होने पर मनुष्य के मन में अनेक प्रकार की अभद्र कल्पनाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। ये कल्पनाएँ प्रयत्न करने पर भी मन से बाहर नहीं जातीं। इनसे लड़ते-लड़ते मनुष्य अपनी सामर्थ्य और आत्म-विश्वास को खो देता है। आत्म-विश्वास खोए हुये मनुष्य को यदि यह सूझ जाय कि कोई ग्रह उसके विरुद्ध है, अथवा कोई भूत-प्रेत, देवी-देवता, ब्रह्म आदि उसके विनाश पर तुले हैं तो उसे इनपर विश्वास हो जाता है। इस प्रकार के विश्वास से उसे विशेष प्रकार का आत्म-संतोष होता है। जिस प्रकार शारीरिक रोग मानसिक रोगी का मानसिक भार कम कर देता है, उसी प्रकार अपने दुर्दिन की कल्पना, भूत-प्रेत की कल्पना मनुष्य को पागल होने से बचा लेती है। मनुष्य अपने पतन का कारण कहीं-न-कहीं अपने से बाहर खोजने की चेष्टा करता है। अभिमानी मनुष्य में आत्म-निरीक्षण की शक्ति नहीं रहती। अतएव यदि उसे किसी कल्पित पदार्थ में, जिसे वह सच्चा जानता है, अपने पतन का कारण मिल जाय तो वह बहुत कुछ चिन्ता से मुक्त हो जाता है; नहीं तो वह चिन्ता के भार से लदकर पागल हो जाता है। यही कारण है कि जो लोग अमानवी प्रकोप में विश्वास नहीं करते वे इस प्रकोप में विश्वास करनेवाले लोगों की अपेक्षा अधिक पागल हो जाते हैं। दुःख भोगते-भोगते जब मनुष्य का अभिमान कम हो जाता है तो उसकी घृणा की मनोवृत्ति भी नष्ट हो जाती है, फिर भय, चिन्ता और अभद्र कल्पनाएँ भी नष्ट हो जाती हैं। इस प्रकार मनुष्य में आस्तिक सुधार हो जाता है।

निरभिमान कैसे हुआ जाय ? इस प्रश्न के उत्तर में पहले तो यही कहा जा सकता है कि स्वयं प्रकृति ही मनुष्य को सदा अभिमान से मुक्त होने में सहायता देती रहती है। प्रकृति सदा नीचे को ऊँचा उठाती और ऊँचे को नीचे गिराती रहती है। हिन्द महासागर में एक पूरा महाद्वीप डूबा हुआ है और हिमालय पहाड़ कभी जल के भीतर था। हिमालय की कुछ ऊँची चोटियों पर मछलियों की पुरानी हड्डियों की प्राप्ति से यह सिद्ध होता है। अतएव जो लोग आज ऊँचे हैं, वे कल नीचे गिर सकते हैं और जो कल नीचे थे, वे ऊँचे उठ सकते हैं। इस प्रकार प्रकृति मानव-धरातल में परिवर्तन करती रहती है। जब किसी मनुष्य की अधिक वृद्धि हो, तो उसे इसके प्रति सावधान हो जाना चाहिए। जो व्यक्ति जितना ऊँचा उठेगा, वह नीचे गिरने पर उतनी ही अधिक चोट खायगा। अमरूद के पेड़ से गिरा व्यक्ति कुछ चोट खा जाता है, मरता नहीं; परन्तु ताड़ के पेड़ से गिरा व्यक्ति नहीं बचता। अतएव अपने लौकिक जीवन में बहुत ऊँचा उठ जाना ही अनर्थमूलक है। अपने बढ़ते अभिमान की जब किसी प्रकार प्राकृतिक रूप में कमी हो जाय, तो इससे मनुष्य को दुःख न मानकर प्रसन्न ही होना चाहिए।

जिस प्रकार प्राकृतिक रूप से मनुष्य का अभिमान घटता है, उसी प्रकार मनुष्य अपने प्रयत्न से भी अपने अभिमान को घटा सकता है। अभिमान को घटाने के कुछ सरल उपाय यहाँ दिये जाते हैं—

(१) अभिमान की बुराइयों पर विचार करना।
(२) प्रसिद्धि और सामाजिक सम्पर्क से बचना।
(३) दूसरों की बुराइयाँ न सोचना और न सुनना।
(४) अपनी सफलता का अधिक चिन्तन न करना।
(५) संतुलित जीवन रखना।
(६) अनित्यता का अभ्यास नित्य प्रति करना।
(७) अपने आप को विश्वात्मा का यंत्र मात्र मानना।
(८) निरभिमान व्यक्ति के संपर्क में रहना।
(९) शान्तभावना का अभ्यास नित्य प्रति करना।

अभिमान अविवेकी पुरुष को होता है। सभी प्रकार की बुराइयाँ विवेक की सुप्तावस्था में आती हैं। विवेक के जाग्रत होने पर मनुष्य किसी प्रकार की मूर्खता में नहीं पड़ता। विवेक मनुष्य को अपने भीतर रहनेवाले शत्रुओं के प्रति ही सचेत कर देता है। जो मनुष्य अपनी कमजोरियों के प्रति जागरूक रहता है, वह

अभिमान की भावना को अपने मन में दृढ़ नहीं होने देता। अभिमान एक प्रकार की मानसिक कमजोरी है, जो दूसरी अनेक मानसिक कमजोरियों को मनुष्य की दृष्टि से ओझल करती है। यह मनुष्य का घोर शत्रु है; अतएव जो व्यक्ति जितना ही अधिक इसके प्रति सावधान रहता है, वह उतना ही भाग्यवान है। इसके लिए मनुष्य को अपनी आलोचना समय-समय पर सुनते रहना चाहिए। जो व्यक्ति अपने आलोचकों से परेशान हो जाता है, जो अपने निन्दकों के विनाश पर तुल जाता है, वह अपने सुधार के एक मात्र साधन को भी खो देता है। इमरसन महाशय का कथन है कि जब मेरी आलोचना होती रहती है, तो मुझे अपनी बुराइयों से भय नहीं होता, क्योंकि मैं जानता हूँ, कि मैं कहाँ हूँ, परन्तु जब मेरी प्रशंसा ही होने लगती है, तब मुझे भय हो जाता है, क्योंकि ऐसी स्थिति में मेरी कमजोरियाँ मेरी दृष्टि के सामने ही न आवेंगी।*

निन्दक मनुष्य के अभिमान को नष्ट कर देते हैं और उसके प्रशंसक अभिमान को बढ़ाते हैं। मनुष्य अधिकतर अपने निन्दकों से क्रुद्ध होता है और प्रशंसकों से प्रसन्न होता है। परन्तु यह उसकी मूर्खता है। विवेकी पुरुष इसके ठीक उलटा आचरण करता है। निन्दक तो मनुष्य के सेवक हैं, और उसके प्रशंसक विनाशक हैं—विशेषकर वे प्रशंसक जो उसकी प्रशंसा उसके मुख पर अथवा केवल उसके मित्रों के सामने करते हैं, ताकि उनकी बात उनके कान तक पहुँच जाय। मनुष्य को उसके मुँह पर गाली देनेवाले व्यक्ति से सावधान रहने की इतनी आवश्यकता नहीं है, जितनी आवश्यकता उसके समक्ष उसकी प्रशंसा करनेवालों से है। जो हमारी बुराइयों को प्रकाश में ले आवे, उसका हमें ऋणी रहना है। बुराइयाँ तो कभी न कभी प्रकाश में आवेंगी ही, परन्तु वे घातक बनने के पूर्व प्रकाशित हो जायँ तो अच्छा ही है। निन्दक पहले से ही हमें अपनी बुराइयों के प्रति सतर्क बना देता है।

जिस प्रकार अपनी बुराइयों को जानना मनुष्य के अभिमान को कम करता है, उसी प्रकार दूसरे लोगों की बुराइयाँ न जानने, उन पर चिन्तन न करने और चर्चा न करने से भी मनुष्य के अभिमान में कमी होती है। जो मनुष्य अपना कल्याण चाहता है, उसे दूसरे लोगों की खूबियों को जानने की चेष्टा करनी

---

* यहाँ महात्मा कबीर की निम्नलिखित शिक्षा उल्लेखनीय है—

निन्दक नियरे राखिये, आँगन कुटी छवाय।
बिन पानी साबुन बिना, निर्मल करे स्वभाव॥

चाहिए। जब हम दूसरों की बुराइयों का चिन्तन करते हैं, तो वे बुराइयाँ हमारे चरित्र में ही आ जाती हैं और जब हम सच्ची सद्भावना से दूसरे के गुणों की चर्चा करते और उनका मनन करते हैं, तो वे गुण हममें ही आ जाते हैं। दूसरों की बुराइयों के चिन्तन से केवल हमारा अभिमान ही बढ़ता है।

दूसरों की निन्दा करना अपने दुर्गुणों को दृष्टि से ओझल करने का उपाय है। यह मिथ्या आत्मसन्तोषप्राप्ति का साधन है। अभिमानी पुरुष को संसार में अथवा समाज में कोई भला मनुष्य नहीं दिखाई देता और निरभिमानी को कोई बुरा नहीं दिखाई देता। एक बार दुर्योधन से किसी सभा में पूछा गया कि वह उस सभा में किसी भले मनुष्य को बतावे। उसने सभी की ओर अपनी दृष्टि डाली और कहा कि मुझे इस सभा में कोई भला मनुष्य नहीं दिखाई देता। जब युधिष्ठिर से बुरे को बताने को कहा तब उन्होंने कहा कि मुझे इस सभा में कोई बुरा व्यक्ति दिखाई नहीं देता। यह दृष्टि का भेद अपने दुर्गुणों और सद्गुणों का दूसरों में आरोपण के कारण हुआ। बुरा मनुष्य दूसरों की बुराइयों पर ही चिन्तन करता है। वह अपने आपको ही भला मान बैठा है, अतएव वह किसी को अपने से भला मानने के लिए तैयार नहीं रहता। इससे उसकी बुराइयाँ बढ़ती जाती हैं। भला मनुष्य इसके ठीक विपरीत कार्य करता है। वह दूसरों में भलाई देखकर उन्हें अपना लेता है।

मनुष्य दूसरों की बुराइयों का चिन्तन अथवा उनकी चर्चा अपनी बुराइयों को ढाँकने की इच्छा से करता है। अभिमानी मनुष्य अपने अन्तश्चेतन में अपनी बुराइयों को जानता ही है। इसके कारण उसका मन बेचैन रहता है। वह अपनी इस बेचैनी को दूसरे लोगों की बुराइयों का चिन्तन करके अथवा चर्चा करके दबाने की चेष्टा करता है, अर्थात् वह सोचता है कि यदि मैं बुरा हूँ, तो मुझसे भी तो बुरे दूसरे अनेक लोग हैं। इस प्रकार वह अपना मिथ्या आत्म-संतोष करता है। परन्तु जो बात मन के भीतरी स्तर में है, वह किसी-न-किसी समय बाहर आ ही जाती है। जागरूक बुद्धि का पुरुष जब अपने आपको दूसरे की बुराइयों का चिन्तन करते हुए पाता है, तो वह अपने ही प्रति सावधान हो जाता है। वह जान जाता है कि इस प्रकार के चिन्तन का प्रेरक उसके अचेतन मन में छिपी बुराई है। दूसरे व्यक्ति में किसी बुराई को सोचना अपनी ही छिपी बुराई का आरोपण मात्र है। इस प्रकार की जागरूकता से मनुष्य का अभिमान बढ़ नहीं पाता और उसे वे कष्ट नहीं उठाने पड़ते, जो अपने विषय में अज्ञ व्यक्ति को उठाने पड़ते हैं।

मनुष्य के अभिमान की वृद्धि अपनी लौकिक सफलता पर अधिक चिन्तन करने से होती है। नेपोलियन जब अपनी सफलता का अधिक चिन्तन करने लगा, तो वह अपने आपको अजेय समझने लगा। इसके कारण वह अपने प्रबल विरोधियों की परवाह नहीं करता था। जब मनुष्य को अपनी सामर्थ्य पर अत्यधिक विश्वास हो जाता है, तो वह कई प्रकार की भूलें कर बैठता है। नेपोलियन को अपनी राजनीतिक कुशलता और सैन्य-संचालन पर जब अत्यधिक विश्वास हो गया, तो वह न केवल राजनीतिक वरन् सैनिक भूलें भी करने लगा और इस प्रकार विनाशोन्मुख हुआ। इसी प्रकार हिटलर की असाधारण सफलता ने उसके अभिमान को इतना बढ़ा दिया कि वह अपने कुशल सलाहकारों की बातों के विरुद्ध भी काम करने लगा था। लड़ाई के समय आक्रमण करने लगा था। यदि डनकर्क की लड़ाई के पश्चात् हिटलर इंग्लैण्ड पर आक्रमण करता तो आज संसार का इतिहास दूसरा ही होता। इसी प्रकार हठवश हिटलर ने पिछली लड़ाई में अपने जनरलों की सलाह के विरुद्ध मास्को पर आक्रमण न कर स्टालिन-ग्राड पर आक्रमण किया। इस आक्रमण में उसकी सैनिक शक्ति इतनी खर्च हो गई कि वह आगे कार्यक्रम को ठीक से न पूरा कर सका और उसका हठ ही उसके विनाश का कारण बना। बड़े-बड़े वैद्य, सफल रोजगारी, कुशल धर्मोपदेशक, जब अपनी सफलता का अधिक चिन्तन करने लगते हैं, तो वे अनायास ही अक्षम्य भूलें कर डालते हैं और इस प्रकार उनका पतन हो जाता है। अतएव अपनी सफलता का अधिक चिन्तन न करना और उसकी चर्चा न करना ही अच्छा है।

अभिमान को नियंत्रित रखने का एक सरल उपाय अपने आपको समाज-सम्पर्क से बचाना है। बहुत-से लोग अकेले रह ही नहीं सकते, उन्हें सदा समाज में आने की इच्छा होती रहती है। राजनीतिक नेता जब अकेले जेल में रखे जाते थे, तो वे प्रायः रुग्ण हो जाते थे। इस प्रकार अकारण बीमार हो जाना उनकी लोक-प्रशंसा सुनने की इच्छा का द्योतक है। जो व्यक्ति अकेले प्रसन्न रह सकता है, वह बड़ा मनस्वी और संयमी होता है। अभिमान की पूर्ति समाज में आकर ही होती है, अतएव अभिमानी व्यक्ति बिना समाज के नहीं रह सकता। परन्तु यह किसी मनुष्य का दुर्भाग्य है कि वह अकेले अपना कुछ भी समय व्यतीत नहीं कर सकता। वर्तमान काल में सदा प्रकाश में रहने की मनोवृत्ति बढ़ गई है कि जब मनुष्य अकेला छूट जाता है तो वह मृत्यु का आवाहन करने लगता है। हाल में ही अमेरिका में यह प्रश्न पूछा गया कि कितने लोग तीन दिन किसी दूसरे व्यक्ति से मिले, अखबार अथवा रेडियो पढ़े बिना अकेले किसी

मकान में भोजन और शारीरिक आराम पाते हुए रह सकते हैं तो बहुत से लोगों ने तो इस प्रकार के प्रश्न को पागलपन ही बताया। दस-पाँच लोग ही ऐसे मिले जिन्होंने कहा कि वे किसी प्रकार तीन दिन अकेले रहकर काट सकते हैं। अकेले रहने पर मनुष्य के अप्रिय भाव अभद्र कल्पनाओं का रूप लेकर चेतन के स्तरपर आने लगती हैं। समाज में रहकर मनुष्य इन्हें दबाते रहता है। जब समाज का सम्पर्क छूट जाता है तो मनुष्य को इन परेशानियों से बचानेवाला कुछ नहीं रह जाता। आधुनिक मानव को जितना भय बाहरी शत्रुओं से है उससे कहीं अधिक स्वयं से ही है। अपने भीतरी शत्रुओं से बचने के लिये ही मनुष्य की शरण लेते रहता है। परन्तु यह एक प्रकार का मिथ्या आत्म-सन्तोष है। इससे सच्ची बीमारी कम न होकर बढ़ती ही जाती है।

जब हम समाज में रहते हैं, तो हम समाज को मानते हैं; अपने आपका ज्ञान हमें नहीं होता। हमें अपना ज्ञान उतना ही होता है जितना अपने विषय में हम दूसरों से सुनते हैं। परन्तु यह ज्ञान अपने अभिमान का ज्ञान है। यह हमारे सम्पूर्ण व्यक्तित्व का ज्ञान नहीं है। हमें अपने आपका अर्थात् अपने सम्पूर्ण स्वभाव का, अपने चेतन और अचेतन मन का ज्ञान तभी होता है, जब हम समाज से अलग होकर अपनी ही चेष्टाओं, विचारों और भावों पर साक्षीभाव से चिन्तन करते हैं। इस प्रकार का चिन्तन बिना एकान्तवास के नहीं होता। यदि किसी वैज्ञानिक ने कोई बड़े महत्त्व की वैज्ञानिक खोज की है, यदि किसी दार्शनिक ने कोई बड़ा ही उपयोगी विचार समाज को दिया है तो वह उसके एकाकी चिन्तन का परिणाम है। कितने ही लोग समाज में रहते हुए भी अपने विचारों में समाज से अलग हो जाते हैं। उन्हें परिवार अथवा दुनियां के अस्तित्व का भी ज्ञान नहीं रहता। एक बार सुकरात अपने घर में कुर्सी पर बैठा किसी गम्भीर विचार में निमग्न था। इस समय उसकी स्त्री जेन्टपी कुछ बड़बड़ाती हुई उसके पास आई और घर की चिंता न करने के लिये उसे उलटा-सीधा सुनाने लगी। सुकरात उसकी ओर देखता था, परन्तु उसका ध्यान किसी और बात में लगा था। वह उसकी आकृति को देखकर और भी चिढ़ गई। उसने गाली देना आरम्भ किया। सुकरात ने कुछ मुसकरा दिया। इस पर तो उसने एक बर्तन में पानी लेकर गोबर घोरा और उसे विचारों में समाधिस्थ सुकरात के ऊपर डाल दिया। सुकरात की समाधि कुछ काल के लिए भंग हो गई। उसने अपनी स्त्री से कहा—"मैंने सुना था कि जब बादल गरजते हैं तो बरसते नहीं, पर आज गरजते हुये बादल बरस भी गये।" इतना कहकर वह अपने विचार में फिर निमग्न हो गया।

समाज से उचित सम्पर्क कुछ बँधे नियमों के पालन से हो जाता है; इससे मनुष्य समाज के साथ भी रह लेता है और उससे अलग भी हो जाता है। इमेनुअल कान्ट के जीवन के बड़े कड़े नियम थे। वह प्रतिदिन जिस समय जहाँ जाना चाहता था वह अवश्य वहाँ पहुँचता था। उसका खाने-पीने, सोने, उठने-बैठने, पढ़ाने जाने और घूमने जाने का समय बँधा हुआ था। जब वह अपने समय पर पढ़ाने अथवा घूमने जाता तो रास्ते के लोग अपनी घड़ियाँ ठीक कर लेते थे। जिस समय वह घूमता रहता था किसी से बोलता नहीं था। वह प्रतिदिन एक पेड़ के नीचे निश्चित दूरी में टहलता रहता था। इसी समय वह गम्भीर दार्शनिक विषयों पर चिन्तन करता था। "क्रिटिक आफ प्योर रीजन" इसी प्रकार के ४० वर्ष तक के घूमने का परिणाम है।

हम अपना कितना समय बकवाद में खोते हैं, इसका क्या ठिकाना है। यह बकवाद केवल हमारे अभिमान को बढ़ाता है। स्वामी रामतीर्थ कहते थे कि संसार के लोगों को यह प्रार्थना करना सिखाया जाता है "हे ईश्वर, तुम हमें शत्रुओं से बचाओ परन्तु हमें प्रार्थना करनी चाहिए कि हे ईश्वर, तुम हमें अपने मित्रों से बचाओ।" जिस व्यक्ति के सैकड़ों मित्र होते हैं, उसे कोई गम्भीर चिन्तन करने की फुरसत ही नहीं मिलती। ऐसे व्यक्ति को अपने आपका ज्ञान भी नहीं होता। वह कोरा अभिमानी बन जाता है।

अभिमान असंतुलित जीवन का परिणाम है। हम सभी लोगों को अपने आपको विशेष प्रकार का व्यक्ति सिद्ध करने की प्रबल इच्छा रहती है। यह हमारी आन्तरिक कमी की अनुभूति का परिचायक है। जिस व्यक्ति के अचेतन मन में जितनी ही प्रबल आत्म-हीनता का भाव रहता है, वह उतना ही अधिक अपने आपको दूसरों से अधिक योग्य सिद्ध करने की चेष्टा करता है। इस प्रकार की चेष्टा के परिणामस्वरूप वह अपने व्यक्तित्व के विशेष अंग अथवा शक्ति पर अधिक ध्यान देता है और उसकी दूसरी शक्तियाँ अविकसित रह जाती हैं। जिस शक्ति की विशेष वृद्धि हो जाती है उसका विशेष अभिमान भी हो जाता है। फिर यही अभिमान उसे दुःख में डालता है। ऐसा होना स्वाभाविक ही है। किसी विशेष योग्यता अथवा शक्ति की वृद्धि करने के लिए उससे अधिक काम लेना पड़ता है। इससे दूसरी शक्तियों का दमन होता है। फिर ये दमन की गई शक्तियाँ नैसर्गिक विधि से प्रकाशित शक्ति के विरुद्ध काम करने लगती हैं। जब वे इस प्रकार क्रियाशील होती हैं, तभी मनुष्य को प्रकाशित शक्ति के लिए अर्थात् अपने बल का अभिमान होने लगता है। वास्तव में यह अभिमान इस

बात का द्योतक है कि उपेक्षित अथवा दमन की गई शक्तियाँ मनुष्य के व्यक्तित्व के विरुद्ध षड्यन्त्र रच रही हैं। जिस प्रकार दीपक बुझने के पूर्व एकाएक अधिक प्रकाशवान हो जाता है; उसी प्रकार पतन के पूर्व मनुष्य का अभिमान अत्यधिक बढ़ जाता है।

जो मनुष्य सदा विद्याध्ययन, व्यापार, राजनीति अथवा समाजोद्धार के कार्य में लगा रहता है और अपने जीवन की दूसरी आवश्यकताओं पर ध्यान नहीं देता, वह अपने जीवन का सन्तुलन विगाड़ देता है। ऐसा व्यक्ति कुछ दिनों तक अपने कार्य में सफल होता है, परंतु उसकी सफलता ही उसके पतन का कारण बन जाती है। मनुष्य की सफलता जैसे-जैसे बढ़ती जाती है, उसके हौसले भी वैसे-वैसे बढ़ते जाते हैं। वह नये-नये कामों की योजनाएँ बनाने लगता है। वह अपने उपेक्षित अंग की परवाह नहीं करता। परन्तु एक समय आता है जब उसकी सभी मानसिक शक्ति खर्च हो जाती है और फिर वह अपने काम में अनेक भूलें करने लगता है। इन भूलों का कारण वे दबी भावनाएँ होती हैं, जो अभी तक उपेक्षित रहीं। अब वे अपनी विध्वंसकारी करतूतें दिखाने लगती हैं। अतएव यदि कोई मनुष्य मनोविज्ञान के उक्त नियम को समझकर पहले से ही अपने जीवन को संतुलित बनाये, तो उसे फिर निराश होने का अवसर ही न मिले। न उसका अभिमान अधिक बढ़ेगा और न उसे नीचे गिरना पड़ेगा, राजनीतिक नेताओं के बच्चे उद्दण्ड हो जाते हैं, विद्या-व्यसनियों की सन्तान अशिक्षित रह जाती हैं अथवा विद्या से घृणा करने लगती है, धार्मिक शिक्षकों अथवा समाज-सुधारकों के सम्बन्धी दुराचारी, व्यभिचारी हो जाते हैं।* इस प्रकार जिस व्यक्ति को जिस बात का अभिमान रहता है, उसी के विपरीत बातें आस-पास की परिस्थितियों में अपने आप ही उत्पन्न हो जाती हैं। यह इस बात का द्योतक है कि किसी प्रकार की एकाङ्गी वृद्धि वांछनीय नहीं है, मनुष्य को

---

* उपरोक्त मनोवैज्ञानिक इस बात का सत्य कारण बताता है कि महापुरुषों की सन्तान क्यों निकम्मी हो जाती है और उनके बिलकुल समीप रहनेवाले लोगों में ही क्यों सबसे अधिक मानसी कमजोरियाँ पाई जाती हैं। ये कमजोरियाँ उनके अचेतन मन अथवा दमित भावों को व्यक्त करती हैं। इन्हें उन्होंने शिक्षित करने की चेष्टा ही नहीं की, वरन् सदा दृष्टि से ओझल रखा। अपने व्यक्तित्व में महापुरुषों की खूबियाँ प्रकाशित होती हैं और उनके पुत्रों, पुत्रियों तथा शिष्यों में उनकी बुराइयाँ प्रकाशित होती हैं। इनकी जड़ उनके अचेतन मन में ही रहती है।

अपने जीवन के सभी अङ्गों को समुचित रूप से विकसित करने की चेष्टा करनी चाहिये।

अपने अभिमान के निराकरण के लिए भगवान् बुद्ध का बताया हुआ एक उपाय सदा अनित्यता का अभ्यास है। संसार के प्रति आसक्ति और अभिमान एक दूसरे के सापेक्ष हैं। जैसे-जैसे मनुष्य की आसक्ति कम होती है, वैसे-वैसे उसका अभिमान भी कम होता है। संसार के प्रति आसक्ति कम करने के लिये सभी पदार्थ दुःखरूप हैं और सभी अनित्य हैं, इस भावना का अभ्यास करना चाहिये। जिस मनुष्य का उक्त अभ्यास दृढ़ हो जाता है, वह अपनी किसी प्रकार की वृद्धि से मदान्ध नहीं होता। वह जानता है कि यह वृद्धि क्षणिक है। किसी समय उसकी वृद्धि समाप्त हो सकती है।†

जर्मनी के प्रसिद्ध विद्वान् शोपनहावर महाशय का कथन है कि मृत्यु का विचार ही दार्शनिक विचार का जन्मदाता है।* जो मनुष्य सांसारिक जीवन को नित्य मान बैठा है, उसकी बुद्धि का सुधार कैसे हो सकता है? एक अविद्या दूसरी अविद्या की जनक होती है। इस प्रकार अविद्या की संतति निर्मित हो जाती है। संसार की अनित्यता का विचार मूल अविद्या का ही विनाशक है। जो जितना ही इस विचार का अभ्यास करेगा, वह अभिमान और तज्जनित अनेक प्रकार के दोषों से अनायास ही मुक्त हो जायगा।

जिस प्रकार अनित्यता का अभ्यास अभिमान का विनाशक है, उसी प्रकार अपने आपको विश्वात्मा का यंत्र मात्र मानना भी अभिमान का विनाशक है। मनुष्य अपनी किसी प्रकार की योग्यता पर बड़ा गर्व करता है, वह नहीं जानता कि वह किसी भी समय पागल हो सकता है। कितने ही लोग अपनी विद्या पर गर्व करते हैं, वे नहीं जानते कि उनका किसी भी विषय का ज्ञान बिलकुल तुच्छ है। सुकरात अपने आपको होशियार केवल इसलिये ही मानता था कि वह जान गया था कि वह अज्ञ है। हम विश्व-संचालन के नियमों को कितना कम जानते हैं और विश्व-निर्माता की शक्तियों से कितने अनभिज्ञ हैं, यह कौन कहेगा? हम

---

† प्रत्येक विवेकी पुरुष कबीर की निम्नलिखित पंक्तियों का मनन करता है—

झूठे सुख सों सुख कहे, मानत हैं मन मोद।
जगत कलेवा काल का, कुछ मुख में कुछ गोद॥

यह विचार मनुष्य के अभिमान को अनायास कम करता है।

* The thought of death is the beginning of Philosophy—Schopenhouer

तभी तक शक्तिवान हैं, जब तक हम अपना सम्पर्क विश्व-संचालन करनेवाली शक्ति से बनाये हुए हैं। यह हमारी बुद्धि को प्रकाशित करती है, मन में संकल्प उत्पन्न करती है, प्राणवायु का संचालन करती है और हाथों में बल देती है। यह शक्ति किसी व्यक्ति की बपौती नहीं। यह सभी प्राणियों में एक समान उपस्थित है। जो व्यक्ति अभिमान छोड़कर अपने आपको जितना ही अधिक इस शक्ति के प्रति अर्पित कर देता है, वह उतना ही शान्त मन रहता है। इस शक्ति का स्मरण मात्र अभिमानरूपी पागलपन का विनाशक है।

इस प्रसंग में केनोपनिषद् का ब्रह्म का देवीरूप में देवताओं के समक्ष आने का उपाख्यान उल्लेखनीय है। एक बार अग्नि, वायु और वरुण की आपस में होड़ हुई कि बलवान कौन है। प्रत्येक देवता समझता था कि मैं दूसरों से अधिक बली हूँ। सभी अपने बल-सम्बन्धी निर्णय के लिये इन्द्र के पास गये। इन्द्र ने इसे एक भारी संकट समझकर ब्रह्म का ध्यान किया। ब्रह्म उसी समय एक रूपवती युवती के वेष में उपस्थित हो गया। यह युवती बाहर से आती हुई दिखाई दी। जब वह समीप आई तो उसने सभी देवताओं का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लिया। युवती ने उन लोगों के एकत्र होने का कारण पूछा। उससे कहा गया कि हमलोग जानना चाहते हैं कि हममें से अधिक बली कौन है। उस युवती ने कहा "यह तो बड़ी सरल बात है। मैं अभी इसका निर्णय कर देती हूँ।" उसने वायु से पूछा—"तुम क्या कर सकते हो?" वायु ने कहा—"मैं क्षण भर में सारे विश्व को तोड़-फोड़ सकता हूँ।" उसने एक तिनका उठाया और कहा कि इस तिनके को तो उड़ाओ। वायु ने अपना सारा जोर लगाया, परन्तु तिनका न उड़ा। फिर उसने अग्नि से वही प्रश्न पूछा। अग्नि ने अपनी जलाने की शक्ति बताई। उससे भी तिनका जलाने को कहा गया। परन्तु अपना सारा बल लगाकर भी वह तिनके को न जला सका। सभी देवता विस्मित हो गये। कुछ समय बाद वह देवी अन्तर्ध्यान हो गई। फिर इन्द्र ने कहा कि जिस बल का तुम अभिमान करते हो, वह बल तुम्हारा नहीं, वह उसी देवी का है जो तुम्हारे सामने आई थी। अतएव देवी के बल को अपना समझकर किसी प्रकार का गर्व मत करो।

उक्त उपाख्यान यह दर्शाता है कि मनुष्य वास्तव में अपनी शक्ति के भरोसे कुछ भी नहीं कर सकता। उसकी शक्ति सभी प्राणियों को जीवित रखनेवाली शक्ति से आती है। मनुष्य जितना ही इस शक्ति का स्मरण करता है और उसकी शरण में अपने आपको अर्पित करता है, वह उतना ही अपने आपको

शक्तिशाली और शान्त बनाता है। उसका अभिमान इस आत्म-समर्पण के भाव से नष्ट हो जाता है। वास्तव में यह आत्म-समर्पण आत्म-परिचय भी है। जब मनुष्य अपने छोटे स्वत्व का अभिमान छोड़ देता है, तो वह अपने आपको विश्वात्मा से एक पाता है। ऐसा ही व्यक्ति अपने में सबको और सबको अपने में देखता है। ऐसी अवस्था में अभिमान कहाँ ?

उक्त अनुभूति की प्राप्ति उन लोगों के द्वारा सरलता से हो जाती है, जो अपने आपको विश्वात्मा में खोए हुये हैं। ऐसे लोगों के प्रति श्रद्धा रखना उनके अनुभव से लाभ उठाना है। जिस प्रकार के व्यक्ति के सम्पर्क में हम रहते हैं, जिसके प्रति हम श्रद्धा करते हैं, उसके गुण हममें अपने आप ही बिना प्रयास के चले आते हैं। "श्रद्धामयोऽयं पुरुषः यो यच्छ्रद्धः स एव सः।" मनुष्य का आदर्श स्वत्व श्रद्धामय है। जो व्यक्ति जैसी श्रद्धा रखता है, वह वैसा ही है। मनुष्य की भावनाएँ, कल्पनाएँ और विचार ही उसके जीवन का सार भाग हैं। यही अव्यक्त से व्यक्त हो जाते हैं। हम जिन लोगों के सम्पर्क में रहते हैं, जिनसे प्रेम करते हैं, जिनके विचारों और भावनाओं का हम आदर करते हैं, उन्हीं के समान हम हो भी जाते हैं।

महान् आत्माओं से सम्पर्क उनके व्यक्तिगत परिचय से होता है। परन्तु इससे भी अधिक परिचय उनकी जीवनियों को जानकर और उनके विचारों और भावनाओं को अपने आप में लाकर होता है। मनुष्य का भौतिक स्वत्व सीमित है, परन्तु उसका आध्यात्मिक स्वत्व देश और काल की सीमाओं से नहीं बँधा है। हम अपने घर में बैठे हुये ईसामसीह, बुद्ध, सुकरात, इमरसन, काण्ट, शोपन हावर आदि महात्माओं की चर्चा कर रहे हैं। ये सभी स्वर्गवासी हैं। अब उनका भौतिक शरीर नहीं है, परन्तु आध्यात्मिक शरीर आज भी हमारे पास है और हम उनसे अपना तादात्म्य उसी प्रकार स्थापित कर रहे हैं, मानो वे हमारे कमरे में ही बैठे हों। भगवान बुद्ध ने अपने शिष्यों को शिक्षा दी कि मेरे पार्थिव शरीर के अनुगामी मत बनो, उस मार्ग पर चलो जिसे मैंने बताया है; अर्थात् धर्मपथ के अनुयायी बनो। इससे तुम्हारा कल्याण होगा। हम जिस समय जिस व्यक्ति का चिन्तन करते हैं, उस समय हम वही हो जाते हैं। अतएव महात्माओं का चिन्तन हमें निरभिमान बना देता है।

निरभिमान होने का अन्तिम उपाय शांत भावना का अभ्यास है। उक्त सभी उपाय शान्तभाव को दृढ़ करने में सहायक होते हैं, परन्तु साध्य शान्ति-भाव ही है। शान्ति-भाव के स्थापित हो जाने पर अभिमान को स्थान कहाँ ?

अभिमान अशान्त मन की उपज है। जब शान्तभाव आता है, तो मनुष्य का अभिमान शून्य में विलीन हो जाता है। अभिमानी मनुष्य दूसरों की प्रशंसा का भूखा रहता है। प्रशंसा प्राप्त कर वह आत्म-सन्तोष पाना चाहता है। परन्तु जैसे-जैसे उसकी प्रशंसा होती जाती है, उसकी यह भूख बढ़ती ही जाती है। जब मनुष्य को शान्त भावना के अभ्यास से आत्म सन्तोष अपने आप ही हो जाता है, तो वह भूत के समान सन्तोष के लिए इधर-उधर नहीं दौड़ता और उसका अभिमान भी समाप्त हो जाता है।

मनुष्य अभिमान की अवस्था में स्नायुओं की खिचाव की अवस्था में रहता है। अभिमानी मनुष्य के मन में सदा अन्तर्द्वन्द्व चला करता है। इससे स्नायुओं के खिचाव की स्थिति बनी रहती है। जब कोई मनुष्य शान्त भावना का अभ्यास करता है तो भीतरी भावनाओं का दमन करनेवाली व्यवस्था ढीली पड़ जाती है। इससे कभी-कभी दमित भावना चेतना के स्तर पर आ जाती है। अतएव शान्त भावना के अभ्यास के समय कभी-कभी मनुष्य असाधारण शारीरिक चेष्टायें करने लगता है, कभी-कभी वह बेहद हँसने और रोने लगता है अथवा पागल जैसा बकने लगता है। इस प्रकार दमित भावों का रेचन हो जाता है और मनुष्य को मानसिक साम्य प्राप्त हो जाता है।

शरीर और मन में बड़ा ही घनिष्ट सम्बन्ध है। जब मनुष्य के शरीर की शांत अवस्था रहती है तो उसका प्रभाव मन पर भी पड़ता है। शांत भावना के अभ्यास की प्रारम्भिक अवस्था में ही उत्पात होते हैं। परन्तु नित्यप्रति के अभ्यास से ये सभी शांत हो जाते हैं और मनुष्य को मानसिक सन्तुलन प्राप्त हो जाता है।

यहाँ यह बताना आवश्यक है कि अभिमान मन की असाधारण अवस्था है। मनुष्य को अपनी योग्यता का सामान्य ज्ञान रहना अभिमान नहीं है। इस प्रकार का सामान्य ज्ञान मनुष्य की मानसिक शक्तियों के एकीकरण के लिये, और लौकिक जीवन के सफलतापूर्वक संचालन के लिये आवश्यक है। जिस प्रकार हमें आँख, कान, नाक आदि इन्द्रियों का विचार तब तक नहीं आता जब तक वे स्वस्थ रहती हैं और अपना काम ठीक से करती रहती हैं, इसी प्रकार जब तक हमारा मानसिक स्वास्थ्य ठीक रहता है हमें विशेष प्रकार की योग्यता का ध्यान बार-बार नहीं आता। जब हमें ऐसे ध्यान आने लगें तब हमें समझना चाहिये कि हम अब अस्वस्थ हो रहे हैं। इस समय हमें अपने मानसिक सन्तुलन को सुधारना आवश्यक हो जाता है।

तेईसवाँ अध्याय

संसार का नैतिक विधान

जर्मनी के विख्यात दार्शनिक इमेनुअल काण्ट महाशय का कथन है कि मुझे दो बातें गम्भीर श्रद्धा से भर देती हैं; एक आसमान के नक्षत्र और दूसरे मनुष्य के भीतर चलनेवाला नैतिक विधान। इन दो की उपस्थिति यह दर्शाती है कि संसार की क्षणिक घटनाओं और मन की अनेक क्रियाओं के पीछे एक अमर चेतन सत्ता वर्त्तमान है; जो संसार में होनेवाली और मन में होनेवाली सभी घटनाओं की नियामिका है। जिस प्रकार प्रत्येक नक्षत्र निश्चित नियम के अनुसार अपनी-अपनी परिधि में घूमा करता है; वह अपना मार्ग नहीं छोड़ता, उसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य की कार्य-परिधि बनी है। उसे इस परिधि के अनुसार काम करना पड़ता है। यदि कोई नक्षत्र अपनी परिधि के बाहर जाना चाहे, तो सारे विश्व में खलबली मच जाय; उसी प्रकार यदि कोई मनुष्य अपनी कार्य-परिधि का त्याग करना चाहता है, तो उसके आन्तरिक जीवन में घोर अशान्ति उत्पन्न हो जाती है। शान्तिपथ नैतिक विधान का पथ है। इसको स्वीकार करके ही मनुष्य शक्तिवान, आरोग्यवान और प्रतिभावान बनता है। जो व्यक्ति नैतिक-विधान के विरुद्ध जाने की चेष्टा करता है, उसमें न तो शक्ति रहती है, न आरोग्य और न प्रतिभा।

प्रकृति की कोई क्रिया अनियमित नहीं है। सूर्य अपना कार्य नियम से करता है, पृथ्वी अपना काम नियम से करती है, इस प्रकार दूसरे नक्षत्र भी अपने काम नियम से करते हैं। पेड़ों का फलना-फूलना, बरसात-जाड़े आदि ऋतुओं का आना-जाना, अन्न का उपजना, प्राणियों का जीना-मरना सभी कार्य नियमों से संचालित होते हैं। जो नियम महान विश्व में काम करते हैं, वे ही प्रत्येक अणु में भी काम करते हैं। प्रत्येक अणु के भीतर अनेक परमाणु हैं। ये परमाणु निश्चित नियम के अनुसार अपनी परिधि के भीतर बड़े परमाणु के आस-पास उसी प्रकार परिक्रमा करते हैं, जिस प्रकार पृथ्वी सूर्य के आसपास परिक्रमा करती है। इन परमाणुओं से कार्य करानेवाला तत्व बड़ा ही सामर्थ्यवान है। जो तत्व महान विश्व में है और अणु में होनेवाली क्रियाओं का संचालन करता है, वही मनुष्य के भीतर चलनेवाले विचारों का भी संचालन करता है। वही तत्व हमारी सभी क्रियाओं का नियामक है।

काण्ट महाशय ने नैतिक नियम को अनिवार्य आज्ञा अथवा अकाट्य नियम कहा है। एक ओर मनुष्य को नैतिक नियम के विरुद्ध जाने की छूट है और दूसरी ओर उसके लिए नैतिक नियम का पालन अनिवार्य है। यदि मनुष्य को नैतिक नियम के विरुद्ध जाने की छूट न होती, तो उसे आत्मोत्सर्ग करने की भी स्वतन्त्रता न होती। मनुष्य अपनी क्रियाओं का संचालन स्वयं ही करता है। उसकी क्रियाओं का संचालन प्रकृति उसी प्रकार नहीं करती, जिस प्रकार वह निर्जीव पदार्थों अथवा विचार-शून्य प्राणियों की क्रियाओं का संचालन करती है। मनुष्य को अपने भले कामों के लिये आत्म-सन्तोष और बुरे कामों के लिये आत्म-भर्त्सना इसलिये होती है कि वह स्वतन्त्र है। परन्तु यह स्वतन्त्रता नैतिक नियम के विरुद्ध आचरण की स्वतन्त्रता नहीं है। मनुष्य नैतिक नियम के विरुद्ध आवेश में आकर अथवा अज्ञानवश आचरण करता है, परन्तु उसे अपने इस प्रकार के आचरण के लिये कष्ट उठाना पड़ता है। इस कष्ट के द्वारा वह ठीक मार्ग पर आ जाता है।

नैतिक नियम एक वास्तविक तथ्य है। यह नियम विवेकपूर्ण है। मनुष्य जैसा स्वयं है, वैसा ही वह अपने संसार को भी देखता है। जिन व्यक्तियों का विवेक जाग्रत नहीं है, वे न तो संसार में किसी नियम को कार्यान्वित होते हुए देखते हैं और न अपने जीवन की घटनाओं में। वे केवल घटनाओं को देखते हैं, उनसे सुखी अथवा दुःखी होते हैं, परन्तु नियम के न जानने के कारण बार-बार उन्हीं भूलों को करते हैं, जिन्हें सुधारने के लिये प्रकृति उन्हें दण्ड देती है। जो मनुष्य गंभीर विचार करता है, वह यदि बाह्य प्रकृति का अध्ययन करे, तो उसे नियमों से संचालित होता हुआ पावेगा, यदि वह समाज-व्यवस्था का अध्ययन करे, तो उसमें भी उसी नियम को पावेगा। इसी प्रकार यदि वह अपने मनोभावों का अध्ययन करे, तो उनमें भी वह नियमों को काम करते हुए पावेगा। बाह्य जगत में कार्य करनेवाला नियम भौतिक नियम कहलाता है। यह नियम अखण्ड होता है। अन्तर्जगत में कार्य करनेवाला नियम नैतिक नियम कहलाता है। यह वैसा अकाट्य नहीं दिखाई देता, जैसा बाह्य जगत का नियम होता है! परन्तु वास्तव में दोनों एक ही तत्व के दो रूप हैं।

तत्व-ज्ञान की दृष्टि से मनुष्य अपने ज्ञान के नियम को ही प्रकृति के नियम के रूप में देखता है। मनुष्य की बुद्धि और प्रकृति एक दूसरे के सापेक्ष हैं। जब मनुष्य सोचता है कि उसने प्रकृति के नियम को समझ लिया, तो वास्तव में वह आत्मा के नियम को ही समझता रहता है। काण्ट महाशय का कथन है कि बुद्धि

ही प्रकृति को, अर्थात् वाह्य जगत और उसके नियमों को बनाती है।* बुद्धि के नियम ही वास्तव में प्रकृति के नियम हैं। बुद्धि वैयक्तिक वस्तु नहीं है, वह व्यापक तत्त्व है और जिस प्रकृति को बुद्धि समझती है, वह वास्तव में बुद्धि-द्वारा ही निर्मित होती है। बुद्धि अपने गुणों का आरोप प्रकृति पर कर देती है। जो मनुष्य अविवेकी है और अपने जीवनमें नैतिक नियम को सर्वोच्च स्थान नहीं देता, वह बाहरी जगत में भी किसी नैतिक नियम को कार्यान्वित होते हुए नहीं पाता। इसके प्रतिकूल जिस मनुष्य में विवेक का उदय हो गया है, जो विवेक के प्रकाश के अनुसार नैतिक नियम का पालन करता है, वह वाह्य जगत में भी नैतिक नियम का पालन होते हुए देखता है। प्रवल आवेगों से आच्छादित बुद्धि ज्ञानशून्य होती है। ऐसी बुद्धि को कहीं भी नैतिक नियम कार्यान्वित होते हुए नहीं दिखाई देता। वह नियम को महत्व न देकर क्षणिक घटनाओं को ही महत्व देती है।

जिस निष्कर्ष पर काण्ट महाशय आध्यात्मिक विचार करते हुए पहुँचे, उसी निष्कर्ष पर एडिंगटन, जीन्स और मेक्स प्लांक महाशय वाह्य सृष्टि के संबंध में गम्भीर विचार करते हुए पहुँचे। जिस प्रकृति को चेतनाहीन माना जाता है, वह छिछले विचार से ही चेतनाहीन है। भौतिक विज्ञान की प्रणाली के अनुसार गम्भीर विचार करने पर भी वाह्य प्रकृति में चेतन सत्ता कार्य करती हुई ज्ञात होती है। एडिंगटन महाशय का कथन है कि यह सत्ता उसी प्रकार की है, जिस प्रकार का हमारा मन है। वाह्य जगत के तत्व की खोज करते-करते हम अपने आपमें ही पहुँच जाते हैं।† दृश्य जगत निर्जीव मशीन के समान कार्य करता दिखाई पड़ता

---

* Understanding maketh nature : *Critic of Pure Reason*

† "All through the physical world runs that unknown content, which must surely be the stuff of our consciousness. Here is a hint of aspects deep within the world of physics, and yet attainable by the method of physics. And moreover we have found that where science has progressed the farthest, the mind has regained from nature that which mind has put into nature. We have found a strange foot-print on the shores of the unknown. We have devised theories, one after another, to account for its origin. At last we have succeeded in reconstructing the creature that made the foot-print. And lo! it is our own."—A. S. Edington : *Space, Time and Gravitation.*

है। परन्तु प्रत्येक मशीन के पीछे मशीन चलानेवाले का हेतु रहता है। इसी प्रकार जगत की मशीन भी किसी हेतु से चल रही है। यह हेतु हमारी साधारण चेतना के ज्ञान के परे है; यह भला अवश्य है। बुरा हेतु स्वतः विनाशवान होता है। यदि संसार की सभी क्रियाओं का हेतु बुरा होता, तो वह अबतक नष्ट हो गया होता।

संसार की प्रत्येक घटना के पीछे विवेकपूर्ण तत्व काम कर रहा है। यह तत्व सदा विभिन्न प्रकार की शक्तियों में समता रखने की चेष्टा करता है। उसकी दृष्टि से कोई भी क्रिया ओझल नहीं होती। जो तत्व व्यापक विश्व में कार्य कर रहा है, वह मन के सारे संकल्प-विकल्प के पीछे भी कार्य कर रहा है। इन संकल्प-विकल्पों में वह साम्य स्थापित करने की चेष्टा करता है। हमारे मन में चलनेवाले संकल्प-विकल्प में और बाह्य परिस्थितियों में समरसता है। बाह्य परिस्थितियों के द्वारा उसी प्रकार मनुष्य का मानसिक सुधार होता है, जिस प्रकार मन में चलनेवाली क्रियाओं के द्वारा उसकी मानसिक प्रगति होती है।

मनुष्य का जीवन विकासोन्मुख है। नैतिक नियम मनुष्य की मानसिक और आध्यात्मिक विकास की आवश्यकता की पूर्ति करता है। कभी-कभी यह पूर्ति सुखद होती है और कभी-कभी दुःखद। जो मनुष्य नैतिक विकास के नियम को स्वेच्छा से मानकर उसके अनुसार अपना आचरण बनाता है, वह आनन्द की मानसिक स्थिति में रहता है। इसके प्रतिकूल जो व्यक्ति नैतिक नियम को बाहरी नियम समझकर और बाध्य होकर उसे मानता है, वह अपने जीवन को दुःखमय देखता है। नैतिक नियम किसी के सुख और दुःख की परवाह नहीं करता। जिस प्रकार आग में हाथ डालने से हाथ जलता ही है, उसी प्रकार नैतिक नियम के प्रतिकूल आचरण करने से मनुष्य को दुःख अवश्य होता है। इमरसन महोदय के इस कथन में मौलिक सत्य है कि अपराध और दण्ड एक ही डाली में लगते हैं; दण्डरूपी फल सुखरूपी फूल में मनुष्य के अनजाने पकते रहता है।*

नैतिक नियम को पहचान लेने में ही मनुष्य की बुद्धिमानी है। नैतिक नियम सब समय कार्य करता है। भगवान हमें सब जगह देखता है। हमारे सभी कामों का बदला वह चुकाता है—

---

* Crime and punishment are born of the same stem; punishment is the fruit that unsuspected ripens within the flower of the pleasure that concealed it—Emerson : *Spiritual Law*

राम झरोखे बैठिके, सबको मुजरा लेय।
जाकी जैसी चाकरी, वाको वैसो देय॥

यह "राम" नैतिक नियम का ही दूसरा नाम है। कोई भी मनुष्य कोई बुराई करके भले फल की आशा नहीं कर सकता। पाप और दण्ड एक दूसरे से बँधे हुए हैं। पाप करने पर कालान्तर में दण्ड मिलता ही है। यह दण्ड या तो मानसिक कमजोरी और तज्जनित किसी मानसिक और शारीरिक रोगों में प्रकट होता है अथवा किसी बाहरी विपत्ति के रूप में प्रकट होता है। यदि कोई व्यक्ति चोरी से कोई अनुचित कार्य कर लेता है, तो उसका मन अपने आपमें किसी शारीरिक रोग की कल्पना कर लेता है। कभी-कभी उसे अपने शरीर में कोई रोग दिखाई नहीं पड़ता, तिस पर भी वह रोग से पीड़ित रहता है। रोग का विचार ही उसे दुःखद हो जाता है। किसी प्रकार का अप्रिय विचार कमजोर मन के व्यक्ति की चेतना में एक बार घुस जाने पर बाहर नहीं निकलता। यह नैतिक नियम के प्रतिकूल आचरण करने का दण्ड है।

लेखक के एक मित्र चालीस वर्ष की अवस्था में विलायत में पढ़ने जाने के लिये तयारी किये। वे इस प्रकार अपनी योग्यता बढ़ा कर ऊँचा पद पाने की चेष्टा कर रहे थे। उनका आन्तरिक मन इसके प्रतिकूल था। उसका एक ऊपरी कारण यह था कि जिस पद की प्राप्ति के लिये वे अपनी योग्यता बढ़ाने को विलायत जा रहे थे वह उनके चलने के पूर्व ही भर गया। वे छुट्टी ले ही चुके थे और छुट्टी करवाना उनकी प्रतिष्ठा के प्रतिकूल था। इस समय उन्हें काले विचारों ने आ घेरा। उन्हें पैर के अंगूठे में साधारण सी चोट लग गई, इससे नाखून उखड़ गया। वह अच्छा ही नहीं होता था। उन्हें लंगड़ाते हुए ही चलना पड़ा। फिर वे सोचने लगे कि विलायत जाकर उनकी मृत्यु हो जायगी। संस्था के कमरों के सामने लगे नामांकित पत्थर उन्हें कबर के पत्थर के रूप में दिखाई देने लगे। एक मित्र से वे कह बैठे कि एक दिन इन्हीं पत्थरों के समान एक पत्थर उसकी स्मृति में शीघ्र लगा दिया जायगा। एक बार लेखक ने उनसे कहा कि उनकी पैर की चोट बताती है कि उन्हें घर न छोड़ना चाहिये। घर से बाहर निकलते समय यदि चोट लग जाय तो हमें समझना चाहिये कि बाहर कोई दुर्घटना होनेवाली है, इसकी आगाह प्रकृति पैर की चोट के द्वारा करती है। परन्तु उनके अभिमान ने उन्हें अपना प्रोग्राम नहीं बदलने दिया।

उक्त मित्र को दमा का रोग था। यह रोग समुद्र यात्रा के समय उभड़ आया। वे बड़ी असहाय अवस्था में विलायत पहुँचे। वहाँ पहुँचने पर उनकी

चिकित्सा होने लगी। उनके मित्र की पत्नी जो उनके साथ जा रही थी, उनकी देख-भाल करती थी। आखिर विलायत पहुँचने के एक सप्ताह में उनकी मृत्यु हो गई। जिस समय वे मरे कोई उनके पास नहीं था।

इस घटना के विषय में पीछे एक रहस्य ज्ञात हुआ। इन महाशय की पत्नी बहुत ही कुरूप थी। मित्र की पत्नी बहुत सुन्दरी थी। वह उनकी शिष्या भी थी। इस मित्र ने अपनी पत्नी को इनके ही अभिभावकत्व में छोड़ दिया था। विलायत जाने का प्रोग्राम भी इसी महिला की प्रेरणा से बना था। ये उस रूपवान महिला के प्रेम में फँस चुके थे। परन्तु इनकी नैतिक बुद्धि इसका प्रबल विरोध करती थी। वे इसकी आवाज की अवहेलना कर रहे थे। नैतिक बुद्धि की आवाज की अवहेलना यदि मानसिक रोग को जन्म न दे तो बाहरी दुर्घटनाओं को लाकर मनुष्य को दण्ड देती है। स्टेकिल महाशय ने ऐसे अनेक उदाहरण अपने मानसोपचार के अनुभव के दिये हैं जिसमें दमा और कामवासना की अनैतिक तृप्ति का घनिष्ट सम्बन्ध देखा गया है। दमा मनुष्य को पाप कृत्य से बचाने का प्रकृतिदत्त उपाय है।

जिन लोगों की नैतिक बुद्धि प्रबल नहीं है; जिन्हें उचित-अनुचित का ज्ञान तुरन्त नहीं हो जाता, उन्हें बाहरी संकट के पड़ने पर दण्ड मिलता है। मनुष्य ऐसी परिस्थितियों में पड़ जाता है, जिससे उसे दुःख मिले। नैतिक नियम ही इस प्रकार की परिस्थितियों को ले आता है। इस प्रकार के दण्ड का हेतु भला होता है। जिस प्रकार रोगों के द्वारा मनुष्य स्वास्थ्य लाभ करता है, उसी प्रकार बाहरी कष्ट के द्वारा मनुष्य अपने दम्भ और पाखण्ड से मुक्त होता है। फिर वह नैतिक नियम के अनुसार अपना आचरण बनाने की चेष्टा करता है।

अनैतिक आचरण का सबसे बुरा परिणाम यही है कि मनुष्य में अपने कार्यों की छानबीन करने की, स्वयं के दोष समझने की, शक्ति नष्ट हो जाती है। वह अपने दुःखों के लिये स्वयं को दोषी न समझ कर दूसरों को दोषी मानता है। वह सम्बन्धियों को, मित्रों को अथवा परिस्थितियों में अपने दुःखों का कारण खोजता है। जब कहीं कारण नहीं दिखाई देता तो वह अपने भाग्य को कोसने लगता है। इस प्रकार वह आत्म-सुधार से वंचित रह जाता है। रोग और दुर्घटनायें मनुष्य में आत्म-सुधार की प्रेरणा उत्पन्न करती हैं। इनके द्वारा उसकी मानसिक ग्रन्थियां नष्ट होती हैं और उसमें सत्य दर्शन की क्षमता आती है। वह देखने लगता है कि संसार किसी अन्धे नियम के द्वारा संचालित नहीं है वरन् एक विवेकपूर्ण नियम के द्वारा संचालित है। "ईश्वर के न्याय में देर है अन्धेर नहीं है।"

चौबीसवाँ अध्याय

मानव-जीवन में अनुशासन की आवश्यकता

मानव-जीवन को सुखी और सफल बनाने के लिए अनुशासन की आवश्यकता होती है। बिना अनुशासन के मनुष्य का मानसिक विकास नहीं हो सकता और न वह कोई रचनात्मक कार्य कर सकता है। वास्तव में रचनात्मक कार्य करना, रचनात्मक विचार करना और मानसिक उन्नति करना एक ही तथ्य के दो पहलू हैं और दोनों प्रकार की उन्नति जीवन में अनुशासन के ऊपर निर्भर करती है। अनुशासन-विहीन जीवन दुखी होता है। जिस व्यक्ति के जीवन में अनुशासन नहीं रहता, उसकी विभिन्न प्रकार की इच्छाएँ एक दूसरे से लड़ जाती हैं। वे इस लड़ाई से मनुष्य को बेचैन बना देती हैं; वे मानसिक शक्ति को रचनात्मक कार्य में न लगा कर ध्वंसात्मक कार्य में लगाती हैं। मनुष्य तभी तक सुखी रहता है, जब तक वह अपने जीवन के लक्ष्य की ओर प्रगति करता है। मनुष्य का स्वभाव ही उसे सर्वोत्तम लक्ष्य की ओर अग्रसर करता है।

अनुशासन मानवस्वभाव की आवश्यकता है। अतएव किसी-न-किसी प्रकार के अनुशासन में रहना उसके लिए नितांत आवश्यक है। अनुशासन दो प्रकार का होता है—अज्ञात और ज्ञात। अज्ञात अनुशासन बाहर से होता है और ज्ञात अनुशासन भीतर से। अज्ञात अनुशासन दूसरों के द्वारा और ज्ञात अनुशासन अपने द्वारा होता है। मनुष्य के जीवन की प्रगति इस बात में है कि वह अज्ञात अनुशासन के स्थान पर ज्ञात अनुशासन को धारण करे और बाहरी अनुशासन की जगह आन्तरिक अनुशासन को स्वीकार करे। बालक अज्ञात और बाहरी अनुशासन में रहता है और प्रौढ़ ज्ञात और आन्तरिक अनुशासन में। प्रकृति ने बालक को माता-पिता, अभिभावक और शिक्षक दिये हैं। ये लोग बालक को विनाशकारी कार्यों में लगने से बचाते हैं। माता-पिता अभिभावक और शिक्षकों की सहायता से मनुष्य आत्म-अनुशासन की उच्च सीढ़ी को प्राप्त करता है। बाहरी अनुशासन से मनुष्य में विचार का विकास होता है। इसके परिणाम-स्वरूप मनुष्य आत्म-अनुशासन प्राप्त करने में समर्थ होता है। जब बालक में अपने आप सोचने की शक्ति नहीं होती, तो मनुष्य की आध्यात्मिक एकता के नियम से दूसरे लोग उसके लिए सोचते हैं। इन लोगों का कर्तव्य होता है कि वे बालक के लिए सोचें। परन्तु जब बालक में सोचने की शक्ति आ जाती है तो वह अपनी समस्याओं को अपने आप हल करता है और अपने आपको

स्व-अनुशासन में रखता है। जब तक किसी बालक में अपनी किसी भूल के सुधार करने की शक्ति नहीं होती, तब तक दूसरे लोग उसकी भूल का सुधार करते हैं। इसके लिए वे उसे उपदेश अथवा दण्ड देते हैं। परन्तु जब बालक में स्वयं अपने सुधार की शक्ति आ जाती है, तब वह अपनी भूल को स्वयं देख लेता है और पश्चात्ताप के रूप में अपने आपको दण्ड देता है।

कितने ही लोग शरीर से प्रौढ़ हो जाते हैं परन्तु मन से बालक ही बने रहते हैं। ऐसे लोगों को बाहरी अनुशासन की आवश्यकता रहती है। यह अनुशासन, सामाजिक और राजनैतिक दण्ड का रूप धारण करता है। जब मनुष्य भोजन में अतिक्रम करता है, तो उसे अपच का रोग हो जाता है। फिर उसे पेट में शूल उत्पन्न हो जाता है, उसके मुँह का स्वाद बिगड़ जाता है, कभी-कभी उसे ज्वर आ जाता है। इस प्रकार प्रकृति दण्ड द्वारा बिगड़े हुये मानसिक साम्य को स्थापित करने की चेष्टा करती है। भोजन करने का ध्येय शारीरिक शक्ति को बढ़ाना है। भोजन करना इसीलिए एक सुखद कार्य है कि हम उससे प्राकृतिक लक्ष्य की पूर्ति करते हैं। परन्तु भोजन जब केवल जिह्वा-तृप्ति के लिए किया जाने लगता है, तो वह लक्ष्य-भ्रष्ट कार्य हो जाता है। ऐसी अवस्था में मनुष्य भोजन में अतिक्रम करने लगता है। तब प्रकृति अनेक प्रकार के उपायों-द्वारा मनुष्य में भोजन के प्रति अरुचि स्थापित करने की चेष्टा करती है। जब यह अरुचि उत्पन्न हो जाती है, तो प्राकृतिक यन्त्रणा बन्द हो जाती है। इस प्रकार की यन्त्रणा से समझदार व्यक्ति स्थायी लाभ उठाता है। वह भोजन करने का वास्तविक लक्ष्य समझ जाता है और उसी लक्ष्य को ध्यान में रखकर वह भोजन करने लगता है। इस प्रकार उसका शरीर पुष्ट होता और उसकी कार्य-क्षमता बढ़ती है। बाल-बुद्धि का व्यक्ति इस ज्ञान को प्राप्त नहीं करता और वह कुछ समय के लिए अनुचित कार्य से रुक जाता है, परन्तु फिर से वह पुरानी भूल करता है और उसके लिए बार-बार दण्ड पाता है। वह औषधियों के द्वारा प्राकृतिक दण्ड से बचने की चेष्टा करता है। परन्तु इससे उसे उत्तरोत्तर अधिकाधिक दण्ड मिलता है। वह अपनी भूल को छिपाने की जितनी ही चेष्टा करता है, उतना ही अधिक कष्ट पाता है। जब वह आत्म-सुधार के लिए बिलकुल तैयार नहीं रहता और प्राकृतिक दण्ड से कोई शिक्षा ग्रहण नहीं करता, तो वह अपना प्राणान्त कर लेता है।

विषय-भोग का अतिक्रम करनेवाला भी प्राकृतिक रूप से उसी प्रकार दण्डित होता है, जिस प्रकार भोजन का अतिक्रम करनेवाला। रतिक्रिया संतति-रक्षा के

लिये आवश्यक है; अतएव प्रकृति ने इस क्रिया के साथ अपार सुखको जोड़ दिया है। इस सुख के कारण मनुष्य न चाहने पर भी रति-क्रिया में लग जाता है। परन्तु इसका हेतु सन्तानोत्पत्ति और उसकी वृद्धि है। जब कोई मनुष्य भोग-विलास केवल अपने सुखके लिए करने लगता है, तो वह इस कार्य में अतिक्रम कर डालता है। फिर वह एक स्त्री से सन्तुष्ट न होकर अनेक स्त्रियों से रमण करता है। वह वेश्यागामी बन जाता है। ऐसे व्यक्ति को प्रकृति जटिल रोगों के द्वारा रोकती है। यदि वे सामान्य रोगों को नहीं मानते तो, वह उनमें नपुंसकता उत्पन्न कर देती है। कोई-कोई व्यक्ति साधारण रोगों से ही शिक्षा ग्रहण करके अपने आपको सुधार लेते हैं। वे प्राकृतिक लक्ष्य को समझकर आप पर अनुशासन स्थापित कर लेते हैं। परन्तु जो लोग बार-बार दण्ड पाने पर भी नहीं सुधरते, वे अपनी भूलों से प्राणान्त कर लेते हैं।

इस प्रसंग में हमारे उपचार में आये कुछ रोगियों के अनुभव उल्लेखनीय हैं। एक युवक, जिनके चार बच्चे हो गये थे संतान निरोध के लिये आवश्यक उपायों को काम में लाने लगे। उनकी पत्नी इसमें उनसे भी अधिक तत्पर थी। उसे रोग हो गया कि उनके पति दूसरी स्त्रियों से व्यभिचार करते हैं। इन्हें दूसरे भी शारीरिक रोग हो गये थे। नींद की कमी हो गई थी। जब पति-पत्नी लेखक के पास आये तो उनके दाम्पत्य-जीवन का अध्ययन करके सलाह दी गई कि वे संतान-निरोध के कृत्रिम उपायों को काम में लाना छोड़ दें; परन्तु उनकी पत्नी सन्तान वृद्धि से ऊब गई थी। उसने इसका विरोध किया। इसके बाद उनका अकारण पति के चरित्र का रोग और भी बढ़ गया। वह जानती थी कि उसके पति किसी दूसरी स्त्री को प्यार नहीं करते, तिस पर उसका झूठा विचार उसको नहीं छोड़ता था। उसने अपने इस प्रकार के जीवन से ऊब कर आत्महत्या फांसी लगाकर कर ली। एक दूसरे परिवार को सन्तान-निरोध के उपायों को काम में लाने से इसी प्रकार की विपत्ति का सामना करना पड़ा। पत्नी पढ़ी लिखी थी परन्तु उसे सदा भ्रम रहता था कि उसका पति प्रत्येक स्त्री से प्यार करता है। उसका पति एक बड़ा आफिसर है। यदि आफिस से आने में थोड़ी देर हो गई तो उसके मन में कल्पना होती थी कि पति अपनी किसी प्रेमिका के पास चला गया। इस कारण घर पहुँचने पर भारी झगड़ा होता था। कभी-कभी यह स्त्री पति को मार-पीट भी देती थी। स्त्री को हिस्टीरिया का रोग था। उसे फिट आते थे। घर में चार बच्चे भी थे। अतएव वह स्त्री की सभी ज्यादती सहते रहता था। इस परिस्थिति का अन्त तब हुआ, जब लेखक की सलाह

मानकर पति-पत्नी ने सन्तानानिग्रह के उपायों को काम में लाना बन्द कर दिया और जब स्त्री के पेट में बच्चा आ गया।

संतान-निग्रह के प्रयास के साथ-साथ स्त्रीप्रसंग करनेवालों का दाम्पत्य-जीवन कभी-कभी समाप्त ही हो जाता है। कभी-कभी पुरुष को स्थायी नपुंसकता आ जाती है, अथवा उसे न्यूरेस्थेनिया का रोग हो जाता है। यह रोग न केवल पुरुष को नपुंसक बना देता है, वरन् उसके मन में अनेक प्रकार की चिन्तायें तथा भय उत्पन्न कर देता है। जीवन में वह उसे चैन नहीं लेने देता। मनुष्य सदा थकावट और निराशा का अनुभव करते रहता है। किसी मनुष्य पर, सिद्धान्त पर, अथवा अलौकिक सत्ता में उसका विश्वास नहीं रहता। उसका मन किसी काम में नहीं लगता। वह मरना चाहता है, पर मृत्यु से भी डरता है।

हमारे उपचार में आनेवाले एक प्रौढ़ धनी मानसिक रोगी को चालीस वर्ष की अवस्था होते-होते जब सात बच्चे हो चुके तो उसने सन्तान-निरोध के सहज उपायों को काम में लाना प्रारम्भ कर दिया। इन उपायों का प्रयोग जब एक डेढ़ वर्ष हो चुका था, उसे अचानक ही अपनी स्त्री से भय हो गया। एक दिन रात के समय जब वह कमरे में आ रही थी, वह उस रात सो ही न सका। तब उसे न केवल शारीरिक नपुंसकता आ गई, वरन् उसे अकेले रहने का भय भी हो गया। वह रोगी कुशल व्यापारी है। व्यापार में सभी प्रकार की कुशलता होते हुए वह अकेला न तो घर में रह सकता है और न बाहर जा सकता है। कुछ दिन तक केवल एक ही आदमी पर्याप्त होता था बाद में तीन चार की आवश्यकता पड़ने लगी। पहले वह केवल अपनी पत्नी से ही डरता था, बाद को प्रत्येक स्त्री के समीप आते ही उसको न केवल मानसिक बेचैनी हो जाती थी वरन् उसे हृदय में धड़कन भी उत्पन्न हो जाती थी। उसे अब शारीरिक नपुंसकता तो हो ही गई थी, किसी प्रकार के भोजन में, मनोरंजन में वह आनन्द का अनुभव नहीं करता था। उसे नींद आने में कठिनाई होती थी। अपने रोग से मुक्त होने के लिये उसने सभी प्रकार के उपचार—एलोपैथी, होम्योपैथी, नेचरोपैथी, आयुर्वेदिक और साइकोथेरेपी आदि किये, पर रोग न गया। उसका मन सदा डावाँडोल अवस्था में रहता था। उसे किसी भी बात में, किसी चिकित्सा-प्रणाली में विश्वास नहीं होता, अतएव तीन चार दिन से अधिक वह किसी चिकित्सक के पास नहीं टिकता था। वह जीवित ही मृत की अवस्था में सदा रहता था। उसका धन उसके किसी काम में नहीं आया।

एक दूसरे सुशिक्षित व्यक्ति, जो दो बच्चों के पैदा होने के बाद ही सन्तान-निरोध के उपायों को काम में लाने लगे थे, आज बीस वर्ष से दाम्पत्य जीवन से वंचित हैं। उनकी पत्नी, जिनसे उनके दो बच्चे अलग कर लिए गए हैं, अपना जीवन नैहर में ही व्यतीत कर रही है। ये स्वयं ऊँचे पदाधिकारी हैं, परन्तु सदा दमा अथवा एक्जमा से पीड़ित रहते हैं। उनकी पत्नी को प्रारम्भ में सफाई की झक लगी। वह अपने नौकरों के साथ और विशेष कर नौकरानियों के साथ बहुत सख्ती का व्यवहार करने लगी। वह उन्हें थोड़ी भूल के लिये पीट देती थी। पति चुपचाप बैठे रहते थे। फिर सभी नौकरानियों ने उनके यहाँ आना बन्द कर दिया। इसके परिणामस्वरूप पत्नी को ही अपने घर का सभी काम अपने हाथ से करना पड़ता था। यह स्थिति बहुत दिन नहीं चल सकती थी। छत्री घर की बेटी थी। वह अपने दाम्पत्य-जीवन से ऊब कर नैहर चली गई और अब बीस वर्ष से वह वहीं रहती है। पति प्रतिष्ठित व्यक्ति हैं, और वे बीमार भी रहते हैं, अतएव वे न तो अपना दूसरा विवाह कर सके और न कहीं प्रेम सम्बन्ध ही स्थापित कर सके।

डाक्टर फ्रायड ने अपने उपचार में आनेवाले अनेक मानसिक रोगियों के जीवन का अध्ययन करके पता चलाया है कि उनके रोग का एक प्रधान कारण कामवासना-सम्बन्धी अतिक्रम रहा है। दाम्पत्य-जीवन के समय मानसिक रोग की उत्पत्ति का कारण प्राय: संतान-निरोध के कृत्रिम उपायों का उपयोग करते हुए स्त्रीसंसर्ग करना होता है। जब इन उपायों को रोगियों ने डाक्टर फ्रायड की सलाह मानकर काम में लाना बन्द कर दिया तो उनका रोग भी जाता रहा। मानसिक रोगियों की चिकित्सा के हमारे अनुभव डाक्टर फ्रायड के उक्त निष्कर्ष की पुष्टि करते हैं। सन्तान उत्पत्ति को रोकने की इच्छा रखते हुए जो लोग काम-सुख का उपभोग करना चाहते हैं, उन्हें अकारण भय, चिन्तायें, हठी विचार, निराशा के भाव अनायास ही सताने लगते हैं। उनका जीवन भाररूप बन जाता है। जिस प्रकार बिना टैक्स के पटाये जो लोग अपनी कमाई का पैसा खाना चाहते हैं, उन्हें राज्य सत्ता दण्ड देती है, उसी प्रकार सन्तानोत्पत्ति के लक्ष्य के मिलन में सुख की प्राप्ति वैयक्तिक लक्ष्य है, यह प्रकृति का लक्ष्य नहीं है। प्रकृति स्त्री-पुरुष को इसलिये मिलाती है जिससे उसका अनादि काल से चलता आया हुआ खेल जारी रहे। वह वैयक्तिक सुख-दु:ख की परवाह नहीं करती। जो भी प्राणी उसके सन्तान वृद्धि के कार्य में सहयोग नहीं देता उसे वह संसार से विदाई दे देती है। दाम्पत्य-जीवन का हेतु प्रकृति के लक्ष्य की प्राप्ति है। जब वह

प्रकृति के लक्ष्य की पूर्ति नहीं करता तब वह उसे समाप्त ही कर देती है। अनेक प्रकार के मानसिक और शारीरिक रोग तथा पारिवारिक कलह इसी कारण उत्पन्न हो जाते हैं। जो लोग अपने सन्तान की वृद्धि में और उनकी उन्नति में अपने मन को नहीं लगाये रहते उन्हें दूसरों की सन्तान की ही सदा सेवा करते रहना, उनकी वृद्धि और उन्नति चाहना अपने जीवित रहने के लिये आवश्यक है, इस प्रकार हमारी सुख की चाह न केवल नियंत्रित रहती है, वरन् हमारी वासना का उदात्ती-करण भी हो जाता है। सन्तान की वृद्धि न चाहनेवाला व्यक्ति जब संयम और तप द्वारा अपने आपको विषय-सुख से विरत कर लेता और अपने जीवन को लोकसेवा में लगा देता है तो वह समाज का पूज्य व्यक्ति बन जाता है। शंकराचार्य, स्वामी दयानंद, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानंद आदि महापुरुष ऐसे ही लोगों में थे। ऐसे लोगों को प्रकृति अपने आप ऊँचा उठाती है। इस प्रकार प्राकृतिक दण्ड और पुरस्कार के नियम द्वारा मनुष्य में सुधार होता है, और आन्तरिक अनुशासन स्थापित होता है।

जिस प्रकार मनुष्य का सुधार प्रकृति से होता है, उसी प्रकार उसका सुधार समाज अथवा राजसत्ता के द्वारा भी होता है। समाज के नियम और उसकी संस्थाओं का निर्माण मनुष्य के उच्चतम स्वत्व का मूर्तिमान रूप है। यही कारण है कि जिस बात को मनुष्य बुरा समझता है, वह उसे समाज से छिपाकर करता है। पीछे वह उसके स्मरण में लज्जा की अनुभूति करता है और उसे भूल जाना चाहता है। कोई भी समाज अपने श्रेष्ठ पुरुषों और उनके विचारों के द्वारा निर्मित होता है। समाज संस्थाओं से बनता है। इन संस्थाओं का आधार सामाजिक विचार और परम्पराएँ होती हैं। ये लोग ऐसे हैं, जिन्हें बाह्य नियंत्रण की आव-श्यकता नहीं रहती; जिनमें आत्म-नियन्त्रण की क्षमता रहती है और जो जीवन के उद्देश्य को समझकर अपना आचार-व्यवहार बनाते हैं; ऐसे लोगों का यह नैतिक कर्त्तव्य होता है कि वे न केवल अपने आपको सत्पथ पर चलावें, वरन् दूसरों को भी सत्पथ पर चलने में सहायता दें। ये समाज को चलाने के लिये नियम बनाते हैं। इन नियमों की स्वीकृति समाज के अधिक लोग इसलिये कर लेते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति सब प्रकार की भूल करते हुए भी अपने को उच्चतम व्यक्ति बनाने की आकांक्षा रखता है। इस प्रकार किसी व्यक्ति का समाज-द्वारा नियन्त्रण अपने उच्च स्वत्व द्वारा ही नियन्त्रण है। जब तक इस नियन्त्रण को आत्म-नियन्त्रण के रूप में नहीं जाना जाता, तब तक वह दुःखद ही होता है। जब इसे आत्म-नियन्त्रण का प्रतीक माना जाता है, तो मनुष्य इसके द्वारा अपना

कल्याण करता है। वह समाज के नियन्त्रण को सहर्ष स्वीकार करता है। वास्तव में आत्म-नियन्त्रण की योग्यता रखनेवाले व्यक्ति को समाज के नियन्त्रण की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। ऐसा व्यक्ति समाज का सुधार स्वयं अपने आचरण और उपदेश द्वारा करता है। सामाजिक नियन्त्रण मनुष्य के अचेतन मन अथवा आदर्श स्वत्व के अज्ञात नियन्त्रण का एक रूप है।

राज्य एक विशेष प्रकार की सामाजिक संस्था है। इसके अधिकार विविध समय में भिन्न-भिन्न होते आये हैं। जब मानव-समाज की अन्य प्रकार की संस्थाएँ प्रबल होती हैं, तो राज्य का क्षेत्र परिमित होता है, परन्तु जब अन्य सामाजिक संस्थाएँ शिथिल हो जाती हैं, तो राज्य ही सभी प्रकार के सामाजिक कार्यों का भार अपने ऊपर ले लेता है। राज्य का कम-से-कम कार्य राज्य में रहनेवाले लोगों को आपस के अन्याय से बचाना और बाह्य आक्रमण से रक्षा करना है। राज्य का प्रधान उद्देश्य नागरिकों में नियम के पालन करने की आदत उत्पन्न करना है। यह आदत ही मनुष्य में चरित्र का आधार होती है। राज्य बाह्य अनुशासन का मूर्तमान रूप है। राज्य अपने भले नागरिकों को प्रोत्साहित करता और दुष्टों का दमन करता है। इससे मनुष्य में भली प्रवृत्तियाँ प्रबल और बुरी प्रवृत्तियाँ निर्बल होती हैं। जब तक राज्याधिकारी निरपेक्ष और बली होते हैं, तब तक राज्य मनुष्य के आध्यात्मिक विकास का साधन बनता है। परन्तु जब राज्याधिकारी पक्षपातयुक्त हो जाते हैं अथवा निर्बल होते हैं, तो मनुष्य में असंयम एवं अनियमितता की प्रवृत्ति बढ़ जाती है। उसकी पाशविक प्रवृत्तियाँ प्रबल हो जाती हैं और इसके कारण न केवल समाज में अनेक प्रकार के कलह उत्पन्न हो जाते हैं, वरन् प्रत्येक व्यक्ति का जीवन दुखी हो जाता है। अपने आप अनुशासन न माननेवाली, सिद्धान्त-विहीन जीवन व्यतीत करनेवाली राज्य-सत्ता समाज को विनाश की ओर ले जाती है। इससे नागरिकों के जीवन में अनुशासन की प्रवृत्ति नहीं उत्पन्न होती।

बाहरी अनुशासन मनुष्य में नियम पालने की आदत उत्पन्न करता है। परन्तु यह अनुशासन बाहरी होने के कारण स्थायी नहीं कहा जा सकता। बाहरी अनुशासन का आधार बाहरी दंड का भय रहता है। इस भय के अभाव में अनुशासन में रहने की प्रवृत्ति निर्बल हो जाती है। कोई भली अथवा बुरी आदत मनुष्य में तभी तक रहती है, जब तक उस आदत को बल देनेवाला संवेग मनुष्य के मन में रहता है। संवेग के अभाव में आदत अपने आप ही नष्ट हो जाती है। इस तरह भय पर आधारित आदत भय के अभाव में नष्ट हो जाती

है। मनुष्य की वास्तविक नैतिकता का आधार बाहरी भय नहीं है, वरन् उसकी अन्तरात्मा की प्रेरणा ही है।

आन्तरिक अनुशासन की पहली सीढ़ी ईश्वर के दण्ड का भय है। जब तक मनुष्य अपने में कमजोरी की अनुभूति करता है और जब तक वह आत्म-सुधार चाहता है, तब तक वह ईश्वर की कल्पना करेगा। ईश्वर की कल्पना मनुष्य के अचेतन मन की आवश्यकता है। अपनी अन्तरात्मा की पूर्णता की धुँधली अनुभूति ही मनुष्य को ईश्वर, देवी-देवता, श्रेष्ठ पुरुष आदि वस्तुओं की कल्पना करने के लिये बाध्य करती है।† इस प्रकार की प्रवृत्ति को आधुनिक मनोविज्ञान में आदर्शारोपण* की मनोवृत्ति कहा गया है। जिस प्रकार अपने दोषों की धुँधली अनुभूति मनुष्य को उन दोषों को दूसरे लोगों में देखने के लिये बाध्य करती है और इसके कारण छिद्रान्वेषण का भाव मनुष्य के मन में आता है, उसी प्रकार मनुष्य की अन्तरात्मा की पूर्णता की धुँधली अनुभूति इस पूर्णता को अपने से बाहर आरोपित कराती है। ऐसी अवस्था में मनुष्य एक सर्वशक्तिमान, न्यायकारी, सर्वज्ञसत्ता की कल्पना करता है और उसके डर के कारण अपने आचरण को भला बनाता है। ईश्वर के न्याय से कोई बच नहीं सकता—इस विचार के कारण अनेक लोग अपने आचरण को भला बनाने की चेष्टा करते हैं। उनकी भोग-प्रवृत्तियाँ इस प्रकार अपने आदर्श स्वत्व के नियन्त्रण में रहती हैं। ईश्वर को अन्तर्यामी मानकर मनुष्य न केवल अपने आपको दुष्ट आचरण से रोकता है, वरन् दुष्ट विचारों से भी रोकता है। हजरत ईसा का कथन है कि जिस व्यक्ति ने विचार में व्यभिचार किया, उसने आचरण में व्यभिचार से भी अधिक पाप किया। इस प्रकार धार्मिक विचार अनुशासन को बाहर से भीतर की ओर लाता है।

---

† बौद्ध और जैन धर्म में ईश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं किया जाता। परन्तु इन धर्मों में धर्मोपदेश को—बुद्ध अथवा महावीर को ही भगवान की उपाधि दे दी जाती है और उन पर ही सर्वोच्च मानवी भाव आरोपित कर दिये जाते हैं। जिस प्रकार ईश्वरवादी किसी अवतार की मूर्तियाँ बनाकर उनके प्रति अनेक प्रकार से अपनी श्रद्धा दिखाते हैं, इसी प्रकार अनीश्वरवादी भी धर्मोपदेशकों की मूर्तियाँ बनाकर अपने महानता के भावों को व्यक्त करते हैं।

* Idealisation.

जब मनुष्य में आदत के रूप में अनुशासन की प्रवृत्ति दृढ़ हो जाती है, तब उसके विचार स्थिर हो जाते हैं। जिस समय को वह सदा इन्द्रिय-सुख अथवा किसी का अकल्याण सोचने में लगाता था, अब उस समय को वह आत्म-ज्ञान की वृद्धि में लगाने लगता है। आध्यात्मिक चिन्तन के फलस्वरूप उसे मन की शक्ति का ज्ञान हो जाता है। वह जान लेता है कि मनुष्य दुखी और सुखी केवल एक ही कारण से होता है। यह कारण उसके विचार हैं। सद्विचार मनुष्य को बल, शान्ति और ऐश्वर्य प्रदान करता है और असद्विचार मनुष्य को निर्बलता, अशान्ति और दीनता में डालता है। मनुष्य के लिए सबसे बड़ी यंत्रणा विचार की ही यंत्रणा है। विचार ही पुरस्कार और दण्ड ले आता है। प्रत्येक विचार में फलित होने की शक्ति है। भूल को सुधारने की शक्ति स्वयं विचारों में है। जो मनुष्य अपनी भूल को समझकर उसे अपने आप सुधार लेता है, वह बाहरी दण्ड नहीं पाता, परन्तु जिसमें यह शक्ति नहीं होती वह बाहरी शक्तियों के द्वारा सुधारा जाता है। वास्तव में ये बाहरी शक्तियाँ अपने ही विचार से उत्पन्न होती हैं।

मनुष्य का विचार बड़ा बली है। वह अपने लक्ष्य की ओर प्रगतिशील है। वह अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिये स्वयं ही बाह्य वातावण उत्पन्न करता है। प्रकृति, समाज, राजसत्ता, ईश्वर आदि विचार के द्वारा ही निर्मित हैं। मनुष्य अपने ही विचारों की क्रिया को नहीं जानता, अतएव जब उसकी भूल का सुधार बाहर से होता है, तो वह दुखी होता है। वह अपनी भूल को स्वीकार न करने के कारण अनेक प्रकार के कष्ट भोगता है। समझदार व्यक्ति के लिये सबसे बड़ा दुःख आत्म-भर्त्सना का ही होता है।

कितने ही लोग समाज से छिपाकर अनेक प्रकार के दुराचरण करते हैं। इन दुराचरणों के परिणाम से बचने के लिये वे अनेक उपाय रचते हैं। परन्तु उनकी छल-बुद्धि उन्हें बुरे कामों के दुष्परिणामों से नहीं बचाती। बुरे कामों के परिणाम बुरे फल में और भले कामों के परिणाम भले फल में ब्याज-सहित मिलते हैं। जितने दिनों तक फल नहीं मिलता, उतने दिन तक फल पकता है। अपना विचार ही फल को लाता है। कोई भी बुरा काम करने से मनुष्य का मन निर्बल हो जाता है। उसमें बुरे काम करने की प्रवृत्ति और भी प्रबल हो जाती है। यही बुरा काम करने का सबसे घातक परिणाम है। बुरी प्रवृत्ति मनुष्य को दुःख-दायी वातावरण में डालती है, जिसके फलस्वरूप प्रतिकूल वातावरण अपने आप ही निर्मित हो जाता है। तब मनुष्य को बड़े-बड़े कष्ट सहने पड़ते हैं। ये

कष्ट मनुष्य को मानसिक साम्य प्राप्त करने में सहायक होते हैं। ये उसकी आध्यात्मिक आवश्यकता के परिणाम हैं।

जब कोई चरित्रवान व्यक्ति किसी अनुचित कार्य को करता है, तो उसे आत्म-भर्त्सना होती है। यह आत्म-भर्त्सना दर्शाती है कि उसे अपने आपको सम्हाल लेना चाहिए। आत्म-भर्त्सना का अन्त उसके लिये प्रायश्चित्त कर लेने से हो जाता है। परन्तु जब मनुष्य अपने कुकृत्य के लिये प्रायश्चित्त नहीं करता और उसे भुला डालने का प्रयत्न करता है, तो यह कुकृत्य मनुष्य के मन में मानसिक ग्रन्थि का रूप धारण कर लेता है और वह आन्तरिक द्वन्द्व का कारण बन जाता है, जिससे मन निर्बल हो जाता है। ऐसी अवस्था में मनुष्य अकारण भय, चिन्ता और अनेक प्रकार के मानसिक तथा शारीरिक रोगों से त्रस्त होने लगता है। जिस प्रकार किसी राष्ट्र में आन्तरिक अनुशासन की कमी होने के कारण राज्यसत्ता बाहरी शत्रु के आक्रमण का दृढ़ता से सामना करने में असमर्थ रहती है, उसी प्रकार अपनी इन्द्रियों को वश में न रख सकनेवाला व्यक्ति वातावरण से आई हुई अनेक प्रकार की अशुभ भावनाओं को अपने मन में आने से नहीं रोक पाता। ये अशुभ भावनाएँ अनेक प्रकार की यंत्रणाओं का कारण बन जाती हैं। इनके कारण संसार में मनुष्य के अनेक शत्रु हो जाते हैं। ऐसा व्यक्ति शारीरिक और मानसिक क्लेश भी सहता है। यदि मनुष्य अपने ऊपर अनुशासन रखने में समर्थ हो, तो उसकी इच्छा-शक्ति इतनी बलवती हो जाय कि कोई बाहरी परिस्थिति उसको त्रास न दे सके। निर्बल मन के व्यक्ति को ही बाहरी परिस्थितियाँ त्रास देती हैं; प्रबल मन के समक्ष प्रतिकूल परिस्थितियाँ भी अनुकूल बन जाती हैं।

मनुष्य के मन की प्रबलता उसमें उपस्थित व्यवस्था पर निर्भर करती है। जिस व्यक्ति की सभी क्रियाएँ एक निश्चित सिद्धांत के अनुसार होती हैं, जो अपने आपको अपने सिद्धांत के प्रतिकूल आचरण करने से रोकता रहता है, वही प्रबल मन का व्यक्ति होता है। सिद्धान्तों के पालने के लिए मनुष्य को भारी त्याग करना पड़ता है। उसे अनेक प्रकार के क्लेश सहने पड़ते हैं। परन्तु इसी प्रकार के त्याग करने और क्लेश सहने से मनुष्य का मन बली होता है। जो मनुष्य अपने प्रलोभनों से लड़ने के लिये तत्पर नहीं रहता, वह कदापि दृढ़ इच्छा-शक्तिवाला नहीं हो सकता। जिस प्रकार एक प्रकार का आवेग मनुष्य को एक ओर बहा ले जाता है, उसी तरह दूसरे प्रकार का आवेग उसे दूसरी ओर बहा ले जाता है। इस प्रकार इन आवेगों के वश में होने से मनुष्य का सम्पूर्ण

मानसिक बल खर्च हो जाता है। इन आवेगों में बहना पहले तो सुखद होता है—वास्तव में सुख के प्रलोभनों में पड़कर ही मनुष्य आवेगों में बहता है, परन्तु पीछे यही महान् दुःख का कारण बन जाता है। विलासिता में पड़ा हुआ व्यक्ति ही अनेक प्रकार के मानसिक रोगों का दास बनता है। विलासिता अनुशासन की व्यवस्था को ढीला कर देती है। इससे इच्छा-शक्ति निर्बल हो जाती है। इसके निर्बल हो जाने पर मनुष्य एक ओर कोई उपयोगी कार्य नहीं कर पाता और दूसरी ओर वह दुःख की भावनाओं को मन में लाने लगता है। तब वह अनेक प्रकार के वास्तविक और कल्पित रोगों से पीड़ित होने लगता है।

अनुशासन के दो पहलू हैं—एक दमनात्मक और दूसरा रचनात्मक। मनुष्य के मन में ऐसी अनेक इच्छाएँ आती रहती हैं, जिनकी वह खुले रूप से तृप्ति नहीं कर सकता और जिनको तृप्ति से उसकी इच्छा-शक्ति निर्बल होती है। यदि इन इच्छाओं का केवल दमन मात्र किया जाय तो मनुष्य का मन बली न होकर और भी अधिक निर्बल हो जायगा। ये इच्छाएँ दमित होकर मानसिक ग्रन्थियाँ बन जायँगी और फिर वे मानसिक रोगों का कारण हो जायँगी। जिस प्रकार उद्दण्ड बालक केवल दण्ड द्वारा पाठशाला के अनुशासन में नहीं रक्खे जा सकते, उसी प्रकार अयोग्य वासनाओं के दमन मात्र से मनुष्य आत्म-अनुशासन नहीं प्राप्त करता। बालकों में उचित अनुशासन रखने के लिये उन्हें रचनात्मक कार्य में लगाना आवश्यक है। इसी प्रकार अपने मन को उचित अनुशासन में रखने के लिए उसे सदा किसी-न-किसी प्रकार के रचनात्मक कार्य में लगाये रखना नितान्त आवश्यक है। किसी प्रकार का रचनात्मक कार्य करने में इन्द्रिय-निग्रह अपने आप ही होता जाता है। अतएव अपने आपको अनुशासन में रखने के लिये सदा अपने समक्ष रचनात्मक कार्य की योजना रखनी चाहिए।

इतना ही नहीं, यदि भूल से हम कभी आत्म-अनुशासन के विरुद्ध कार्य कर लें, तो उसका प्रायश्चित्त नकारात्मक न होकर रचनात्मक होना आवश्यक है। उदाहरणार्थ दूसरे की वस्तु का हरण कर लेने का प्रायश्चित्त उस वस्तु को फेंक देना और उसके लिए केवल उपवास आदि करना नहीं है, वरन् जिस व्यक्ति की वस्तु ली है, उसे और भी अधिक कीमती वस्तु देना और इसके अभाव में किसी दूसरे व्यक्ति की उसी प्रकारकी सेवा करना उक्त पाप का उचित प्रायश्चित्त है। जब फौज का सिपाही कोई भूल कर देता है, तो उससे उपवास नहीं कराया जाता, वरन् उसे दलेल दी जाती है। इसी प्रकार हमें कोई भी बुरा काम करने के लिए

अपने आपको दलेल दे लेना चाहिए। यह नियम भंग करने का उचित प्रतिकार है। इस प्रकार का अनुशासन रचनात्मक हो जायगा।

जिस व्यक्ति के जीवन में रचनात्मक अनुशासन का बाहुल्य होता है, अर्थात् जो न केवल प्रायश्चित्त के रूप में वरन् सामान्यतः भी अपने आपको रचनात्मक कार्य में लगाये रहता है, वह सदा प्रसन्नचित्त रहता है। ऐसे व्यक्ति से समाज के अनेक उपकार होते हैं। ये उपकार अनायास होते हैं। उच्च कोटि के व्यक्ति अपनी उपस्थिति मात्र से समाज का कल्याण करते हैं। वे चाहे कोई भी भला काम करने की योजना बनावें या न बनावें, उनके द्वारा भले काम अपने आप ही हो जाते हैं। जिस समाज में ऐसे व्यक्ति होते हैं, वह समाज अनायास ऊँचा हो जाता है। इस तरह अपने जीवन में अनुशासन रखनेवाला व्यक्ति न केवल अपने आपको सुखी और सम्पन्न बनाता है, वरन् वह दूसरे लोगों को भी अनेक प्रकार के लाभ पहुँचाता है। पूरा समाज उसके कारण आदर्शवादी बन जाता है। इस प्रकार वह अपना और समाज दोनों का कल्याण करता है।

पचीसवाँ अध्याय

प्रेम और मानसिक विकास

मनुष्य के मन में अद्भुत शक्ति है, परन्तु इस शक्ति का उसे आत्म-साक्षात्कार नहीं होता। इसका कारण यह है कि उसके मन की विभिन्न प्रवृत्तियां एक दूसरे के विरोध की अवस्था में पड़ी रहती हैं। उनका कार्य, एक दूसरे के प्रतिकूल होने के कारण परिणाम-हीन होता है। यदि ये शक्तियाँ अपना कार्य करने लगें, तो मनुष्य आश्चर्यजनक कार्य कर डाले। बिखरे हुये मन से किसी प्रकार का काम सफलतापूर्वक नहीं किया जा सकता; सुव्यवस्थित मन ही सफलता की प्राप्ति में समर्थ होता है। मन की यह सुव्यवस्था प्रेम से आती है। प्रेम वह राग है, जिसके उत्पन्न होने पर अन्य सभी राग उसी में लीन हो जाते हैं। जब मनुष्य के जीवन में प्रेम का अभाव हो जाता है, तो उसकी मानसिक शक्ति भी नष्टप्राय हो जाती है। प्रेम के अभाव में मनुष्य अपना आत्म-विश्वास खो देता है। प्रेम की आँखों से देखने पर संसार रसमय और सुन्दर दिखाई देता है। जब प्रेम का अभाव होता है, तो प्रिय वस्तु सूखी और सुन्दर वस्तु कुरूप दिखाई देने लगती है। ऐसी अवस्था में मनुष्य अपने सामर्थ्य को भी भूल जाता है।

हम ऐसे कई नवयुवकों से मिलते हैं, जिनका जीवन कुछ काल तक सफलतापूर्वक चलता जाता है। परन्तु कुछ समय बीतने पर जब उनकी भावनाओं पर किसी प्रकार का आघात लग जाता है, तब उनका जीवन एक नया ही रूप ग्रहण कर लेता है। हाल ही में लेखक को एक नवयुवक मिला। यह एक कालेज का विद्यार्थी है। गत वर्ष के पूर्व वह पढ़ाई में खूब मन लगाता था और अपनी परीक्षाओं को भली प्रकार से पास करता था। गत वर्ष उसका विवाह हुआ। यह विवाह उसके जीवन की एक समस्या बन गया। जिस लड़की से उसका विवाह हुआ है, उसे विवाह के पहले से ही हिस्टीरिया की बीमारी थी। लड़की के पिता और दूसरे सम्बन्धियों का कहना है कि उक्त युवक से प्रेम करने के कारण ही उसे यह रोग उत्पन्न हुआ। परन्तु युवक को सन्देह हुआ कि उसे पहले से ही रोग था और उससे यह रोग छिपाया गया। विवाह के समय लड़की को रोग था, परन्तु उस समय भी इस रोग को छिपा लिया गया था। लड़के का विश्वास है कि वह लड़की पागल है। अपनी पुत्री के प्रति दामाद की उदासीनता देखकर पुत्री के माता-पिता भी दामाद से उदासीन-से हो गये। वे पहले उसके प्रति बहुत प्रेम

दिखाते थे। अब इस युवक की मानसिक दशा बड़ी ही शोचनीय है। उसे सारा संसार निराशायुक्त दिखाई देता है। वह प्रेम के सभी प्रतीकों में छल-ही-छल देखता है। युवक अब अपनी सभी क्रियाओं में कोई अर्थ नहीं देखता।

उक्त युवक के समान एक दूसरे युवक का विवाह भी उसके पिता ने उसकी इच्छा के प्रतिकूल एक लड़की से कर दिया। विवाह के समय दोनों तरफ के लोगों में कुछ कहा-सुनी भी हो गई। इस प्रकार युवक के मन का खिंचाव बढ़ता ही गया। विवाह के बाद युवक का जीवन रसहीन हो गया। वह एक विद्यालय का छात्र था। अब पढ़ाई में उसका मन नहीं लगता था। जैसे-जैसे उसे अपना जीवन अच्छा बनाने की शिक्षा दी जाती थी, वह जीवन से और भी निराश होता जाता था। ऐसी अवस्था में अपने आन्तरिक दुखों को भुलाने के लिए मनुष्य अनेक प्रकार की बुरी आदतें डाल लेता है। नशाखोरी, वेश्यागमन तथा अन्य प्रकार के व्यभिचार अपने आप असन्तुष्ट व्यक्ति में सरलता से आ जाते हैं। जो मनुष्य भीतरी चिन्ताओं से परेशान हो जाता है, वह कुछ काल के लिए चिन्ताओं से मुक्ति पाने के लिए किसी-न-किसी प्रकार का नशा करने लगता है। नशा की अवस्था में मनुष्य की सामान्य चेतना जाती रहती है और इसके चले जाने पर दुःख की अनुभूति नहीं होती। कुछ नशीली वस्तुओं के सेवन से मनुष्य अपनी चेतना की सूक्ष्म तर्क करने की शक्ति को खो देता है। इससे भी उसे एक प्रकार की क्षणिक शान्ति मिलती है। इस प्रकार सिगरेट और बीड़ी का नशा भी मनुष्य को अपने मन में उपस्थित घोर असन्तोष से बचाता है। इस प्रकार के नशा करनेवाले लोगों में नैतिक भावनाओं का दमन पाया जाता है, अर्थात् नशा के द्वारा वे अपने पुराने कृत्यों को, बुराइयों को भुलाने की चेष्टा करते रहते हैं।*

चिन्ता-ग्रस्त मनुष्य व्यभिचार और वेश्यागमन का भी आदी हो जाता है। जिस व्यक्ति के मन में आन्तरिक शान्ति नहीं रहती, वह बाहरी सुख की खोज करता है। जो लोग अपने आपको शारीरिक सुखों में भुलाये रहते हैं, वे भीतरी मन से दुखी रहते हैं। प्रेमाभाव का वातावरण कितने ही नवयुवकों में सिनेमा जाना, गप-शप में समय काटना, हँसी-मजाक में मन लगाना आदि बातों की आदतें डाल देता है। प्रत्येक प्रकार के दुराचरण के पीछे आत्म-विश्वास की

---

* प्रसिद्ध रूसी लेखक टाल्सटाय ने इस सत्य को अपने लेख "मनुष्य अपने को मूर्ख क्यों बनाता है" (*Why do people stupify themselves*) में सोदाहरण व्यक्त किया है।

कमी रहती है। जो मनुष्य अपनी कीमत स्वयं करता है, वह दुराचारी नहीं होता। वह अपना मूल्य प्रति क्षण बढ़ाने की चेष्टा करता है। भले काम करने से मूल्य बढ़ता है। अतएव जिस मनुष्य ने अपना आत्म-विश्वास नहीं खोया, वह अनेक प्रकार के भले काम सदा करता ही रहता है।

मनुष्य का आत्म-विश्वास प्रेम से बढ़ता और घृणा के वातावरण से नष्ट हो जाता है। प्रेम से मनुष्य के मन में आनन्द का आगमन होता है। जहाँ आनन्द रहता है, वहाँ शक्ति रहती है। मनुष्य की मानसिक शक्तियाँ मन की आनन्दावस्था पर निर्भर करती हैं। दुखी मन में किसी प्रकार की मानसिक शक्ति नहीं रहती। दुःख की अवस्था में मनुष्य थोड़े ही काम से थक जाता है। कोई नया काम हाथ में लेने के लिए उसका मन उत्साहित नहीं होता। ऐसी अवस्था में उसकी योग्यताओं की वृद्धि अथवा विकास भी नहीं होता। मनुष्य की प्रत्येक प्रकार की योग्यताओं के उपयोग से विकास और अनुपयोग से ह्रास होता है। जब मनुष्य मन लगाकर कोई काम नहीं करता, तब उसकी मानसिक शक्ति का सदुपयोग भी नहीं होता। ऐसी अवस्था में मनुष्य दिन-प्रति-दिन गिरता ही जाता है।

जिस व्यक्ति को अपने चारों ओर के लोग प्यार करते हैं, उसे आस-पास के लोगों से शुभ निर्देश भी मिलते हैं। हम जिस व्यक्ति से जैसी आशा करते हैं, वह उस प्रकार के काम करने की ओर प्रेरित होता है। जब बहुत से लोग किसी विशेष व्यक्ति से किसी महान काम की आशा करते हैं, तो वह उस काम के करने में समर्थ हो जाता है। वास्तव में दूसरे लोगों की सद्भावनाएँ ही उस व्यक्ति में ऐसा बल उत्पन्न कर देती हैं, जिससे वह कठिन काम करने में समर्थ होता है। मनुष्य की सफलता उसकी व्यक्तिगत इच्छा के ऊपर निर्भर नहीं करती; उसकी सफलता समष्टिमन की इच्छा और प्रेरणा का परिणाम है।

प्रत्येक मनुष्य संसार से वही पाता है, जो वह उसे देता है। यदि हमने दूसरों को प्रेम दिया, तो हमें भी दूसरों से प्रेम मिलेगा और यदि हमने उन्हें घृणा के भाव दिए हैं, तो हमें उनसे घृणा ही मिलेगी। हमारे आस-पास का वातावरण हमारे ही आन्तरिक विचारों और भावों का परिणाम होता है। घृणायुक्त मनवाले व्यक्ति को भले-से-भले लोगों की संगति में रख दीजिए; वह थोड़े ही समय में अपने आसपास नर्क का वातावरण उत्पन्न कर लेगा। इसके प्रतिकूल किसी भले व्यक्ति को बुरे लोगों की संगति में रखिए, वह उन लोगों की बुराइयों को ग्रहण न कर उनमें भी किसी-न-किसी प्रकार की भलाई का संचार

कर देगा। हमारे आन्तरिक मन के सभी भले और बुरे गुण स्वयं हमें ज्ञात नहीं रहते। ये गुण दूसरे लोगों के सम्पर्क में आने से व्यक्त होते हैं। हम अपने सद्गुणों को स्वीकार कर लेते हैं; अतएव ये गुण हमारे सामान्य व्यक्तित्व के अंग बनकर हमारी समझ में आ जाते हैं। परन्तु हम अपने अवगुणों को स्वीकार नहीं करते; अतएव ये अवगुण हमें दूसरे लोगों में दिखाई देते हैं और इस प्रकार हम दूसरे लोगों के अवगुणों से परेशान रहते हैं। उक्त प्रकार की मनोवृत्ति को आधुनिक मनोविज्ञान में आक्षेपण अथवा आरोपण (प्रोजेक्शन) की मनोवृत्ति कहा है। इस प्रकार की मानसिक प्रक्रिया मनुष्य के मानसिक सन्तुलन को बनाये रखने के लिए आवश्यक होती है। वास्तव में हमारे ही अवगुण दूसरे लोगों पर आरोपित होकर प्रकाशित होते हैं। इस प्रकार हमारा आन्तरिक स्वभाव हमारे वातावरण में प्रकाशित होता है।

हम अपने स्वभाव को परिवर्तित करने की सामर्थ्य रखते हैं। मैत्री-भावना का अभ्यास मनुष्य के स्वभाव में मौलिक परिवर्तन कर देता है। सोते-जागते सभी समय संसार के सभी लोगों के प्रति मैत्रीभावना के विचार मन में लाने में अपना स्वभाव ही बदल जाता है; तब हम संसार के उन लोगों में दोष न देखकर, गुण देखने लगते हैं। जिन लोगों के प्रति हमें क्रोध आता है, उन्हें हम दया का पात्र मानने लगते हैं। संसार के सभी लोग दुःखी हैं। जो व्यक्ति जितना ही अधिक स्वार्थी होता है, वह उतना ही अधिक दुखी होता है। दुखी मनुष्य क्रोध का पात्र नहीं, दया का पात्र है। यदि स्वार्थी मनुष्य के सम्पर्क में आकर हम स्वयं क्रुद्ध हो जाते हैं, तो हम भी अपने में उस दोष को व्यक्त करते हैं, जो स्वार्थी मनुष्य में है।

प्रेम की अनुभूति मनुष्य में आत्म-प्रसाद को उत्पन्न करती है। वह उसके मन में एकीकरण की प्रवृत्ति उत्पन्न कर देती है। इस प्रकार के एकीकरण से मनुष्य की शक्ति एकत्रित हो जाती है। मनुष्य की मुख्य शक्ति विचार की शक्ति है। जिस मनुष्य के विचार एक ओर केन्द्रित होते हैं, वह अपने आपमें भारी शक्ति और सामर्थ्य का अनुभव करता है परन्तु जिस व्यक्ति के विचार बिखरे हुए हैं, उसमें न तो शक्ति रहती है और न सामर्थ्य। विचारों का एकीकरण प्रेम के द्वारा ही होता है।

प्रेम के दो रूप हैं—एक अपने से प्रेम और दूसरा अपने सम्पर्क में आनेवाले लोगों से प्रेम। जो व्यक्ति अपने से प्रेम करता है, वही दूसरों से प्रेम करता है। दूसरों से प्रेम करना सरल है; अपने से प्रेम करना कठिन है। स्वार्थी

मनुष्य अपने से सच्चा प्रेम नहीं करता; वह अपने आन्तरिक मन में अपने आपसे घृणा करता है। इसीलिये उसकी आत्मा सदा अशान्त रहती है। दूसरे लोगों से प्रेम करना अपने से सच्चा प्रेम करने का साधन है। जो व्यक्ति दूसरे लोगों की सेवा में अपने को जितना अधिक भुला देता है, वह अपने आन्तरिक मन से उतना ही अधिक प्रोत्साहन पाता है। उसकी आत्मा उसे सराहती है। इस प्रकार सराहने से मनुष्य की कार्य-क्षमता बढ़ती है। वह दिन-प्रति-दिन नये काम करने में समर्थ होता है। भले काम के लिये जो सबसे बड़ा पुरस्कार मनुष्य को मिल सकता है, वह आत्म-संतोष है और बुरे काम के लिये जो सबसे बड़ा दण्ड मिल सकता है, वह आत्म-भर्त्सना है। आत्म-संतोष से मनुष्य देवता में परिणत हो जाता है और आत्म-भर्त्सना से वह नर्क की यंत्रणा भोगता और कभी-कभी पागल भी हो जाता है।

मानसिक रोग की अवस्था में मनुष्य अपने आपको प्रेम न कर, घृणा करता है। उसे अपना कर्तव्य अथवा नैतिक बुद्धि कोसती है। जो मनुष्य बहुत ऊँची आकांक्षायें रखता है, परन्तु उसकी प्राप्ति के लिए उपयुक्त परिश्रम नहीं कर पाता, वह अपने आपको कोसने लगता है। फिर वह इस कमी को अपनी दृष्टि से ओझल करने के लिए रोग का आवाहन करता है और वह शारीरिक अथवा मानसिक रोगी बन जाता है। इसी प्रकार अत्यधिक ऊँची नैतिक धारणा वाले लोगों को भी अपने आपको कोसना पड़ता है और इस प्रकार वह मानसिक रोगी बन जाता है। हमें यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि बहुत ऊँचे आदर्शों का जीवन में उपस्थित होना न केवल बहुत से मानसिक रोगों का कारण है वरन् वह स्वयं ही मानसिक रोग है। अपने आपसे घृणा करनेवाले लोग ही अप्राप्य जीवन के आदर्श अपने सामने रखते हैं। पूर्णता की झक स्वतः से घृणा करनेवाले तथा निकम्मे लोगों को ही होती है।*

---

* पूर्णता की झक पूर्णता से भिन्न वस्तु है। पूर्णता मानसिक स्वास्थ्य और सन्तोष की अवस्था है। यह सहजावस्था है। इसमें मनुष्य अपने स्वरूप में रहता है। जब मनुष्य स्वरूप में रहता है तो उसे किसी प्रकार कभी भी चिन्ता नहीं सताती। जब मनुष्य को अपनी हर एक बात में दोष दिखाई देने लगे तब वह अपनी कोई वास्तविक उन्नति ही नहीं कर पाता। मनुष्य की नैतिकता सम्बन्धी पाप-ग्रन्थि झूठी बातों पर आलोचना की मनोवृत्ति में प्रकाशित होती है। यह छिपी पाप-ग्रन्थि कभी-कभी छोटी-मोटी भूलों के लिये मनुष्य को दुःख पहुँचाती रहती है। कभी यह रूप की कमी अथवा स्वास्थ्य की कमी पर आरोपित हो जाती है।

प्रेम का भाव कठिन-से-कठिन कार्य को सरल बना देता है। प्रेम की अवस्था में शारीरिक क्लेश की अनुभूति नहीं होती। प्रेम के भाव से जो कर्तव्य किया जाता है, वह भाररूप नहीं प्रतीत होता। जब तक मनुष्य के मन में प्रेम है, तब तक वह अपने भले कामों की गणना त्याग में नहीं करता। जब मनुष्य यह सोचने लगता है कि हमने अपने मित्र के लिए क्या किया, तब समझना चाहिए कि उस मित्र के प्रति उसके प्रेम का अन्त हो गया। अब वास्तव में मित्र की भलाई करने की क्षमता उसमें नहीं रह गई। वास्तव में मनुष्य जो कुछ असामान्य कार्य करने में समर्थ होता है, वह प्रेम के कारण ही होता है। जब वह ऐसे काम करता है, तो उसे कर्तृत्व का अभिमान नहीं रहता। जब मनुष्य किसी काम के कर्तृत्व का अभिमान करने लगता है, तब उसकी कार्यक्षमता का अन्त हो जाता है। वास्तव में प्रेम ही यह कार्य करता है। वह व्यापक तत्त्व है—उसकी शक्ति अपार है। जो मनुष्य अपने में जितना अधिक प्रेम का संचय करता है, वह उतना ही भाग्यशाली है; क्योंकि उससे संसार का उतना ही अधिक कल्याण होगा।

मनुष्य के विचार उसकी क्रिया का रूप धारण कर लेते हैं। प्रेम से प्रेरित विचार किसी-न-किसी की भलाई ही करेगा। ऐसे विचारों से एक ओर दूसरे लोगों का भला होता है और दूसरी ओर अपना भी। प्रत्येक मानसिक क्रिया उसकी प्रतिक्रिया उत्पन्न करती है। दूसरों के प्रति घृणा के विचार आत्म-घृणा के रूप में परिणत हो जाते हैं और दूसरे के प्रति प्रेम के विचार आत्म-प्रेम अथवा आत्म-प्रसाद में परिणत हो जाते हैं। इन मनोभावों का बाहरी जगत पर भी उसी प्रकार का प्रभाव पड़ता है, जिस प्रकार का प्रभाव अन्तर्जगत पर पड़ता है। इमरसन महाशय का कथन है कि मन एक है और प्रकृति अथवा जगत उसके अनुरूप है। हमारे भीतरी विचारों की लहरें बाहरी घटनाओं में परिणत हो जाती हैं। ये लहरें दूसरे व्यक्ति के मन को सदा प्रभावित करती रहती हैं। अतएव हमारे आसपास रहनेवाले एवं हमसे सम्पर्क में आनेवाले लोगों के विचार हमारे प्रति वैसे ही बनने लगते हैं, जैसे हमारे विचार उनके प्रति होते हैं। हमारे भेजे हुये विचार ही बाहर से टकराकर हमारे ऊपर जैसे-के-तैसे आ जाते हैं। यदि हमने दूसरे लोगों को भीतरी मन से प्यार न कर घृणा की है, तो हम उन्हें भी अपने प्रति घृणा करते हुये पाते हैं। यदि हमने उन्हें हतोत्साह किया है, तो कुछ समय के बाद हम भी अपने आपको हतोत्साहित करते हुये पाते हैं। इस प्रकार हमारा मानसिक बल नष्ट हो जाता है। जिस मनुष्य को प्रतिकूल विचारों से सदा लड़ते रहना पड़ता है, उसका जीवन क्लेशमय होता है। ऐसा

व्यक्ति अपनी और संसार की भलाई के विषय में अधिक चिन्तन नहीं कर पाता। अतएव वह किसी प्रकार की भलाई कर भी नहीं पाता। ऐसे व्यक्ति का मानसिक विकास नहीं होता।

मनुष्य के मानसिक विकास की कसौटी उसके सच्चे त्याग की शक्ति और विचारों का संगठन है। ये दोनों बातें एक दूसरे की पूरक हैं। विचारों का संगठन त्याग और तप से आता है और विचारों के संगठन से त्याग करना सरल हो जाता है। प्रेम के द्वारा त्याग भी सरल हो जाता है और विचारों का एकीकरण भी होता है। वास्तव में हम किसी मौलिक वस्तु का त्याग नहीं करते। छोटी वस्तु का त्याग किसी-न-किसी अधिक मौलिक वस्तु के लिए किया जाता है। जो व्यक्ति किसी क्षुद्र वस्तु के लिए मौलिक वस्तु का त्याग करता है, वह मूर्ख है। जब मनुष्य किसी भौतिक पदार्थ का त्याग करता है, तो वह आशा करता है कि उसे अधिक मूल्य का पदार्थ मिले। जब उसे यह पदार्थ नहीं मिलता, तो वह दुखी होता है। परन्तु जो मनुष्य प्रेम के लिए अपने किसी प्रकार के द्रव्य का त्याग करता है, वह किसी दूसरी वस्तु की प्राप्ति की आशा नहीं करता। प्रेम की प्राप्ति ही उसका ध्येय होता है। इस प्रकार का त्याग ही सच्चा त्याग है। वास्तव में यह त्याग, त्याग नहीं वरन् आत्म-साक्षात्कार है। जब तक हम अपने आपको दूसरे में नहीं देखते और उनके हित से अपने हित का तादात्म्य नहीं कर देते, तब तक इस प्रकार का त्याग नहीं होता। यह तादात्म्यता प्रेम ही लाता है। अतएव प्रेम आत्म-साक्षात्कार का सर्वोत्तम उपाय है।

जब प्रेम से मनुष्य अपने आपको भूल जाता है, तो उसके विचार भी उच्चतम स्थिति को पहुँच जाते हैं। भले-से-भले विचार उसे स्वाभाविक रूप से आने लगते हैं। उसके सभी विचार लोक-कल्याणकारी होते हैं। जब मनुष्य की चेतना में प्रेम के विचार दृढ़ हो जाते हैं, तब वह सभी घटनाओं में कल्याण, सभी मनुष्यों में भलाई और सभी पदार्थों में एक ही तत्व को कार्य करते हुये देखने लगता है। ऐसा व्यक्ति सदा प्रसन्नचित्त रहता है। उसकी बुद्धि स्थिर और उसका विश्वास दृढ़ होता है। वह जिस काम को हाथ में लेता है, उसे उसमें सफलता ही दिखाई देती है।

स्वार्थीपन वास्तव में बचपन है। बच्चे और पशु प्रेम की दृष्टि से एक समान ही हैं। बच्चा दूसरों से प्रेम की आशा करता है; वह स्वयं दूसरों के लिए अपना प्रेम नहीं देता। वह चाहता है, दूसरे उसे आराम दें, वह अपने आप कष्ट नहीं सहना चाहता। जो मनुष्य सदा दूसरों की सेवा के इच्छुक हैं, वे

मानसिक विकास की दृष्टि से बचे ही हैं। जब हम अपने आराम को दूसरों के लिए त्याग देते हैं, तभी विकसित जीवन को दर्शाते हैं। दूसरे के लिए त्याग कर सकना विकसित जीवन की कसौटी है। यह त्याग प्रेम के कारण ही सम्भव होता है। प्रेम परमार्थ के कार्यों का कारण है और उसका अन्तिम परिणाम भी है। जो व्यक्ति जितनी ही अधिक दूसरों की सेवा करता है, उनके लिये कष्ट उठाता है, वह उनकी प्रसन्नता का भी उतना ही अधिक भागी होता है। प्रेम के कारण दूसरे व्यक्ति का सुख अपना सुख बन जाता है। इस प्रकार जो मनुष्य जितना अधिक अपने आपको दूसरों के हित में भुला देने की योग्यता रखता है, वह उतना ही अधिक विकसित मनवाला है।

नैतिकता प्रेम के विकास का साधन है। नैतिकता का प्रमुख लक्ष्य मनुष्य में दूसरों के प्रति स्नेह के भाव को पैदा करना है। नैतिक मनुष्य वह है, जो दूसरों के लिए वही सुख देना चाहता है, जो स्वयं के लिए चाहता है। प्रारम्भ में मनुष्य में नैतिकता अप्रिय नियम के रूप में आती है—यह नियम माता-पिता तथा गुरुजनों के अनुशासन से प्रारम्भ होकर आत्म-अनुशासन का रूप धारण करती है। बालक का बाहरी अनुशासन ही कालान्तर में आत्म-अनुशासन बन जाता है। बालक दूसरों से अनुशासित होते हैं और प्रौढ़ व्यक्ति स्वयं से। बालक बाहरी पिता की नाराजगी से डरते हैं और प्रौढ़ भीतरी पिता (अन्तर्यामी) की नाराजगी से। डाक्टर फ्रायड के इस कथन में मनोवैज्ञानिक सत्य है कि बाहरी पिता ही भीतरी पिता बन जाता है; और इस कथन में भी मौलिक सत्य है कि जैसा बाहरी पिता होता है वैसा ही मनुष्य का भीतरी पिता अर्थात् उसकी नैतिक बुद्धि (सुपर ईगो) होती है। परन्तु उनका यह कथन ठीक नहीं है कि लौकिक पिता और पुत्र में सहज विरोध का भाव रहता है और पिता भीतरी मन से पुत्र की उन्नति का अधिक इच्छुक नहीं रहता, वह पुत्र से ईर्ष्या करने लगता है और उसे नीचे गिराने का प्रयास अनायास करने लगता है। ये बातें अस्वस्थ पिता के विषय में सही हो सकती हैं, परन्तु यह बालक के मानसिक विकास के स्वाभाविक क्रम को नहीं दर्शाती।

डाक्टर फ्रायड ने प्रेम और कामवासना का एकीकरण कर दिया है। उनके कथनानुसार जहाँ-जहाँ प्रेम रहता है, वहाँ-वहाँ कामुकता भी रहती है। प्रेम इस कामुकता का आवरण मात्र है। पिता-पुत्र में सहज विरोध इस लिये होता है कि पिता अपनी पत्नी से प्रेम करता है और उससे अपनी वासना की तृप्ति करता है। जब पत्नी अपने बच्चे को प्रेम देने लगती है तो पिता इसका ईर्ष्यालु

हो जाता है। वह अपनी पत्नी को लड़के को लाड़प्यार से बिगड़ने के नाते प्रताड़ना देने लगता है। वह बच्चे को शिष्ट और नैतिक बनाने के लिए मारता-पीटता है, वास्तव में बालक पर इस प्रकार की मार-पीट पिता की ईर्ष्यावश पड़ती है। पिता बालक को पीटना चाहता है, इसलिए कि उसने अपनी माँ का प्रेम पति से छीन लिया, परन्तु झूठा बहाना अर्थात् नैतिकता का बहाना बताकर वह उसे पीटता है। इस प्रकार की प्रताड़ना से कभी-कभी बालक दब जाते हैं तब वे मानसिक रोगी बन जाते हैं और कभी-कभी वे बगावत कर देते हैं, तब वे शरारती, उद्दण्ड अथवा अपराधी बालक बन जाते हैं। जब बालक बाहरी पिता से आत्म-सात करके उसे अन्तर्यामी बना लेता है तो वह भीतर से प्रत्येक आत्म-प्रकाशन और सुखप्राप्ति के कामों में उसी प्रकार की प्रताड़ना का अनुभव करने लगता है जिस प्रकार की प्रताड़ना का अनुभव उसे बाहरी पिता से होता है। इस प्रकार उसकी हिम्मत पस्त हो जाती है, उसकी इच्छा-शक्ति दुर्बल हो जाती है और वह अनेक प्रकार के रोगों का शिकार होता है। इसके प्रतिकूल जब बच्चों का पिता स्वयं दुर्बल इच्छा-शक्ति का व्यक्ति होता है और जब वह लड़के को अधिक लाड़प्यार करता है, उसे दण्ड देने से डरता है, तो बालक का अन्तर्पिता अर्थात् उसकी नैतिक बुद्धि भी वैसी ही बन जाती है। इसके परिणाम-स्वरूप बालक उद्दण्ड व्यक्तित्व का व्यक्ति बन जाता है। समाज की शिक्षा का भी उसी प्रकार का परिणाम होता है। समाज भी बालक के लिए पिता का प्रतीक है।

डाक्टर फ्रायड के दर्शन में न तो प्रेम ही वांछनीय है और न नैतिकता है। प्रेम भोगेच्छा की अनुभूति का भावात्मक अंग है। प्रेम में प्रदर्शित उदारता स्वार्थभाव का आवरण मात्र है। सभी प्रकार के प्रेम के पीछे कामभाव छिपा रहता है। मनुष्य की कामेच्छा ही उसे सामाजिक बनाती है। यही इच्छा दूसरे के प्रति ईर्ष्या भी उत्पन्न करती है। यह एक ओर पारिवारिक और सामाजिक जीवन का आधार है और दूसरी ओर आपसी संघर्ष का। नैतिकता मनुष्य की भोगेच्छा (कामेच्छा) का प्रतिबंधन करती है। इसका आधार समाज के दण्ड का भय ही है। यह भय बाहर से भीतर की ओर जाता है। नैतिकता के दृढ़ हो जाने पर मनुष्य स्वयं को ही बात-बात में कोसता रहता है और इस प्रकार मानसिक रोगी बन जाता है। यदि मनुष्य स्वच्छन्दतापूर्वक भोगलिप्त हो जाय तो समाज उसे दण्ड देगा और यदि वह ऐसा न करे और अपनी नैतिक बुद्धि के डर में ही सदा रहे तो वह मानसिक रोगी बन जायगा। इस प्रकार न तो यह भोगासक्त

होकर और न नैतिक बनकर सुखी रह सकता है। मनुष्य जैसे-जैसे सभ्य बनते जाता है अपने कुटुम्बों की संख्या बढ़ाते जाता है। वह बाहर से प्रताड़ित न होकर बात-बात में स्वयं से ही प्रताड़ित होते रहता है। डाक्टर फ्रायड ने इस निराशावादी विचार को अपने "सिविलिजेशन एन्ड इट्स डिस्कन्टेन्ट"* नामक ग्रन्थ में व्यक्त किया है।

फ्रायड महाशय की मूल भूल प्रेम और कामुकता का एकीकरण करने में है। कामुकता प्रेम के विकास का साधन अवश्य है, पर कामुकता ही प्रेम नहीं है। कामुकता प्रेम का शरीर कहा जा सकता है उसकी आत्मा नहीं। जड़वादी विचार शरीर से ही सीमित है अतएव उसे कामुकता और प्रेम का एकीकरण कर देना स्वाभाविक है। इस प्रकार के एकीकरण से प्रेम और नैतिकता दोनों ही बीभत्स बन जाते हैं।

जब प्रेम और कामुकता का एकीकरण कर दिया जाता है, तो नैतिकता का मानसिक विकास में कोई स्थान ही नहीं रह जाता। नैतिकता अवांछनीय वस्तु बन जाती है। इससे मानव-मात्र को एक सूत्र में बाँधनेवाला तत्व ही नहीं रह जाता। यदि नैतिकता का अन्तिम आधार प्रेम नहीं अपितु भय ही है तो वह मनुष्य की इच्छाशक्ति को दुर्बल न बनाकर और करेगी ही क्या? यह तो मनुष्य का आध्यात्मिक पतन है। भयवश किये गये काम कभी ठीक नहीं कहे जा सकते—भय चाहे बाहर का हो अथवा भीतरी। काम वही भले हैं जो आनन्द की अनुभूति उत्पन्न करते हैं। ऐसे ही काम नैतिक होते हैं और ये ही मानसिक विकास करते हैं।

उपरोक्त कथन से स्पष्ट है कि नैतिकता स्वयं भली वस्तु है। यह वास्तव में बाहर से लादी गई वस्तु नहीं है, जैसा कि डा० फ्रायड ने सिद्ध किया है, वरन् यह मनुष्य को जन्मजात अन्तर्प्रेरणा से प्राप्त होती है। यह मत डाक्टर युङ्ग का है। प्रोफेसर हेडफील्ड ने भी इसे अपने प्रमुख ग्रन्थ साइकालाजी एण्ड मारल्स में प्रतिपादित किया है।

अस्वस्थ नैतिकता ही लादी हुई वस्तु होती है। जिस बालक को समय के पूर्व मार-पीटकर भला बनाया जाता है, वह इस झूठी नैतिकता को अपने ऊपर लादे रहता है। उसके सभी प्रकार के आचरण कृत्रिम रहते हैं। वह अपने किसी काम

---

* *Civilization and Its Discontents*

को सहज भाव से नहीं कर पाता। उसमें वह क्षमता ही नहीं आती कि स्नेह-वश किसी का कोई उपकार कर दे।

नैतिकता स्वयं मानसिक विकास का अन्तिम लक्ष्य नहीं है। आखिर उसमें कुछ-न-कुछ मानसिक संघर्ष और बाध्यता रहती है। कर्तव्यपरायणता स्वयं बाध्यता की द्योतक है। जबतक मानव की भलाई करने में मनुष्य को उसी प्रकार के आनन्द की अनुभूति नहीं होती, जिस प्रकार के आनन्द की अनुभूति मनुष्य को अपने सुख की खोज में होती है, तबतक वह सहज भाव से दूसरों की भलाई में नहीं लगा रह सकता। वह भले कामों का अपने में अहंकार करेगा और चाहेगा कि दूसरे लोग उसे आदर दिखाकर, उसका अनुशासन मानकर उसके त्याग की कीमत चुकावें।

अरस्तू महाशय ने बताया है कि जो भलाई (वरचू) अपनी सामान्य सीमा से आगे बढ़ती है वह भलाई न रहकर बुराई बन जाती है। जो मनुष्य भले कामों को सहज भाव से न कर तंगी के साथ करने लगता है वह ऐसे कामों में देर तक नहीं लगा रहता। यदि कोई भलाई मानसिक क्लेश उत्पन्न करती है तो वह स्वयं ही समाप्त हो जाती है। भली क्रियायें तब तक भली नहीं हैं जब तक वे मनुष्य को आनन्द की अनुभूति नहीं करातीं और जब तक वे मनुष्य में सदा उन्हीं में लगे रहने की प्रेरणा पैदा नहीं करतीं। अतएव अरस्तू भलाई का एक गुण माध्यमिक अर्थात् एकान्तता का अभाव बताया है।* भगवान बुद्ध ने भी मानव-जीवन को सफल बनाने का एकमात्र उपाय मध्यम प्रतिपदा बताया है। अर्थात् मनुष्य की मानसिक प्रगति वही स्थिर रहती है जो धीरे-धीरे सहज भाव से होती है। बालक स्वार्थीपन से अपना जीवन प्रारम्भ करता है। वह धीरे-धीरे ही परोपकारी एवं दूसरों का स्नेही बनता है। जब परोपकार का भाव मनुष्य के स्वभाव का अंग बन जाता है तब उसे दूसरों के सुख और उन्नति में सहज आनन्द की अनुभूति होती है। समय के पूर्व जब बालक को नैतिक बनाया जाता है अथवा जब मनुष्य अपनी क्षमता से अधिक दूसरों के लिये त्याग करने लगता है तब वह अपने मानसिक साम्य को खो देता है। सामर्थ्य से अधिक त्याग करने वाला व्यक्ति समाज को सहज स्नेह नहीं करता। उसके सभी कामों में बनावटीपन रहता है। उसकी उदारता के पीछे स्वार्थीपन अथवा अहंकार छिपे रहते हैं।

---

* See *Nichomachean Ethics*

जब मनुष्य बाध्य होकर नहीं वरन् सहज भाव से भले काम करता है तो वह अपने काम का मूल्य नहीं चाहता। दूसरों के लिए काम करना जब मनुष्य का सहज स्वभाव बन जाता है, तब वह सदा आनन्द की स्थिति में रहता है। यही मनोस्थिति सर्वोच्च प्रेम की मनोस्थिति है। इसको प्राप्त करने पर मनुष्य को और दूसरे सुख की इच्छा नहीं रहती। प्रेम मनुष्य को शारीरिक सुख से ऊपर उठा देता है। वह सब लोगों के सुख में ही अपना सुख देखने लगता है। स्वयं की उन्नति चाहना मानसिक बचपन है वह इससे ऊँचा उठ जाता है। इससे वह निजी सुख-दु:ख के भावों से भी मुक्त हो जाता है। प्रेम वह साधन है जिसके कारण मनुष्य शरीरबद्ध भावात्मक अनुभूतियों से ऊपर उठकर समाज मात्र की अनुभूतियों में अपने आप को खो देता है और इस प्रकार संसार भर का प्रिय बन जाता है।

छब्बीसवाँ अध्याय

मैत्रीभावना का मनोवैज्ञानिक परिणाम

मैत्री-भावना मानव-प्रेम का परिष्कृत रूप है। मैत्री-भावना के अभ्यास की महत्ता बौद्ध धर्म-ग्रन्थों में बहुत कुछ बताई गई है। मैत्री-भावना के अभ्यास के परिणाम दो प्रकार के होते हैं—एक बाहरी और दूसरा भीतरी। बाहरी परिणाम शत्रु के हृदय पर विजय प्राप्त करना, प्रतिकूल परिस्थितियों को अनुकूल में परिणत करना आदि होते हैं। भीतरी परिणाम चित्त का प्रसन्न रहना, सुख की नींद सोना, उत्साह का अनुभव करना आदि होता है। 'मिलिन्द राजा के प्रश्न' नामक ग्रन्थ में मैत्री-भावना के साधक में निम्नलिखित ग्यारह फल बताये गये हैं।

(१) वह सुख की नींद सोता है।
(२) वह सुखपूर्वक सोकर जागता है।
(३) बुरे स्वप्नों को नहीं देखता है।
(४) देवताओं को प्रिय होता है।
(५) मनुष्यों को प्रिय होता है।
(६) देवता उसकी रक्षा करते हैं।
(७) आग, विष या हथियार से उसको कभी कुछ भी हानि नहीं पहुँचती।
(८) शीघ्र ही उसकी समाधि लग जाती है।
(९) उसकी आकृति सदा प्रसन्न रहती है।
(१०) उसकी मृत्यु बिना किसी घबड़ाहट के होती है।
(११) यदि वह अर्हन्त पद तक नहीं पहुँच पाता, तो अवश्य ही ब्रह्म-लोक में जन्म ग्रहण करता है।

उपर्युक्त ग्यारह फलों में जहाँ तक बाहरी फलों की बात है, उनके प्राप्त होने में सन्देह हो सकता है, परन्तु भीतरी फलों के विषय में सन्देह करना युक्तिसंगत नहीं है। बाहरी फल के विषय में इतना अवश्य कहा जा सकता है कि हम नित्य प्रति जैसा भी सोचते हैं, उसका प्रभाव हमारे आस-पास के लोगों पर पड़ता है। हम दूसरों के बारे में जैसी धारणा बनाते हैं, दूसरे लोग भी हमारे विषय में उसी प्रकार की धारणा बनाने लगते हैं। चाहे हम अपने विचारों को किसी प्रकार प्रकाशित करें अथवा न करें, वे दूसरे लोगों तक अज्ञात रूप से पहुँच ही जाते हैं। हमारे विचार, आचरण में प्रकाशित न होकर हमारी चेष्टाओं

द्वारा ही प्रकाशित होने लगते हैं और जब हम इनको भी दबा देते हैं, तो वे बिना प्रकाशित हुए ही दूसरे लोगों के मन तक अज्ञात रूप से पहुँच जाते हैं। इस प्रकार हम अनेक शत्रु और मित्रों का निर्माण अनायास कर डालते हैं।

जहाँ तक अपने आपकी बात है, वहाँ तक तो यह निश्चित ही है कि मनुष्य का मन मैत्री-भावना के अभ्यास से शान्त और आरोग्यवान बन जाता है। उसमें साहस और उत्साह की वृद्धि होती है। वह सुख की नींद सोता है। बुरे स्वप्नों को नहीं देखता, उसकी आकृति प्रसन्न रहती है और उसे शीघ्र समाधि अर्थात् चित्त की एकाग्रता आ जाती है। इस प्रकार के परिणाम की अनिवार्यता मन के स्वभाव और उसकी क्रियाओं पर विचार करके जानी जा सकती है।

साधारणतः प्रत्येक मनुष्य के मन में अनेक प्रकार के अन्तर्द्वन्द्व चला करते हैं। इनके कारण उसकी मानसिक शक्ति का सदा अपव्यय होता रहता है। उसकी अनेक प्रकार की वासनाएँ दबी हुई अवस्था में रहती हैं और वे सदा मनुष्य के व्यक्तित्व के प्रति षड्यन्त्र रचा करती हैं। जिस मनुष्य का मन विभाजित अवस्था में रहता है अर्थात् जिसके मन में अनेक प्रकार की मानसिक ग्रन्थियाँ रहती हैं, वह दूसरे लोगों की बातों पर विश्वास नहीं करता, और वह सभी लोगों की चेष्टाओं को सन्देह की दृष्टि से देखता है। इसके कारण वह अपने आस-पास अनेक शत्रु उत्पन्न कर लेता है। उसके शङ्कायुक्त विचार ही इन शत्रुओं का निर्माण कर लेते हैं। फिर वह इन शत्रुओं से भयभीत रहता है। जब मनुष्य अपने मन के भीतरी शत्रुओं को अपना मित्र बना लेता है, तब बाहरी शत्रु भी मित्र के रूप में परिणत हो जाते हैं। किसी मनुष्य का आन्तरिक संघर्ष ही बाहरी संघर्ष में प्रकाशित हो जाता है।

इस आन्तरिक संघर्ष के अन्त करने के दो उपाय हैं—एक अपने सभी भावों के प्रति मैत्रीभावना का अभ्यास करना अर्थात् अपने सभी भावों को स्वीकार करना और उनको चेतना की सतह पर आने देना और दूसरे अपने सम्पर्क में आनेवाले सभी लोगों और परिस्थितियों के प्रति मैत्रीभाव प्रगट करना अर्थात् उनमें अपने प्रति अनुकूलता देखना, उनका कल्याण तथा हित चाहना। प्रथम अभ्यास से मनुष्य की सामान्य चेतना कुछ निम्न स्तर की होती हुई प्रतीत होगी, परन्तु उसका मन भीतर और बाहर एक-सा हो जाता है। जब तक भीतरी मन घृणा की दृष्टि से देखा जाता है तब तक मनुष्य के बाहरी और भीतरी मन में एकता नहीं होती। यह मनोस्थिति मानसिक क्लेश की है।

बाहरी मन अपने को नैतिक मानता है, अतएव वह भीतरी पाशविक मन का दमन करता रहता है। परन्तु भीतरी मन के दमन मात्र से बाहरी मन की नैतिकता खोखली हो जाती है। अपने भीतरी मन से मैत्री-भावना स्थापित करके मनुष्य सच्ची शान्ति प्राप्त करता है। जब तक यह एकता नहीं होती, संसार में मनुष्य के शत्रु अनायास उत्पन्न हो जाते हैं। वह स्वयं सबका मित्र बनना चाहता है; परन्तु उसकी इच्छा के प्रतिकूल ही जगत में उसके शत्रु उत्पन्न हो जाते हैं। महात्मा गान्धी सबके प्रिय बनना चाहते थे। वे कहते थे कि संसार में एक भी व्यक्ति मेरा शत्रु नहीं है। यह वास्तव में उनके ज्ञात मन की इच्छा थी। परन्तु अज्ञात रूप से अनायास उनके लाखों शत्रु बन गये। पहले मुसलिम जनसमुदाय उनका शत्रु बना; पीछे हिन्दुओं में से भी लाखों लोग उनके कट्टर शत्रु हो गये। स्वयं उनके अनुयायियों में उनके प्रति श्रद्धा घटने लगी और अन्त में उनका देहान्त भी उन्हीं लोगों के द्वारा हुआ, जिन्होंने उन्हें पहले 'महात्मा' कहा था। मन की विभाजित अवस्था में होने के कारण इस प्रकार का परिणाम हुआ। जिस व्यक्ति का अचेतन मन चेतन मन का शत्रु होता है, उसके आस-पास अनायास शत्रुओं का निर्माण हो जाता है। यदि वह किसी राष्ट्र का नेता हुआ, तो वह अपनी इच्छा के प्रतिकूल राष्ट्र में अपने विभाजित मन की स्थिति उत्पन्न कर देता है—अर्थात् राष्ट्र भी विभाजित और आन्तरिक संघर्ष की स्थिति में हो जाता है।

आधुनिक मनोविज्ञान की एक मौलिक से मनुष्य की दमित भावनाओं के चमत्कार को समझाना है। दमित भावनाओं का एक चमत्कार उनका बाहरी परिस्थितियों पर आरोपित होकर प्रकाशित होना है। इसे डाक्टर फ्रायड ने अचेतन मन की प्रोजेक्शन की क्रिया कहा है। जो मनुष्य स्वयं से झगड़ता रहता है वह अपने बाहर भी झगड़े की परिस्थिति उत्पन्न कर लेता है। जो व्यक्ति अपने आप पर अर्थात् अपने अचेतन मन पर विजय प्राप्त नहीं कर पाता वह अपने शत्रुओं की संख्या दिन प्रति दिन बढ़ाता है और फिर अपने से ही परेशान होकर मृत्यु का अवाहन करने लगता है। जब तक मनुपय स्वयं के प्रति मैत्रीभाव को प्राप्त नहीं कर लेता अर्थात् जब तक वह अपनी दमित भावनाओं की अनुकूलता प्राप्त नहीं कर लेता वह बाहरी परिस्थितियों में भी सफल नहीं होता।

आन्तरिक संघर्ष के अन्त करने का पहला उपाय अपने भावों के प्रति मैत्री-भावना का अभ्यास है। आंतरिक संघर्ष को अन्त करने का दूसरा उपाय इन भावों

के बाहरी प्रतीकों के प्रति मैत्री-भावना का अभ्यास करना है। हमारे भाव दूसरे लोगों पर आरोपित होकर उन्हें शत्रु के रूप में हमारे सामने लाते हैं। इनके प्रति मैत्री-भाव का अभ्यास करने से अपने भावों ही के प्रति मैत्री-भाव का अभ्यास अनायास हो जाता है। इसके लिए जिन लोगों को हम अपना शत्रु मानते हैं, उनके सद्गुणों पर विचार करना आवश्यक है। जिसको हम भला मानते हैं, उसे प्यार करते हैं और जिसे हम बुरा मानते हैं, उसके प्रति हमें घृणा होती है। अतएव सभी लोगों के सद्गुणों पर विचार करते हुये उनके प्रति क्षमा और मैत्री-भाव रखना सम्भव है। इस प्रकार की भावना से अपने मन के भीतर की विभाजित अवस्था का अन्त हो जाता है। जिस मनुष्य का मन एकत्व की अवस्था में रहता है, उसकी शक्ति अपार होती है। शक्तिवान मनुष्य प्रसन्न-वदन रहता है। शक्ति और मानसिक शान्ति एक दूसरे की सहगामी हैं।

मन की विभाजित अवस्था अनेक प्रकार के शारीरिक और मानसिक रोगों में प्रकाशित होती है। अनिद्रा का होना, भयानक स्वप्नों का देखना, बाध्य विचारों का पैदा होना, असगुनों पर मन का जाना, अपने को अभागा समझना आदि मानसिक रोगों का अन्त मैत्रीभावना के अभ्यास से हो जाता है। कितने ही लोगों को भूत त्रास देता है। भूत-बाधाएँ मन की विभाजित अवस्था को दर्शाती हैं। भूत मनुष्य को तभी दिखाई देते हैं, जब मनुष्य के मन में उसके जाने अथवा अनजाने भय रहता है। कभी-कभी भूत के भय की भावना उसके प्रति अति निडरता के रूप में प्रकाशित होती है। जो लोग भूतों के विषय में बहुत बहादुरी की चर्चा करते हैं, उनके मन में भी भूतों के प्रति भय रहता है। यह भय अपने आन्तरिक मन की विच्छेद की अवस्था का आरोपण मात्र है। दलित मन भूत के भय में प्रकाशित होता है, जिसके कारण वास्तविक भूतों की करामात दिखाई देती है। मैत्री-भावना के अभ्यास से जब मन की इस प्रकार की अवस्था का अन्त हो जाता है, तब भूतदर्शन का भी अन्त हो जाता है।

इस प्रसंग में अमेरिका के प्रसिद्ध धार्मिक शिक्षक श्री जोशुआ लोथ लीब मेन महाशय के निम्नलिखित विचार उल्लेखनीय हैं—"संसार इस प्रकार का बना हुआ है कि कोई भी मनुष्य अपनी पूर्णता का ज्ञान तब तक नहीं कर सकता और न अपने आपको संतोष दे सकता है, जब तक कि वह अपनी दूसरों के प्रति उदारता की मनोवृत्ति को सन्तुष्ट नहीं करता अर्थात् जब तक वह अपने भाइयों की स्वतन्त्रता और पूर्णता की प्राप्ति में सहायक नहीं होता। दूसरों की

हानि करना मनुष्य के स्वभाव का स्थायी अंग नहीं है। दूसरों की हानि करने की प्रवृत्ति का उदय मनुष्य में घृणा के कारण होता है। इस घृणा का कारण भी अपने जीवन से निराशा और असफलता होती है। मनुष्य अपनी त्रुटियों और भावात्मक द्वन्द्वों को संसार पर आरोपित करता है और वह उससे बदला लेने की चेष्टा करता है। मानसिक चिकित्सा द्वारा अब यह स्पष्ट हो गया है कि जब मनुष्य के मन की आन्तरिक द्वन्द्वात्मक स्थिति का सुधार हो जाता है, तो उसमें दूसरों से प्रेम करने की प्रवृत्ति का उदय होता है।"

जिस प्रकार भीतरी प्रेम की स्थिति उत्पन्न होने पर, मानसिक द्वन्द्व का अंत होने पर, मनुष्य दूसरों के ऊपर अपना अधिकार जमाने का भाव छोड़कर उनसे प्रेम करने लगता है और उनकी सेवा करने की चेष्टा करता है, उसी प्रकार बाहरी मैत्री-भावना के अभ्यास से मनुष्य के मन में शान्ति और सुख होता है। लीबमेन का कथन है 'आधुनिक मनोविज्ञान के प्रयोग बता रहे हैं कि अपने पड़ोसी को प्यार करना अपने को प्यार करने की आवश्यक सीढ़ी है'।[] 'क्रिया-वादी मनोविज्ञान आज बता रहा है कि मनुष्य के स्वभाव में न केवल दूसरों से प्रेम प्राप्त करने की प्रबल इच्छा होती है, वरन् दूसरों को प्रेम देने की भी प्रबल इच्छा होती है। इसके बिना मनुष्य को शान्ति नहीं मिलती।*

इससे यह स्पष्ट है कि मनुष्य दूसरे लोगों की सेवा के द्वारा ही अपनी पूर्णता की प्राप्ति करता है। दूसरों की मानसिक और शारीरिक कठिनाइयों को हटाने की चेष्टा से अपनी कठिनाइयाँ अपने आप ही हट जाती हैं। जिस प्रकार किसी लक्ष्य की प्राप्ति में लगे रहने से मनुष्य की अनेक प्रवृत्तियों में एकीकरण और उनका नियन्त्रण सरलता से हो जाता है, उसी प्रकार दूसरे लोगों के प्रति मैत्री-भावना का अभ्यास करने से आत्म-मैत्री स्वयं ही स्थापित हो जाती है।

[] "Psychological experiments now indicate that the love of neighbour is an inevitable prerequisite for the love of the self"

* Dynamic psychology indicates today that in the very nature of man there is not only an unconquerable urge to receive love from others, an inability to live with serenity and joy when deprived of affection from our fellows, but what is more important, that there is an inner necessity to give love and to bestow affection on outside world.—Goshia Loth Libman

चरित्रगठन का सरल उपाय किसी बाहरी कार्य में एकचित्त होकर लग जाना है। उस कार्य को सफल ढंग से करने में चरित्र के आवश्यक गुण स्वयं ही आ जाते हैं। इसी प्रकार दूसरों के प्रति मैत्री-भाव का प्रकाशन करने से आत्म-मैत्री अपने आप ही स्थापित हो जाती है। इससे मानसिक अन्तर्द्वन्द्व की स्थिति का अन्त हो जाता है और मन की विभिन्न शक्तियों में ऐक्य स्थापित हो जाता है।

सत्ताईसवाँ अध्याय

सद्भावना का सरल अभ्यास

मनुष्य की मानसिक गति दो प्रकार की होती है—एक पुरोगामी और दूसरी प्रतिगामी। जब मनुष्य की मानसिक शक्ति पुरोगामी रहती है, तब वह अपनी और दूसरों की उन्नति करनेवाले कार्यों में लगा रहता है। जब उसकी मानसिक शक्ति प्रतिगामी होती है तब वह अपनी अथवा दूसरों की क्षति करने वाले कामों में लग जाता है। वह अपनी अथवा दूसरों की भर्त्सना करने में अपने आपको लगाता है। जो मनुष्य आत्मकल्याण चाहता है, उसे दूसरों के दुर्गुणों को न देखकर उनके गुणों को देखने का अभ्यास करना पड़ता है। जब मनुष्य का मन दूसरे लोगों की आलोचना में लग जाता है, तो वह अपना पतन भी कर डालता है। दूसरों के प्रति लाये गये विचार मनुष्य के स्वभाव को बनाते हैं। मनुष्य के भले विचार उसके मित्र हैं; चाहे वे किसी भी व्यक्ति के प्रति क्यों न सोचे गये हों। इसी प्रकार दूसरे व्यक्ति के प्रति सोचे गये बुरे विचार उसके शत्रु हैं; चाहे यह व्यक्ति कोई भी क्यों न हो। जिस मनुष्य को चिन्तन का जैसा अभ्यास हो जाता है, वह जहाँ भी जाता है, अपने स्वभाव के अनुरूप लोगों को पा लेता है। उसकी उपस्थिति मात्र ऐसे लोगों की सृष्टि कर देती है, जो उसको सुखी बनाएँ अथवा कष्ट दें। वास्तव में बाहरी वातावरण के पदार्थ हमारी चित्तवृत्ति के आरोपण मात्र हैं। उनका भला और बुरा होना चित्तवृत्ति के ऊपर निर्भर करता है।

जब कोई मनुष्य अपने आपको शत्रुओं से घिरा हुआ देखे, तो उसे जानना चाहिए कि वह स्वयं ही अपना शत्रु है। जब मनुष्य की मानसिक शक्ति रुकावट की अवस्था में रहती है अथवा प्रतिगामी रहती है, तब वह अपनी इच्छाओं की पूर्ति में अनेक अड़चनों को देखता है। उसे अपने काम में बाधा डालनेवाले लोगों की संख्या ही अधिक दिखाई देती है। जब उसकी मानसिक शक्ति पुरोगामी हो जाती है, तब वह अपने सामने अड़चनों को न देखकर अपनी सहायता करनेवाली शक्तियों को ही देखता है। तब उसे दूसरे लोगों के दुर्गुण न दिखाई देकर सद्गुण ही दिखाई देते हैं। जो मनुष्य अपना मित्र है, उसका मित्र सारा संसार होता है। जो अपना शत्रु है, उसका शत्रु सारा जगत होता है। अपनी ही दूषित दृष्टि को मनुष्य दूसरों पर आरोपित कर देता है। फिर उसका आन्तरिक मन जैसा है, वह अपने आसपास रहनेवाले लोगों को भी वैसा ही पाता है।

युधिष्ठिर को सभा में कोई दुर्जन नहीं दिखाई देता था और दुर्योधन को उसी सभा में कोई सज्जन नहीं दिखाई देता था।

जिस व्यक्ति ने असद्भावना का अभ्यास किया है, वह बाहरी आधार के अभाव में अपने से ही घृणा करने लगता है। ऐसा व्यक्ति मेलेन्कोलिया के रोग से परेशान होता है। व्यक्ति सदा अनेक लोगों से झगड़ा करता रहता है, वह झगड़ा करनेवाले व्यक्तियों के अभाव में बहुत ही दुखी रहता है। ऐसा व्यक्ति कभी-कभी आत्महत्या करके अपने जीवन का अन्त करता है। जिस व्यक्ति ने सद्भावना का अभ्यास किया है, वह बाहरी व्यक्ति के अभाव में अपूर्व आत्म-सन्तोष की अनुभूति करता है। उसका मन उसे कुछ ऐसे विचार देता है, जिनसे न केवल उसे अपना लाभ हो, वरन् दूसरों को भी लाभ हो। अपना अभ्यास सदा अपने साथ रहता है। भला अभ्यास भले मन को बनाता है और बुरा अभ्यास बुरे मन को। भला मन पुरोगामी होता है और बुरा मन प्रतिगामी।

मानसिक शक्ति की गति जानकर मनुष्य सरलता से अपने को भला अथवा बुरा बना सकता है। अपने को गिराना सदा सरल होता है, अपने को उठाना कठिन। जो मनुष्य अपने को सदा किसी रचनात्मक कार्य में लगाये रखता है, वह दूसरों के आचरण के दोषों का चिन्तन नहीं करता। उसे स्वभावतः ही उनके गुणों का चिन्तन करना पड़ता है। संसार में कोई ऐसा व्यक्ति नहीं, जिसमें भलाई न हो। जिसे अपना काम करना है, वह दूसरे लोगों के गुण-दोषों का वहीं तक चिन्तन करता है, जहाँ तक वे उसके काम के लिये बाधक अथवा साधक होते हैं। गुणों के चिन्तन से ही काम बनता है। अतएव रचनात्मक कार्य में लगे व्यक्ति को दूसरे व्यक्तियों के दोषों पर चिन्तन करना छोड़कर गुणों के चिन्तन में ही मन लगाना पड़ता है।

जब मनुष्य किसी भले उद्देश्य की प्राप्ति में अपने मन को लगाये रहता है, तब वह सहज में ही अनेक लोगों के प्रति शुभ चिन्तन कर डालता है। यदि कोई मनुष्य केवल विचारों के नियन्त्रण के द्वारा अपनी आत्म-शुद्धि करना चाहता है, तो वह अपने को एक असाध्य कार्य में लगा लेता है। मन में असंख्य दुर्भावनाएँ हैं। जब मनुष्य वर्तमान काल की दुर्भावनाओं से मुक्त हो जाता है, तब अतीत की दुर्भावनाएँ उसे तंग करने लगती हैं। इस प्रकार वह आत्म-भर्त्सना के विचारों से परेशान हो जाता है। ऐसे विचारों से मुक्त होने का उपाय उन विचारों की छान-बीन करना नहीं है, वरन् अपने को किसी रचनात्मक कार्य में लगाना है। जो मनुष्य प्रत्येक काम श्रद्धा और लगन के साथ

करता है, वह अपने मन को पवित्र बनाता है, उसमें सद्भावनाओं की उत्पत्ति करता है और आत्म-प्रसाद को बढ़ाता है। किसी भी भले काम का बाहरी फल जो कुछ भी हो, उसका भीतरी फल भला ही होता है। किसी काम का बाहरी फल बाहरी सफलता की प्राप्ति है, उदाहरणार्थ, किसी मकान का तैयार कर लेना, खेत में फसल उपजा लेना, एक कारखाना चलाना, किसी ग्रन्थ को लिख लेना आदि काम का भीतरी फल अपने अनेक प्रकार के मनोभावों पर नियन्त्रण प्राप्त करना है। भगवान कृष्ण ने योगियों के कर्म का हेतु बताते हुए कहा है कि योगी पुरुष आत्म-शुद्धि के निमित्त ही शरीर, मन अथवा बुद्धि से काम करते हैं। कर्म के द्वारा मनुष्य के अचेतन मन की अनेक प्रकार की अनैतिक वासनाओं का उदात्तीकरण होता है। अर्थात् उनकी शक्ति समाजोपयोगी काम में खर्च हो जाती है।

जो मनुष्य किसी रचनात्मक कार्य में नहीं लगा रहता, वह या तो दूसरों का दोषान्वेषण करता रहता है, या अपना ही। दोनों प्रकार के विचार मन की प्रगतिशीलता को न दिखाकर अप्रगतिशीलता को दिखाते हैं। भगवान बुद्ध ने 'कौकृत्य' को मनुष्य की आध्यात्मिक प्रगति के लिये हानिकारक बताया है। आत्म-भर्त्सना करनेवाले लोगों को अनेक प्रकार के मानसिक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। तब उनका नैतिक स्वत्व उन्हें एक ओर खींचता है और पाशविक स्वत्व दूसरी ओर ले जाता है। यदि इस प्रकार का चिन्तन देर तक चलता रहा, तो मनुष्य को प्रेत-बाधा आदि रोग हो जाते हैं। ऐसी अवस्था में अपने ही मन का एक भाग दूसरे भाग का शत्रु बन जाता है। जब वह इस शत्रुता को किसी बाहरी कल्पित पदार्थ के ऊपर आरोपित करता है, तो प्रेत-बाधाओं की उत्पत्ति होती है। रचनात्मक कार्य में लगे हुए व्यक्ति को दुश्चिन्तन करने की फुरसत ही नहीं मिलती; अतएव अनेक प्रकार की बाधाएँ उसके समीप आती ही नहीं।

गतवर्ष लेखक के पास एक प्रतिभावान विद्यार्थी रहता था। वह पहले एक प्रतिष्ठित विद्यालय का छात्र था। उसे अनायास प्रबल आत्म-भर्त्सना होने लगी। उसने जैसे-जैसे आत्म-भर्त्सना के विचारों को भुलाने की चेष्टा की, उसकी मानसिक व्यथा और भी बढ़ती गई। वह अपने आपसे परेशान होकर आत्म-हत्या करने की चिन्ता करने लगा। वह सोचता था कि उसके समान पापी कोई नहीं है।

लेखक ने उसके बचपन की भावात्मक जीवनी लिखाई। उससे उन घटनाओं का वर्णन कराया, जो उसे विशेष प्रकार से दुखद हुई थीं। इस प्रकार

के वर्णन से उसके मस्तिष्क का बोझ कुछ हलका हुआ। इस विद्यार्थी के द्वारा मानसिक रोगियों के पत्र और उनके उत्तरों की नकल करायी गयी। वह इस कार्य को बड़ी लगन से करने लगा। धीरे-धीरे उसे आत्म-विश्वास आने लगा। तदनन्तर उसने अपना मन इन्टर की परीक्षा की तैयारी में लगाया और पूरे मन से पाठ्य-पुस्तक का अध्ययन करने लगा। अब वह न अपने आपका दोषान्वेषण करता है और न दूसरों का। इस प्रकार रचनात्मक कार्य में लग जाने पर उसका भारी आत्म-सुधार हो गया।

हाल में ही एक प्रतिष्ठित परिवार का नवयुवक हमारे यहाँ आया। वह तीन साल से निकम्मा बनकर बैठ गया था। वह सोचने लगा था कि संसार के सभी लोग बेइमान और निकम्मे हैं। अपनी स्त्री से भी उसे असन्तोष हो गया था और जीवन भाररूप बन गया था। वह जिस किसी से भी प्यार चाहता था उससे उसे दुःख ही मिलता था। उसने निश्चय कर लिया था कि दुनिया स्वार्थी लोगों से भरी पड़ी है।

युवक की इस प्रकार की मनोवृत्ति का कारण खोजने से पता चला कि उसके पिता ने उसे उस ओर पढ़ाई में नहीं पढ़ने दिया जिस ओर वह चाहता था। साइंस की जगह उसे आर्ट्स कोर्स दिलाया। इसके कारण बेमन से ही पढ़ाई करता रहा। बी० ए० पास करके उसने नौकरी खोजी। बड़े घर का बेटा होने के नाते अच्छी जगह नौकरी तो मिल जाती थी परन्तु वह किसी भी जगह दो-चार महीने से अधिक टिक नहीं पाता था। उसके विचारानुसार उसे मालिक लोग काम देते थे जिससे वह निकम्मा हो जाय।

नौकरियों में असफल हो जाने पर उसके पिता ने उसे दूकान करा दी। वह दश वर्ष तक इस दूकान में लगा रहा। इसमें उसने देखा कि उसके साझेदार और नौकर उसे धोखा ही देते रहते हैं। दश वर्ष दुकान करने के पश्चात् वह उससे ऊब गया। उसे लाभ के बदले इस रोजगार में हानि ही हुई। फिर उसने कुछ भी काम करना बन्द कर दिया। वह ईमानदार और प्रतिष्ठित परिवार का व्यक्ति है अतएव उसके स्वभाव में किसी को धोखा देना स्थान पा ही नहीं सकता था।

जब उसने अपने उपयुक्त कोई काम नहीं पाया तो लेखक ने उसे विद्या अध्ययन की सलाह दी। इस समय उसकी आयु पैंतीस वर्ष की हो चुकी थी। इससे आत्म-निर्देश का अभ्यास भी कराया गया। युवक ने इस विचार को मान कर एक कालेज में अपना नाम लिखा लिया। इसे देखकर उसके सम्बन्धी आश्चर्य

में पड़े परन्तु युवक के जीवन में चमत्कारिक परिवर्तन हो गया। उसके विचार अब ध्वंसात्मक न बनकर रचनात्मक बन गये और उसका मानसिक विषाद का रोग धीरे-धीरे समाप्त हो गया।

जब मनुष्य में निकम्मापन आता है तो वह अत्युच्च आदर्शवादी बन जाता है। उसके मनसूबे बड़े-बड़े होते हैं और कार्यदक्षता नगण्य रहती है। वास्तव में जो मनुष्य जितना ही निकम्मा और निराशावादी होता है वह उतने ही ऊँचे हवाई किले अपने मनोराज्य में बनाता है। यदि मनुष्य ऐसा न कर कुछ सामान्य सा काम हाथ में लेकर पूरा करने की चेष्टा करे तो वह धीरे-धीरे अपने आप ही आगे बढ़ जाय।*

मनुष्य को किसी रचनात्मक कार्य में लगे रहने के लिए अपने को बड़ा भाग्यवान मानना चाहिए। इस प्रकार के कार्यों से उसकी बौद्धिक और नैतिक

---

* अपने आपको ऊँचा उठाने की विधि लेखक के एक शिष्य ने अपनी निम्न-लिखित पंक्तियों में लिखी हैं—

बूँद-बूँद जल मिलकर सागर अगम अथाह कहाता है।
कण-कण धूल जमा होने से एक ढेर लग जाता है।
तिनका-तिनका मिल जाता तो छप्पर छा जाता है।
एक-एक डग चलते-चलते एक कोस आ जाता है।
अगर बड़ा बनना है तुमको तो मन में विश्वास धरो।
इसी समय से ध्यान लगाकर थोड़ा-थोड़ा काम करो।

इसी विचार को निम्नलिखित पंक्तियों में इमरसन महाशय ने लिखा है—

Write it on thy heart—every day is the best day in the year. No man has ever become great who did not think every day is doomsday. It is the old secret of gods that they come in low disguises; it is the vulgar great that come dizzened in gold and jewels. Real kings hide away their crowns in their wardrobes and affect a plain and poor exterior. What distinguishes the master is not the having of better materials but the using of those which he has. Refuse not the employment which the hour brings thee. The highest heaven of wisdom is near alike from every point and thou must find it, if at all, by a method native to thyself alone—*Essays of Emerson.*

उन्नति होती है। इससे सभी प्रकार के अशुभ विचार नष्ट हो जाते हैं। जब हम किसी भले काम को करने बैठते हैं, तो अनेक प्रकारके व्यर्थ के विचार हमारे मन को घेर लेते हैं। हम अपने निश्चित काम को कर ही नहीं पाते। जो मनुष्य बुद्धि में जितना ही प्रवीण होता है, उसे काम करते समय उतने ही अधिक सन्देह उत्पन्न होते हैं। ये सन्देह मनुष्य को एक दिशा में नहीं चलने देते। इनको रोकने का एकमात्र उपाय स्वयं को किसी ऐसे काम में लगा देना है, जो समाज के लिये उपयोगी हो। फिर मनुष्य का जैसा अभ्यास होता है, उसी ओर उसकी रुचि भी बन जाती है। यह रुचि फिर उसकी क्रियाओं का संचालन करने लगती है।

जो मनुष्य भले काम करने के लिये साधनों के अभाव की चर्चा करता है, वह वास्तव में स्वार्थी और निकम्मा होता है। छोटा-छोटा काम करके ही मनुष्य जगत में महान बनता है। यदि हम दूसरों की कोई आर्थिक सहायता नहीं कर सकते, तो उन्हें मार्ग तो बता ही सकते हैं, अथवा सहानुभूतिपूर्वक बातचीत से उन्हें प्रोत्साहित तो कर ही सकते हैं। मनुष्य के बहुत से मानसिक रोग केवल प्रेमपूर्वक बात करने से ही समाप्त हो जाते हैं।

अट्ठाईसवाँ अध्याय

सद्गुणों की संक्रामकता

मनुष्य का स्वभाव विकासोन्मुख है। जब वह किसी सद्गुण को प्राप्त करता है, तो उसका आध्यात्मिक विकास होता है। इस प्रकार का विकास देखकर दूसरे लोग, जो उसके सम्पर्क में आते हैं, अपना भी विकास करते हैं। सद्गुणी मनुष्य की समाज की यह सबसे बड़ी सेवा है। जिस प्रकार मनुष्य के चरित्र के दोष संक्रामक होते हैं, उसी प्रकार उसके चरित्र के गुण भी संक्रामक होते हैं। साधारणत: अवगुणों का प्रसार तेजी के साथ होता है और गुणों का प्रसार धीरे-धीरे। परन्तु गुण स्थायी होते हैं और अवगुणों में अपने विनाश की जड़ रहती है। अतएव अवगुणों का प्रसार दूर-दूर तक और बहुत काल तक नहीं होता; गुणों का प्रसार दूर-दूर तक होता है और देर तक ठहरता है।

एक व्यक्ति को देखकर दूसरा कैसे भला हो जाता है; यह हमारे सम्पर्क में आये हुये कुछ लोगों की जीवन-घटनाओं से प्रत्यक्ष होता है। लेखक का एक मित्र सरकारी कृषि-विभाग का ओवरसियर है। वह किसी तरह की घूस नहीं लेता और न किसी भी रूप में कोई वस्तु मुफ्त में लेता है। उसे नौकरी करते हुये २८ वर्ष हो गये, परन्तु अभी तक उसका वेतन ३००) मासिक ही है और उसके पास अधिक रुपया जमा भी नहीं है। जहाँ उसके दूसरे साथी लखपती हो गये, वह कुछ हजार भी नहीं जोड़ पाया। उसके अन्य आफिसर भी उससे प्रसन्न नहीं हैं, क्योंकि उन्हें प्रसन्न रखने के लिए भी वह उन्हें कुछ आमदनी नहीं करा पाता। इस प्रकार उसकी असफलता पर दूसरे लोग उसको अभागा ही कहेंगे, परन्तु उसके मन में अपने सदाचार के लिए आत्म-प्रसाद है।

इस मित्र ने इस प्रकार की सचाई की शिक्षा एक नवयुवक से ली थी। यह नवयुवक नया इञ्जीनियर बनकर आया था। उसे मित्र के साथ काम करने का अवसर मिला। इन दोनों में आपस में विचार-विमर्श होता रहता था। इस युवक ने मित्र में एक तो पुस्तक पढ़ने की आदत डाल दी और दूसरे उसने उसके मन में घूसखोरी के प्रति घृणा उत्पन्न कर दी। यह युवक बड़ा ही सदाचारी था। आज यह एक्जीक्यूटिव इञ्जीनियर है। उसने यह पद अपने दूसरे साथियों की अपेक्षा विलम्ब से पाया। परन्तु उसे सच्चा जीवन व्यतीत करने का आत्म-सन्तोष है।

सचाई की भावना उक्त युवक में महात्मा गांधी से आई। यह व्यक्ति महात्मा गांधी का भक्त था। उसे जीवन के आदर्श महात्मा गांधी के आदर्श से प्राप्त हुये। सचाई और सादगी से जीवन व्यतीत करना उसने अपना ध्येय बना लिया है। इस प्रकार एक व्यक्ति की भलाई अनेक लोगों को भला बनाने के लिए प्रेरित करती है।

लेखक के एक दूसरे मित्र परोपकारी, सच्चे तथा समाजसेवी हैं। वे पहले आर्यसमाजी थे। उन्होंने प्रतिज्ञा की कि वे जब भी विवाह करेंगे, तो विधवा से ही करेंगे। इसके लिए उन्हें अपनी जातिवालों और घर के लोगों का विरोध सहना पड़ा। अन्ततोगत्वा उन्होंने सत्ताईस वर्ष की अवस्था में एक बाल-विधवा से ही विवाह किया। उनके चाचा ने महात्मा गान्धी के असहयोग आन्दोलन में भाग लिया था। इसके कारण उन्होंने अपनी नौकरी खो दी थी। फिर उन्हें गरीबी से रहना पड़ा। एक समय जब ये चाचा साझे की दूकान खोलने के लिए किसी व्यक्ति से बातचीत चला रहे थे, तब इस मित्र को इसका पता चला। मित्र ने अपने चाचा को लिखा कि मेरी स्त्री के पास एक हजार रुपया अपना है, वे उसको कभी भी ले सकते हैं। इस पर चाचा को बड़ी प्रसन्नता हुई। चाचा को लिखी गई इस बात का पता मित्र के दूसरे धनी सम्बन्धियों को लग गया। उन्होंने देखा कि यह व्यक्ति बिलकुल गरीब है और तिस पर भी अपनी सारी कमाई चाचा की सहायता के लिये दे रहा है, तो उनका भी कर्तव्य अपने संबंधी की उचित सहायता करना होता है। इस प्रकार एक धनी सम्बन्धी ने उन्हें व्यापार करने के लिए पचास हजार रुपया दे दिया। अब चाचा अच्छी तरह रहने लगे।

इधर मित्र की सचाई और आदर्शवादिता की चर्चा भी दूसरे लोगों में होने लगी। मित्र के कुछ दूसरे धनी सम्बन्धियों ने एक लाख रुपया देकर व्यापार में भाग लेने को उन्हें प्रोत्साहित किया। इन पर इतना भरोसा हो गया कि उन्हीं के विश्वास पर सब काम छोड़ दिया गया। धीरे-धीरे मित्र ने अपने सम्बन्धियों का सभी रुपया चुका दिया। जब उन्हें दूसरी बार रुपयों की आवश्यकता हुई तो उनके दूसरे सम्बन्धी ने रुपया दे दिया। इस प्रकार एक मनुष्य की उदारता ने अनेक लोगों को उदार बना दिया।

इस प्रसंग में भगवान बुद्ध के जीवन की एक कथा उल्लेखनीय है—

एक बार भगवान बुद्ध के दर्शन के लिए अनेक भिक्षु अपने गुरु के साथ आये। वे आते समय बड़ा शोर-गुल कर रहे थे। भगवान बुद्ध ने उनके गुरु को खबर भेजी कि वे उन्हें शील का अभ्यास ठीक से करायें, फिर उन्हें लाएँ।

इनके गुरु ने साल भर इनसे शील का अभ्यास कराया। फिर जब वे वापस आये तब भगवान बुद्ध ने सायंकाल को उन्हें मिलने की अनुमति दी। जब ये भिक्षु भगवान के पास आये तब भगवान चुपचाप शान्तभाव से बैठ गए। भिक्षु लोग उनके सामने नियमानुसार बैठते गए। वे रात भर बैठे रहे। आनन्द भगवान बुद्ध को बार-बार उन भिक्षुओं के बैठे रहने की खबर देता, परन्तु भगवान कुछ न बोलते। सवेरा होने पर देखा गया कि सभी भिक्षु भगवान बुद्ध के समान ही समाधिस्थ हैं।

संसार के वीर पुरुष अपनी वीरता से आस-पास के लोगों को वीर बना देते हैं। सेना का नायक यदि वीर हुआ तो पूरी सेना वीर बन जाती है। इसका उदाहरण हम शिवाजी, नेपोलियन, हिटलर और सुभाषचन्द्र बोस की जीवनी में पाते हैं।

अंग्रेजी में कहावत है कि चरित्रवान मनुष्य समाज की धर्म-बुद्धि (कान्सेन्स) है। जिस समाज में इनका आदर होता है, वह उन्नतिशील होता है। साधारणत: समाज में सद्गुणी व्यक्ति का अन्य लोग भी अनुकरण करते हैं। जब समाज के लोग दुराचारियों का ही अनुकरण करने लगते हैं और भले लोगों की अपेक्षा धूर्त लोगों का अधिक सम्मान करने लगते हैं, तब समाज विनाश की ओर जाने लगता है। इस प्रकार के समाज में विप्लव की आवश्यकता होती है। प्रत्येक प्रकार की क्रान्ति का नैतिक आधार होता है। क्रान्ति समाजिक और राजनैतिक बुराइयों को हटाकर भलाई की सृष्टि करती है। क्रान्ति के द्वारा समाज को धोखा देनेवाले, उसका शोषण करनेवाले लोगों का विनाश होता है और समाज की सच्ची सेवा करनेवाले लोगों की प्रतिष्ठा बनती है।

भलाई यदि बुराई से अधिक प्रबल न होती तो सामाजिक क्रान्तियाँ सम्भव ही न होतीं। भलाई धीरे-धीरे अनेक लोगों के मन को प्रभावित करती है। फिर अत्याचार के बल पर अवलम्बित समाज-व्यवस्था नष्ट कर दी जाती है। बुराई का प्रसार छिपकर अथवा किसी भलाई के आवरण में होता है। भलाई का प्रसार खुले आम होता है। बुराई संगठित नहीं हो पाती, भलाई संगठित होती है; अतएव उसका प्रभाव अधिक काल तक रहता है। कुछ काल के लिये अनैतिक कार्य करनेवाले लोग उन्नतिशील होते हैं, परन्तु वे बाद में गिर जाते हैं। भले लोग चाहे जितनी भी अवनत दशा में क्यों न रहें, वे भीतरी मन से प्रसन्न रहते हैं और अन्त में समाज को उनका आदर करना ही पड़ता है। यदि जीवनकाल में उनका आदर न हुआ, तो मरने पर उनका आदर होता है।

उनतीसवाँ अध्याय

स्वतः से घृणा का भाव

स्वतः से घृणा का भाव एक व्यापक भाव है। मनुष्य अपने आपको दो प्रकार से दुःखी बनाता है—एक दूसरों से घृणा करके और दूसरे अपने आपसे घृणा करके। आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से दोनों प्रकार की घृणाएँ मनुष्य का पतन करती हैं। वे उसकी मानसिक शक्ति का ह्रास करती हैं। वे उसे समाज का सम्मानित व्यक्ति न बनाकर दयनीय अथवा घृणित व्यक्ति बना देती है। अपने आपसे घृणा और दूसरे से घृणा करना एक दूसरे के पूरक हैं। जो मनुष्य अपने भीतरी मन में किसी प्रकार की आत्म-हीनता का भाव रखता है, वह दूसरे लोगों से घृणा करता है। वह उन्हें अपने से नीचा सिद्ध करने की चेष्टा करता है। दूसरों को नीचा सिद्ध करने की चेष्टा करना अपनी हीनता के भाव को भुलाने का उपाय है। दोषान्वेषण की मनोवृत्ति और पर-सुधार की मनोवृत्ति की जड़ आत्म-हीनता की भावना में—अर्थात् स्वतः से घृणा की मनोवृत्ति में—रहती है। हम अपने ही दोषों को दूसरे लोगों में देखने लगते हैं और जिन बातों के सुधार की आवश्यकता अपने में ही है, उन्हीं बातों का सुधार हम दूसरों में करना चाहते हैं। जो मनुष्य अपने आपसे असन्तुष्ट है, वह सदा असन्तुष्ट ही बना रहता है। वह दूसरों की सेवा और उनका सुधार कितना ही क्यों न करें उसका असन्तोष का भाव कभी भी नहीं जाता। यदि एक प्रकार की परिस्थिति का अन्त हो गया; तो वह दूसरी परिस्थितियों में जाकर उसी प्रकार असन्तुष्ट हो जायगा। मनुष्य का मन ही बाहरी परिस्थितियों को बनाता है। वह जैसा भीतर से होता है, उसकी बाहरी परिस्थितियाँ भी उसी प्रकार की हो जाती हैं। यह कार्य उसके अनजाने ही होता है। जिस व्यक्ति का मन अपने आपसे असन्तुष्ट है जो व्यक्ति अपने आपसे झगड़ा करता रहता है, वह समाज में भी झगड़ा करना प्रारम्भ कर देगा। उसकी इच्छा से अथवा उसकी इच्छा के प्रतिकूल ही ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जायँगी, जिससे वह सदा असन्तोष का जीवन व्यतीत करेगा।

कितने ही लोग संसार को शान्ति की शिक्षा देने के लिए आते हैं, वे शान्ति और मैत्री का उपदेश सबको देते हैं, परन्तु उनकी इच्छा के विरुद्ध अशान्ति और द्वेष का वातावरण उपस्थित हो जाता है। वे अशान्ति और द्वेष की वृद्धि रोकने में अपने को असहाय मानते हैं। वे चाहते हैं कुछ और, किन्तु

हो जाता है कुछ और। महात्मा गांधीजी की जीवनी उक्त सत्य का समर्थन करती है। वे मरने के पूर्व अपने आपको खोटा सिक्का मानने लगे थे। भारत की एकता चाहते हुए उन्हें उसे विभाजित देखना पड़ा। हिन्दू-मुसलिम एकता का जीवनभर प्रयत्न करने पर भी फूट ही हाथ आई। अहिंसा की शिक्षा में जीवन व्यतीत किया परन्तु वीभत्स हिंसा देश में हुई। इसके लिये जनता को जिम्मेदार करना आरोपण की मनोवृत्ति दर्शाना कहाँ तक ठीक है। यदि जनता में भलाई आने के लिये महात्मा गांधी को श्रेय है तो बुराइयों का श्रेय किसको होगा। इस प्रकार की घटना का मूल कारण खोजने पर हम उसे मनुष्य के व्यक्तित्व में ही पाते हैं। जो मनुष्य शान्ति और मैत्री-भाव के प्रसार की चेष्टा करके अशान्ति और द्वेषभाव के निर्माण का कारण बन जाता है, वह प्रारम्भ से ही अपने आपसे असंतुष्ट रहता है। वह अपने आपसे घृणा करता है। ऐसे व्यक्ति में अपने प्रति हीनता का भाव रहता है। ऐसे व्यक्ति के आदर्श बड़े ऊँचे होते हैं परन्तु वह अपने ऊँचे आदर्शों से अपनी वासनाओं का समन्वय स्थापित कर सकने में असमर्थ रहता है। वह अपने भोग-लोलुप स्वत्व को देखना नहीं चाहता। वह उसका विनाश कर देना चाहता है। जो व्यक्ति अपने आपसे लड़ते-लड़ते थक जाता है, वह अपने आपसे न लड़कर दूसरे लोगों से लड़ने लगता है। वह अपनी समस्या को भूलकर समाज की उसी प्रकार की समस्या को हल करने में दत्तचित्त हो जाता है।

मान लीजिए किसी व्यक्ति की काम-वासना बड़ी प्रबल है और वह उसके कारण अपने आदर्श के प्रतिकूल कोई आचरण कर बैठता है। ऐसी अवस्था में पहले तो वह अपनी भर्त्सना करता है और काम-वासना को अपना शत्रु मानकर उसे निर्मूल करने की चेष्टा करता है। ऐसा प्रयास करना उसकी अनधिकार चेष्टा है, अतएव इस प्रकार का प्रयास विफल होगा, यह निश्चित है। कुछ समय के प्रयत्न के बाद यही व्यक्ति समाज में ऐसी काम-वासना-सम्बन्धी बुराइयों को मिटाने की चेष्टा करता है। वह कामुकता को समाज से ही निर्मूल कर देना चाहता है। ब्रह्मचर्य और तपस्या के जीवन का गुणगान करना तथा समाज के लोगों को ब्रह्मचारी बनाने की चेष्टा करना उसके जीवन का एकमात्र लक्ष्य हो जाता है। ब्रह्मचर्य के प्रतिकूल आचरण करनेवाले लोगों की वह भर्त्सना करता है। उनको दण्ड देने में उसे विशेष प्रकार का आत्म-सन्तोष होता है। इसी प्रकार वह उन बातों से घृणा करता है जो कामुकता की पूर्ति करती है—नाच, गाना, तमाशा, साहित्य, संगीत आदि सभी निन्दनीय माने जाते हैं।

फिर जो लोग इनमें रमण करते हैं; उनसे उसकी नहीं पटती। वह उन्हें शत्रु-रूप देखता है, चाहे वह कितना ही मैत्री-भाव का प्रचार क्यों न करे। विलासी लोगों से उसकी अकारण शत्रुता हो जाती है। अतएव जिस व्यक्ति को अपने स्वभाव का पूरा ज्ञान नहीं है, वह अपने सुधार के कार्य में असफल ही रहता है। जो व्यक्ति अपनी समस्या को स्वयं हल नहीं कर पाया वह बाह्य-जीवन की समस्या को हल करने में कैसे समर्थ हो सकता है। समाज की समस्या को हल करना केवल प्रतीक रूप से ही अपने आन्तरिक मन की समस्या को हल करना है। शत्रु की छाया से लड़ने से शत्रु पर विजय प्राप्त नहीं हो सकती, इसी प्रकार मन के द्वारा निर्मित परिस्थितियों की समस्याओं को हल करने की चेष्टा से मन की समस्याएँ हल नहीं होतीं। हाँ, यदि कोई व्यक्ति इन समस्याओं के आध्यात्मिक पहलू को समझे तो उसे अवश्य ही अपनी वास्तविक समस्या को हल करने में सहायता मिलेगी।

कितने ही लोगों को सफाई की झक सवार रहती है। वे शौच के बाद बीसों बार अपना हाथ धोते हैं, धोबी के धुले कपड़ों को फिर से धुलवाते हैं, घर के फर्श को प्रति दिन धुलवाते हैं, बाहर से आया खाद्य-पदार्थ धोते हैं, किसी व्यक्ति से छू जाने पर कई बार नहाते हैं। इतना करने पर भी उनके मन को संतोष नहीं होता। वे किसी-न-किसी प्रकार की गंदगी का अनुभव करते ही हैं। वास्तव में यह गंदगी का भाव उनके मन में रहता है। प्रतीक रूप से इस गन्दगी को साफ करने से वह कभी भी स्वच्छ नहीं हो सकती। लेखक के पास आनेवाले एक व्यक्ति को गन्दगी का भाव इतना त्रास देता था कि उसके कारण उसे हमारे घर तक आना कठिन हो गया था। रास्ते में पड़े मैले पर उसकी दृष्टि अवश्य चली जाती थी। एक महिला को गन्दगी की झक इतनी त्रास देती थी कि उसके कारण वह अपने बच्चों तक को नहीं छू सकती थी। वह सवेरे से उठकर दस बजे तक नहाती ही रहती थी। यदि कोई मनुष्य उसे छू ले तो उसे फिर कई बार नहाना पड़ता था। उसके मनोविश्लेषण से पता चला कि उसके मन में अनैतिक काम-प्रवृत्ति का दमन है। बाहरी गन्दगी भीतरी गन्दगी की भावना का आरोपण मात्र है और बाहरी सफाई उक्त गन्दगी को प्रतीक रूप से साफ करने की चेष्टा है। परन्तु यह तो वही कहानी है कि मर्ज कहीं और दवा कहीं। जिन लोगों को उक्त प्रकार की झक सवार रहती है, वे वास्तव में अपने से असन्तुष्ट रहते हैं। अपने मन में उपस्थित गन्दगी का

भाव शरीर, घर और वस्तुओं पर आरोपित हो जाता है। यदि वे मन की गन्दगी को साफ करें, तो उनको सच्ची शान्ति मिले।

मनुष्य का आन्तरिक मन और बाहरी जगत एक दूसरे के सापेक्ष हैं। भीतरी मन का झगड़ा बाह्य जगत के झगड़ों के रूप में प्रकाशित होता है और अपने मन में उपस्थित गन्दगी का भाव बाहरी गन्दगी के भाव में तथा सफाई की झक में प्रकाशित होता है। अन्तर्दृष्टि का व्यक्ति इन बाहरी प्रतीकों से आन्तरिक परिस्थिति का अनुमान करता है। मनुष्य के स्वप्न, उसकी सांकेतिक चेष्टाएँ, उसकी भूलें और असावधानी की क्रियायें भी मन की असन्तोषावस्था को व्यक्त करती हैं। मन का वह भाग जिसे मनुष्य के अभिमान ने स्वीकार नहीं किया, अपनी तृप्ति अभिमान से छिपकर करता है। कभी-कभी उसकी इच्छा के प्रतिकूल वह प्रगट रूप से अपनी तृप्ति करता है। बाध्य विचार, हिस्टीरिया और अनेक प्रकार के शारीरिक रोग मनुष्य को इसलिए होते हैं कि मनुष्य अपने सम्पूर्ण मन को स्वीकार नहीं करता। वह मन के उतने ही भाग को स्वीकार करता है, जिससे उसके अभिमान की पूर्ति होती है। मनुष्य का अभिमान जितना बढ़ा रहता है उसके मन में दलित भाव उतने ही अधिक होते हैं, अतएव उसके जीवन की समस्यायें उतनी ही जटिल होती हैं। समाज में प्रतिष्ठा का अधिक बढ़ जाना मनुष्य की आध्यात्मिक समस्या को और भी जटिल बना देता है। फिर मनुष्य को अपने भोगेच्छुक स्वत्व को अपने जीवन में स्थान देना अथवा उसे किसी प्रकार स्वीकार करना भी कठिन होता है। मनुष्य का समाज में ज्यों-ज्यों सम्मान बढ़ता है त्यों-त्यों अपने विषय में उसका अभिमान भी बढ़ता जाता है। फिर उसका आत्म-असन्तोष भी बढ़ता है।

मनुष्य आत्म-सन्तोष कैसे पावे ? इसका एक ही उपाय है, अपने आपको स्वीकार करके अपने व्यक्तित्व के सभी तत्त्वों को जीवन में उचित स्थान देना। मनुष्य का व्यक्तित्व अनेक प्रकार की प्रवृत्तियों का बना हुआ है। इनमें से कुछ प्रवृत्तियों से समाज में उसका सम्मान बढ़ता है और कुछ से उसका समाज में सम्मान घटता है। ये प्रवृत्तियाँ उसके व्यक्तिगत जीवन की पूर्ति के लिए आवश्यक होती हैं। मनुष्य का अभिमान अपनी पहले प्रकार की प्रवृत्तियों से तो आत्म-सात् करता है परन्तु दूसरे प्रकार की प्रवृत्तियों को वह जीवन में स्थान ही नहीं देना चाहता। महान् बनने की इच्छा रखनेवाले व्यक्ति के जीवन में सम्मानित प्रवृत्तियों का आदर होता है और समाज में असम्मानित प्रवृत्तियों का दमन होता है। दमन की जानेवाली प्रवृत्तियों में प्रमुख काम-प्रवृत्ति है।

अतएव जितनी समस्यायें काम-प्रवृत्ति के दमन से उपस्थित होती हैं, उतनी और दूसरे किसी कारण से नहीं होतीं।

दमन से काम-प्रवृत्ति पर विजय प्राप्त नहीं होती, इससे मनुष्य केवल अपने आपसे घृणा करना सीखता है। जिस प्रकार हम दूसरे व्यक्ति पर सच्ची विजय उसका सर्वनाश करने की चेष्टा करने से नहीं प्राप्त कर सकते, वरन् उसे अपना मित्र बनाकर ही कर सकते हैं, उसी प्रकार हम अपनी कामवासना पर विजय उसके विनाश की इच्छा करने और उसे घृणा की दृष्टि से देखने से नहीं कर सकते, वरन् उसे अपना मित्र बनाकर ही कर सकते हैं। जिस शत्रु पर सच्ची विजय प्राप्त हुई है, वह हमारे बल को बढ़ाता है, हमारे आपत्तिकाल में वह हमारी सहायता करता है। वह हमारे डर का कारण न बनकर हमारे उत्साह का कारण होता है और उसके गौरव से हम भी गौरवान्वित होते हैं। जब कामवासना पर सच्ची विजय प्राप्त हो जाती है तब वह हमारी कार्य-शक्ति को बढ़ाती है। वह हमारे व्यक्तित्व को आकर्षक बनाती है और उसकी वृद्धि होने पर प्रेम और उत्साह के भावों की वृद्धि होती है एवं उसकी सहायता से मनुष्य ऐसे काम करने में समर्थ होता है, जो उसे संसार का सम्मानित व्यक्ति बनाते हैं। कविता, कला, संगीत, बाल-शिक्षा, रोगियों की सेवा और समाज-सेवा के भाव, सभी कामवासना की शक्ति के उदात्तीकरण के परिणाम हैं। अतः कामवासना की शक्ति का वही व्यक्ति उपयोग कर सकता है जो उसे घृणा की दृष्टि से न देखकर प्रेम की दृष्टि से देखता है, जो उसे मित्र के रूप में मानता आया है। जो व्यक्ति कामवासना को अछूत बनाये हुये है, वह काम-वासना की शक्ति का लाभ कैसे उठा सकता है? ऐसा व्यक्ति काम-वासना के दमन की ही चेष्टा करेगा। वह अपने आपसे घृणा करेगा। इस प्रकार की घृणा से काम-वासना उसे सदा असन्तुष्ट अवस्था में ही बनाये रखेगी और जब कभी वह प्रकाशित होगी, तब वह मनुष्य के अभिमान को ठेस पहुँचायेगी। जिन लोगों की कामवासना अत्यन्त प्रबल होती है और जो उससे मैत्री भाव स्थापित करने अथवा उसे अपने जीवन में उचित स्थान देने में असमर्थ रहे हैं, वे अनेक प्रकार के मानसिक रोगों के भागी होते हैं।

काम-शक्ति का दमन भी स्वयं एक प्रकार की प्रतिक्रिया है। कामवासना की विरोधी नैतिक भावना है। जब कामवासना की प्रबलता होती है तो नैतिक धारणाओं की अवहेलना हो जाती है। नैतिक धारणाओं से मनुष्य के स्वाभिमान का पोषण होता है, काम-वासना की प्रबलता उसका ह्रास कर देती है।

अतएव काम-वासना का अतिक्रमण मनुष्य के स्वाभिमान को ठेस पहुँचाता है; इसलिए उसका दमन होना स्वाभाविक है। परन्तु वासना का एकाङ्गी दमन भी एक नई प्रतिक्रिया उत्पन्न करता है। अब वासना गुप्त रूप से मनुष्य को तंग करती है। वह उसकी इच्छा के प्रतिकूल निकल आती है। काम-वासना अपनी शक्ति, स्वाभिमान को न देकर उसके विनाश का कार्य करती है। इससे मनुष्य अपने से ही घृणा करने लगता है। वह अपनी असमर्थता को जानकर बहुत दुःखी होता है। परन्तु इस प्रकार का अपनी असमर्थता का ज्ञान और अपने आपसे घृणा का भाव मनुष्य के मन को और भी निर्बल बना देता है। जो मनुष्य अपने अथवा अपने व्यक्तित्व के किसी भाग को जितनी घृणा के भाव से देखता है, वह उतने ही निर्बल मन का होता है। वह अपने आपमें पुरुषार्थ की कमी पाता है और इस कमी का ज्ञान मनुष्य का आत्म-निर्देश बनकर उसे प्रतिदिन गिराता जाता है। पहली असफलता का चिन्तन मनुष्य को जितना असफल बनाता है उतना और कोई दूसरी बात नहीं बनाती। जो मनुष्य सोचता है कि मैं अमुक कार्य कर सकूँगा वह उस कार्य के करने में सफल होता है और जो सोचता है कि मुझसे अमुक कार्य न हो सकेगा वह उस कार्य को करने में असमर्थ रहता है। यह मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त न केवल बाहरी परिस्थितियों पर विजय प्राप्त करने के विजय में सत्य है, वरन् आत्म-विजय प्राप्त करने के विषय में भी सत्य है। जो व्यक्ति आत्म-विजय प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें अपने व्यक्तित्व के सभी अंगों को स्वीकार करके उनमें समन्वय स्थापित करना पड़ता है।

ऊपर कहा गया है कि अपने से घृणा के भाव का अन्त आत्म-समन्वय से होता है। जब तक यह भाव मनुष्य के चेतन मन में रहता है, तब तक आत्म-समन्वय करना सरल होता है; परन्तु जब यह चेतना की सतह के नीचे चला जाता है तो आत्म-समन्वय का कार्य कठिन हो जाता है। इस भाव का दमन हो जाने पर अनेक प्रकार के मानसिक रोग उत्पन्न होते हैं। दूसरे लोगों से घृणा करना, वातावरण की किसी वस्तु से घृणा करना, शरीर से घृणा करना, घृणित रोग के शिकार बनना, सफाई की झक, गन्दगी का भय, मूर्च्छा और फिट के रोग अपने आपसे घृणा के परिणाम हैं। एक युवक को फिट रोग था। फिट के बाद होश में आने पर वह देखता था कि उसका वीर्य स्खलित हो गया है। उसके मनोविश्लेषण से पता चला कि अपनी किशोरावस्था में उसका किसी व्यक्ति से अनुचित प्रेम था। इसके लिये बाद में उसे आत्म-ग्लानि होने लगी। इसके परिणामस्वरूप प्रेम घृणा में परिणत हो गया। वह अपने आपसे भी घृणा

करने लगा। पीछे वह इस घटना को भूल गया। परन्तु उसकी दबी हुई वासना ने अपने प्रकाशन का नया मार्ग निकाल लिया। उसने चेतना को अलग करके अपनी तृप्ति का मार्ग खोज लिया। ऐसे व्यक्तियों के मन में साधारण अवस्था में भी उनके अनजाने, अर्थात् मन के अन्तःपटल में, द्वन्द्व चला करता है, जिसके कारण वे किसी कार्य को पूरे मन से नहीं कर पाते।

अपने आपसे घृणा के भाव का अन्त करने का एक उपाय उस क्षति की पूर्ति करना है, जिसके कारण यह भाव उत्पन्न हुआ। अपने आपसे घृणा प्रायः नैतिक क्षति के कारण उत्पन्न होती है। मनुष्य की इच्छा-शक्ति का बल नैतिक नियमों के पालन करने पर निर्भर करता है। इच्छा-शक्ति का बल समष्टि भावनाओं का बल है। मनुष्य जितना ही अधिक समष्टि भावनाओं का आदर करते हुए अथवा उनकी प्रेरणा से कार्य करता है, वह अपनी इच्छा-शक्ति में उतना ही बली होता है। समष्टि भावनाएँ ही नैतिकता का आधार हैं। यदि मनुष्य नैतिक नियमों के विरुद्ध कोई कार्य कर डालता है तो वह अपनी क्षति की पूर्ति प्रायश्चित करके कर सकता है। किसी प्रकार की क्षति की पूर्ति उसपर दुःख मानने से नहीं होती, वरन् पूर्ति के उपायों में लग जाने से होती है। धन की पूर्ति धन कमाने से, यश की पूर्ति यश कमाने से और चरित्र की पूर्ति चरित्र के गुणों की वृद्धि करने से होती है। सभी प्रकार की कमी की पूर्ति प्रयत्न करने से हो जाती है। मनुष्य की आत्मा में अनन्त शक्ति है और वह सभी प्रकार की पूर्ति करने की क्षमता रखता है। इसी प्रकार संयम की कमी का प्रायश्चित्त संयम की वृद्धि से होता है।

संयम की वृद्धि इन्द्रिय-निग्रह से और अपने आपको रचनात्मक कामों में लगाने से होती है। पहले मार्ग की अपेक्षा दूसरा मार्ग मनोविज्ञान की दृष्टि से श्रेयस्कर है। उपयोगी कार्य करना अधिक अच्छा है। किसी उपयोगी कार्य में लग जाने से मनुष्य का मानसिक संयम अपने आप ही हो जाता है और इससे पुरानी भूलों का प्रायश्चित्त भी हो जाता है। दूसरे लोगों की भलाई में मन लगाने से मनुष्य को जो आत्म-प्रसाद होता है, उससे उसकी आत्म-ग्लानि की भावना का सरलता से परिहार हो जाता है। जिस मनुष्य का जीवन जितना ही व्यक्तिगत होता है उसके मानसिक क्लेश उतने ही अधिक होते हैं। जो व्यक्ति अपनी सब शक्तियों को समाज के निमित्त जितना ही अर्पित करता है उसे सभी लोगों का आशीर्वाद प्राप्त रहता है। मनुष्य तभी सुखी रहता है, जब दूसरे लोग उसके लिए शुभ कामनाएँ करते हैं।

अपने प्रति घृणा के भाव का विनाश अपने अभिमान को कम करने से भी होता है। जो मनुष्य अपने विषय में जितना ही अधिक अभिमान रखता है, उसे उतनी ही अधिक भर्त्सना भी होती है। संसार में कोई भी मनुष्य पूर्ण नहीं है। प्रत्येक में किसी-न-किसी प्रकार की कमी रहती है। किसी भी मनुष्य का चरित्र निर्दोष नहीं रहता। अतएव अपने दोष को जानकर उससे संतोष करना आत्मोन्नति का उपाय है। जिस दोष को हम दोष जान जाते हैं, वह कुछ काल में स्वयं ही चला जाता है। यदि दोष को भुलाने की चेष्टा न की जाय, वरन् उसे याद रखकर उसका सामना किया जाय, तो उसका अन्त अवश्य हो जाता है। इसके सम्बन्ध में दोष के लिए अत्यधिक दुःख मानना ही बुरा है। इससे मनुष्य की इच्छा-शक्ति निर्बल हो जाती है, और फिर दोष का अंत करना कठिन होता है।

स्वतः से घृणा के भाव का अन्त दूसरे लोगों के प्रति प्रेम दिखाने से भी होता है। कोई भी मनुष्य अपने को सुखी बनाने की सीधी चेष्टा करने से सुखी नहीं होता, दूसरों को सुखी करने की चेष्टा से ही वह सुखी हो सकता है। दूसरे लोग उसे जितना ही प्यार करेंगे, उसकी आत्मा स्वयं उसे प्यार करेगी, और दूसरे लोग उससे जितनी घृणा करेंगे उसकी आत्मा भी उससे घृणा करेगी। दूसरों के प्रेमपात्र बनने से अपने प्रति मनुष्य की घृणा का भाव नष्ट होता है। यह प्रेम दूसरे लोगों की सेवा से प्राप्त होता है। हम संसार को जो कुछ देते हैं, वही संसार से हमें मिलता भी है। यदि हमने दूसरे लोगों को केवल अपने व्यक्तिगत सुख का साधन बनाया है, तो वे हमसे घृणा करेंगे और यदि हम सदा उनके कल्याण का विचार मन में लाते रहे हैं, तो उनका प्रेम हमें प्राप्त होगा। फिर उन लोगों के भी विचार हमारे विचार के रूप में परिणत हो जाते हैं। जिस व्यक्ति ने दूसरे लोगों को अधिक-से-अधिक प्रेम के विचार भेजे हैं, उसे अपने आपसे घृणा करने का अवसर नहीं मिलता।

अपनी आत्म-भर्त्सना मिटाने का एक उपाय दूसरे लोगों की त्रुटियों को जानकर उनके प्रति उदार भाव दिखाना है। जो व्यक्ति दूसरे लोगों की त्रुटियों को जितना ही अधिक क्षमा करता है, उसकी आत्मा भी उनकी त्रुटियों को उतना ही अधिक क्षमा करती है। जिस प्रकार दूसरे लोगों से उनके किसी दोष के लिए घृणा करने से वह दोष हममें भी आ जाता है, उसी प्रकार ऐसे लोगों से प्रेम करने से उनके गुण भी हममें आ जाते हैं और हमारे दोष निर्दोष बन जाते हैं। जिस प्रकार मनुष्य अपने गुणों से दूसरे लोगों की सेवा कर सकता है, उसी प्रकार वह अपने दोषों से भी दूसरों की सेवा कर सकता है। जिस मनुष्य को

अपने दोषों का ज्ञान है, वह दूसरे लोगों के दोषों को सरलता से भलीभांति समझ जाता है। उसकी आँख से उसके मन के स्तर भी छिपे नहीं रहते। ऐसा व्यक्ति एक अच्छा मनोवैज्ञानिक और मानसिक चिकित्सक बन सकता है। जिस विधि से उसने अपनी कठिनाइयों को हल किया, वह उस विधि को दूसरे लोगों को बता सकता है। इस प्रकार वह अपने आपको समाज का अमूल्य रत्न बना सकता है।

अपने प्रति घृणा के विचारों का अन्त अपने आपको विश्वात्मा के प्रति समर्पित करने से भी होता है। मनुष्य की सभी प्रकार की सफलता उसके अभिमान को बढ़ाती हैं। अभिमान की वृद्धि ही आत्म-ग्लानि और अपने आपसे घृणा का कारण बन जाती है। फिर इनके दमन की चेष्टा से मनुष्य का अभिमान और भी बढ़ता है। आत्म-समर्पण के भाव से मनुष्य अपने सभी प्रकार के भार से मुक्त हो जाता है। तब उसे किसी प्रकार की भूल के लिये भर्त्सना नहीं होती। परन्तु यह कार्य वही व्यक्ति कर सकता है, जो अन्तर्मुखी है और जो दूसरों के सुधारने की अपेक्षा अपने सुधार का ही अधिक यत्न करता है। जिन लोगों का अभिमान बहुत बढ़ जाता है, जिन्हें जीवन में असाधारण सफलताएँ मिल जाती हैं, वे अपने से बड़ी किसी शक्ति को मान ही नहीं सकते। वे ऐसे मानसिक रोगी हैं, जिनका उपचार होना अत्यन्त कठिन है। ऐसे ही लोग विश्व-शान्ति की चेष्टा करते हुए विश्व-विनाश के दिन समीप ले आते हैं। ऐसे लोग जगत में सद्भावना और शान्ति के लिये प्रसिद्ध होते हैं और घर में अशान्ति के लिये। बाहर वे समझौता की नीति अपनाते हैं और घर में दमन की। यह उनको अनिवार्य रूप से करना पड़ता है। यह एक प्रकार की पूर्णता की झक है जो मनुष्य को विनाश की ओर ले जाती है। वह झक तभी जाती है, जब मनुष्य अपने आपको एक पूर्ण तत्व के प्रति अर्पित करता है।

विश्वात्मा का भाव मनुष्य के मन को शान्त कर देता है। वास्तव में मनुष्य की सभी प्रकार की कार्यक्षमता और ज्ञान विश्वात्मा से एकत्व स्थापित होने पर निर्भर करता है। जो व्यक्ति उससे अपने आपको अलग करके बड़ा बनना चाहता है, वह अविवेकी है। जिसको विश्वात्मा से अपने एकत्व का तनिक भी ज्ञान है, वह धन्य है। ऐसा ही मनुष्य सुखी रहता है।

स्वत: से घृणा के भाव का अन्त शान्त भावना के अभ्यास से भी होता है। यह अभ्यास अनेक प्रकार की व्यक्तिगत समस्याओं को अपने आपही हल कर देता है। शान्त भावना का अभ्यास मनुष्य के आत्म-निर्देश और उनकी इच्छा-शक्ति

को बढ़ाता है। आत्म-भर्त्सना उसी व्यक्ति को होती है, जिसकी इच्छा-शक्ति निर्बल है। जब मनुष्य की इच्छा-शक्ति बलवान हो जाती है तब वह ऐसे किसी विचार को मन में घुसने नहीं देता, जिससे मानसिक क्लेश की वृद्धि होती है। मानसिक क्लेश की अवस्था में मनुष्य के विचार नकारात्मक होते हैं और वह कोई उपयोगी कार्य नहीं कर पाता। शान्त भावना का अभ्यास इस अवस्था का अन्त कर देता है। जो कुछ होता है, सभी भले के लिये है, यह भाव शान्त भाव को बढ़ाता है।

तीसवाँ अध्याय

मानसिक शान्ति

मानसिक शान्ति मनुष्य के विभिन्न प्रकार के भावों के एकीकरण का परिणाम है। मनुष्य के मन में अनेक प्रकार के भाव और विचार आते रहते हैं। इन विचारों में कभी सामञ्जस्य और कभी विरोध होता है। कभी-कभी यह विरोध मनुष्य को ज्ञात रहता है। ऐसी अवस्था में मनुष्य अपने विचारों और भावों में एकता स्थापित करने की चेष्टा करता है। परन्तु कभी यह विरोध मनुष्य को ज्ञात नहीं रहता। ऐसी अवस्था में मनुष्य का मन दुःखी रहता है, किन्तु मनुष्य अपने दुःख का कारण नहीं जानता। कभी-कभी ज्ञात विचार का विरोध अज्ञात विचार अथवा भाव करता है। यह अज्ञात विचार किसी प्रकार के निरर्थक भय, संशय, शंका, अथवा निषेधात्मक विचार का रूप धारण कर लेता है।

मान लीजिए कोई विद्यार्थी अपनी पढ़ाई में लगा हुआ है। वह पूरे मन से काम कर रहा है। परन्तु जब वह अपनी परीक्षा के बारे में सोचता है, तब उसके मन में अपनी सफलता के विषय में शंका उत्पन्न हो जाती है। इसके कारण वह हतोत्साह होकर बैठ जाता है। कभी-कभी विद्यार्थी के मन में विचार आता है कि वह परिश्रम न करे। जो कुछ काम वह करता है, भीतर से एक प्रबल विचार आ जाता है कि उसे वह काम न करना चाहिए। इस प्रकार के विचार का कारण वह नहीं जान सकता। परन्तु विचार आता रहता है। इस प्रकार के विचार से दुःखी होकर कभी-कभी विद्यार्थी जीवन से निराश हो जाते हैं। कितने ही युवकों को अकारण थकावट की अनुभूति होती है। जब वे सोकर उठते हैं, तब प्रसन्नता का अनुभव न करके दुःख और थकावट का अनुभव करते हैं।

इस प्रकार के अनुभव मानसिक द्वन्द्व के प्रतीक हैं। जब कभी ऐसे व्यक्ति एकान्त में बैठते हैं तो उनके मन में अनेक प्रकार के विरोधी विचार उठा करते हैं। ये सभी विचार अप्रिय होते हैं। जैसे-जैसे वे दुःखद विचारों के निवारण करने की चेष्टा करते हैं, तैसे-तैसे वे और भी प्रबल विचार होते जाते हैं। संतों और धर्म-शिक्षकों ने इस प्रकार के विचारों को रोकने के अनेक उपाय बताये हैं। व्रत, उपवास और भगवत्-नाम-स्मरण आदि उपाय इस प्रकार के विचारों के निवारण के लिए बताये गये हैं। भगवान् बुद्ध ने मैत्रीभावना, अनित्य

भावना और आनापानसति का अभ्यास अवांछनीय विचारों के निवारण के लिए बताया है। ये सभी उपाय विचारों को सीधे तरीके से वश में करने के हैं।

विचारों को उक्त रीति से वश में करने में मनुष्य कभी-कभी सफल होता है, परन्तु कभी-कभी वह और भी झगड़े में पड़ जाता है। जब तक मनुष्य का मन प्रवल आवेगों से मुक्त नहीं होता, आध्यात्मिक साधना करना संभव नहीं होता, जब मनुष्य के मन में अनेक दबे भाव रहते हैं, तब उसकी साधना के समय अनेक प्रकार के मानसिक विक्षेप होते हैं। ऐसे व्यक्ति का विचार भी निश्चयात्मक नहीं होता। वह ईश्वर का ध्यान करता है, परन्तु उसे ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं होता। वह यौगिक क्रियाएँ करता है, परन्तु उसे उनकी सार्थकता में भी विश्वास नहीं होता।

इस प्रकार की मानसिक स्थिति के अन्त करने का एक उपाय अपने गुप्त भावों और विचारों का जानना है। परन्तु केवल जानने मात्र से विचारों में एकता नहीं आ जाती। इसके लिये अलग प्रयत्न करना पड़ता है। विचारों में एकता लाने के लिये किसी व्यापक तत्त्व की खोज करना आवश्यक होता है। किसी एक तत्त्व के ऊपर विचारों का एकीकरण होता है। इस प्रकार मनुष्य के विभिन्न भावों में सामञ्जस्य स्थापित होता है। अपने विचारों को संगठित करना अपने आपका पुनर्निर्माण करना है। कई दिनों के चिन्तन के पश्चात् यह पुनर्निर्माण होता है।

विचारों में एकीकरण का दूसरा उपाय किसी बाहरी काम में लग जाना है। यह काम किसी ऊँचे उद्देश्य से संचालित होना चाहिए। जैसे-जैसे मनुष्य इस काम में सफलता पाता जाता है और जैसे-जैसे उसका अपने काम में आत्म-विश्वास बढ़ता जाता है, उसका आत्म-निर्माण भी होता जाता है। बाहरी काम को सफलतापूर्वक करना आत्म-निर्माण में सफलता प्राप्त करना है। जिन लोगों के मन सुगठित होते हैं, उनके कार्य भी सुगठित होते हैं और जिनका मन ढीला-ढाला होता है, उनके कार्य भी ढीले-ढाले होते हैं। सावधानी से काम करने से मन में सावधानी का भाव आता है और मन की शक्तियाँ एक केन्द्र पर स्थिर होती हैं। इस प्रकार शक्ति के केन्द्रीकरण से मनुष्य में आत्म-विश्वास और शान्ति का भाव बढ़ता है।

मनुष्य का मन और उसका वातावरण एक दूसरे के सापेक्ष हैं। मनुष्य का मन जिन बाहरी क्रियाओं में रुचि दिखाता है, वे मन के भीतर चलनेवाली भीतरी क्रियाओं की प्रतीक हैं। मन का भीतरी झगड़ा ही बाहरी झगड़े का रूप

धारण कर लेता है। जो व्यक्ति भीतरी झगड़े में हार जाता है, वह बाहरी झगड़े में भी हार जाता है और जो आत्म-विजय की भावना रखता है, वह जीवन की निराशा में चिन्हित होती है। अतएव भीतरी जीव की विजय, बाहरी विजय बन जाती है। इस प्रकार वह बाहरी जीवन की विजय में सहायक होती है।

किसी भी कार्य को सफलतापूर्वक करने से मनुष्य में चित्त की एकाग्रता आती है, उसके विचारों में एकता आती और उसके भावों एवं आवेगों पर उसका नियंत्रण स्थापित होता है। किसी भी काम को सफलतापूर्वक करने के लिये मनुष्य के चेतन और अचेतन मन में एकाग्रता स्थापित होने की आवश्यकता होती है। यदि मनुष्य का चेतन मन एक ओर जाने को कहे और उसका अचेतन मन उसे दूसरी ही ओर खींचे, तो मनुष्य किसी काम को सफलतापूर्वक नहीं कर पाता। परन्तु जिस प्रकार सफल काम करने के लिए मानसिक एकता आवश्यक है, उसी प्रकार किसी काम का सफलतापूर्वक करना मानसिक एकता उत्पन्न करता है। यहाँ कार्य कारण बन जाता है। जैसे-जैसे मनुष्य अपने बाहरी कामों में सफलता प्राप्त करता है, उसका आत्म-विश्वास बढ़ता जाता है और उसके मन के भावों में एकता आती जाती है। इस एकता से आन्तरिक शान्ति उत्पन्न होती है।

परन्तु कोई भी काम तब तक सफलतापूर्वक नहीं किया जा सकता, जब तक उसका लक्ष्य उत्तम न हो। पवित्र हेतु से किया गया काम ही मनुष्य को स्थायी सफलता प्रदान करता है। काम करने में बाहरी सफलता का आना भीतरी सफलता का तुच्छ अंग है। जो व्यक्ति बाहरी सफलता से विक्षुब्ध होकर काम के आध्यात्मिक हेतु का विस्मरण कर देते हैं, वे अपनी सफलता को ही अपने दुःख का कारण बना लेते हैं। सच्चा सफल कार्य वह है, जिसमें मनुष्य के हेतुओं में उत्तरोत्तर विकास होता है। सदा काम में लगे रहने से हेतुओं में विकास होता है। मनुष्य जिस काम को पहले स्वार्थ-बुद्धि से करता है, बाद में वह उसी काम को परमार्थ बुद्धि से करने लगता है। इसी को हेतुओं का विकास कहा जाता है।

जब मनुष्य के कामों से उसके हेतुओं का विकास नहीं होता, तो मनुष्य अपने काम का अभिमान करने लगता है और इस प्रकार वह अपने काम करने की शक्ति को घटा लेता है तब परिणामतः उसके अनेक निन्दक और शत्रु हो जाते हैं। अब उसके जीवन में अनेक प्रकार की बाधाएँ उत्पन्न हो जाती हैं।

इस प्रकार अपने कामों के कारण मनुष्य का कुछ आत्म-निर्माण होता है, वह विनष्ट हो जाता है। उसे निराशा, आलस्य और दुश्चिन्ताएँ घेर लेती हैं।

सांसारिक काम करने में मनुष्य को अनेक प्रकार की बाधाएँ पार करनी पड़ती हैं। उसे अनेक आलोचकों की आलोचनाएँ सहनी पड़ती हैं। कितने ही शत्रुओं से लड़ना पड़ता है। अब यदि कार्यकर्त्ता का उद्देश्य ठीक है और वह अपने उद्देश्य पर अडिग है, तो इन बाधाओं को पार करने में वह समर्थ होता है। उद्देश्य में श्रद्धा न होने पर मनुष्य का मन आलोचनाओं से विचलित हो जाता है। वह मार्ग से हटानेवालों से परेशान हो जाता है। वह फिर अपने काम को छोड़ देता है। इस प्रकार काम को छोड़ देने से मनुष्य अपने काम में विश्वास को खो देता है। उसके विचार तितर-बितर हो जाते हैं। किसी प्रकार के बाध्य विचार जब पुनः मन में घुस जाते हैं, तो वे बाहर नहीं निकलते।

वास्तव में मनुष्य का उद्देश्य उसके आन्तरिक उत्तम स्वत्व का प्रतीक है। उद्देश्य से उसको अपने ऊँचे से ऊँचे स्वत्व की प्राप्ति में मन लगाना है। उसके सामने आनेवाली बाधाएँ वास्तव में उसके उद्दण्ड भाव ही हैं। ये उच्छृङ्खल भाव ही ऐसी बाधाएँ बनकर आती हैं, जिनके कारण मनुष्य अपने लक्ष्य से गिर जाता है। अतएव बाहरी बाधाओं पर विजय प्राप्त करना अपने भीतरी प्रतिकूल भावों पर विजय प्राप्त करने की सूचना है। दुर्बल मन का व्यक्ति न तो भीतरी बाधाओं पर विजय प्राप्त कर पाता है, और न बाहरी बाधाओं पर। किसी भी कठिन काम को पूरा करने के लिये त्याग और तप की आवश्यकता होती है। यह बात बाहरी काम को पूरा करने के विषय में उसी प्रकार सत्य है, जिस प्रकार भीतरी काम को पूरा करने, अर्थात् आत्म-विजय के विषय में।

युंग महाशय का कथन है कि मनुष्य नित्य लगन द्वारा बहुत धीरे-धीरे आत्मविजय प्राप्त करता है। इस आत्म-विजय के लिये आत्म ज्ञान की वृद्धि करना आवश्यक है। परन्तु साथ-ही-साथ मनुष्य को अपनी प्रति दिन की जिम्मेदारियों के प्रति उदासीन होना चाहिए। जो ऐसा करता है, वह वास्तव में अपने आप ही से भागता है। इस प्रकार भागने से आत्म-विजय नहीं होती। इससे मनुष्य अपनी सफलता के मापदण्ड को ही खो देता है। अतएव जीवन के प्रत्येक काम को आत्म-ज्ञान और आत्म-विजय का साधन मानना ही आध्यात्मिक शान्ति का सर्वोत्तम उपाय है।

इकतीसवाँ अध्याय

शान्त भावना के अभ्यास का प्रभाव

संसार के सभी लोग शक्ति से प्रभावित होते हैं। शक्तिशाली पुरुष का आदर सब जगह होता है और शक्तिहीन का सब जगह अनादर होता है। शक्तिशाली मनुष्य से दूसरे लोग डरते हैं, शक्तिहीन से कोई नहीं डरता। जब तक मनुष्य के मन में शक्ति होती है, तब तक उसके मन में शान्ति रहती है; जब शक्ति चली जाती है, तो मनुष्य की शान्ति भी चली जाती है। रोग की अवस्था में मनुष्य का मन अशान्त रहता है, जब मनुष्य आरोग्य-लाभ पाता है, तो उसका मन शान्त हो जाता है। शक्ति की उपस्थिति शान्ति लाती है और शान्ति अपर विभूतियों की वाहिका है। जिस मनुष्य का मन शान्त रहता है, उसमें आत्म-विश्वास रहता है। इस प्रकार शान्त-भाव शक्ति और आत्म-विश्वास का द्योतक है।

शान्त-भाव का अभ्यास अनेक प्रकार के क्लेशों का विनाशक है। शान्त-भाव का अभ्यास शिवभाव का अभ्यास है। जब देवता और दैत्यों ने मिलकर समुद्र का मन्थन किया, तो उसमें से सबसे पहले विष निकल आया। यह विष संसार को विनाश करने के लिये उतारू हो गया। तब देवता और दैत्यों ने शिव का आवाहन किया। शिवजी ने उस विष को पी लिया। इसके बाद उस समुद्र में से अनेक रत्न निकले।

पुराण की उक्त कथा रूपक की रीति से मन-मानस के मंथन करने पर होनेवाले परिवर्तनों और उनके फलों को बतलाती है। शान्त-भाव के अभ्यास से न केवल अपने मन के भीतर के विष का अन्त हो जाता है, वरन् संसार में उपस्थित विष का भी अन्त हो जाता है। एक मनुष्य को देखकर दूसरा मनुष्य उसी प्रकार का होता है, जिस प्रकार का पहला व्यक्ति होता है। यदि पहला मनुष्य डर के भाव से भर गया है, तो दूसरा भी डर से भर जाता है, यदि एक क्रोध से भर गया है, तो दूसरा भी क्रोध से भर जाता है। कभी-कभी एक व्यक्ति का क्रोध दूसरे व्यक्ति के मन में डर उत्पन्न करता है। परन्तु शान्त-भाव के प्रदर्शन से सदा आस-पास के लोग शान्त होते हैं। यदि शान्त-भाव के व्यक्ति के प्रति कोई व्यक्ति द्वेष रखता है तो द्वेष रखनेवाले व्यक्ति के मन में डर उत्पन्न हो जाता है।

एक बार औरंगजेब लड़ाई में फारस के लोगों से लड़ रहा था। लड़ते-लड़ते दिन डूब गया। औरंगजेब सेना के आगे हाथी पर बैठा सैन्य-संचालन कर रहा था। शाम होते ही उसने हाथी के पैरों में लंगर डलवा दिया और हौदे से नीचे उतरकर जमीन पर कपड़ा बिछवाकर नमाज़ पढ़ने लगा। इस दृश्य को देखकर विरोधी दल के लोग दंग हो गये। विरोधियों के सेनापति ने कहा कि यह मनुष्य ईश्वर का सच्चा भक्त है, इससे लड़ने से हम नष्ट हो जायँगे। अतएव वे लड़ाई के मैदान को छोड़कर चले गये।

रण में मनुष्य की हार पीछे होती है, वह मन से पहले हार जाता है। अंग्रेज लोग आपत्ति के समय अपना साहस नहीं छोड़ते। लड़ाई के समय उन्हें चाहे जितनी हानि क्यों न सहनी पड़े, वे हिम्मत नहीं हारते। अंग्रेज कहा करते हैं कि अंग्रेज लोग छोटे युद्धों में कितना ही क्यों न हारें, पूरी लड़ाई में अवश्य सफल होते हैं। उनका इस प्रकार का आत्म-निर्देश उन्हें बड़े-बड़े महायुद्धों में सदा सफल बनाता रहा है। उनका शान्त-भाव उनके शत्रुओं के मन में भय उत्पन्न करता है। अंग्रेजों के शत्रु बड़ी-बड़ी शेखी मारते हैं, वे उनके रण से भाग जाने की खिल्ली भी उड़ाते हैं, परन्तु अन्त में लड़ाई में हार जाते हैं। वह अंग्रेजों के आत्म-विश्वास और शान्त-भाव के अभ्यास का परिणाम है, जो उनके पुरुषार्थ और चरित्र-बल का द्योतक है।

शान्त-भाव का अभ्यास करनेवाला व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के मन में साहस का संचार करता है। यदि किसी विशेष व्यक्ति को कोई घातक रोग हो गया है और उसके आस-पास के लोग उसके विषय में चिन्ता करने लगते हैं, तो उसका बचाना कठिन हो जाता है। दूसरे लोगों के चिन्ता के विचार रोगी के मन में चले आते हैं। इससे उसका रोग बढ़ता जाता है। यदि शान्त-भाव से उसके रोग को देखा जाय और रोगी की सेवा आशायुक्त विचारों से की जाय, तो रोगी शीघ्र आरोग्य लाभ कर ले। अपने सम्बन्धियों के गुप्त भाव रोगी के मन में अनायास चले जाते हैं। यदि ये भाव डर के हुए, तो रोगी भी अपने रोग से डर जाता है। इससे उसका मन पहले से अधिक निर्बल हो जाता है और यदि अपने सम्बन्धियों के विचार आशावादी हुए, तो रोगी आशावादी बन जाता है और शीघ्र ही वह अपने रोग से मुक्त हो जाता है।

हाल ही में लेखक के एक मित्र को घातक रोग हुआ। उनकी स्त्री उनकी सेवा करती थी। वह शान्त-भावना का अभ्यास करती थी। इसके कारण रोगी

को भारी लाभ हुआ। उसने रोग से मुक्त होने का आत्म-विश्वास नहीं खोया। धीरे-धीरे उसका रोग जाता रहा।

परीक्षा के समय शांत-भाव का अभ्यास बड़ा लाभदायक होता है। बड़ी-बड़ी परीक्षाओं की मुलाकातों में बहुत से परीक्षार्थी सब कुछ बातें जानकर भी उन्हें समय पर भूल जाते हैं। शांत-भावना के अभ्यास के अभाव में ये कुछ-का कुछ कर डालते हैं। जो मनुष्य इस प्रकार की परीक्षाओं को जितना ही अधिक महत्व देता है, वह उतसे उतनी ही अधिक घबड़ाता है और इस घबड़ाने के कारण वह अपनी बुद्धि को खो देता है। हमें किसी कार्य में निर्भीकता जितनी अधिक सफल बनाती है, दूसरा कोई भाव नहीं बनता। यह निर्भीकता शांत-भाव के अभ्यास से आती है।

शांत-भाव मैत्रीभाव का सहगामी है। अमैत्री भाव के होने पर मन में अनेक प्रकार के मानसिक उद्वेग आते हैं। अमैत्री भावना से मनुष्य के मन में घृणा और भय उत्पन्न होते हैं और इनके दब जाने से अनेक प्रकार की चिन्ताएँ उत्पन्न हो जाती हैं। ये चिन्ताएँ मनुष्य को शक्तिहीन कर देती हैं। फिर उसके मन में दूसरे व्यक्ति को प्रभावित करने की शक्ति नहीं रह जाती। शांत-भाव में दूसरे व्यक्ति को प्रभावित करने की कितनी शक्ति है, यह भगवान बुद्ध और अंगुलिमाल की कथा से स्पष्ट होता है। अंगुलिमाल भगवान बुद्ध को देखते ही मारने के लिये खिल-खिलाकर दौड़ पड़ा। भगवान बुद्ध ने उसकी ओर शांत-भाव की मुद्रा में आकर अपना हाथ दिखाया। वह इससे इतना प्रभावित हुआ कि वह रात भर दौड़ता ही रहा, परन्तु पाँच गज जमीन को पार करके भगवान बुद्ध तक न पहुँच सका। अन्त में उसके सभी मानसिक विकार उस शांत मुद्रा में लय हो गये। जब वह भगवान बुद्ध तक पहुँचा, तो उन्हीं के रूप में परिणत हो गया। वह एक डाकू से अर्हत बन गया। इसी प्रकार वाल्मीकि डाकू सप्त ऋषि के शांत-भाव से एक हत्यारे की वृत्ति को छोड़कर सत्पुरुष बन गया। शांत-भाव का सतत् अभ्यास करनेवाले व्यक्ति अपने आस-पास के लोगों को अपने ही रूप में परिणत कर लेते हैं।

बत्तीसवाँ अध्याय

प्रबल आवेगों का उपयोग

जहाँ आसक्ति रहती है, वहाँ आवेग भी होते हैं। आसक्ति ही अनेक प्रकार की इच्छाओं को जन्म देती है। इन इच्छाओं में विकास धीरे-धीरे होता है। जैसे-जैसे इच्छाओं की कमी होती है, वैसे-वैसे आवेगों की भी कमी हो जाती है। आवेग मानसिक विकार है। इन विकारों का सदुपयोग करने में जीवन की सफलता है और उनका दुरुपयोग अथवा दमन ही जीवन को असफल बनाता है।

मान लीजिए किसी मनुष्य को किसी विशेष परिस्थिति में क्रोध का प्रबल आवेग आ जाता है। वह इस आवेग में आकर किसी दूसरे मनुष्य को मार-पीट देना चाहता है। परन्तु बाह्य परिस्थिति अथवा उसकी नैतिक बुद्धि उसे ऐसा करने से रोकती है। यह आवेग अवरुद्ध अवस्था में हो जाता है। इससे मनुष्य को अंधापन, पेट का रोग, दस्त होना, क्षय रोग आदि अनेक प्रकार की शारीरिक व्याधियां उत्पन्न हो जाती हैं। प्रबल क्रोध के दमन से मेलेन्कोलिया की बीमारी भी उत्पन्न हो जाती है। इससे आत्म-हत्या की भावना भी उत्पन्न हो जाती है। अकारण भय भी इससे उत्पन्न हो जाते हैं।

सास और पतोहू में प्रायः अनबन रहती है। इससे वे आपस में लड़-भिड़ लेती हैं। परन्तु जब इनमें से किसी को अपने आवेगों को प्रकाशित करने का अवसर नहीं मिलता, तो उन्हें शारीरिक रोग हो जाते हैं। सास को अंधापन और पतोहू को क्षय, दमा, पेट के रोग तथा सिर की पीड़ा उत्पन्न हो जाती है। लेखक के एक मित्र की सोलहवर्षीया युवती-कन्या की गुप्त बातों को उसकी एक सहेली ने पढ़ लिया। इससे उसे बड़े क्रोध की अनुभूति हुई, परन्तु वह उसे प्रकाशित न कर पाई। इसके बाद उसका जीवन नीरस हो गया। पीछे उसे मेलेन्कोलिया हो गया। अब वह अपने आप कुछ भी नहीं करती थी। चलना फिरना, बोलना, खाना-पीना सभी साधारण शारीरिक क्रियाएँ बन्द हो गईं। कई दिनों तक दुःख भोगने के बाद ही उसका रोग गया।

एक संपन्न घर की महिला को इसी प्रकार अपनी देवरानी के प्रति क्रोध-प्रकाशन में बाधा आ गई। यह देवरानी अपने बच्चों को उसके जिम्मे छोड़कर दो चार दिन के लिये मायके चली गई थी, परन्तु वहाँ उसे महीना भर लग गया। जब वह लौटकर आई, तो उक्त महिला ने उसे क्रोधभरी आँखों से देखा, परन्तु ससुर के डर के मारे कुछ भी न कहा। इस घटना के पश्चात् उसे मेलेन्को-

लिया का रोग हो गया। उसे बार-बार अपनी इच्छाओं को ससुर की आज्ञा के मारे रोकना पड़ा था। अब उसने खाना-पीना, उठना-बैठना आदि बन्द कर दिया। मेलेन्कोलिया के रोगियों को नींद की कमी हो जाती है। वे निकम्मे पड़े रहते हैं, परन्तु सो नहीं पाते। उनके सभी विचार निराशायुक्त होते हैं।

जिस प्रकार क्रोध के दमन से शारीरिक और मानसिक रोग उत्पन्न हो जाते हैं, उसी प्रकार शोक के दमन से भी मानसिक और शारीरिक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। जब किसी व्यक्ति का निकटवर्ती संबंधी मर जाय, तो उसके लिये रोने पीटने से शोक की मात्रा कम हो जाती है। शोकातुर व्यक्ति के मित्रों का धर्म है कि वे मरे हुए व्यक्ति का अनेक प्रकार से गुणगान करके उसका शोक दूर करें। जब बाहरी शिष्टाचारवश शोक का दमन हो जाता है, तो वह मनुष्य के व्यक्तित्व में विच्छेद उत्पन्न कर देता है। शोक के दमन से पागलपन आ जाता है। कभी-कभी शारीरिक रोग भी उत्पन्न हो जाते हैं। शोक के दमन से कभी-कभी आँख की ज्योति चली जाती है। शोक के दमन से मनुष्य का जीवन नीरस हो जाता है। उसका मन किसी काम में नहीं लगता। कभी-कभी शोक से आक्रान्त व्यक्ति अपनी अचेतन अवस्था में मृत व्यक्ति के अन्तिम समय की स्थिति का अभिनय करने लगता है। कभी-कभी उसे किसी विशेष प्रकार के पदार्थों से भय अथवा अरुचि हो जाती है। उनके देखते अथवा उनकी आवाज सुनते ही उसे मूर्छा आ जाती है। लेखक की एक छात्रा को अपने पिता की मृत्यु पर बहुत शोक हुआ, परन्तु वह उसे प्रकाशित न कर पाई। इसके परिणाम-स्वरूप वह अपने पिता के रोग का ही अभिनय करने लगी। अर्थात् उसे वही रोग हो गया, जो उसके पिता को हुआ था। वह अपने पिता की मृत्यु का दृश्य भूल जाना चाहती थी, इसके परिणाम-स्वरूप उसे पिता का रोग हो गया। एक दूसरी महिला को अपने पति की मृत्यु पर शोक हुआ, परन्तु वह भी अपने शोक को पूरी तरह प्रकाशित न कर पाई। इसके परिणाम-स्वरूप उसे बेहोश हो जाने का रोग हो गया। वह अपनी अचेतन अवस्था में अपने पति की मरने के समय की घटना का अभिनय करती थी। हार्ट महाशय ने अपनी 'साइकालोजी आफ इन्सेनिटी' नामक पुस्तक में एक महिला का दृष्टान्त दिया है, जिसे गिरजाघर के घंटों से अकारण भय होता था और जिसके कारण वह कभी-कभी बेहोश हो जाया करती थी। उसके मानसिक अध्ययन से पता चला कि जब इस महिला की माँ एक अस्पताल में मर रही थी, उसी समय गिरजाघर का घंटा बज रहा था। वह आवाज उसे बहुत बुरी लगती थी। महिला अपनी माँ की मृत्यु के शोक

को पूरी तरह से प्रकाशित न कर पाई। घण्टे की आवाज का संबंध इस अप्रकाशित शोक से हो गया। इसके कारण जब कभी महिला घंटे की आवाज सुनती, तो उसके मन में भारी दुःख होता। दुःख बहुत भारी होने के कारण उसकी चेतना ने उसे दबा रखा था। वह उसकी चेतनावस्था में प्रकाशित नहीं हो पाता था, अतएव रोगी की अचेतन अवस्था में आना पड़ता था।

किसी भी आवेग का प्रकाशन उसके प्रभाव को कम कर देता है। जो आवेग मनुष्य की चेतना के नीचे दबा रहता है, उसे चेतना के स्तर पर लाना मनुष्य के मानसिक स्वास्थ्य के लिये आवश्यक है, परन्तु यह विशेष चेष्टा करने पर भी नहीं आता। इसके लिये मानसिक रोगी को ऐसी परिस्थिति में रखना पड़ता है, जहां वह विस्तृत आवेग की अनुभूति करे। मान लीजिए किसी व्यक्ति को किसी दूसरे व्यक्ति के प्रति विशेष प्रकार का द्वेष है। यदि यह व्यक्ति अपने इस द्वेष को अपनी आत्म-प्रतिष्ठा की भावना के कारण प्रकाशित नहीं कर पाता, तो यह द्वेष मानसिक अथवा शारीरिक रोग का कारण बन जाता है। परन्तु जब उसे द्वेष के प्रकाशन की सुविधा मिल जाती है, तो उसका मानसिक रोग नष्ट हो जाता है। इसी तरह क्रोध, शोक और प्रेम प्रकाशित होने से कमजोर हो जाते हैं। मानसिक ग्रन्थियों के रूप में मनुष्य के अचेतन मन में उपस्थित ये भाव जब किसी प्रकार प्रकाशित हो जाते हैं, तब उनका हानिकारक परिणाम नष्ट हो जाता है। मानसिक और शारीरिक रोग भी दबे आवेगों के मार्ग हैं। इनके द्वारा भी वे आवेग निर्बल हो जाते हैं। फिर मनुष्य उन्हें जल्दी से पहचान लेता है।

मनुष्य का आत्म-प्रतिष्ठा का भाव उसे अपने मन में वर्तमान प्रबल मनोभावों तथा मानसिक ग्रंथियों की उपस्थिति को भुलाने की चेष्टा करता है। कितने ही मनुष्यों का बाहरी व्यवहार भीतरी मानसिक स्थिति के ठीक प्रतिकूल होता है। इसके कारण मानसिक ग्रंथियों का पहचानना और भी कठिन हो जाता है। मनुष्य के रोग उसके इस अभिमान के झूठेपन को व्यक्त कर देते हैं। फिर वह अपने आपको जैसा वह है वैसा पहचानने में समर्थ होता है। दबे हुए आवेगों को वह फिर चेतना के स्तर पर लाने में समर्थ होता है। मनोविश्लेषण के परिणाम-स्वरूप भी मनुष्य के दबे आवेग अर्थात् उसकी मानसिक ग्रन्थियां चेतना के स्तर पर आ जाती हैं। परन्तु यह कार्य भी धीरे-धीरे होता है। कभी-कभी मनुष्य उस घटना को स्मरण कर लेता है, जिसके कारण किसी आवेग की अनुभूति नहीं करता। ऐसी अवस्था में उसके दबे भावों का रेचन नहीं होता। देखा

गया है कि जिस घटना का रोगी सामान्य व्यक्ति के समान, बिना किसी भाव का अनुभव किये, अपनी साधारण जाग्रतावस्था से वर्णन कर देता है, उसी घटना को संमोहित अवस्था में आवेगात्मक होकर वर्णन करता है।

पिछले उदाहरण में जिस महिला को गिरिजाघर के घंटों की आवाज से भय होता था, वह अपनी माँ की मृत्यु का वर्णन बिना किसी आवेग के अनुभव के दूसरों से कर देती थी, परन्तु जब उसे संमोहित करके उस घटना को वर्णन करने के लिये कहा जाता था, तो वह एक छोटे बच्चे की तरह शोकातुर होकर उसका वर्णन करती थी। यदि यह महिला अपनी सामान्य अवस्था में उक्त घटना का उसी प्रकार वर्णन करती, जैसे वह संमोहित अवस्था में करती थी, तो वह मानसिक रोग से मुक्त हो जाती। वास्तव में उसे अपने मानसिक रोग से मुक्त कराने के लिये ऐसी मानसिक स्थिति में लाया गया, जिससे वह दबे मनोभावों का पूरी तरह अनुभव कर ले।

कितने ही लोगों में आत्म-ग्लानि का भाव दबी हुई अवस्था में रहता है। वे अपनी आत्म-ग्लानिजनक घटना का वर्णन भी कर डालते हैं। परन्तु उनकी चेतना पर पुराना भाव नहीं आता। इससे उनकी आत्म-ग्लानि के भाव का रेचन भी नहीं होता। इस भाव के रेचन होने के लिये ग्लानि उत्पन्न करनेवाली घटना को धीरे-धीरे अनुभूति के साथ सोचना, अथवा दूसरों से कहना आवश्यक है। इस भाव के रेचन होने से मनुष्य का मानसिक रोग नष्ट हो जाता है।

अपनी मानसिक शुद्धि के लिये मनुष्य को पुराने बचे हुए भावों का रेचन करना नितांत आवश्यक है। इससे मनुष्य के अभिमान को ठेस तो अवश्य पहुँचती है, परन्तु उसके मन का खिंचाव भी चला जाता है। दबे भावों के रेचन के लिये अपने पुराने जीवन की छोटी-छोटी भावात्मक घटनाओं पर विचार करना, उन्हें दूसरों से कहना और लिख डालना चाहिए। अपने लेख को फिर बार-बार पढ़ना चाहिए, इस प्रकार कभी-कभी मनुष्य को पूरे आवेग का अनुभव हो जाता है।

मान लीजिए, किसी व्यक्ति के मन में किसी प्रकार के भय का भाव मानसिक ग्रंथि के रूप में उपस्थित है। इसके लिये आवश्यक है कि उस व्यक्ति को किसी प्रकार अनुभूति कराई जाय। कितने ही लोगों की लकवा की बीमारी, मूर्च्छा आदि का रोग भय के भाव के रेचन से नष्ट हो जाता है। कभी-कभी मनुष्य के मन में क्रोध के भावों का दमन रहता है। जब यह भाव किसी प्रकार प्रकाशित हो जाता है, तब उसके मन का खिंचाव नष्ट हो जाता है। कभी-कभी कल्पना में

ही अपने शत्रु को गाली देने से मनुष्य का मन शांत हो जाता है। मेक्स वीयर-बाम अपनी कल्पना में उसे नाराज करनेवाले लोगों को चिट्ठी लिखता था, कभी-कभी वह वास्तविक चिट्ठियां भी अपने क्रोध के आवेश में आकर लिख डालता था। इस प्रकार उसके पत्र लिखने से ही उसका क्रोध समाप्त हो जाता था।

मनुष्य को चाहिए कि वह आवेगों का अवरोध करके उन्हें मानसिक ग्रंथि का रूप न लेने दे। आवेगों का एक रूप ध्वंसात्मक होता है और दूसरा रचनात्मक। वह अपने आवेग को लोकोपकारी कार्य में प्रकाशित करे। क्रोध, शोक, भय, सभी लोकोपकारी काम में प्रकाशित हो सकते हैं। फिर प्रेम और श्रद्धा आदि आवेगों की तो बात ही न्यारी है। किसी भी आवेग को जब हम हानिकारक समझ लेते हैं तब वह वास्तव में हानिकारक बन जाता है। परन्तु जब हम सोचते हैं कि मनुष्य की मानसिक परिपक्वता के लिये प्रत्येक प्रकार के आवेग की अनुभूति होना आवश्यक है, तो आवेग का प्रकाशन हमें लाभप्रद सिद्ध होता है।

मनुष्य में विवेक और प्रौढ़ता एकाएक नहीं आते। उनका उदय धीरे-धीरे होता है। आवेगों की अवस्था मानसिक बचपन की अवस्था है। इस अवस्था को पार करके ही मनुष्य प्रौढ़त्व को प्राप्त होता है। इसे जो व्यक्ति उतावलेपन से लांघने की चेष्टा करता है, वह किसी-न-किसी प्रकार के खंदक में जा गिरता है। फिर वह धीरे-धीरे ही मानसिक साम्य प्राप्त करता है।

तैंतीसवाँ अध्याय

नैतिकता की अवहेलना

नैतिकता मानव-स्वभाव का अनिवार्य अंग है। जिस प्रकार मनुष्य के मन में व्यक्तिगत सुख की इच्छाएँ होती हैं और इनके कारण वह अनेक प्रकार के कामों में लगता है, उसी तरह उसके मन में दूसरों का सम्मान प्राप्त करने की इच्छा भी है ; इसके कारण मनुष्य अपने व्यक्तिगत सुख का त्याग करके, दूसरों की सेवा करता है। दूसरों से सम्मान प्राप्त करने की इच्छा ही मनुष्य की नैतिकता का आधार है। जहां तक किसी व्यक्ति में सोचने की शक्ति है, वह ऐसे विचारों का चिन्तन करता है, जो न केवल उसे भले लगते हैं वरन् दूसरों को भी भले लगते हैं और लोग भी सही मानते हैं। इसी प्रकार मनुष्य अपने आचरण को अपने आसपास के दूसरे लोगों की दृष्टि से देखने की चेष्टा करता है। वह अपने कार्यों की आलोचना उसी प्रकार करता है, जिस प्रकार दूसरे उसके कार्यों की आलोचना करेंगे अथवा वह स्वयं अपने से भिन्न लोगों के आचरण की आलोचना करता है। जिस दृष्टि से हम दूसरे व्यक्तियों के आचरण को देखते हैं वही अपने आचरण को उसी दृष्टि से देखना मनुष्य की नैतिक बुद्धि अथवा धर्म-बुद्धि है। मनुष्य दूसरों के आचरण की आलोचना में जितना कठोर होता है, उतना ही कठोर उसे अपने आचरण की आलोचना में होना पड़ता है।

मनुष्य की यह नैतिक बुद्धि समाज-व्यवस्था का आधार है। दार्शनिक मनोवैज्ञानिकों के कथनानुसार मनुष्य में नैतिक बुद्धि जन्म से ही आती है। दूसरे मनोवैज्ञानिकों के अनुसार मनुष्य की यह बुद्धि उसके सामाजिक वातावरण और शिक्षा-दीक्षा का परिणाम है। परन्तु यह सभी मनोवैज्ञानिक मानते हैं कि मनुष्य की नैतिक बुद्धि उसके चेतन मन की वस्तु नहीं, वह उसके अचेतन मन की वस्तु है। कई दिनों के संस्कार और अभ्यास के परिणामस्वरूप मनुष्य में विशेष प्रकार की नैतिक बुद्धि उत्पन्न होती है। मनुष्य की नैतिक बुद्धि के बनने में उसके बचपन के संस्कार बड़े महत्व का स्थान रखते हैं। जिस प्रकार अपक्व घड़े पर लिखे गये चित्र घड़े पर से मिटाये नहीं जाते, उसी प्रकार बचपन के नैतिक संस्कार व्यक्ति के मन से सरलता से नहीं जाते। मान लीजिये किसी व्यक्ति को बचपन से ही जीवहिंसा करना अथवा परस्त्री-गमन बड़ा पाप बताया गया है, उसने कभी मांस नहीं खाया और न विद्यार्थी-जीवन तक कोई

व्यभिचार किया। जब ऐसा व्यक्ति नये वातावरण में पड़ जाता है जहाँ मांसाहार करना बुरा नहीं माना जाता और न परस्त्री-गमन को ही बुरा समझा जाता है, तब वह प्रायः अपने पुराने संस्कारों के अनुसार ही आचरण करता है। जब कभी वह इसके प्रतिकूल आचरण करता है, तो उसकी अन्तरात्मा उसकी भर्त्सना करने लगती है। वह अपने स्वतन्त्र-चिन्तन से इन बातों में कोई दोष नहीं देखता, परन्तु उसके बचपन के संस्कार शिक्षा-दीक्षा तथा अभ्यास उसके नये आचरण के प्रतिकूल होने के कारण उसे बेचैन बना देते हैं। जब अपने मित्र की सलाह में आकर महात्मा गांधी ने अपनी किशोरावस्था में मांस खाया, तो उनकी आत्मा उनकी भर्त्सना करने लगी। इसी प्रकार जब वे अपने एक दूसरे मित्र के साथ अपनी प्रौढ़ावस्था में वेश्या के घर गये, तो उनकी अन्तरात्मा ने उन्हें व्यभिचार में पड़ने से रोक दिया। वे इन कृत्यों को बड़ी घृणा की दृष्टि से देखने लगे। सम्भवत: उनकी इस घृणा की मनोवृत्ति ने ही उनकी जीवनधारा को विशेष ओर मोड़ दिया।

जो लोग अपनी अन्तरात्मा की आवाज की अवहेलना करते हैं, अर्थात् जो अपनी बचपन की नैतिक शिक्षा के प्रतिकूल आचरण कर बैठते हैं, वे अनेक प्रकार की आपत्ति तथा शारीरिक और मानसिक रोगों के भागी होते हैं। नैतिकता की अवहेलना कभी-कभी राज्य के द्वारा दण्डित होती है, परन्तु जब राज्य इसका पता नहीं लगा पाता तो इस अवहेलना का दण्ड मनुष्य को दूसरे प्रकार से मिलता है। सुदामाजी ने बचपन में अपनी नैतिक शिक्षा के प्रतिकूल कृष्ण से चुराकर चने खा लिये थे। इसके परिणामस्वरूप उन्हें अपना अधिक जीवन गरीबी में ही काटना पड़ा। वे सदाचारी व्यक्ति तो थे ही, अतएव उन्हें अपनी नैतिकता की अवहेलना खूब अखरी। परन्तु उन्होंने अपने इस अपराध का प्रायश्चित्त न करके उसे भुलाने की ही चेष्टा की, यही कारण है कि उन्हें उनके अनजाने ही दण्ड के रूप में अपने पुराने कृत्य का प्रायश्चित करना पड़ा। उनकी गरीबी तब तक नहीं गई, जब तक कृष्ण के समक्ष उन्हें अपने पुराने पाप का स्मरण नहीं हुआ। अपने मित्र सुदामा को कृष्ण भी तब तक उनकी गरीबी से मुक्त नहीं कर पाये, जब तक सुदामा अपनी बचपन की भूल को पहचान न सके। अपनी स्त्री की भेजी चावल की भेंट को जब सुदामाजी छिपाने की चेष्टा कर रहे थे, तभी भगवान् कृष्ण ने उन चावलों को सुदामा से छीन कर खा लिया। साथ ही साथ उन्होंने सुदामाजी से मुसकुराते हुये यह भी कहा कि ये भेंट गुरुजी के दिये हुए चने नहीं हैं, जो आप स्वयं ही खा लेंगे,

यह तो हमारी भाभी की भेंट है और इस पर आपका कोई अधिकार नहीं है। कृष्णजी के ये वाक्य मार्मिक थे। इन वाक्यों ने सुदामाजी को अपने पुराने कपट-व्यवहार का स्मरण करा दिया और उस विस्मृति के चेतना-स्तर पर आते ही, उन्हें अपना सच्चा पुरुषार्थ स्मरण हो आया। अब उनकी पाप-भावना नष्ट हो गई और अचेतन मन का एकीकरण हो गया। फिर गरीबी का नष्ट होना चेतन और उसका स्वाभाविक परिणाम था।

मेगडूगल महाशय ने भी अपनी 'एबनार्मल साइकोलाजी'' नामक पुस्तक में इसी प्रकार का उदाहरण दिया है। उस उदाहरण में बचपन की फलों की चोरी के कारण एक प्रतिष्ठित व्यक्ति में अपने पीछे देखने की झक सवार हो गई थी। यह झक तीस वर्ष तक रही, परन्तु उसका एकाएक अन्त उस समय हो गया जब उस सौदागर ने, जिसकी उक्त व्यक्ति ने फलों की चोरी की थी, एक दिन कुशलता पूछते-पूछते मुस्कुराते हुये कहा कि अब तो तुम फल नहीं चुराते हो। यह व्यक्ति अपने अनैतिक आचरण की स्मृति को भूल चुका था। उस समय उसे वह पुरानी स्मृति एकाएक याद आ गई और तभी से उसके रोग का भी अन्त हो गया।

जब कभी मनुष्य अपनी दृढ़ नैतिक धारणाओं की अवहेलना करता है, तब उसे दण्ड अवश्य ही मिलता है। मनुष्य प्रारम्भ में इस प्रकार की अवहेलना को न्याययुक्त सिद्ध करने की चेष्टा करता है। परन्तु इस प्रकार अपने आपको अथवा दूसरों को धोखा देने की चेष्टा करने से अपनी नैतिक बुद्धि के प्रतिकूल जाने के दुष्परिणाम से मनुष्य नहीं बचता। जो मनुष्य अपनी बचपन की नैतिक शिक्षा के प्रतिकूल दूसरों को हानि पहुँचाने का यत्न करता है, वह अपने आपको दयनीय अवस्था में डाल देता है। जो लोग अपने हाथ का दुरुपयोग करते हैं, वे लँगड़े हो जाते हैं, जो आँखों का दुरुपयोग करते हैं, वे गूँगे हो जाते हैं, अथवा हकलाने लगते हैं, जो लोग दूसरों की ओर देखकर मुँह बनाते हैं, उनका लकवा से मुँह ही टेढ़ा हो जाता है। दुराचरण के कारण कितने ही लोगों को कोढ़ हो जाता है और कितने ही लोग समय के पूर्व काल-कवलित बन जाते हैं।

प्रत्येक मनुष्य से समाज कुछ आशा करता है। जो व्यक्ति समाज की इस आशा की पूर्ति करता है, वह नित्य प्रति अपने आपमें नई शक्ति का जागरण होते देखता है। जो व्यक्ति समाज की आशा की पूर्ति नहीं करता, वह अपनी शारीरिक और मानसिक शक्तियों को धीरे-धीरे खो देता है। समाज की सेवा

करना अपनी ही समष्टि भावना को सन्तुष्ट करना है। अपनी समष्टि भावनाओं को सन्तुष्ट करने से मनुष्य में नई शक्ति का अनुभव होता है। मनुष्य की समष्टि भावना में ही नैतिकता का आधार है।

अभी हाल की बात है लेखक के बच्चों को घर पर पढ़ाने वाले शिक्षक ने अपना काम ठीक से नहीं किया। इसके कारण बच्चे परीक्षा में अपने प्रश्नों का उत्तर ठीक से नहीं कर पाये। बच्चों की पढ़ाई की जिम्मेदारी इसी शिक्षक के ऊपर थी। यह शिक्षक स्वयं एक होनहार नवयुवक है। इसकी नैतिक शिक्षा अच्छी हुई है। वह लेखक को श्रद्धा की दृष्टि से भी देखता है। लेखक द्वारा उसके काम की आलोचना होने पर उसने अपनी कैफियत देने की चेष्टा की। परन्तु उसका आन्तरिक मन अपराध का अनुभव कर रहा था। बालकों की परीक्षा पूरी होने के पूर्व ही लेखक ने इस शिक्षक से कहा कि अब तुम बालकों को न पढ़ाओ, अब वे स्वयं ही अपनी तैयारी कर लेंगे। इस बात का उसके मन पर भारी धक्का लगा और वह लेखक के घर से अपने घर पहुँचते ही बीमार हो गया। वह पन्द्रह दिन तक बीमार रहा। घर जाते समय उसे लू लग गई थी। यह रोग का भौतिक कारण था। उसका मानसिक कारण शिक्षक के मन का कमजोर बन जाना था। शिक्षक का मन अपने आपको दण्ड का भागी समझता था, अतएव उसे अनायास ही दण्ड मिल गया।

इस पुस्तक के प्रथम अध्याय में लेखक के एक मित्र का अपने अचेतन मन के आदेश के विरुद्ध विलायत जाने की चर्चा की गई है और यह बताया गया है कि वहाँ जाते ही उनकी मृत्यु हो गई। उनके जीवन की गुप्त बातों को जानने से पता चला कि उनका अनुचित प्रेम उस महिला के साथ था, जो उनके साथ ही विलायत पढ़ने गई थी और उसी के स्थान पर उनकी मृत्यु हो गई। उनका आन्तरिक मन उन्हें विलायत जाने से इसीलिये रोक रहा था ताकि वे अपनी नैतिक बुद्धि के विरुद्ध आचरण न करें।

लेखक के एक सम्बन्धी को कहीं कुछ गड़ा धन मिल गया। इसके कारण घर के लोगों का अपनी पतोहू के प्रति दुर्व्यवहार होने लगा। यह पतोहू रूपवान नहीं थी। वह अपने जीवन से परेशान होकर पानी में डूबकर मर गई। इस पाप को छिपाने के लिये उक्त सम्बन्धी ने भारी प्रयत्न किया। वे उसे छिपाने में समर्थ हुए। परन्तु इस घटना के थोड़े दिन बाद ही उन्हें लकवा का रोग हो गया और उसी के कारण उनकी मृत्यु हो गई।

नैतिकता के विरुद्ध आचरण करने पर मनुष्य का भीतरी मन उसे कोसने लगता है। मनुष्य अपनी आत्म-भर्त्सना को भुलाने की चेष्टा करता है। वह अपने अनुचित कार्य के लिये प्रायश्चित्त न करके, उसे उचित सिद्ध करने की चेष्टा करता है। इस प्रकार वह अपनी धर्मबुद्धि को चुप करने में समर्थ हो जाता है। परन्तु अब उसकी धर्मबुद्धि उससे दूसरे प्रकार से बदला लेने लगती है। वह मनुष्य के स्वभाव में ही परिवर्तन कर देती है। वह नम्र की जगह अभिमानी बन जाता है और शान्त की जगह चिड़चिड़ा हो जाता है। वह अनेक प्रकार की भूलें करने लगता है। इसके परिणामस्वरूप वह किसी बाहरी आपत्ति में पड़ जाता है और फिर उसे अपने अनैतिक आचरण के लिए दण्ड भोगना पड़ता है।

मनुष्य अपने अनैतिक आचरण को जगत की आँखों से छिपाना चाहता है, परन्तु उसका अनैतिक आचरण किसी-न-किसी प्रकार प्रकट हो ही जाता है। मनुष्य जितना ही अपनी अनैतिकता को भुलाने की चेष्टा करता है, उसकी मानसिक जटिलता उतनी ही बढ़ती जाती है। यदि कोई मनुष्य अपनी नैतिकता के अभिमान का त्याग करके, वह जैसा अपने भीतरी मन से है, वैसा अपने आपको स्वीकार करे, तो वह अपने आपमें सुधार करने में समर्थ हो। अनेक प्रकार के मानसिक क्लेश में वह व्यक्ति पड़ता है, जो बाहर से ऊँची नैतिकता रखता है परन्तु जिसके भीतरी मन में प्रबल विपथ वासनाएँ हैं और जिनका अवरोध किसी अनैतिक घटना के कारण हो गया है। मनुष्य अपनी पाशविक प्रवृत्तियों के कारण होनेवाली भूलों को तभी सुधार सकता है, जब वह उन भूलों को न भुलाकर उनके लिए प्रायश्चित्त करने के लिए तैयार हो। इसके लिए अपनी नैतिकता के अभिमान को कम करना आवश्यक होता है।

अनैतिकता की अवहेलना मनुष्य की बाहरी चेष्टा में किस प्रकार प्रकाशित हो जाती है, इसके अनेक उदाहरण आधुनिक मनोविज्ञान के प्रयोगों से मिलते हैं। विलियम स्टेकिल महाशय का अपनी पुस्तक "टेकनीक आफ साइकोथेरेपी" में दिया हुआ एक उदाहरण यहाँ उल्लेखनीय है—

एक तेइस वर्ष की युवती को किसी व्यक्ति के सामने अत्यधिक शरमाने की आदत थी। वह अपने पिता के सामने एक शब्द भी नहीं बोल सकती थी। उसकी शरमाने की आदत के कारण उसका समाज में जाना कठिन हो गया। उसे अनेक प्रकार की अकारण चिन्ताएँ और भय भी थे। जब वह मनोविश्लेषण के लिए स्टैकिल महाशय के पास आई, तो उसके मानसिक अध्ययन से पता

चला कि अपने बालपन में एक समय वह अपने पिता-माता के साथ एक ही बिस्तर पर सो रही थी; पिता ने कामान्ध होकर उसका स्पर्श किया। इसके लिए उनकी माँ ने पिता की भर्त्सना की। अतएव यह स्मृति उसके अचेतन मन की वस्तु बन गई। फिर वह अनेक प्रकार के व्यभिचार में पड़ गई। उसे किसी प्रकार के प्रेम-सम्बन्ध में सन्तोष नहीं होता था। जब उसके मन में पड़ी पाप की ग्रन्थि का निराकरण हो गया तो उसका जीवन रसमय बन गया! *

मनुष्य जितना ही अधिक अपने अनैतिक आचरण को भुलाने की चेष्टा करता है, वह अपने आपको उतना ही दुःखी बनाता है। यदि मनुष्य अपने आपमें उपस्थित उस वासना को स्वीकार कर ले, जिसके कारण उसने अनैतिक आचरण किया, तो अपनी वासना पर विजय प्राप्त करना और उसकी शक्ति को सन्मार्ग पर लगाना सरल हो जाय। किसी भी अनैतिक आचरण का प्रायश्चित्त अपनी शक्ति को भले मार्ग पर लगाना है, न कि पुराने आचरण के लिए पश्चात्ताप और आत्म-भर्त्सना करना। पश्चात्ताप और आत्म-भर्त्सना से मनुष्य की इच्छा-शक्ति और भी निर्बल हो जाती है; फिर वह उसी काम को बारम्बार करता है, जिसके लिए वह पश्चात्ताप करता है। इसीलिए हालैंड के प्रसिद्ध दार्शनिक स्पैनौजा महाशय ने कहा था कि पश्चाताप दो तरह से बुरा है—वह इच्छाशक्ति की कमजोरी को दर्शाता है और उसे और भी कमजोर बनाता है।

आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार अपने अनैतिक आचरण के लिए पश्चात्ताप करना विकृत रूप में स्मरण करके अपनी भोगवासना को तृप्त करना है। पश्चात्ताप से भी वही प्रवृत्ति तुष्ट होती है, जिसके प्रबल होने के कारण अनैतिक आचरण किया जाता है। कितने ही लोग अनेक प्रकार के व्यभिचार करते हैं और उनके लिए सदा पश्चाताप करते रहते हैं, परन्तु समय आने पर वही काम फिर से करने लग जाते हैं, जिसके लिए उन्होंने हाल में ही पश्चात्ताप किया था। इस प्रकार उनकी इच्छा-शक्ति अनैतिक आचरण करने और फिर उसके लिए पश्चात्ताप करने से दिन-प्रति-दिन निर्बल होती जाती है। ऐसे ही लोगों को अनेक प्रकार के मानसिक रोग हो जाते हैं। यदि उन्हें यह समझा दिया जाय कि अपने कुकृत्य के लिए पश्चात्ताप करना उतना ही बुरा है, जितना उस कुकृत्य को करना बुरा है और इस प्रकार उनके चरित्र का कोई भी सुधार नहीं हो सकता, तो वे अपने आपको पश्चात्ताप करने से रोक सकें और फिर वे पश्चात्ताप

* Stekel—Techniqu of Analytical Psychotherapy. P. 301.

से बची मानसिक शक्ति के बल को अपने आपको कुकृत्य से भी रोकने में लगावें। इमरसन महाशय की शिक्षा "बुरे काम का प्रायश्चित्त उसके लिए पश्चात्ताप करना नहीं है, वरन् भले काम में अपनी शक्ति लगाना है" आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से बड़े मूल्य की है। अपनी नैतिक बुद्धि को संतोष देने का सर्वोत्तम उपाय मानसिक शक्ति को परोपकार में लगाना है।

चौंतीसवाँ अध्याय

मानव-जीवन की सार्थकता

संसार के सभी दार्शनिक बहुत दिनों से खोज करते आये हैं कि मनुष्य के जीवन की सार्थकता किस बात में है। प्रत्येक मनुष्य अपने जीवन को सार्थक बनाना चाहता है, परन्तु सभी प्रकार के प्रयत्न करने पर भी वह अन्त में निराश होकर ही मरता है। धन कमानेवालों को धन भाररूप हो जाता है। अधिक धन-प्राप्ति की इच्छा, धनरक्षा की चिन्ताएँ, धन की मग्नता से उत्पन्न वैर-भाव, मनुष्य को खोखला कर देती हैं। धनी लोग एक दूसरे की ईर्ष्या से मरे जाते हैं। कितना ही धन मनुष्य को क्यों न मिले, उसे सन्तोष नहीं होता। जैसे-जैसे धन की प्राप्ति होती जाती है, धन की भूख बढ़ती ही जाती है। धन की छीना-झपटी में मनुष्य अपनी सारी मानसिक शक्ति खर्च कर देता है। उसकी इच्छा-शक्ति दुर्बल हो जाती है। फिर उसे अनेक प्रकार के रोगों की कल्पना त्रास देने लगती है। वह अपने धन का भोग भी नहीं कर पाता। वह सदा भूत का-सा अस्थिर जीवन व्यतीत करता है। इस प्रकार धन के पीछे पड़कर मनुष्य अपने जीवन को सार्थक न बनाकर, अपने आपको ही गँवा देता है।

लेखक के एक मित्र एक समय गरीब अवस्था में थे। उन्होंने अथक परिश्रम करके बहुत-सा धन कमाया। जब वे पैंतीस वर्ष के थे, उस समय उनके एक सम्बन्धी बीमार हुए। उनकी सेवा उन्होंने की, परन्तु उनकी मृत्यु हो गई। उनकी मृत्यु के पश्चात् उनका धन लुटने लगा। बच्चे छोटे थे, अतएव धन की रक्षा कोई न कर सका; इस स्थिति के ज्ञान ने मित्र के मन में यह कल्पना उत्पन्न कर दी कि कहीं मेरी अकाल मृत्यु हुई, तो मेरे धन की भी वही दशा होगी। कल्पना के प्रबल होने पर मित्र को वही रोग हो गया, जो उसके सम्बन्धी को हुआ था और उसके जीते-जी ही उसका धन भी पानी की तरह बहाया जाने लगा। जब धन के प्रति उसका मोह कम हो गया, तो स्वास्थ्य-लाभ भी हो गया।

कितने ही लोग मानव-जीवन की सार्थकता लोक-सेवा में देखते हैं। परन्तु जब मनुष्य लोक-सेवा करने लगता है, तो उसकी दूसरों की प्रशंसा-प्राप्ति और यश-प्राप्ति की वासना जाग जाती है। इसके कारण लोक-सेवा में अनेक प्रकार की भूलें होने लगती हैं। धीरे-धीरे मनुष्य के आलोचकों की संख्या बढ़ने लगती है। ये आलोचक मनुष्य को परेशान कर डालते हैं। एक समय ऐसा आता है

जब मनुष्य जिन लोगों की प्रशंसा का भूखा होता है, वे ही उसके निंदक बन जाते हैं और उसकी बड़ी-से-बड़ी क्षति करने को तैयार हो जाते हैं। अतएव केवल लोक-सेवा का ध्येय भी दुःखदाई सिद्ध होता है।

संसार के साधारण लोग जीवन के लक्ष्य के विषय में कोई चिन्ता ही नहीं करते। अर्थकारी विद्या प्राप्त करना, स्त्री और बाल-बच्चों का लालन-पालन करना आदि कार्य नैसर्गिक हैं। इन्हें मनुष्य स्वभावतः करता ही रहता है। परन्तु इन कामों को स्वयं लक्ष्य बनाकर करने से मनुष्य को सुख न होकर, दुःख ही होता है। जिन लोगों से मनुष्य अपना मोह जोड़ता है, वे ही उसे ठुकरा देते हैं। जिन लोगों को हम देवतारूप मानते हैं, वे ही विकराल राक्षस का रूप धारण कर लेते हैं। जब तक एक मनुष्य को दूसरे से लाभ की आशा रहती है, तब तक वह उसका आदर और सम्मान करता है और जब लाभ की आशा जाती रहती है, तो उसका सम्मान का भाव भी जाता रहता है।

मानव-जीवन की सार्थकता किस बात में है ? मानव-जीवन की सार्थकता उस तत्व की ओर अपना ध्यान लगाने में है, जो नित्य और एकरस है। संसार की अनेक घटनाओं से उद्विग्न मन हो जाना, लक्ष्य का ज्ञान न रहने का परिचायक है। दुःखद और सुखद घटनाओं में सम बुद्धि रखना लक्ष्य के प्रति दृढ़ लगन का परिचायक है। हमारे जीवन की प्रत्येक घटना हमें तभी लाभकारी अथवा हानिकारक होती है, जब हम उसे ऐसा होने में सहायता देते हैं। घटनाओं में कोई अपना अर्थ नहीं होता, घटनाओं का अर्थ हमारी मनोवृत्ति पर निर्भर करता है। जिस मनुष्य का मन दृढ़ है, उसके लिए प्रत्येक अशुभ घटना शुभ सिद्ध हो जाती है। यह मानसिक दृढ़ता व्यक्तिगत हानि-लाभ से विरत हो जाने पर आती है। नित्य तत्व का हर समय चिन्तन करने और उसकी प्राप्ति के हेतु से ही काम करने से मानसिक दृढ़ता आती है। मनुष्य का मन बाहरी पदार्थों के विषय में चिन्तन करने से निर्बल होता है। हम चिंतायुक्त मन से किसी कार्य को जितना ही सुधारना चाहते हैं, वह उतना ही बिगड़ जाता है। सभी घटनाओं के प्रति सहज भाव रखना ही उन्हें अनुकूल बनाने का उपाय है।

मनुष्य को अपने सामने आनेवाले कामों को करना ही होगा। इनके करने से ही वह अपने शाश्वत लक्ष्य की ओर बढ़ता है। परन्तु जो व्यक्ति इन कामों को करते हुए अपने ध्येय को भूल जाता है वह दुःख का भागी होता है। किसी कार्य का मूल्य उस कार्य में नहीं है, जिसे वह कर रहा है; वरन् कार्य का

मूल्य उस हेतु में है, जिसको ध्यान में रखकर कार्य किया जाता है। इस प्रकार हेतु की न्यूनता काम का मूल्य घटा देती है और हेतु की महानता सामान्य कार्य को भी महान् बना देती है। हमारा मिलना-जुलना, सफाई करना, भोजन बनाना, क्रय-विक्रय करना, ये सभी कार्य हेतु के ऊँचे होने पर ऊँचे हो जाते हैं। मनुष्य को जीवन के सभी साधारण कार्य करते रहना चाहिए। परन्तु किसी काम में फँस जाना हानिकारक है।

मनुष्य के कार्य उसके आत्म-विकास और आत्म-शुद्धि के उपाय हैं। बिना काम किये मनुष्य अपने आपको नहीं पहचानता। मनुष्य के प्रत्येक कार्य में दो प्रकार के हेतु उपस्थित रहते हैं—एक परमार्थता का हेतु और दूसरा भोगेच्छुक हेतु। मनुष्य के भोगेच्छुक हेतु प्रायः उसे ज्ञात नहीं रहते। जिस मनुष्य का जीवन जितना ही नैतिक होता है, उसे अपने हेतु के भोगेच्छक भाग का उतना ही कम ज्ञान होता है। ऊँचे आदर्शवाला व्यक्ति अपने भोगेच्छुक हेतु की स्वीकृति नहीं करता। परन्तु यही हेतु मनुष्य को अनेक प्रकार की कठिनाइयों में डाल देता है। इससे लड़ने से उसकी मानसिक शक्ति का ह्रास हो जाता है। परन्तु तो भी मनुष्य को काम करते रहना ही आवश्यक है। कठिनाइयों में पड़ने से मनुष्य के हेतुओं की शुद्धि हो जाती है। जो व्यक्ति अपना सुधार चाहता है, जो शाश्वत शान्ति प्राप्त करना चाहता है, वह अपने निकृष्ट हेतु का ज्ञान तुरन्त ही कर लेता है और इससे वह हेतु को पवित्र बनाने में समर्थ भी होता है।

मानव-जीवन की सार्थकता अपने आपका ही सबसे अधिक मूल्य करने में है। संसार की सभी घटनाओं में उसी प्रकार भाग लेना चाहिए, जिस प्रकार मनुष्य खेल में भाग लेता है। खेल की हार-जीत खिलाड़ियों को अशान्त नहीं करती। वे खेल के फल के विषय में चिन्ता भी नहीं करते। जीवन का खेल तभी तक ठीक से चलता है, जब तक मनुष्य उसे खेल के रूप में देखता है। जब कोई मनुष्य खेल खेलने की अपेक्षा खेल में विजय प्राप्त करना ही अपने जीवन-खेल का लक्ष्य बना लेता है, तो खेल का काम ही बिगड़ जाता है। फिर वह छोटी सी हार-जीत से उद्विग्न मन हो जाता है। किसी भी बाहरी घटना को अत्यधिक महत्व देना, अपने जीवन को दुखी बनाना है।

लेखक के पास अनेक ऐसे व्यक्ति आते हैं, जो जीवन का प्रधान हेतु अपनी उन्नति न बनाकर, किसी बाहरी लक्ष्य की प्राप्ति को अधिक महत्त्व देते हैं। जब वे अपने को इन लक्ष्यों की प्राप्ति में असमर्थ पाते हैं, तो वे अपने को कोसने लगते हैं। परन्तु इस प्रकार आत्म-भर्त्सना की मनोवृत्ति देर तक नहीं रहती।

अपनी आत्म-हीनता को भुलाने के लिए मनुष्य रोग का आवाहन करता है और फिर वह किसी जटिल रोग का शिकार हो जाता है। बाहरी सुख का चिन्तन मानसिक दुर्बलता उत्पन्न कर देता है। इस सुख की प्राप्ति से भी हानि है और अप्राप्ति से भी। सुख के लगातार प्राप्त होने पर मनुष्य की सुख की भूख बढ़ती जाती है। फिर किसी प्रकार की अभद्र कल्पना उसके मन में उठ आती है और वह अपनी कल्पना से त्रास पाने लगता है। वह अपने कल्पित और वास्तविक शत्रुओं की संख्या बढ़ा लेता है, उसका मन अनेक प्रकार के वास्तविक और कल्पित रोग पैदा कर लेता है। जब मनुष्य को सुख नहीं प्राप्त होता, तब वह अपने पुरुषार्थ में विश्वास खो देता है। उसकी कार्यक्षमता घट जाती है और वह दूसरे लोगों का सम्मान खोने लगता है। इस सम्मान को खोने से बचने के लिए वह रोग का आवाहन करता है और इस प्रकार वह किसी भारी रोग का शिकार हो जाता है।

सुख में रमण एक समय मनुष्य में नैतिक संघर्ष उत्पन्न करता है। नैतिक बुद्धि का उदय पुराने अभ्यास के प्रति पापबुद्धि उत्पन्न करता है। पापबुद्धि के उदय होने पर मनुष्य या तो पुराने काम को करना छोड़ देता है अथवा वह अपनी नैतिक धारणा के प्रतिकूल ही पुराने कामों को करता रहता है। दोनों ही स्थितियों में उसे अपने पुराने कृत्य के लिए दुःख उठाना पड़ता है। पाप-भावना का विस्मरण ऐसे शारीरिक और मानसिक रोगों को उत्पन्न कर देता है, जो पुराने कृत्यों को जगत के सामने प्रकाशित करें। लेखक के एक मित्र को हस्त-मैथुन और समलिंगी व्यभिचार की आदत थी। उसने इनके कुपरिणाम के विषय में एक पुस्तक पढ़ी। इसके पश्चात् उसने इस कार्य को छोड़ दिया। परन्तु कभी-कभी मन में इच्छा उत्पन्न होती ही थी। इसके प्रति पाप-भावना हो जाने पर, उसका भी दमन किया गया। उसने अपने पुराने कृत्यों की स्मृति भी भुलाने की चेष्टा की। इसके परिणामस्वरूप उसमें एक ओर शारीरिक शक्ति का ह्रास और नपुंसकता का भय उत्पन्न हो गया और दूसरी ओर उसे दूसरों के सामने आने पर असाधारण लज्जा होने लगी। उसकी धारणा हो गई कि मेरी स्मृति नष्ट हो गई है और मैं अब अपनी किसी प्रकार की उन्नति नहीं कर सकता; इसके कारण उसने आत्म-हत्या करने तक की ठान ली। इसी प्रकार एक दूसरे रोगी को परस्त्री के साथ रमण करने के परिणामस्वरूप नपुंसकता का भय उत्पन्न हो गया था। वह अपने इस कृत्य को भुला चुका था क्योंकि इसकी स्मृति उसमें आत्म-ग्लानि की भावना उत्पन्न करती थी। इन दोनों रोगियों का

सुधार उनकी आत्म-स्वीकृति और नैतिक बुद्धि से समन्वय स्थापित होने पर हो गया।

जब मनुष्य अपनी सुख की लिप्सा को नैतिक बुद्धि की भर्त्सना करने पर भी नहीं छोड़ता, तो उसे ऐसा रोग हो जाता है जिससे उसे बाध्य होकर उस कार्य को छोड़ना पड़े, जो उसकी नैतिक बुद्धि के प्रतिकूल है। इस प्रकार मनुष्य को शारीरिक नपुंसकता, सिर का दर्द, उकवत, दमा आदि रोग उत्पन्न हो जाते हैं। एक हिन्दुस्तानी विद्यार्थी वियना नगर में डाक्टरी पढ़ने गया। उसने घर पर जो नैतिक शिक्षा पाई थी, उसके प्रतिकूल वहां जाकर वह मांस-भोजी और वेश्यागामी बन गया। इसके परिणामस्वरूप उसे अनिद्रा, अकारण चिन्ता, भय, उकवत और नपुंसकता का रोग हो गया। इस अवस्था में वह स्टेकिल महाशय के पास गया। उन्होंने उसे सलाह दी कि तुम अपनी पुरानी शिक्षा के अनुसार आचरण करो। विद्यार्थी ने ऐसा ही किया और उसका रोग कम हो गया। परन्तु दो महीने में ही वह स्टेकिल के बताए प्रतिबंध से परेशान हो गया, और अच्छा होने पर एक बार पुन: वेश्या-रमण के लिये गया। पहली बार ही नैतिक अवहेलना करने पर उसे पुराना रोग हो गया।

जिस प्रकार सुख के भोग की मनोवृत्ति मनुष्य के मन को दुर्बल बनाती है; उसी प्रकार महत्वाकांक्षा की वृद्धि भी मनुष्य के मन को दुर्बल करती है और जिस प्रकार पहले प्रकार की मनोवृत्ति से रोगों की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार महत्वाकांक्षा की वृद्धि से भी रोगों की वृद्धि होती है। जब महत्वाकांक्षी सफल होता है, तो दूसरे लोगों के प्रति अनेक प्रकार का अन्याय करता है। वह अपनी सफलता के लिए नैतिक नियमों को भुला देता है। इसके कारण संसार में उसके अनेक शत्रु उत्पन्न हो जाते हैं। जब उसका अन्याय अत्यधिक बढ़ जाता है, तो उसके रोकने के प्रयत्न में उसे अनेक प्रकार के शारीरिक रोग हो जाते हैं। इस प्रकार लकवा, अंधापन, दमा आदि रोग नैतिकता के प्रतिकूल आचरण से महत्वाकांक्षी को उत्पन्न हो जाते हैं। परन्तु जब महत्वाकांक्षी अपनी सफलता की आशा नहीं देखता, तो वह रोगी बन जाता है। उसे आत्म-भर्त्सना होने लगती है। उसे संसार के लोगों के विचार का भय होता है और उनकी भर्त्सना से बचने के लिए या तो वह आत्म-हत्या कर लेता है, अथवा स्थायी रूप से रोगी बन जाता है। इस प्रकार वह अपनी अयोग्यता-जनित आत्म-भर्त्सना की भावना से मुक्ति पाता है। लेखक के एक शिष्य को क्षय रोग का भय और शारीरिक दुर्बलता इसलिये उत्पन्न हो गई कि वह

अपने प्रति अपनी स्त्री और माता-पिता की बढ़ी-चढ़ी आशाओं की पूर्ति नहीं कर पाता था। उसने ऊँची शिक्षा प्राप्त की थी परन्तु उसकी योग्यता के अनुसार उसे नौकरी नहीं मिली। इधर उसे अपने पुरुषार्थ के विषय में घर और बाहर के लोगों के ताने भी सुनाई देने लगे। ऐसी अवस्था में मनुष्य या तो घर से भाग जाता है या रोग का आवाहन करता है अथवा आत्महत्या कर लेता है। यदि रोग के द्वारा वह दूसरों की सहानुभूति प्राप्त कर सकता है, तो वह उसका सहारा लेता है, परन्तु जब उसे इस प्रकार से सहानुभूति प्राप्त करने की आशा नहीं रहती, तब वह या तो घर ही छोड़ देता है अथवा आत्म-हत्या कर लेता है। किसी भी देश का नेता जब अपनी योजनाओं में विफल हो जाता है, तो वह मृत्यु के मुख में ही जाना चाहता है। ब्रूटस, हिटलर, नेपोलियन आदि के जीवन में यही हुआ। भूलाभाई देसाई और महात्मा गांधी के जीवन का अन्त भी महत्त्वाकांक्षाओं में सफलता प्राप्त न होने के कारण ही हुआ। महत्त्वाकांक्षी कभी-कभी पागल भी हो जाता है। यह अपने आपको भुलाने की चेष्टा के परिणामस्वरूप होता है।

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि मनुष्य का भौतिक सुख अथवा सफलता की चाह उसका जीवन सुखी न बनाकर दुःखी ही बनाती है। जो मनुष्य इनके विषय में जितना ही अधिक चिन्तन करता है, वह अपनी इच्छा-शक्ति को उतना ही अधिक निर्बल बना लेता है। मानव-जीवन की सार्थकता स्वयं को इन्द्रिय-विषय से विरत करने और लौकिक कीर्ति तथा वैभव से मन को हटाने में है। जब तक मनुष्य सहज रूप से प्राप्त शारीरिक सुखों को भोगता है और अपने सामने आये हुए कर्तव्य को करता है तब तक वह अपनी इच्छा-शक्ति का बल नहीं खोता। सहज रूप से मिले धन, यश और कीर्ति मनुष्य की प्रसन्नता बढ़ाते हैं। जो व्यक्ति इन्हीं के पीछे पड़ जाता है, वह अपने आपको ही खो देता है। अपने आपको खोने पर मनुष्य को लौकिक सुख और वैभव भले ही मिल जायँ उसे आन्तरिक शान्ति नहीं मिलती। थोड़े ही काल के बाद उसके मन में अनेक प्रकार के मानसिक संघर्ष उत्पन्न हो जाते हैं। इनके कारण वह प्राप्त सुख और वैभव का भी भोग नहीं कर पाता। कभी-कभी वह अपनी चेतना को ही खो देता है। पेरानोइया का रोग ऐसे ही व्यक्ति को होता है, जिसकी महत्त्वाकांक्षा अधिक बढ़ गई है।

उस व्यक्ति का जीवन सार्थक है जो किसी प्रकार के सांसारिक प्रलोभन से अपने मन को चलायमान नहीं होने देता, जिसके मन में किसी प्रकार की मान-

सिक ग्रन्थियाँ नहीं हैं और जो सदा आत्म-विजय के कार्य में लगा हुआ है। जब मनुष्य की मानसिक शक्तियाँ सुनियंत्रित रहती हैं तब वे उसे संसार का पूजनीय प्राणी बना देती हैं; जब ये शक्तियाँ उसके नियंत्रण में नहीं रहतीं तो वह अनेक प्रकार के दुःखों में पड़ जाता है। वह अपने बाहर उसी प्रकार का वातावरण बना लेता है जिस प्रकार की उसकी आन्तरिक परिस्थिति रहती है। जिस मनुष्य में अपने आवेगों पर अधिकार नहीं है, वह दूसरे लोगों के सम्मान का पात्र नहीं बनता। वह अनेक प्रकार के रोगों का शिकार बन जाता है। समाज के लोग उसका कहना नहीं मानते। फिर वह स्वयं को अथवा दूसरों को कोसते हुए जीवन व्यतीत करता है और इसी प्रकार उसका देहान्त होता है।

मनुष्य अपने आवेगों पर तभी विजय प्राप्त कर सकता है, जब उसके मन में शक्ति रहती है और उसमें चिन्तन करने की योग्यता रहती है। जो व्यक्ति आत्म-विजय का यह कार्य बचपन से ही आरम्भ कर देता है, वह अपनी वृद्धा-वस्था में शान्त मन रहता है। अनेक दिनों के अभ्यास के बाद आत्म-विजय की क्षमता आती है। इस अभ्यास को प्रति दिन करना आवश्यक है। संसार के भले काम करना इसके लिये साधन हैं। अतएव आत्म-विजय और अपनी मानसिक शक्तियों के शोध के लिये लोक-कल्याण के काम में मन लगाये रखना जीवन को सार्थक बनाने का सर्वोत्तम उपाय है।

पैंतीसवाँ अध्याय

अनिश्चय की मनोवृत्ति

संसार के कुछ बड़े प्रतिभावान व्यक्ति किसी भी बात के बारे में शीघ्रता से निर्णय नहीं कर पाते। वे चाहे जो कुछ निर्णय करें, वह उन्हें दोषपूर्ण दिखाई देता है; अतएव उन्हें अपने निर्णय को बदल देना पड़ता है। मन की सदा इस प्रकार की सन्दिग्ध अवस्था के कारण वे कोई भी कार्य भली प्रकार से नहीं कर पाते। कोई भी कार्य तभी सफलतापूर्वक किया जा सकता है, जब मनुष्य के मन में एकत्व हो। जिनका मन बँटा हुआ रहता है, वह किसी काम को सफलता से नहीं कर पाता।

अनिश्चय की आदत अधिक चिन्तन करनेवाले लोगों में अधिक पाई जाती है। जो मनुष्य जितना ही अधिक चिन्तन करता है, वह प्रत्येक पक्ष के गुण-दोषों को उतना ही अधिक देखता है। इस प्रकार किसी भी निश्चय को वह स्थिरता से नहीं पकड़ पाता। कितने ही दार्शनिक अपने प्रति दिन के साधारण काम के विषय में सरलता से निर्णय नहीं कर पाते। यूरोप के प्रसिद्ध दार्शनिक डेकार्ड महाशय अपने मन की डावाँडोल अवस्था से इतना डरते थे कि वे जब कभी निर्णय पर पहुँच जाते, तो वे उसे केवल इसलिए नहीं बदलते थे कि कहीं वे अनिश्चय की अवस्था में ही न पड़ जायँ। कोई नया निर्णय करना उन्हें बड़ा ही कठिन लगता था।

लेखक के एक मानसिक रोगी को सदा अपने ही विचारों का भय लगा रहता था। उसका एक मन जब किसी कार्य को करने का निर्णय करता, तो दूसरा मन तुरन्त ही कहता कि हम तुम्हें उक्त काम न करने देंगे। इस प्रकार पढ़ाई के समय उक्त रोगी का गुप्त मन उसकी पढ़ाई में बाधा डाला करता था। कभी-कभी जब यह रोगी घर के बाहर जाने लगता, तो दूसरा मन उसको बाहर जाने से रोकता था। यदि रेल में बैठता, तो गुप्त मन उसे टिकट फेंक देने अथवा रेल की पटरी पर लेट जाने के लिए कहता।

लेखक के एक मित्र ने अपने नौकर को किसी भूल के लिए डाँट दिया। इतना करने पर उसे तुरन्त ही आत्म-भर्त्सना होने लगी कि उसने कोई बुरा काम कर डाला। उसे उस दिन चैन न मिली। वह दिन भर कुछ पढ़-लिख न सका। अन्त में उसने निर्णय किया कि वह किसी प्रकार उस नौकर को प्रसन्न

करे। उसने नौकर को किसी साधारण काम के लिए कुछ इनाम देकर प्रसन्न किया। ऐसा करने पर ही उसके मन को चैन मिली।

कितने ही लोग 'कौन-सा कोट पहनें', 'कौन-से रास्ते से जावें', 'घूमने जाते समय छाता लेवें अथवा नहीं', इन्हीं बातों के विषय में निर्णय करने में घण्टों व्यतीत कर देते हैं। कितने ही विद्यार्थी अपने पढ़ने का प्रोग्राम ही बनाते रह जाते हैं, कौन-सी पुस्तक पहले पढ़ी जाय—इसी बात को सोचते रह जाते हैं। यदि वे अपनी शक्ति ऐसे निर्णयों में खर्च न करके किसी काम के करने में खर्च करते, तो कितनी ही लोक-सेवा कर डालते। जब अनिश्चय में रहना ही किसी मनुष्य की आदत बन जाती है, तो उसके जीवन का विनाश हो जाता है। जितनी देर तक मनुष्य अनिश्चय की अवस्था में रहता है, उतना ही बुरा है। देर तक अनिश्चय में रहना न केवल मानसिक शक्ति का विनाशक है वरन् चरित्र का भी विनाशक है।

अभी हाल की बात है लेखक ने अपने एक परिचित विद्यार्थी को काशी विश्वविद्यालय में पढ़ने की सलाह देते हुए पत्र लिखा। उसे आश्वासन दिया गया था कि वह स्वयं लेखक के घर पर ही रहेगा। इस विद्यार्थी ने इस मन्तव्य का स्वागत किया, परन्तु उसने लिखा कि मेरे पिता मुझे नागपुर भेजना चाहते हैं। लेखक ने उसे लिखा कि तुम्हें पिता का कहना मानकर नागपुर में ही पढ़ना चाहिए। साथ ही यह भी लिखा कि अति समीपता अपमान की जनक होती है। अतएव प्रेम बनाये रखने के लिए कुछ दूर ही रहना उचित है। इतना लिखने के बाद उसे मन-ही-मन अपने उक्त पत्र के लिए असन्तोष होने लगा। उसके मन में विचार आया कि यह ठीक नहीं किया। विद्यार्थी को अपना निर्णय करने की स्वतन्त्रता दे देनी चाहिए थी। यह असन्तोष की अवस्था तब तक नहीं गई, जब तक वह इस प्रकार के अनिश्चित मन की अवस्था के मनोवैज्ञानिक कारण का विश्लेषण नहीं करने लगा।

लेखक ने हाल ही में प्रो० हेडफील्ड महाशय की "साइकोलाजी एंड मेंटल हेल्थ' नामक पुस्तक में इस प्रकार की मनोवृत्ति पर एक लेख पढ़ा। मन की डांवाडोल अवस्था का कारण मनुष्य के प्राकृतिक और आदर्शमय स्वत्व का संघर्ष है। यह संघर्ष मनुष्य के चेतन मन में नहीं, वरन् अचेतन मन में चलता है। चेतन मन का संघर्ष इस संघर्ष का प्रतीक मात्र है। यदि केवल चेतन मन का संघर्ष होता, तो उसका अन्त करना सरल होता। मनुष्य अपने चेतन मन से यह निर्णय कर सकता है कि वह अमुक परिस्थिति में क्या काम करे। परन्तु

यह तभी हो सकता है, जब उसे अचेतन मन की झंझटें इस निष्कर्ष पर आने में बाधा न डालें। अचेतन मन के संस्कार मनुष्य को उसके विवेक के प्रतिकूल निर्णय करा डालते हैं और तब मनुष्य उन निर्णयों के लिए आत्म-भर्त्सना करता है।

कभी-कभी यह आत्म-भर्त्सना वर्तमान निर्णय की अनैतिकता के कारण नहीं वरन् पुराने अनुभव के संचित संस्कारों के कारण होती है। एक व्यक्ति ने अपने एक मित्र को पत्र लिखा कि मैं लड़ाई में भरती होने का निश्चय कर रहा हूँ। परन्तु ज्योंही उसने यह निर्णय किया, उसे आत्म-भर्त्सना होने लगी कि उसने कोई अनुचित कार्य कर डाला। वह नहीं जानता था कि उसने कौन-सा अनुचित कार्य किया, परन्तु औचित्य की बुद्धि फिर भी उसे त्रास देना बन्द नहीं करती थी। उसने दूसरे दिन ही उक्त मित्र को पत्र लिखा कि उसने अपना संकल्प त्याग दिया है। वह अब फौज में भरती न होगा। परन्तु ज्योंही उसने पत्र को लेटर बक्स में छोड़ा, उसे फिर आत्म-भर्त्सना होने लगी कि उसने अनुचित कार्य किया है; उसे अपने मित्र को यह न लिखना चाहिए था। उसने अपने मित्र को तुरन्त ही दूसरा पत्र लिखा कि उसका विचार फौज में जाने का ही है। इस प्रकार कई बार उसका निश्चय बदलता गया।

इस व्यक्ति के मनोवैज्ञानिक अध्ययन से पता चला कि उसके भीतरी मन में उसके प्राकृतिक और आदर्शमय स्वत्व में झगड़ा चल रहा है। इस झगड़े का सम्बन्ध उसके पुराने संस्कारों से है। उसे एक महिला प्यार करती थी। पीछे इस महिला ने इसके साथ विवाह न करके किसी दूसरे व्यक्ति से विवाह कर डाला। इससे उक्त व्यक्ति को उक्त महिला पर भारी क्रोध आया और उसने चाहा कि वह उसकी हत्या कर डाले। परन्तु उसके विवेक ने उसे रोक दिया। उसके आदर्शमय स्वत्व की विजय हो गई, परन्तु उसका प्राकृतिक स्वत्व रुष्ट ही बना रहा। अब दोनों स्वत्वों में गुप्त रूप से झगड़ा होने लगा। उस व्यक्ति का प्राकृतिक स्वत्व उसे ऐसा निर्णय करने के लिए प्रेरित करता रहता था जिसका सम्बन्ध किसी प्रकार हत्या अथवा खून से था और इस प्रकार के निर्णय के लिए उसका आदर्शमय स्वत्व उसकी भर्त्सना भी करता था। जितना प्रबल मनुष्य का प्राकृतिक स्वत्व होता है, जब उतना ही प्रबल उसे दबानेवाला आदर्शमय स्वत्व होता है, तो मनुष्य का मन सदा डांवाडोल अवस्था में ही रहता है। वह किसी प्रकार के निर्णय को भली प्रकार से नहीं कर पाता। परन्तु इस प्रकार का मुख्य संघर्ष चेतन मन के समक्ष आनेवाला संघर्ष नहीं है। मुख्य संघर्ष अचेतन मन

का संघर्ष है। चेतन मन का संघर्ष उक्त संघर्ष का प्रतीक मात्र है। मनुष्य इस संघर्ष का अन्त करने में इसलिए असमर्थ रहता है कि वह अपने मानसिक संघर्ष के वास्तविक कारण को नहीं मानता। जब उसे वास्तविक कारण का ज्ञान हो जाता है, तब उसके मानसिक संघर्ष का अन्त हो जाता है। फिर वह किसी भी निर्णय को शीघ्रता से कर लेता है।

जिन लोगों के मन के भीतरी भाग में उनके अनजाने संघर्ष चला करता है, वे जब किसी प्रकार का निर्णय नहीं करते, तब भी शान्त मन नहीं रहते। उनके मन में सदा बेचैनी बनी रहती है। जिसका कारण वे नहीं जानते। इस बेचैनी को भुलाने के लिये वे अपने आपको किसी न-किसी काम में लगाये रखते हैं। कभी-कभी वे अपने आपको काम करते-करते इतना थका डालते हैं कि उन्हें बोलने तक की शक्ति नहीं रहती। इस प्रकार की थकावट की अवस्था से ही उन्हें कुछ चैन मिलती है। जिस मनुष्य के मन में जितने ही अधिक मानसिक संघर्ष चलते हैं, उसे अपने आपको काम में भुला देने की उतनी ही अधिक आवश्यकता है। जब इस प्रकार का व्यक्ति किसी काम में लग जाता है, तो उसकी प्रवृत्तियों की शक्ति का कुछ उदात्तीकरण भी हो जाता है। यह तब होता है, जब विरोधी प्रवृत्तियों में किसी एक का बल कम होता है। पूरे संतुलन की अवस्था में मनुष्य का मन अनिश्चय की अवस्था में ही पहुँच जाता है। इस अवस्था का अन्त मनोविश्लेषण द्वारा अपने आपको मानने और आत्म-समन्वय स्थापित करने से होता है।

छत्तीसवाँ अध्याय

अर्ध-नारीश्वर की उपासना

जापान के एक प्राचीन मंदिर में एक विलक्षण मूर्ति की पूजा होती है। जिस देवता की यह मूर्ति है, वह अर्ध-नारीश्वर कहलाता है। जापानी भाषा में इसका जो नाम है, वह अर्ध-नारीश्वर शब्द से मिलता-जुलता है। यह मूर्ति आधी नर और आधी नारी है। संसार के अन्य लोग जब इस मूर्ति को देखने जाते हैं, तो उसे विस्मय की दृष्टि से देखते हैं। परन्तु भारतीयों के लिए यह आश्चर्य की वस्तु नहीं है। भारतवासी इसमें अपनी सभ्यता की प्राचीनता और प्रसार देखते हैं। कभी भारत में भी ऐसी मूर्तियों की पूजा होती रही है। फिर संस्कृत-साहित्य के लिए यह कल्पना नई नहीं है।

संसार के सभ्य लोग भारत की उपर्युक्त प्रकार की उपासनाओं को या तो असभ्यता का प्रदर्शन अथवा रहस्यमय बात मानते हैं। यूरोपीय भारत की लिंग-पूजा और योनि-पूजा की कभी-कभी हँसी उड़ाते हैं। आधुनिक मनोविज्ञान की खोजें अब प्रमाणित कर रही हैं कि इस प्रकार की पूजा मन के उन भागों को वश में लाने के उपाय हैं, जो चेतना के परे हैं। शिव का ध्यान कामुकता को वश में लानेवाला माना गया है। हाल ही में काशी मनोविज्ञानशाला में भाषण करते हुए मानसिक चिकित्सा के जर्मन विशेषज्ञ डा० जेकब्स ने बताया कि शिव-लिंग पर जल चढ़ाने से काम-वासना शान्त होती है। इसी प्रकार ब्रह्मयोनि की पूजा कामवासना को जीतने का उपाय है। इसका एक प्राचीन मन्दिर गया की एक पहाड़ी-चोटी पर है। यह नगर के सभी नागरिकों को दूर से दिखाई देता है। यदि इसकी पूजा हमारी संस्कृति में अश्लीलता मानी जाती, तो ब्रह्म-योनि का मन्दिर इतनी ऊँची शिखर पर न बनवाया गया होता।

अब प्रश्न आता है, कि इस प्रकार की मूर्तियों का निर्माण मनुष्य ने क्यों किया और उस निर्माण से उसका क्या मानसिक लाभ होता है। आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार मनुष्य-मन की सहजावस्था वही निर्मित करती है, जो वह भीतरी मन से है। अपनी सहजावस्था में आने पर मनुष्य समाज के सारे प्रतिबंधों को विस्मृत कर देता है और उसके मन से उसके अन्तरतम की अनुभूति प्रकट हो जाती है। मनुष्य के स्वभाव का प्रधान अंग एक ओर काम है और दूसरी ओर दैविकता है। हमारी चेतना में ये दोनों विरोध के रूप में देवासुर-संग्राम का रूप धारण कर प्रकट होते हैं। तात्विक दृष्टि से ये दोनों एक हैं। यह तात्विक

दृष्टि अपनी सहजावस्था में प्राप्त होती है। सच्ची कला, कविता और उपासना सहजावस्था के प्रकाशन हैं। अतएव जब मनुष्य कृत्रिमता को त्याग कर अपने वास्तविक स्वरूप में आता है, तो उसी भाव को व्यक्त करता है, जिसकी उसे आन्तरिक अनुभूति होती है। इस प्रकार के व्यक्तीकरण से वह अपने अन्तर्विरोध को शान्त करने में समर्थ होता है। लिंग एक ओर कामवासना का प्रतीक है और दूसरी ओर जगदीश्वर का अथवा अन्तरात्मा का। दोनों भावों को जब एक जगह मनुष्य देखने लगता है, तो उसकी काम-कृत्य-जन्य मानसिक ग्रन्थियां शांत हो जाती हैं।

परम तत्व जब मूर्तिमान होता है, तो कामवासना के प्रतीक का रूप धारण करता है। यह प्रतीक लिंग अथवा योनि के रूप में कल्पित है। परन्तु मूल में दोनों एक हैं। अतएव प्रत्येक व्यक्ति की कामवासना के दो भाग हैं—स्त्रीत्व और पुरुषत्व। नर में नारी है, और नारी में नर। निम्नतर श्रेणी के जीवधारियों में स्त्रीत्व और पुरुषत्व के अंग एक ही शरीर में होते हैं। ऐसे जीवों को हरमोफ्रोडाइट कहा जाता है। उच्चकोटि के प्राणियों में स्त्री और पुरुष के अंग अलग-अलग हो जाते हैं। इनकी काम-चेष्टाएँ भी भिन्न-भिन्न प्रकार की होती हैं। परन्तु सर्वथा किसी प्राणी में विरोधी लिंग-भाव का अन्त नहीं होता।

मनुष्य में कामवासना का विकास उच्चतर श्रेणी को प्राप्त करता है। यहां कामवासना का महत्व शारीरिक न होकर मानसिक हो जाता है। प्रत्येक मनुष्य में नर और नारी दोनों प्रकार की मनोभावनाएँ रहती हैं। व्यक्ति का जो शारीरिक लिंग होता है, उसके चेतन मन में उसी लिंग की प्रधानता होती है। कामुकता के विकास की नीची अवस्था में मनुष्य के चेतन मन में भी विरोधी लिंग के भाव रहते हैं। इस प्रकार प्रत्येक किशोर बालक चेतन मन से उभयलिंगी होता है। धीरे-धीरे इसी अवस्था में शारीरिक लिंग उसके व्यक्तित्व का प्रधान अंग बन जाता है। अर्थात् यदि वह पुरुष है, तो उसका आचार, व्यवहार और चिन्तन पुरुष जैसा हो जाता है; और यदि वह स्त्री है, तो उसके व्यवहार और विचार स्त्री जैसे बन जाते हैं।

परन्तु इस प्रकार किसी विशेष लिंग की मनुष्य के चेतन मन में प्रधानता हो जाने पर, विरोधी लिंग की भावना समाप्त नहीं होती। यह भावना दमित होकर मनुष्य के अचेतन मन में चली जाती है। यदि अचेतन मन की विरोधी भावना अति प्रबल हुई, तो वह स्त्री-पुरुष-संबंध में बाधक बन जाती है। इसके कारण कितने ही पुरुषों को फिट, मानसिक नपुंसकता, अकारण भय और दुश्चिन्तन के रोग हो जाते हैं। कितनी ही स्त्रियां किसी पुरुष की पत्नी नहीं बनना चाहतीं,

वे स्त्रियों को ही प्यार करती हैं। ऐसी स्त्रियों का विवाह होने पर वैसे ही रोग उन्हें भी हो जाते हैं, जैसे पुरुषों को होते हैं। साधारणतः मनुष्य अपने विरोधी लिंग के भाव का दमन करता है। इससे उसका एक ओर मानसिक विकास होता है, परन्तु दूसरी ओर इससे मानसिक खिंचाव भी बढ़ता है। इस खिंचाव को यदि कम न किया गया, तो मनुष्य पागल तक हो जाता है। पुरुष की प्रबल स्त्रीलिंगी भावना दमित होने पर उसके व्यक्तित्व का विभाजन करती है, और उसे पागलखाने की ओर ले जाती है।

इस मानसिक खिंचाव को कम करने का नैसर्गिक उपाय अपनी कामेच्छा को किसी-न-किसी प्रकार तृप्त करने लग जाना है। इस तरह किशोर बालकों में समलिंगी प्रेम और वयस्क व्यक्तियों में समलिंगी व्यभिचार होते हैं। मानव-सभ्यता और मनुष्य का अहंभाव इसे बढ़ने नहीं देता। इसलिए इस प्रकार के आचरण को अप्राकृतिक माना गया है।

उक्त मानसिक खिंचाव को कम करने का प्राचीन उपाय दमित भाव का सहजावस्था में मूर्तीकरण (आब्जेक्टिफिकेशन) है। इस मूर्तीकरण की क्रिया के अर्थ को मनुष्य का चेतन मन नहीं जानता। जब वह इसे जानने लगता है, तो यह क्रिया ही समाप्त हो जाती है। हम सभी अपनी स्वप्नावस्था में अपनी दमित भावना का अनेक प्रकार के चित्रों में मूर्तीकरण करते हैं। यही मूर्तीकरण जब जाग्रतावस्था में होता है, तो अनेक प्रकार की कला, काव्य और भक्तिभावनाएँ देखने को मिलती हैं। मनुष्य के धार्मिक प्रतीकों का स्रोत उसके अचेतन मन में है। अर्ध-नारीश्वर के रूप में अपने दमित स्वत्व को प्रकट करके और उस रूप की उपासना करके मनुष्य न केवल अपनी पुरुषमयी, वरन् स्त्रीमयी कामवासना पर भी विजय प्राप्त करने में समर्थ होता है। जो व्यक्ति किसी प्रकार की कामवासना घृणा की दृष्टि से देखते हैं, वे उसे अपना शत्रु बना लेते हैं। वे उस पर अधिकार प्राप्त न कर आत्म-विनाश की ओर जाते हैं।

पुरुष का स्त्रीत्व भाव ही उदात्तीकरण की अवस्था में योग्य शिक्षक, चिकित्सक, कवि, साहित्यिक और कलाकार के रूप में प्रकट होता है। मनुष्य के व्यक्तित्व में पुरुष और प्रकृति का मिलन है। इस सत्य को अर्ध-नारीश्वर का भाव प्रकट करता है। अतएव उस उपासना से अपने ही भीतर किसी प्रकार उसके भाव को पहचानने पर मनुष्य अपने आपसे घृणा न कर, अपनी विशेष प्रकार की गुप्त मानसिक शक्ति का आत्म-विकास और समाज-सेवा में सदुपयोग करता है। कामवासना पर विजय प्राप्त करने के इन अनोखे उपायों को संसार के सभ्य देशों को भारत से सीखना है।

सैंतीसवाँ अध्याय

प्रलोभनों को मिटाने का उपाय

प्रत्येक प्रगतिशील जीवन में अनेक प्रकार के प्रलोभन होते हैं। इन प्रलोभनों के कारण मनुष्य आगे बढ़ता है, परन्तु इन्हीं के कारण वह अपने आपका विनाश भी कर डालता है। जैसे-जैसे मनुष्य अपने संकल्पों में सफल होता जाता है वह नये-नये संकल्प करता जाता है। इस प्रकार उसके मनसूबे बढ़ते जाते हैं। अन्त में वह उचित-अनुचित का ध्यान छोड़कर केवल बाहरी लाभ में लग जाता है। जब मनुष्य अपने आपको इस प्रकार भूल जाता है तो उससे अनेक प्रकार की भूलें होने लगती हैं। वह दूसरों का पैसा खा जाने में नहीं हिचकता। वह दूसरे लोगों को धोखा दे देता है। फिर उसके अनेक शत्रु हो जाते हैं। जिस व्यक्ति में जितना अधिक लोभ होता है उसमें ईर्ष्या का भाव भी उतना ही अधिक होता है। कुछ काल में मनुष्य का मन रचनात्मक कार्य को छोड़कर ध्वंसात्मक वृत्ति में लग जाता है। जब वह देखता है कि उसकी उन्नति उतनी अधिक नहीं हो रही है जितनी दूसरों की होती है तो वह जीवन से असन्तुष्ट हो जाता है। उसका अधिक समय दूसरे लोगों की अनेक प्रकार की आलोचना में ही लग जाता है जो कि मनुष्य की आन्तरिक असफलता के भाव का द्योतक है।

प्रलोभनों को मिटाने का एक मनोवैज्ञानिक उपाय अपने पुराने जीवन के बारे में चिन्तन करना है। किसी प्रकार के प्रलोभन में पड़ना मनुष्य में अपने प्रति असन्तोष का द्योतक है। अपने प्रति असन्तोष का यह भाव अपने भीतर आत्म-हीनता के भाव की उपस्थिति को दर्शाता है। जिस व्यक्ति के मन में जितना ही अधिक आत्म-हीनता का भाव रहता है उसके मन में दूसरों से आगे बढ़ जाने की उतनी ही अधिक आकांक्षा होती है। यही आकांक्षा मनुष्य को अनेक प्रकार के प्रलोभनों में डालती है। इस प्रकार मनुष्य अपनी आन्तरिक कमी की अव्यक्त अनुभूति को पूरी करने की चेष्टा करता है। इस प्रकार की कमी की जड़ प्रायः मनुष्य के बाल्य जीवन में होती है। जिस व्यक्ति को अपने बचपन में अपने सम्बन्धियों, माता-पिता, भाई, चाचा आदि का पर्याप्त प्रेम नहीं मिला उसके मन में अपने आपके प्रति हीनता का भाव रहता है। यही भाव मनुष्य को अत्यधिक लोभी और महत्वाकांक्षी बना देता है। अपने पुराने जीवन पर विचार करने में मनुष्य की विस्मृत-हीनता की भावनाएँ जो आत्म-

हीनता की ग्रन्थि का रूप धारण किये रहती हैं वे नष्ट हो जाती हैं। महत्वाकांक्षी अपने आपको असाधारण व्यक्ति मानता है। वह अपने आपको किसी प्रकार गिरा हुआ नहीं मानता। परन्तु जब वह अपने बाल्यकाल को सोचता है तो वह अपने आपको दूसरे प्रकार का ही पाता है। बाल्यकाल के इस प्रकार के त्रस्त जीवन के स्मरण से मनुष्य को अपने वर्तमान जीवन से सन्तोष हो जाता है और तब वह महत्वाकांक्षी बनने की चेष्टा नहीं करता।

यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि मनुष्य के चरित्र अथवा वर्तमान मनोभावों की जड़ उसके वर्तमान विचारों में नहीं रहती वरन् उसके अव्यक्त मन के गुप्त स्तर में वर्तमान किसी दबे हुए भाव में रहती है। जब तक इस भाव का प्रकाशन और उसकी शक्ति का सदुपयोग नहीं होता तब तक मनुष्य सभी प्रकार के उपदेश सुनते हुए और अनेक प्रकार के उच्च चिन्तन करते हुए भी अपने चरित्र में जैसा का तैसा बना रहता है। इस प्रकार कितने ही दर्शनशास्त्र के विद्वान् कौड़ी के लोभी होते हैं, कितने ही युवतियों से मनोरंजन करते हैं और कितने ही पदों के पीछे पागल बने हुए हैं। मनुष्य के दबे भाव विचार के नियंत्रण के बाहर होते हैं; विचार इन्हें प्रभावित नहीं करता वरन् वे ही विचारों को प्रभावित करते हैं। मनुष्य के जैसे भाव होते हैं उनके अनुसार वह अपने विचार भी बना लेता है, अर्थात् स्वयं विचार ही भावों के अनुरूप बन जाते हैं। अतएव अपने विचारों और आचरण में मौलिक परिवर्तन लाने के लिए मनुष्य को आत्म-विश्लेषण करना चाहिए और इसके लिए उसे अतीतकाल के भावात्मक अनुभवों को स्मृति-पटल पर लाना चाहिए।

मनुष्य जैसे-जैसे आगे बढ़ता जाता है वह अपने आपको भूलता जाता है। यदि वह समय-समय पर विचार करता रहे कि वह कहाँ था और कहाँ पहुँच गया तो उसे अपनी प्रगति पर सन्तोष रहे। यदि कोई गरीब बालक करोड़पति हो जाता है तो उसे इससे सन्तोष नहीं होता, वह दस करोड़ कमाना चाहता है। लेखक के एक मित्र आठ वर्ष की अवस्था में मारवाड़ में ऊँट चराते थे। उन्हें उस समय सूखी बाजरा की रोटी मिल जाना दुष्कर था। वे इस समय करोड़पति हैं। एक सेठ के यहाँ वे दत्तक पुत्र होकर आये और वहाँ उन्होंने इतनी उन्नति की कि वे करोड़पति हो गये, परन्तु इस समय भी जबकि उनकी आयु सत्तर वर्ष से ऊपर हो गई है धन की पिपासा नहीं छोड़ पाये हैं। जैसे-जैसे धन की वृद्धि होती जाती है उसकी पिपासा बढ़ती जाती है। धन का इच्छुक मनुष्य प्रायः अपने दार्शनिक विचार भी ऐसे बना लेता है जिससे वह धन की लिप्सा

को बिना किसी रोक-टोक के तृप्त कर सके। कभी-कभी धन के प्रति वितृष्णा का भाव आता भी है तो वह एक बार आकर रह जाता है।

जो मनुष्य संसार को जितना ही अधिक सत्य मानता है उसकी आकांक्षाएँ और इच्छाएँ उतनी ही प्रबल होती हैं। किसी के प्रलोभनों में पड़ा व्यक्ति अपनी मृत्यु के बारे में नहीं सोचता। जिस व्यक्ति को मृत्यु का विचार सदा स्मरण रहता है उसे संसार की सभी वस्तुओं के प्रति नैराश्य उत्पन्न हो जाता है। फिर उसे सभी सुख दुःखरूप ही दिखाई देने लगते हैं। भगवान बुद्ध को मृत्यु का विचार सब समय याद रहता था, अतएव वे संसार की सभी वस्तुओं से विरत हो गये थे। उन्हें सभी सुख क्षणिक दिखाई देते थे। संसार के पदार्थों की क्षण-भंगुरता का विचार उनके प्रति आसक्ति को नष्ट कर देता है। अतएव प्रत्येक मनुष्य का धर्म है कि वह संसार की अनित्यता पर बार-बार विचार करे।

संसार के पदार्थ क्षणभंगुर हैं। इसके अतिरिक्त उनके संग्रह में दूसरे अनेक प्रकार के दोष भी हैं। वे ऊपर से आकर्षक और भीतर से घृणित हैं। हमारा शरीर ही इसी प्रकार की वस्तु है। हम सदा इसकी सजावट में समय खोते हैं। परन्तु जब इसके भीतर की वस्तुओं पर विचार करते हैं तो हम उन्हें बहुत ही गन्दा पाते हैं। रूप की आड़ में बीभत्सता छिपी हुई है। संसार के सम्बन्ध भी इसी प्रकार के हैं। आज हम जिसे अपना मित्र समझते हैं वही कल हमारा शत्रु हो जाता है। संसार की क्षणभंगुरता, इस जीवन की अस्थिरता और उसकी बीभत्सता पर विचार करने से उसके प्रति आकर्षण जाता रहता है। मनुष्य को उसी वस्तु के प्रति आकर्षण होता है जिसे वह नित्य और सुन्दर समझता है। संसार में कुछ भी नित्य और सुन्दर नहीं है, फिर किसके लिये मोह किया जाय।

उक्त भावना का नित्यप्रति का अभ्यास मनुष्य की लिप्सा को कम करता है। इस प्रकार के अभ्यास से उसका अभिमान दूर हो जाता है। तब वह जिस परिस्थिति में हो उसमें संतुष्ट रहने की चेष्टा करता है। मनुष्य का अंहकार और उसकी लिप्साएँ एक दूसरे की सापेक्ष हैं। जैसे-जैसे एक की कमी होती है दूसरे की भी कमी हो जाती है। मनुष्य की अधिक आवश्यकताएँ उसके अहंभाव के ऊपर निर्भर करती हैं। जिस व्यक्ति का 'अहं' भाव जितना बढ़ा-चढ़ा होता है उसकी आवश्यकताएँ भी उतनी ही अधिक होती हैं। ये आवश्यकताएँ अधिकतर कल्पित होती हैं। पेट की भूख सीमित होती है। मन की भूख असीम होती है। यह मनुष्य के अहंकार पर निर्भर करती है।

प्रत्येक मनुष्य की इच्छाओं की वृद्धि का कारण दूसरे लोगों के जीवन से अपने जीवन को तुलना करना है। दूसरे को अपने से अधिक सुखी देखकर वह दुःखी हो जाता है। यदि कोई मनुष्य अपनी तुलना केवल अपने ही अतीत से करे तो उसे इतना दुःखी न होना पड़े जितना वह होता है। जब एक गरीब मनुष्य अमीर हो जाता है तो वह अपनी गरीबी के दिनों को भूल जाता है। इसके कारण अपनी अमीरी से उसको उतना संतोष नहीं होता जितना उसे होना चाहिए था। वह अपनी तुलना दूसरे अमीरों से करता है और उन्हें अपने से अधिक उन्नति करते देख मन-ही-मन दुःखी होता है।

अपनी तृष्णा को कम करने का एक उपाय दूसरे लोगों के प्रति करुणाभाव का अभ्यास है। संसार में अपने आपसे निर्धन अनेक लोग हैं, अपने आपसे अधिक दुःखी दूसरे लोग हैं। उनके दुःखों पर विचार करने से मनुष्य में बहुत से प्रलोभन अपने आप ही नष्ट हो जाते हैं। बूढ़े लोगों की सेवा करने, रोगियों की चिकित्सा करने और उनकी सेवा-सुश्रूषा करने से भी मनुष्य की लोभ की मनोवृत्ति अपने आपही कम हो जाती है। ऐसी अवस्था में मनुष्य का अचेतन मन भोग्य पदार्थों को जोड़ने की व्यर्थता को समझने लगता है। सभी पदार्थों को प्राप्त करना सरल है, परन्तु उनका उपभोग करना सरल नहीं है। यह मनुष्य के पुरुषार्थ के बाहर की बात है। बूढ़े और रोगी मनुष्य के लिए संसार के विषय-सुख निरर्थक हैं।

जीवन के अनेक प्रकार के प्रलोभनों को कम करने का उपाय अपने चित्त को किसी एक पदार्थ पर एकाग्र करना है। विषयों के चिन्तन से उनके प्रति सहज आसक्ति हो जाती है। अपने मन को इस चिन्तन से अलग करते रहना आवश्यक है। इसके लिये अपने मन को किसी एक पदार्थ पर सदा एकाग्र करते रहना चाहिए। फिर इस पदार्थ से हटाकर मन को शून्यभाव में ले जाना चाहिए। सम्यक् समाधि का यह अभ्यास भगवान बुद्ध का बताया हुआ है। श्वास-प्रश्वास पर, किसी मूर्ति पर, किसी दीपक की ज्योति पर, प्रकाश पर अथवा मन के स्वरूप के विचार पर ही मन को एकाग्र किया जा सकता है। इस प्रकार का अभ्यास अनेक प्रकार के प्रलोभनों और चिन्ताओं से मनुष्य के मन को मुक्त कर देता है।

अड़तीसवाँ अध्याय

मन का स्वामित्व

जिस मनुष्य को अपने मन पर अधिकार है उसके समान सुखी कोई नहीं है और जिसका मन जहाँ चाहे वहाँ जाता है उसके समान दुखी कोई भी व्यक्ति नहीं है। हमारे सभी सुख और दुख हमारी कल्पनाओं पर निर्भर करते हैं। मनुष्य के अधिक सुख अथवा दुःख उसकी शारीरिक आवश्यकताओं से सम्बन्ध नहीं रखते, वे उसकी मान्यताओं से सम्बन्ध रखते हैं। जब मनुष्य अपने आपको दुखी सोच लेता है तो वह दुखी हो जाता है। मैं बड़ा हूँ, प्रतिष्ठित हूँ, दयावान हूँ, सत्यवादी हूँ, सदाचारी, ब्रह्मचारी अथवा देशभक्त हूँ। ये सभी मान्यताएँ हैं। अपने आपको गरीब समझ लेना दया का पात्र समझना अथवा अमीर और भाग्यवान समझना केवल मान्यताएँ हैं। मनुष्य जिस समय अपने आपको जैसा सोचता है वह उस समय वैसा ही है। यदि वह अपने आपको पापी, दीन और अभागा मानता है तो वह वैसा ही है और यदि वह अपने आपको पुण्यवान, सम्पन्न और भाग्यवान समझता है तो वह वैसा ही है। जिस मनुष्य का अपने मन पर अधिकार है वह अपने मन में अपने विषय में ऐसी कल्पना को ठहरने ही नहीं देता जिससे उसे दुख हो, परन्तु जिसका अपने मन पर अधिकार नहीं है वह ऐसी कल्पनाओं का शिकार बना रहता है जो उसे सदा दुखी बनाये रखती हैं।

कहा जाता है कि कायर मनुष्य अनेक बार मरता है, शूरवीर केवल एक ही बार मरता है। शूरवीर अपने काम में लगा रहता है। उसे मृत्यु के विषय में सोचने की फुर्सत नहीं रहती। कायरता और वीरता किसी मनुष्य के जन्म-जात गुण नहीं हैं। ये अभ्यास के परिणाम हैं। जिस मनुष्य ने अपने मन को आशावादी बनाया है, जिसे आशावादिता का अभ्यास हो गया है वह शूरवीर है और जिसे निराशा का अभ्यास हो गया है वह कायर होता है। कायर मन कमजोर होता है अर्थात् उसकी इच्छाशक्ति के वश में उसकी चित्तवृत्तियाँ नहीं रहतीं। सुख की खोज करनेवाले मनुष्य की इच्छा-शक्ति कमजोर हो जाती है। शूरवीर पुरुष की इच्छा-शक्ति बलवान होती है अर्थात् वह मन को जहाँ ले जाना चाहता है वहाँ ले जाता है और जहाँ से रोकना चाहता है वहाँ से उसे रोक लेता है। मन के ऊपर इस प्रकार का प्रभुत्व अनेक दिन के अभ्यास का

परिणाम होता है। सदा सुगम मार्ग को छोड़ जो व्यक्ति दुर्गम पथ-गामी होता है उसी की इच्छा-शक्ति बलवान होती है। उसी में अपने मन को काबू में रखने की सामर्थ्य होती है। किसी प्रकार के आवेग का अनुभव करने पर वह चित्त को सरलता से शान्त कर लेता है।

मानसिक रोग की अवस्था में मनुष्य का मन इतना निर्बल हो जाता है, अर्थात् उसकी इच्छा-शक्ति इतनी कमजोर हो जाती है कि किसी प्रकार की अभद्र कल्पना को वह मन के बाहर निकालने में समर्थ ही नहीं होता। मान लीजिए रोगी को विचार आया कि उसके हृदय की गति रुक जायगी तो वह इसी विचार से परेशान हो जाता है। कितने ही रोगी कल्पित पेट के रोगों से पीड़ित रहते हैं और कितनों को क्षय रोग को कल्पना पीड़ा देती रहती है। बहुत दिन तक ठहरनेवाली कल्पना कभी-कभी वास्तविक रोग में भी परिणत हो जाती है। इस प्रकार के रोगों का मूल कारण इच्छा-शक्ति की दुर्बलता ही होती है। बलवान इच्छा-शक्ति के व्यक्ति को मानसिक रोग नहीं होते। इच्छा-शक्ति का बल सुख की खोज में नैतिकता के विरुद्ध आचरण करने से घटता है। कितने ही मनुष्य अपनी पुरानी नैतिक भूल को छिपाने के लिये विशेष प्रकार का असाधारण नैतिक आचरण करने लगते हैं ताकि दूसरे लोग उनके शिष्टाचार और सदाचार की प्रशंसा करें। ऐसे लोगों में दूसरों का नैतिक शिक्षक, धर्म-शिक्षक आदि बनने की प्रवृत्ति होती है। पर इस प्रकार का आचरण भी प्राकृतिक प्रतिक्रिया है। इससे मनुष्य एक ओर झूठी नैतिकता को धारण कर लेता है और दूसरी ओर वह मानसिक रोगों का शिकार होता है। ऐसा व्यक्ति सहज भाव से कोई काम नहीं करता। वह सदा मानसिक खिचाव की अवस्था में रहता है। उसके कई काम प्रशंसा-प्राप्ति की दृष्टि से किये जाते हैं। बिना अत्यधिक काम किये उसे चैन नहीं मिलती। अधिक काम करने से उसे थकावट हो जाती है। परन्तु अत्यधिक काम किये बिना वह रह भी नहीं सकता। यह भीतरी अशान्ति भुलाने का और अपनी आन्तरिक कमी की पूर्ति का उपाय है।

जिस प्रकार सुख के पीछे दौड़नेवाले व्यक्ति को शान्ति नहीं रहती, इसी प्रकार मानसिक खिचाव की अवस्था में रहनेवाले व्यक्ति को अर्थात् अपने ऊपर झूठी नैतिकता लादे हुए व्यक्ति को भी मानसिक शान्ति नहीं रहती। सुख की मनोवृत्ति दुःख की मनोवृत्ति उत्पन्न करती है। अपने वश में न रहनेवाला मन अपने आप ही उसी प्रकार हानि और कष्ट की कल्पना करने लगता है जिस प्रकार वह लाभ और आराम की कल्पना करता है। सुख की चाह भय

को उत्पन्न करती है। यह भय बाहरी दण्ड का भय हो सकता है अथवा अपनी अन्तरात्मा के दण्ड का ही। बाहरी दण्ड के भय को भुलाने पर वह अकारण भय और चिन्ता का रूप धारण कर लेता है; कभी-कभी ये चिन्तायें और भय भिन्न-भिन्न पदार्थों पर आरोपित होते हैं। शरीर के रोग का भय भी इसी प्रकार है। आन्तरिक दण्ड के भय का दमन अत्यधिक नैतिक आचरण और अनेक प्रकार के असाधारण व्यवहार, झक तथा किसी विशेष प्रकार की कुटेवों में प्रकाशित होता है। प्रारम्भ से ही नैतिक अभ्यास कम होने पर मनुष्य को हृदय के रोग, दमा, पेट के रोग, मृत्यु का भय आदि रोग होते हैं। ये मनुष्य को नैतिक बनाने के प्राकृतिक उपाय हैं। जिन लोगों का प्रारम्भिक नैतिक जीवन अच्छा होता है उन्हें अनैतिक आचरण से आत्म-भर्त्सना और मानसिक खिंचाव होता है। जिससे वे एक ओर अत्यधिक शिष्टाचारी बन जाते हैं और दूसरी ओर अकारण चिन्ता और भय के शिकार बन जाते हैं।

किसी भी भले काम के करने पर मनुष्य को आत्म-प्रसाद होता है और किसी भी बुरे काम के करने पर उसे आत्म-भर्त्सना होती है। जिस मनुष्य का मन अपने वश में है उसे न तो भले काम के करने पर आह्लाद होता है और न बुरे काम के करने पर आत्म-भर्त्सना होती है। इस प्रकार की मानसिक प्रतिक्रियाओं से वह मुक्त रहता है। मनुष्य को दुःख और सुख मन के साथ अपने आपका एकीकरण करने से होता है। जैसे-जैसे मन में चढ़ाव-उतार होता रहता है मनुष्य में भी उसी प्रकार प्रसन्नता और दुःख का चढ़ाव-उतार होता रहता है। मन की प्राकृतिक प्रतिक्रियाएँ ही मनुष्य को सुखी अथवा दुःखी बनाती रहती हैं। मूल प्रवृत्तियों के अनुसार चलनेवाला मन सदा क्षणिक सुख और दुःख में ही रहता है।

प्रत्येक मनुष्य में अनंत शक्ति है। इस शक्ति का उतना ही भाग वह काम में लाता है जितना वह जानता है। जो मनुष्य अपने विषय में जितना ज्ञान रखता है, वह उतना ही शक्तिवान है। मनुष्य की शक्ति का स्रोत उसके विचार में है। विचार दो प्रकार का होता है—एक रचनात्मक और दूसरा ध्वंसात्मक। रचनात्मक विचार नई सृष्टि का निर्माण कर डालता है। जब विचार रचनात्मक होता है तो मनुष्य को सभी प्रकार की बाहरी शक्तियाँ सहायक दिखाई देती हैं, किन्तु जब उसका विचार ध्वंसात्मक होता है तब वे शक्तियाँ उसे विरोधी दिखाई पड़ती हैं। बाहर की सहायता अथवा विरोध अपनी ही मानसिक स्थिति का प्रकृति पर आरोपण मात्र होता है। जिस मनुष्य के विचार

अपने वश में हैं वह प्रकृति को सहायक के रूप में देखता है और वास्तव में प्रकृति उसकी सहायता करती है। जिस व्यक्ति के विचार उसके वश में नहीं है वह बाहरी प्रकृति में अपने लिये सहायता नहीं पाता। वह भाग्य को ही कोसता रहता है।

विचारों को रचनात्मक बनाने में ही जीवन की सफलता है। विचारों को रचनात्मक कैसे बनाया जाय ? विचारों को रचनात्मक बनाने के लिये उनपर नियंत्रण प्राप्त करना आवश्यक है। यदि अपने विचारों पर मनुष्य को नियंत्रण हो तो वे कल्पित दुःख होवें ही नहीं, जो अन्यथा होते रहते हैं। मनुष्य को भावी दुःख जितना परेशान करते हैं उतने वर्तमान दुःख परेशान नहीं करते। जो व्यक्ति अपने अतीत और भविष्य के विषय में चिन्तन छोड़कर वर्तमान कार्य पर ही अपने मन को केन्द्रित करता है वह लाखों दुःखों से अपने को बचा लेता है। मन पर नियंत्रण रहने पर भावी दुःख मनुष्य को दुःखी नहीं बनाते और भूतकाल की भूलों के लिये भी उसे कोई संताप नहीं होता।

मन पर नियंत्रण प्राप्त करने के कुछ व्यावहारिक उपाय हैं और कुछ दार्शनिक। मन पर नियंत्रण प्राप्त करने के व्यावहारिक उपाय निम्नलिखित हैं—

(१) संसार की अनित्यता और दुःखरूपता पर विचार करना।
(२) आनापानसति का अभ्यास।
(३) किसी भी एक पदार्थ पर चित्त को एकाग्र करना।
(४) किसी भी व्यक्ति से अत्यधिक सम्पर्क न बढ़ाना।
(५) किसी कठिन काम में अपने आपको लगाये रखना।

योग-सूत्र में चित्त-निरोग का उपाय अभ्यास और वैराग्य बताया है। वही मनुष्य मन को वश में कर सकता है जो संसार को चलायमान और दुःख रूप देखता है। बालक जवान होता है, युवक सयाना और बूढ़ा होता है, तत्पश्चात् वह मृत्यु के मुख में चला जाता है। आज जो धनी हैं वे कल गरीब बन जायँगे और जो आज गरीब हैं वे कल धनी होंगे। संसार में कुछ भी स्थिर नहीं है। सभी प्रकार के सुखों का अन्त दुःख में होता है। इन्द्रिय-सुख सदा मिलते रहने पर भी वही अप्रिय हो जाता है। वह इच्छा-शक्ति को दुर्बल बनाता है और फिर अनेक रोगों को उत्पन्न करता है। ऐसे विचारों को बार-बार मन में लाने से मनुष्य संसार की प्रीति से मुक्त हो जाता है। सभी सुखों की बुराई पर विचार करना उनके प्रलोभन से मुक्त होने के लिये आवश्यक है।

संसार के साधारण नाते-रिश्ते से अलग रहना भी मन को वश में करने के लिये आवश्यक है। संसार के अधिक लोग घृणा के व्यापार में लगे रहते हैं, उनसे मिलने-जुलने तथा सम्पर्क बढ़ाने से केवल तृष्णा की वृद्धि होती है। इससे लोभ, ईर्ष्या, क्रोध, भय, निराशा आदि मनोभाव उत्पन्न होते हैं। जिस व्यक्ति का मन इन भावों में पड़ा है उसमें मन को नियंत्रण में रखने की शक्ति ही कहाँ हो सकती है। हम जितना ही अपना लौकिक व्यवहार बढ़ाते हैं, अपने आपको उतना ही अधिक भूलते हैं। अपने सम्बन्ध में हमारा वही विचार होता है जो विचार हमारे विषय में दूसरों का होता है। हम दूसरे लोगों के मस्तिष्क में अपनी महानता का माप-दण्ड रखकर अपने आपको जितना दुःखी बनाते हैं अन्य किसी प्रकार से अपने आपको उतना दुःखी नहीं बनाते।

संसार के लोगों की राय से अपने आपको दूर रखने के लिए किसी काम में सदा अपने को लगाये रखना आवश्यक है। कठिन काम में मन लगाये रखने-वाले व्यक्ति से अनेक प्रकार की बुराइयाँ दूर भागती रहती हैं। ऐसे व्यक्ति के प्रति दूसरे लोगों के मन में प्रतिष्ठा का भाव स्वयं ही उत्पन्न हो जाता है। जो व्यक्ति अपने काम में लगा हुआ है समाज के लोग उसका आदर करते हैं और जो अपने प्रति उसकी राय सुधारने में लगा रहता है वह उन्हें अपना शत्रु ही बना डालता है।

कठिन काम करने में मनुष्य को अपनी इच्छा-शक्ति की स्वतन्त्रता और बल का अनुमान होता है। मनुष्य की इच्छा-शक्ति उसके मन की प्राकृतिक शक्तियों से भिन्न वस्तु है। मन की प्राकृतिक शक्तियाँ मनुष्य को सुख की ओर ले जाती हैं। उसकी इच्छा-शक्ति सुख की अवहेलना कर सकती है। नैतिक आचरण की जो सबसे अच्छी परिभाषा दी जा सकती है वह यह है कि जिस आचरण के करने में मनुष्य को जितनी अधिक बाहरी और भीतरी कठिनाइयों का सामना करना पड़े वह उतना ही अधिक नैतिक है। सरल सुखद मार्ग प्रायः अनैतिक होता है। जिस कार्य से इच्छा-शक्ति का बल न बढ़े, वह व्यर्थ है। नैसर्गिक प्रवृत्तियों द्वारा प्रेरित कार्यों का नैतिक महत्व कुछ भी नहीं है। नैतिक कार्य करने से मन मनुष्य के वश में होता है।

मन को वश में करने का सीधा उपाय आनापानसति और सम्यक् समाधि का अभ्यास है। मनुष्य अपनी चित्तवृत्तियों को किसी एक विषय पर जितना ही एकाग्र करता है वह अपनी इच्छा-शक्ति को उतना ही दृढ़ बनाता है। आनापान

सति के अभ्यास के समय मनुष्य के मन में अनेक प्रकार के वितर्क आते हैं। इन सभी वितर्कों को रोकने में मनुष्य की इच्छा-शक्ति का व्यायाम होता है। इस प्रकार के अभ्यास से मनुष्य अपने आपको अपने मन से पृथक् वस्तु जान लेता है। वितर्क उन बाहरी पदार्थों और घटनाओं से सम्बन्ध रखते हैं जिनका अस्तित्व देश-काल में है और जो कार्य-कारण नियम से बँधे हुए हैं। अपने से इनका पृथक् ज्ञान होना अपने आपको देश और काल के परे जानना है तथा कार्य-कारण की परम्परा से मुक्त समझना है। मन की धारा को सदा मोड़ते रहने के प्रयत्न से मनुष्य की इच्छा-शक्ति का बल बढ़ता है और उसे अपने स्वतन्त्र अस्तित्व का ज्ञान होता है।

मन के वश में करने का दार्शनिक उपाय उसके स्वरूप पर विचार करना, चित्तवृत्तियों का विश्लेषण करना और इस प्रकार अपने आपको देश-काल के परे समझना है। आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार हमारे मन के तीन भाग हैं—वासना, धर्म-बुद्धि और स्वाभिमान। इन्हें इड, सुपरइगो और ईगो कहा जाता है। वासना का स्थान अचेतन मन है, धर्म-बुद्धि का स्थान अवचेतन मन और स्वाभिमान का क्षेत्र चेतना है। इन तीनों के परे शुद्ध चैतन्य भी है। इसकी चर्चा दो एक मनोवैज्ञानिकों के अतिरिक्त दूसरों ने नहीं की। डाक्टर विलियम ब्राऊन और प्रोफेसर चार्ल्स युंग ने इस शुद्ध चैतन्य की चर्चा की है। चार्ल्स युंग ने इसका एकीकरण शुद्ध विचार से किया है और विलियम ब्राऊन ने इसे देश-काल एवं कार्य-कारण भाव के परे की वस्तु बताया है। वास्तव में यह शुद्ध चैतन्य ही मन के सभी भागों के विषय में विचार करता है। यदि चित्त-वृत्ति को समझनेवाली शक्ति को भी चित्तवृत्ति मान लिया जाय, तो चित्तवृत्ति के विषय में वृत्तांत कैसे सच माना जायगा। इड, सुपरइगो और ईगो के विषय में चिन्तन करनेवाला तत्त्व अवश्य ही इन तीनों के परे है, नहीं तो इनके स्वरूप और सीमाओं को निर्धारित कौन करेगा। जब मनुष्य अपने मन को समझने की चेष्टा करने लगता है तभी से उसका मन उसके वश में आने लगता है। मन को समझने की चेष्टा करना अपने को अन्तर्मुखी बनाना है। मनुष्य के बहिर्मुखी होने के कारण मन में अनेक प्रकार का विभाजन होता है। जब मनुष्य अन्त-र्मुखी बनने का यत्न करता है तो मन का विभाजन मिट जाता है।

अपने आपको समझने की प्राथमिक अवस्था में मनुष्य अपने मन को अपने आपसे पृथक् जानता है। पीछे वह मन को अपना ही एक रूप जानने लगता है। अपने अपको शरीर रूप न देखकर मन रूप देखने लग जाना अपनी

स्वाधीनता प्राप्ति की प्रथम सीढ़ी है। इसके बाद मनुष्य अपने आपको मन के परे भी समझने लगता है। जो व्यक्ति अपनी आन्तरिक बनावट के सम्बन्ध में जितना ही अधिक चिन्तन करता है, और बाहरी पदार्थों के लगाव से मुक्त होता है वह अपने सामर्थ्य को उतना ही बढ़ा लेता है। ऐसा व्यक्ति अपने मन को जिस दिशा में ले जाना चाहता है उसी दिशा में ले जाने में समर्थ होता है। अपने आपका ज्ञान मनुष्य को अजेय बना देता है।

उनतालीसवाँ अध्याय

जीवन के उलझन

मानव जीवन उलझनों से भरा हुआ है। उसकी समस्यायें अनन्त हैं। मनुष्य की अबोध अवस्थाओं में ये उलझनें अथवा समस्यायें दिखाई नहीं पड़ती हैं। परन्तु प्रकृति मनुष्य को अबोध नहीं रहने देती। वह अनेक प्रकार की टक्करें लगा कर मनुष्य का उसके जीवन की समस्याओं और उलझनों से परिचय कराती है।

मनुष्य की कुछ उलझनें उसके व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्ध रखती हैं, कुछ पारिवारिक होती हैं और कुछ सामाजिक। कितने ही लोग दार्शनिक झंझटों में फँसे रहते हैं और कितने ही अपने स्वार्थ सम्बन्धी झंझटों में। मनुष्य जब अपनी एक उलझन को सुलझाने की चेष्टा करता है, तो दूसरी उलझनें उसके सामने आने लगती हैं। जब हम उलझनों का मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार करते हैं तो हम उनकी जड़ मनुष्य के व्यक्तित्व में ही पाते हैं। उलझे हुए व्यक्तित्व का व्यक्ति जिस भी क्षेत्र में काम करेगा वह उस क्षेत्र में उलझनों को ही देखेगा। वास्तव में जितनी उलझनें पहले से उस क्षेत्र में रहती हैं उनसे अधिक वह उन उलझनों को सुलझाने के प्रयास से पैदा कर लेता है। जिस मनुष्य का मन जटिल मानसिक ग्रन्थियों से भरा है वह इन ग्रन्थियों का आरोपण अपने कार्य-क्षेत्र में करता है। जो व्यक्ति अपने अन्तर मन में विभाजित है, जिसके भीतरी मन में देवासुर संग्राम सदा चलते रहते हैं, वह अपने पारिवारिक जीवन में ऐसी समस्यायें उत्पन्न कर लेता है जिन्हें सुलझाना उसके लिये अत्यन्त कठिन हो जाता है। यदि वह राजनीतिक नेता है तो राजनीतिक क्षेत्र में ऐसी उलझनें पैदा करता है जिन्हें वह शक्ति भर प्रयास करने पर भी सुलझा नहीं पाता। वास्तव में ये बाहरी उलझनें उसके भीतरी मन की उलझनों के आरोपण मात्र हैं।

हाल की बात है कि लेखक के पास एक ऐसा युवक आया जिसे अपने बड़े भाई, अपने माता-पिता तथा घर के सभी लोगों से द्वेष इस कारण हो गया था कि उसके मन में यह विचार आ गया था कि ये सभी उसके चरित्र पर संदेह करते हैं और उसे चरित्रहीन समझते हैं। उसके बड़े भाई ने एक बार उसके सम्बन्ध में उसकी माँ से कुछ ऐसी बातें कहीं, जिससे उसके चरित्र पर

कुछ दोष लगता था। इन बातों को इस युवक ने बड़े भाई के अनजाने सुन ली थी। अब उसको निश्चय हो गया कि घर के सभी लोग उसे चरित्रहीन ही मानते हैं। यह युवक बड़ा ही संयमी है और सब प्रकार की सुविधाएँ होते हुए भी बड़ा कठोर जीवन व्यतीत कर रहा है। उसकी अपनी भावना थी कि उसका जीवन बड़ा ही पवित्र है और उसके बड़े भाई ने उसके विरुद्ध बुरा प्रचार कर रक्खा है। उसने घर के सभी लोगों से बोलना-चालना बन्द कर दिया। उसका दिन-प्रति-दिन स्वास्थ्य बिगड़ने लगा। इसके कारण उसके माता-पिता को बड़ी चिन्ता हुई। पिता भी लेखक के पास अपने पुत्र की मानसिक स्थिति सुधारने के लिए परामर्श लेने आये। वे बहुत परेशान थे।

लेखक ने देखा परिवार का प्रत्येक व्यक्ति बड़ी ही मानसिक जटिलता में है। प्रत्येक अपनी मानसिक ग्रन्थि को एक दूसरे पर आरोपित करता है। पिता वास्तव में अपनी ही मानसिक ग्रन्थि से परेशान था। उसके आन्तरिक मन में अपने ही प्रति आत्महीनता की भावना थी। इस भावना के कारण वह सोचने लगा कि उसका होनहार पुत्र उसका अनादर करता है। वास्तव में पिता को जितनी शिक्षा दी हुई है उससे कहीं अधिक पुत्र की हो चुकी है। पिता-पुत्र की हरएक बातको अवज्ञा के रूप में देखता था। इसके कारण उनका जीवन भार रूप हो रहा था। पिता अपने पुत्र के चरित्र के विषय में कोई भी शंका नहीं रखते थे। उनका कहना था कि उसकी माता भी किसी प्रकार की शंका उसके चरित्र के विषय में नहीं रखती है। उन्हें यदि कोई शिकायत है तो उसके बड़ों के प्रति व्यवहार के लिए।

इस युवक का मनोविश्लेषण द्वारा अध्ययन किया गया। किसी भी मानसिक रोगी को स्वास्थ्य प्रदान करने के लिए प्रथम अवस्था में उसके सभी मनोभावों के प्रति सहानुभूति दिखाई जाती है। उसकी वेदनायुक्त-अनुभूतियों को सहृदयता के साथ सुना जाता है। इस प्रकार उसके दमित भावों का जब कुछ रेचन हो जाता है, तभी वह अपने आपको पहचानने की स्थिति में आता है। यदि किसी मानसिक रोगी की भावनाओं को पहले से ही निराधार बता दिया जाय तो वह चिकित्सक का ही विरोधी बन जाता है। जब यह युवक अपनी आत्मवेदना को सुना रहा था तो वह रो पड़ा। उसे बहुत कुछ समझा-बुझाकर आश्वासन दिया गया कि वह वास्तव में बड़ा ही पवित्र मन का व्यक्ति है और ईर्ष्यावश ही उसके बड़े भाई ने उसके विरुद्ध प्रचार कर दिया। इससे उसको बड़ी शान्ति मिली। उसका शारीरिक रोग कुछ कम होने लगा।

दो-तीन दिन के बाद उसने स्वप्न में देखा कि जिस युवती के प्रेम का लांछन उसके बड़े भाई ने उस पर लगाया था, वही युवती उसके स्वप्न में आई और वह उस युवती से अनेक प्रकार की प्रेम चेष्टाएँ कर रहा था। इस स्वप्न को देख कर जागरित अवस्था में उसे बड़ा कष्ट हुआ। उसे ज्ञात हुआ कि उसका भाई जो कुछ लांछन उस पर लगाता है उसमें कुछ सत्यता है। यह सत्य उसके चेतन मन को ज्ञात नहीं है। जब कोई व्यक्ति किसी विशेष प्रकार के छिद्रान्वेषण से बहुत चिढ़े तो यह समझना चाहिए कि उस व्यक्ति के व्यक्तित्व में वास्तव में वह दोष है जिसके लिए उसकी आलोचना होती है। परन्तु इसका ज्ञान उसके चेतन मन को नहीं है। ज्योंही इस युवक को अपनी मानसिक परिस्थिति का ज्ञान हुआ त्योंही उसको पवित्रता का अभिमान कम हो गया। अपने परिवार के प्रति व्यवहार बदल गया। परिवार के लोग भी उसे अधिक प्यार करने लगे। इस युवक को यही सुझाव दिया गया कि जब हम किसी प्रकार की जटिलता अपने वातावरण में देखें तो वातावरण को सुधारने की चेष्टा नहीं करके स्वत: में उस जटिलता का कारण खोजने की चेष्टा करें। हमारे इसी दृष्टिकोण के कारण ही वातावरण में हमें जटिलता दिखाई देती है और उसके सुलझाने के यत्न से वह और भी बढ़ जाती है। परन्तु किसी प्रकार की जटिलता का कारण अपने में पहचानना अत्यन्त कठिन है। अतएव हम वातावरण की उलझनों में पड़े ही रहते हैं।

कितने ही मनुष्य वातावरण में उपस्थित भौतिक गन्दगी, शोर-गुल, व्यभिचार, चोरी और घूसखोरी से बड़े ही परेशान रहते हैं। वे इन परिस्थितियों को बदलने की जब चेष्टा करने लगते हैं तो वे उत्तरोत्तर कठिन ही दिखाई देने लगती हैं। परिवार के अनेक लोगों से हमारा वैमनस्य हो जाता है। हम जैसे-जैसे इन लोगों की मनोभावनाओं को सुधारने का प्रयास करते हैं वे और भी बिगड़ती जाती हैं। यदि हम इस प्रकार के प्रयास को बन्द कर दें और अपने आप में शान्ति-भावना का अभ्यास करें तो ये बाहरी जटिलतायें सहज में सुलझ जायें। हमारी आन्तरिक अशान्ति ही बाहरी अशान्ति बन जाती है। यदि हम आत्म-विजय से निराश हो चुके हैं तो बाहरी वातावरण में भी हम निराशा देखने लगते हैं। जैसे-जैसे हम आत्म-विजय में आत्मविश्वास का अनुभव करने लगते हैं हम देखते हैं कि वातावरण भी हमारे अनुकूल हो गया है। वातावरण के प्रति उदासीनता का भाव इस तरह उसकी ग्रंथियों को सुलझाने में सहायक होता है।

दार्शनिक दृष्टि से बाहरी तथा आन्तरिक जगत एक दूसरे के सापेक्ष हैं। यदि एक में सुधार हो जाये तो दूसरे में सुधार होना भी अनिवार्य है। परन्तु बाहरी परिस्थितियों पर जितना हमारा अधिकार है उससे अधिक अधिकार हमारी आन्तरिक परिस्थितियों पर ही हो सकता है। यदि हम परिस्थितियों को बदलना चाहते हैं तो आन्तरिक परिस्थितियों को बदलना नितान्त आवश्यक है। इस प्रकार अपने मन को समझना और बदलना राजयोग कहलाता है। इसके लिए परिस्थितियों से थोड़े समय के लिए हटना और अपने आप में डूबना नितान्त आवश्यक है। परन्तु इस अभ्यास को विरला ही व्यक्ति कर सकता है। विरले ही व्यक्ति में आत्मविश्लेपण और आत्मस्वीकृति की क्षमता होती है। जिस मनुष्य की मानसिक जटिलतायें जितनी अधिक होती हैं, उसमें प्रायः आत्मविश्लेपण एवं आत्मनिरीक्षण की उतनी ही कम क्षमता होती है। इनका अहंकार उन्हें अन्तर्मुखी बनने ही नहीं देता। संसार के प्रसिद्ध साधु, महात्मा और सन्त लोग प्रायः इसी प्रकार के होते हैं। उनकी लौकिक प्रसिद्धि उन्हें अपनी कमजोरियों के प्रति अन्धा बना लेती हैं। इसलिए ही लौकिक प्रसिद्धि को अध्यात्मवाद का शत्रु माना गया है। जो लोग दूसरों को सदाचार की, त्याग को और आत्मविश्लेपण की शिक्षा जितनी अधिक देते रहते हैं, उनमें अन्तर्मुखी बनने की उतनी ही कम क्षमता रहती है।

संसार का सामान्य मनुष्य अन्तर्मत की क्षमता नहीं रखता। अतएव वह परिस्थिति से लड़-झगड़कर ही अपने आपके विषय में ज्ञान प्राप्त कर सकता है। निकम्मे बैठने की अपेक्षा कुछ-न-कुछ करते रहना अच्छा है। योगी पुरुष यह जानकर समाज में काम करते हैं कि उनके समाज-सुधार का अन्तिम लक्ष्य समाज सुधार नहीं है वरन् आत्मसुधार है, समाज सुधार का कार्य साधनमात्र है। जो अहंकर छोड़कर सामाजिक सेवा द्वारा आत्मसुधार की चेष्टा करता है, वह समाज का वास्तव में मौलिक लाभ करता है। ऐसे व्यक्ति को अपनी समाज सेवा का अभिमान नहीं होता। ऐसा ही व्यक्ति कर्मयोगी कहलाता है। कर्मयोगी बाहरी फल की इच्छा को छोड़कर सुधार के लिए ही सामाजिक कार्य करता है। इसी प्रकार के कर्म की शिक्षा भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को दी थी।

चालीसवाँ अध्याय

जीवनग्रन्थि का निवारण

अन्धंतमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव तमो य उ विद्यायाँ रताः ॥
विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥ (इशावास्योपनिषद्)

हमारा जीवन एक ग्रंथि है; जो इसको सुलझा लेता है वह शांतिलाभ करता है, और जो नहीं सुलझा सकता वह सभी मानसिक रोगों से पीड़ित रहता है। जो इस संसार में आता है वह एक ऐसी उलझन में पड़ जाता है कि जैसे-जैसे उसकी आयु बढ़ती जाती है वह संस्कार रूपी बन्धनों से जकड़ता हुआ चला जाता है। हमारे संस्कार की प्रसुप्त वासनाएँ ही हमें सदा कर्म में प्रवृत्त करती हैं और फिर ये कर्म नये संस्कार पैदा कर देते हैं। यही संसार का कारण—कार्यचक्र है। इसका ही उल्लेख बौद्धग्रंथों में प्रतीत्य-समुत्पात-वाद में किया है। इससे मुक्त होने की चेष्टा ही अध्यात्मता है।

जीवनग्रन्थि सुलझाने में कर्म और ज्ञान का बड़ा घनिष्ठ संबंध है। जैसे ज्ञान से वासनाओं का विचार करके क्षय होता है वैसे ही इसमें वासनाओं का भोग करके क्षय होता है। हमारे दर्शन-शास्त्रों ने मुक्ति या शांतिलाभ में प्रायः ज्ञान को ही प्रधानता दी है। आचार्यशङ्कर से लेकर आज दिन तक जो वेदान्तिक सिद्धान्तों का प्रचार इस देश में हुआ उसमें नैष्कर्म्य की ही प्रधानता है। भगवान् शङ्कर ने गीता में भी नैष्कर्म्य की ही सिद्धि की है। स्वामी विद्यारण्य तथा दूसरे आचार्यों ने इस नैष्कर्म्य का प्रतिपादन पूरी तरह से अपने ग्रन्थों में किया है। इसका परिणाम यह हुआ कि समस्त भारतवर्ष कर्म-उपासना को छोड़ ज्ञानवादी बन गया। शायद यही कारण है कि हम आज कर्म-उपासकों के दास हैं। इस लेख का उद्देश्य यह बताना है कि छोटे ज्ञान से न तो वैयक्तिक शांतिलाभ हो सकता है और न सामाजिक जीवन सुखी हो सकता है।

प्रत्येक व्यक्ति का वैयक्तिक जीवन उसकी वासनाओं से बना है। हम अपनी वासनाओं के वशीभूत होकर संसार के अनेक कर्मों में प्रवृत्त होते हैं तथा सुख और दुःख का उपयोग करते हैं। संसार की परिस्थितियां भी हमारी प्रसुप्त और जाग्रत वासनाओं के सापेक्ष हैं। वेदान्त-शास्त्र का यह परम सिद्धांत है कि यह

संसार हमारी कल्पना का रचा हुआ है। हमारी आन्तरिक इच्छायें ही संसारी पदार्थों में स्फुरित हो जाती हैं। योगवासिष्ठ में संसार की स्वप्न से तुलना की है। जैसे स्वप्नपदार्थ हमारी दबी वासनाओं के सापेक्ष हैं वैसे ही संसार के पदार्थ भी हमारी जाग्रत वासनाओं के सापेक्ष हैं। प्रोफेसर जेम्स तथा ड्यूई का प्रेगमेटिज्म एक तरह से इस सिद्धान्त को पुष्ट करता है। प्रेगमेटिज्म के अनुसार संसार का अनुभव हमारी मानसिक प्रवृत्तियों पर ही निर्भर है। हमारी भोगेच्छा ही हमारे संसार का निर्माण करती है तथा वास्तविकता और अवास्तविकता की कसौटी भी नहीं है।

आधुनिक मनोविज्ञान-शास्त्र ने आज यह सिद्ध कर दिया है कि हमारा स्वप्न हमारी वासनाओं का स्फुरणमात्र है। हमारी दबी हुई वासनाएँ हमारे जाग्रत जीवन में परितृप्ति नहीं पातीं तब स्वप्न संसार को रचती हैं। पर यह एक ऐसी रचना होती है जो हमारे जाग्रत मन को समझ में नहीं आती। वास्तव में जाग्रत मन की नैतिकता के शास्त्र से बचने के लिए ही हमारी वासनाएँ अनेक प्रकार के विचित्र रूप धारण करती हैं। डाक्टर फ्राइड ने स्वप्न संसार की रचना का भली-भांति अध्ययन किया है। हमारे व्यंग-मन के सेंसर ऑफिस से बचने के लिए नैतिकता से दबी हुई वासनाएँ स्वप्न में प्रकट होते समय भेष बदल लेती हैं और हमको कुछ-का-कुछ दिखाई देता है। हमारा स्पष्ट स्वप्न वास्तविक स्वप्नभावना से बिल्कुल भिन्न होता है और बड़े प्रयास से ही हम स्पष्ट स्वप्न से वास्तविक स्वप्न भावना का पता चला सकते हैं। स्वप्न में कई एक ऐसी परिस्थितियां उपस्थित होती हैं जिनसे भोक्ता को सुख होता है और कई एक ऐसी होती हैं कि उनसे भोक्ता को दुःख होता है। कभी-कभी भोक्ता अपनी मृत्यु का अनुभव स्वप्न में करता है।

अब शायद यह प्रश्न उठे कि अपनी मृत्यु की इच्छा भला कौन कर सकता है। अपनी मृत्यु का स्वप्न में अनुभव करना तो बिल्कुल अनहोनी घटना है। पर चित्तविश्लेषण शास्त्र बताता है कि मृत्यु की इच्छा भी हमारा अव्यक्त मन कभी-कभी किया करता है। वास्तव में मृत्यु-इच्छा हमारे अव्यक्त मन की एक बड़ी उत्कृष्ट इच्छा है। ऐसे ही बीमारियों से पीड़ित होने की, दूसरों द्वारा ध्वस्त होने की तथा अंगभंग का दुःख सहने की इच्छाएँ वैसी ही प्रबल हैं जैसी कि इन्द्रियों की तृप्ति, दूसरों पर अधिकार जमाना या स्वस्थ रहने की इच्छाएँ हैं। जब तक हमारी अति संवेगवाली इच्छाओं की तृप्ति स्वप्न द्वारा नहीं होती तब तक हम सुषुप्ति अवस्था को प्राप्त नहीं कर सकते। डाक्टर फ्राइड का कहना है

कि स्वप्न हमारी निद्रा को भंग नहीं करता है वरन् उसकी रक्षा करता है। जब तक हमारी प्रबल वासनाएँ, स्वप्न में अपनी आंशिक तृप्ति नहीं पा लेतीं तब तक द्रष्टा निद्रा का आनन्द अनुभव नहीं कर सकता। वास्तव में द्रष्टा की निद्रा की विश्राम-प्रवृत्ति ही स्वप्न का कारण है।

अब यदि हम इस स्वप्नस्फुरण सिद्धान्त को जाग्रत जीव के अनुभव के समझने में काम में लावें तो निश्चित होता है कि हमारा जाग्रत जीवन भी स्वप्न-सदृश हमारी प्रसुप्त वासनाओं द्वारा निर्मित है। जैसे द्रष्टा की प्रवृत्ति सुपुप्ति के आनन्द लाभ की भी रहती है और जैसे पहले प्रकार की प्रवृत्ति स्वप्न अनुभव का कारण है वैसे ही दूसरे प्रकार की प्रवृत्ति संसार अनुभव का कारण है। जैसे स्वप्न के सुख, दुःख तथा मृत्यु हमारी वसनाओं पर ही निर्भर हैं। इसी तरह से जाग्रत संसार के सुख, दुःख और मृत्यु भी हमारी अव्यक्त वासनाओं पर निर्भर हैं और जैसे स्वप्न वास्तविक स्वप्न-भावना से भिन्न रहता है वैसे ही हमारे जाग्रत् जीवन का स्पष्ट अनुभव आन्तरिक वासनाओं से भिन्न है। जैसे डाक्टर फ्राइड ने अपनी नयी युक्ति से स्वप्न-अनुभव का विश्लेपण किया है वैसे ही हमारे महर्षियों ने अध्यात्म-शास्त्र से जाग्रत जीवन के अनुभव का विश्लेपण कर जाग्रत जीवन के सिद्धान्त बनाये हैं। दोनों की समानता बहुत ही भारी है और इसलिए जीवन-ग्रन्थि सुलझाने के लिये आधुनिक चित्तविश्लेपण-शास्त्र का अध्ययन अति आवश्यक है। हमारी आत्मा सदा शान्ति में रहना चाहती है। यही उसकी शान्ति की लालसा अशान्ति का कारण है। जैसे यदि समुद्र में एक तरंग उठ जाय तो वह दूसरी तरंग को उठाने में कारण बनती है वैसे ही एक वासना दूसरी वासना के उठाने का कारण होती है। पर जैसे समुद्र की शान्त रहने की प्रवृत्ति अनेक पर्वताकार तरंगों का कारण है वैसे ही आत्मा की शान्त रहने की प्रवृत्ति संसार-तरंग का कारण है। भौतिक-शास्त्र का सिद्धान्त है कि हर एक संसार की क्रिया अपने बराबरी की प्रतिक्रिया पैदा करती है। यही कारण है कि एक तरंग यदि समुद्र में उठे तो फिर वह अनेक तरंगें उठा देती है। वैसे ही मन में एक वासना अनेक वासनाओं का कारण बनती है। अब प्रश्न यह है कि शान्ति लाभ कैसे हो। जब तक वासनाओं का वेग प्रबल होता है तब तक चित्त स्थिर नहीं रह सकता और चित्त की स्थिरता बिना सत्यासत्य के होना असम्भव है। तब क्या वासनाओं को दबाना ही मन-रोग मिटाने का उपाय है? नहीं। वासनाओं का दबाया जाना सम्भव नहीं। दबी हुई वासना अनेक प्रकार के शारीरिक तथा मानसिक व्याधि पैदा करती है। यह बात आधु-

निक चित्तविश्लेषण-शास्त्र ने स्थिर की है। जिस व्यक्ति की संवेगपूर्ण वासनाएँ दबा दी जाती हैं वह विक्षिप्त हो जाता है। उसको उचित-अनुचित का विचार भी नहीं रहता। तब उसका सत्यान्वेषण करना या आत्मज्ञान-लाभ करना कैसे सम्भव है? यदि प्रगाढ़ वासनाओंवाला व्यक्ति तत्वज्ञान भी कहे तो वह तत्वज्ञान उसके भोग की सामग्री हो जाता है। क्या हम नहीं देखते कि जो व्यक्ति संसार को, वेदान्त सिद्धान्त भलीभांति समझा सकता है, उसीका हृदय संसार की छोटी-छोटी घटनाओं से क्षुब्ध हो जाता है। शोपनहावर ने दो प्रकार के तत्व-चर्चा करनेवाले बताये हैं—एक तो पोथी पण्डित और दूसरे सत्यान्वेषी। जब हमारी भोग वासनाएँ दबा दी जाती हैं तो वे फिर तत्वज्ञान को भी अपनी तृप्ति का साधन बनाने की चेष्टा करती हैं। इस हालत में हम सिर्फ अपने आपको धोखा देने में ही समर्थ होते हैं और घोर अन्धकार में पड़ते हैं। तत्वज्ञान-मन्दिरों में रहने पर मेरा अनुभव है कि इन मन्दिरों के पुजारी भी संसार के अन्य व्यक्तियों की तरह ईर्ष्या-द्वेष तथा अनेक मानसिक क्लेशों से पीड़ित रहते हैं।

भारतवर्ष ने कर्म की उपासना छोड़कर जब ज्ञान का अनुशीलन किया तो जड़ता की प्रबल धारा चल पड़ी। ज्ञानचर्चा का अधिकारी कोई विरला ही होता है। वैराग्य के बिना ज्ञानचर्चा करनेवाला मनुष्य अपने आपको महात्मा समझने लग जाता है। वह अभिमानी-दम्भी और अशान्त चित्त होकर अपने आपका हनन करता है। यही कारण है कि भगवान् ने अर्जुन को गीता में संसार-चक्र से बाहर निकलने के लिए कर्म का उपदेश दिया है और हमारे ऋषियों के उपनिषदों में कर्म की निन्दा कर स्तुति की गई है।

कर्म से कर्म-बन्धन कठिन भी होता है और शिथिल भी होता है। जैसे स्वास्थ्य-उपार्जन में हम एक विष के हटाने के लिए दूसरे विष का प्रयोग करते हैं, वैसे ही आत्म-शान्ति-लाभ करने में संस्कार-नाश करने के लिए कर्म करना आवश्यक है। भोग-बन्धन की मुक्ति दोनों का कारण है। जो भोग जिस उद्देश्य से होता है उसका काम भी वही होता है। तन्त्रशास्त्र में इसीलिए भोग ही भोग-प्राप्ति का उपाय बताया गया है तथा योगवासिष्ठ में कर्म और ज्ञान जीवरूपी पक्षी के दो पंख माने गए हैं। जैसे एक पंख से पक्षी नहीं उड़ सकता ऐसे ही न तो अकेले ज्ञान से अथवा न कर्म से मुक्ति प्राप्त हो सकती है। यह संसार में रहकर ही अपनी दबी हुई वासनाओं को जान सकते हैं। जो संसार की निवृत्तियों से अलग रहकर आत्म-लाभ करना चाहता है वह अपने-आपकी कमजोरियाँ

जानने से वंचित रहता है। यदि कोई व्यक्ति अकेले जंगल में पर्णकुटी में रहकर यह कहे कि उसने काम, क्रोध, लोभ इत्यादि को जीत लिया है, यह उसकी धृष्टता मात्र है। हमारी विषय निर्लिप्ति की परिक्षा तो उनके सामने रहने पर ही हो सकती है। ऐसा अभिमान नारद मुनि, श्रृङ्गी ऋषि तथा पराशर ऋषि को हुआ था और भगवान् ने उनको परिस्थितियों में लाकर दिखा दिया कि उनका अभिमान कितना झूठा है।

इकतालीसवाँ अध्याय

मानसिक ग्रन्थियाँ

वर्तमान काल की सबसे महत्त्व की मनोवैज्ञानिक खोज मानसिक ग्रन्थियों की खोज है। यह खोज जितनी नई है उतनी पुरानी भी है। उपनिषदों में हृदयग्रन्थि की चर्चा आती है। हृदय-ग्रन्थि के रहने पर ही दुःख-मूलक संसार रहता है और उसके खुल जाने पर मनुष्य तत्त्वदर्शी बन जाता है। उसे निर्वाण अथवा आनन्दावस्था प्राप्त हो जाती है। उपनिषद् के ऋषि कहते हैं :—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्व संशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥

मानसिक ग्रन्थियों की खोज आधुनिक काल में वियना के डाक्टर फ्रायड ने की है। उनका कथन है मनुष्य का मन कई स्तरों का बना हुआ है। हम अपने मन को जितना जानते हैं वह मन का ऊपरी भाग ही है। यह भाग समुद्र की सतह के समान है। इसके नीचे हमारा गंभीर मन है। मानसिक ग्रन्थियां इसी अदृश्य मन में रहती हैं।

मानसिक ग्रन्थियां किसी प्रबल आवेग के दमन से उत्पन्न होती हैं। हमारे मन में अनेक प्रकार की इच्छाएँ, उमंगें और भावनाएँ उठा करती हैं। जो भावनाएँ हमारी चेतना पर आ जाती हैं वह अपना खेल दिखाकर शान्त हो जाती हैं फिर वह हमारे ज्ञात व्यक्तित्व का अंग बन जाती हैं। वे उसे बली बनाती हैं। जिन भावनाओं, इच्छाओं अथवा उमंगों को प्रकाशन का अवसर नहीं दिया जाता, वे मनुष्य के अचेतन मन में चली जाती हैं और वहाँ रहकर मनुष्य के व्यक्तित्व के प्रतिकूल षडयन्त्र रचा करती हैं। एक दलित भावना अथवा इच्छा दूसरी अनेक दलित भावनाओं अथवा इच्छाओं से अपना मेल जोड़ लेती हैं। इस तरह ये भावनाएँ मनुष्य के मन के भीतर एक ग्रन्थि अथवा गुट के रूप में संघटित हो जाती हैं। फिर वे मनुष्य के व्यक्तित्व का बल घटाने में लगी रहती हैं। ये ग्रन्थियां मनुष्य के जीवन के अनेक प्रकार के कार्यों में बाधा डालती रहती हैं। ये मनुष्य के मन को सदा अशान्त बनाये रहती हैं। जब ये ग्रन्थियां अधिक प्रबल हो जाती हैं तो वे मनुष्य की विचार-शक्ति और उसके विवेक को नष्ट कर देती हैं। मनुष्य को विवेकहीन होकर पशु-जैसा आचरण करने के लिये विवश कर देती हैं। मनुष्य के मन की यह अवस्था विक्षिप्तता कहलाती है।

अनेक प्रकार के मानसिक रोग जैसे विषाद, हिस्टीरिया, किसी प्रकार की झक, बाध्य-विचार, सांकेतिक चेष्टाएँ, जैसे हाथ का बार-बार धोना, बार-बार मुँह पर हाथ फेरना, ओठों का काटना, नाखून चबाना, जाँघों को हिलाना आदि मानसिक ग्रन्थियों की उपस्थिति के कारण होते हैं। कितने ही लोगों को सफाई की इतनी झक रहती है कि वे दिन भर घर को धोते रहते हैं, धोबी के धुले कपड़ों को फिर से धुलाते हैं। बाहर से घूमकर आने पर चप्पलों को भी पानी से धोते हैं, बाजार की प्रत्येक चीज को धोकर घर में रखते हैं, यहाँ तक कि गेहूँ भी धोकर घर में रखा जाता है। यह सब व्यापार मानसिक ग्रंथियों के कारण होते हैं। मानसिक ग्रन्थियों के उपस्थित रहने पर मनुष्य किसी भी मूर्खतापूर्ण काम में अपना सारा समय लगा देते हैं। वह अपने कामों को विवेकयुक्त ही मानता है। दूसरों को भी वह नई-नई युक्तियाँ देकर युक्तिसंगत बताने की चेष्टा करता है। मानसिक ग्रन्थियों की उपस्थिति में मनुष्य बड़ा हठी, अहंकारी और दम्भी बन जाता है। उसका विनय और शील भी एक ढोंग मात्र होता है। इस प्रकार की मनोवृत्ति से वह आत्म-विनाश कर लेता है।

मानसिक ग्रन्थियों को समझने के लिये किसी देश की राज-व्यवस्था और उसके अन्दर रहनेवाले विभिन्न दलों की बनावट को ध्यान में रखना आवश्यक है। मनुष्य का मन और समस्त राष्ट्र का मन एक ही प्रकार के होते हैं। अतएव एक को समझने से दूसरे को समझने में सहायता मिलती है। किसी देश की राजसत्ता मनुष्य के चेतन मन के समान है। देश की सामान्य जनता अचेतन मन का प्रतिरूप है और देश में रहनेवाले विभिन्न दल मनुष्य के स्थाई भाव और मानसिक ग्रन्थियों के समान हैं। जिस प्रकार अपना आत्म-प्रकाशन पानेवाला राजनैतिक दल राजसत्ता के साथ सहयोग करता है और उसका बल बढ़ता है उसी प्रकार जो भावना अपने आत्म-प्रकाशन का अवसर पाती है वह मनुष्य के व्यक्तित्व का बल बढ़ाती है। वह उसके विरुद्ध षड्यन्त्र नहीं करती। परन्तु जैसे किसी राज्य में आत्म-प्रकाशन का अवसर न पानेवाला दल राज-सत्ता के विरुद्ध षड्यन्त्र करता है और अपना अलग संगठन तैयार कर लेता है उसी प्रकार मनुष्य की दबी हुई भावनाएँ मनुष्य के व्यक्तित्व के विरुद्ध षड्यन्त्र करती हैं। ये मानसिक ग्रन्थियों का रूप ग्रहण कर लेती हैं और फिर मनुष्य की चेतना को अनेक प्रकार से त्रास देती हैं। जब चेतना इनके षड्यन्त्रों से त्रस्त और शक्तिहीन हो जाती है तो ये भावनाएँ खुलेआम मनुष्य के आचरण में प्रकाशित होने लगती हैं।

मानसिक ग्रन्थियाँ प्रिय पदार्थ को अप्रिय और अप्रिय को प्रिय बना देती हैं। मनुष्य की बुद्धि को उलझन में डाल देती हैं। इनके कारण मनुष्य को सही और गलत नहीं सूझ पड़ता। ग्रन्थियाँ मनुष्य का जीवन एकाङ्गी बना देती हैं। सभी प्रकार के मानसिक रोगों का कारण मानसिक ग्रन्थियाँ होती हैं।

मनुष्य में चिन्तन करने की शक्ति है। इसके कारण वह संसार के सभी प्राणियों का स्वामी बना हुआ है। जब मनुष्य भला चिन्तन करता है तो वह अपने सम्पर्क में आनेवाले हजारों लोगों को सुखी बना देता है और जब वह कुचिन्तन करने लगता है तो हजारों लोग उससे दुःखी हो जाते हैं। शुभचिन्तन से हमारी आत्मा का प्रसार होता है और कुचिन्तन से वह संकुचित होती है। कुचिन्तन ही मानसिक ग्रन्थियों के बनने का कारण है।

मनुष्य की मानसिक ग्रन्थियाँ उसे स्वयं ज्ञात नहीं रहतीं। अज्ञात रहकर भी निष्क्रिय नहीं रहतीं। ये मनुष्य के चिन्तन और आचरण को विशेष प्रकार का बना देती हैं। मान लीजिए किसी बालक को उसके पिता के प्रति द्वेष की भावना उत्पन्न हो जाती है। वह जब बड़ा होता है तो अपनी इस दुर्भावना को भूल जाता है। उसकी नैतिक बुद्धि उसे यह स्वीकार भी नहीं करने देती कि उसके मन में पिता के प्रति द्वेष की भावना है। जब यह बालक स्कूल में जाता है तो यह मानसिक ग्रन्थि बालक को शिक्षक से भयभीत बनाये रखती है, अर्थात् उसके अपने पिता के प्रति गुप्त अशुभ भाव शिक्षक के ऊपर आरोपित हो जाते हैं। जो बालक पिता के प्रति श्रद्धा नहीं रखता वह अपने शिक्षक के प्रति भी श्रद्धा का भाव नहीं रख सकता। फिर शिक्षक के प्रति द्वेष की मनोवृत्ति उसके द्वारा पढ़ाये गये विषयों पर भी आरोपित हो जाती है। इसके कारण बहुत से बालक अपने पिता से मिलते-जुलते अध्यापक द्वारा पढ़ाये गये पाठ को याद नहीं कर पाते। बहुत से अपराधी और उद्दण्ड बालकों के दुराचरण का कारण उनके मन में उपस्थित मानसिक ग्रंथियाँ रहती हैं।

मानसिक ग्रंथियाँ किसी व्यक्ति के प्रति, किसी पदार्थ के प्रति, किसी विचार के प्रति, अथवा अपने आपके ही प्रति बन जाती हैं। ये एक प्रकार के अस्वस्थ स्थाई भाव हैं। हमारे मन में अनेक प्रकार के प्रेम अथवा घृणा के स्थाई भाव रहते हैं। हम जिसको भला समझते हैं उससे प्रेम करते हैं और जिसको बुरा समझते हैं उससे घृणा करते हैं। हमारे इस प्रकार के अनुभव हमारे स्वभाव के अंग बन जाते हैं। स्वस्थ स्थाई भावों को हम स्वीकार करते हैं। हमें उनकी उपस्थिति का अभिमान रहता है। मान लीजिये हम किसी महात्मा को आदर

की दृष्टि से देखते हैं। हम इस प्रकार के भाव को बुरा नहीं मानते और उसे स्वीकार कर लेते हैं। परन्तु यदि हम उसी महात्मा को घृणा की दृष्टि से देखें तो हम जल्दी इसे स्वीकार नहीं करेंगे। अपने पिता के प्रति घृणा का भाव कोई स्वीकार नहीं करना चाहता। ऐसी स्थिति में हमारा स्थाई भाव मानसिक-ग्रंथि के रूप में हमारे भीतरी मन में बना रहता है। जब किसी मनुष्य के मन में विशेष प्रकार की मानसिक ग्रन्थि रहती है तो वह अधिकतर अपनी भीतरी भावनाओं के प्रतिकूल आचरण करता है।

मनुष्य जितना धोखा अपने आपको देता है उतना वह किसी दूसरे व्यक्ति को नहीं देता। कभी-कभी प्रबल विषय-भोग की इच्छा रखनेवाले व्यक्ति, साधु, तपस्वी, ब्रह्मचारी के रूप में संसार के सामने आते हैं। लम्बे-लम्बे व्रत विषय-भोग के प्रति उदासीनता के परिचायक नहीं, वरन् उसके प्रति अत्यधिक आसक्ति सूचित करते हैं। यही कारण है कि संसार के प्रमुख धर्म-शिक्षकों ने एकान्तता का जीवन अनर्थमूलक कहा है। भगवान बुद्ध और कृष्ण दोनों ने ही घोर तपस्या करना बुरा माना है।

जब मनुष्य के मन में ग्रन्थियाँ रहती हैं तो वह आत्म-निरीक्षण करने में असमर्थ रहता है। उसे बड़ा अभिमान होता है, वह दूसरों की शिक्षा ग्रहण नहीं करना चाहता। उसकी मानसिक ग्रन्थियाँ आसपास के लोगों पर आरोपित होकर प्रकाशित होती हैं। अपने आपसे घृणा करनेवाला व्यक्ति दूसरों को उससे घृणा करते देखता है और इससे फिर वह उनको भी घृणा की दृष्टि से देखने लगता है।

इस तरह जो व्यक्ति अपने आपमें दुखी है वह अपने आस-पास ऐसे वातावरण का निर्माण कर लेता है जिसमें उसे दुःख मिला करे। भीतर का दुःख बाहर के दुःख में परिणत हो जाता है। यदि मानसिक ग्रन्थियोंवाले लोगों को एकान्त में रख दिया जाय तो वे आत्महत्या ही कर लें। वे जितने दूसरों से दुःखी रहते हैं उससे कहीं अधिक अपने आपसे दुःखी रहते हैं।

आज संसार के राजनीतिज्ञ शान्ति-स्थापन करने में संलग्न हैं। परन्तु जब तक इन राजनीतिज्ञों के मन द्वेष की मानसिक ग्रन्थियों से स्वच्छ नहीं होते तब तक वे संसार में शान्ति कैसे स्थापित कर सकते हैं? जब मनुष्य का मन सुलझे तो संसार की समस्यायें सुलझें। मनुष्य का मन ही तो समस्याओं को बनाता है। यदि मनुष्य अपने मन की ग्रन्थियों को जान ले और फिर उन्हें धैर्यपूर्वक सुलझा लेवे तो उसे संसार में कोई शत्रु ही दिखाई न दे। मनुष्य का शत्रु और मित्र अपना मन ही है। सुलझा मन उसका मित्र है और उलझा मन उसका शत्रु।

बयालीसवाँ अध्याय

मनुष्य के भय

भय एक प्रबल मानसिक आवेग है। सभी प्राणियों को भय होते हैं। इससे उनके जीवन की रक्षा होती है और वे अपने आपकी उन्नति भी कर सकते हैं। प्राणरक्षा की प्रवृत्ति के साथ-साथ भय का आवेग काम करता है। कुछ न कुछ भय रहना सभी लोगों के लिये, चाहे वे अशिक्षित और मूर्ख हों अथवा शिक्षित और विद्वान् हों, अच्छा है; परन्तु जब भय एक मात्रा से अधिक हो जाता है अथवा जब वह अविवेकी बन जाता है, तब वह घातक हो जाता है। फिर वह मनुष्य की उन्नति न कर उसका विनाश कर डालता है। इस प्रकार के भय से मनुष्य की बुद्धि नष्ट हो जाती है। मनुष्य के जीवन की एक विशेषता यह है कि वह एक ओर जहां इतना निर्भीक बन सकता है कि हँसते-हँसते अपने प्राण समर्पित कर दे, वहाँ वह इतना भयभीत हो जाता है कि वह किसी भयानक दृश्य को देखकर ही मर जाय। फिर दूसरे प्राणी तो उन्हीं बातों से डरते हैं जो उनके लिये वास्तव में घातक होती हैं। मनुष्य बहुत सी निरर्थक वस्तुओं से भी डरा करता है।

मनुष्य के भय की एक और विलक्षणता है। पशु-पक्षी अपने भय को छिपा नहीं सकते। मनुष्य अपने भय को इतना छिपा सकता है कि न केवल दूसरे लोग वरन् स्वयं भययुक्त व्यक्ति ही नहीं जानता कि उसके भीतरी मन में भय बैठ गया है। यह छिपा हुआ भय ही भय की मानसिक-ग्रन्थि कहलाता है। जिस व्यक्ति का भय अपने आपसे छिपा है वह अपने आपको कायर व्यक्ति न मानकर बहादुर व्यक्ति मानता है। वह दूसरों के सामने अपनी बहादुरी की कहानियां सुनाया करता है। यदि उसकी इन कहानियों पर कोई सन्देह करे तो वह चिढ़ जाता है। जिस प्रकार बाहर से तपवादी व्यक्ति के व्यक्तित्व में सुख की प्रबल इच्छा दबी रहती है और काम-वासना से घृणा करनेवाले व्यक्ति के अचेतन मन में प्रबल कामवासना रहती है, उसी प्रकार ऊपर से निर्भीक रहनेवाले व्यक्ति के मन में भय का प्रबल भाव रहता है। यही कारण है कि घबड़ाहट और हृदय के रोग से जितने स्थूलकाय और पहलवान लोग मरते हैं, दुबले-पतले लोग उतने न घबड़ाते ही हैं और न उन्हें हृदय-रोग ही उतना होता है। मारपीट खाने से डरनेवाला व्यक्ति शरीर को बलवान बनाने में लग जाता है। इससे उसका शारीरिक बल बढ़ जाता है और अचेतन मन से वह निर्भीक भी बन

जाता है, परन्तु उसका आन्तरिक भय इस प्रकार नहीं जाता। व्यक्ति जितना ही इस भय को छिपाने की चेष्टा करता है वह उतना ही प्रबल हो जाता है। यह छिपा भय कभी-कभी शारीरिक और मानसिक रोग में प्रकट हो जाता है।

लड़ाई के समय कुछ सिपाहियों को कल्पित लकवा हो जाता है। उनके अंगों को कोई क्षति नहीं होती परन्तु वे उनको काम में नहीं ला सकते। ऐसे व्यक्तियों के मानसिक अध्ययन से पता चला है कि वे भीतरी मन से लड़ाई के दृश्यों से डरते थे, परन्तु वे इस डर को स्वीकार नहीं करते थे। अपने साथियों को बहादुरी की शान दिखाने की अभिलाषा उन्हें इस भय को स्वीकार नहीं करने देती थी। ऐसे लोग दूसरे सिपाहियों के सामने अपनी बहादुरी की डींग हांका करते हैं। एक ऐसे ही बहादुरी की डींग हांकनेवाले सिपाही के सामने एक तोप का गोला गिरा और फट गया। इस दृश्य से वह बेहोश हो गया। गोला से उसे कोई चोट नहीं आई थी। परन्तु भय में आकर उसका मुँह खुल गया था। वह फिर इसी अवस्था में रह गया, अर्थात् उसे खुले मुँह की अवस्था में मानसिक लकवा हो गया। जब मनोवैज्ञानिक उपचार से इसके छिपे भय का रेचन हुआ तब उसका मुँह बन्द हो गया। इस तरह उसके भीतरी मन की वास्तविक स्थिति को संसार के लोगों ने जान लिया। मन की छिपी भावना को जब हम स्वेच्छा से प्रकाशित नहीं करते तो वह हमारी इच्छा के विरुद्ध रोग के रूप में प्रगट हो जाती है।

एक व्यक्ति भूतों के प्रति निर्भीकता की बहुत कुछ चर्चा किया करता था। गर्मी के दिनों में एक बार वह दोपहर में आम के पेड़ के नीचे चारपाई पर सो रहा था। इस आम को लोग भुतहा आम कहते थे। उसे अपनी अर्धसुप्तावस्था में अनुभव हुआ कि किसी ने पेड़ के ऊपर से रेत उसपर फेंकी है। उसने उठकर देखा तो वहाँ कोई नहीं था। उसके मन में आया कि आम में रहनेवाले भूत ने उसके ऊपर रेत फेंक दी है। वह अपने आपको निर्भीक तो समझता ही था। बस क्या था? उसने पास के रखे जूते को उठाया और आम के पेड़ को उससे मारने चला। परन्तु ज्योंही उसने पेड़ को जूता मारना चाहा, वह बेहोश होकर जमीन पर गिर पड़ा। उस समय से इस व्यक्ति को बराबर मूर्छा होने लगी। उसका मूर्छा का रोग तब तक नहीं गया जब तक कि उसके भीतरी भय का भाव, जिसे उसने छिपा रखा था, नष्ट नहीं हुआ। इस छिपे भय को मनोविश्लेषण की रेचन-विधि से नष्ट किया गया था।

भय की मानसिक ग्रन्थि अनेक प्रकार के असाधारण भय मनुष्य के मन में उत्पन्न करती है। इन भयों को आधुनिक मनोविज्ञान के विशेषज्ञों ने नये-नये नाम दिये हैं। किन्हीं लोगों को छिपकली और चूहों का, कीड़े-मकोड़ों का, सांप-छछूंदर का, असाधारण भय होता है। एक प्रतिष्ठित शिक्षित व्यक्ति अपनी पचास वर्ष की अवस्था में रोशनी के आसपास आनेवाले पतंगों से इतना डरते थे कि उनके कारण वे रोशनी के पास ही नहीं जा सकते थे। पतंगों की छलांग उन्हें शेर की छलांग के समान भयभीत कर देती थी। मेरे एक मित्र मेढक से बहुत डरते हैं। उन्हें बायलाजी कक्षा में चीरफाड़ करनेवाले कालेज के विद्यार्थियों की हिम्मत पर आश्चर्य होता है। यदि अचानक मेढक उनके ऊपर कूद पड़े तो हृदय की गति रुकने की ही नौबत आ जाय।

कुछ लोगों को सांप का इतना भय रहता है कि वे इसके त्रास के मारे सुख की नींद नहीं सो पाते। उन्हें स्वप्न में सांप परेशान करते रहते हैं। जब कभी वे बाहर खेतों में घूमने जाते हैं तो हर बिल और दरार में सांप ही दिखाई देते हैं। डर के मारे वे स्वतन्त्रता से मैदान में भी विचरण नहीं कर पाते। पैखाने में, नालियों में और मकानों की छतों पर ही सांप की कल्पना नहीं उठती वरन् अपने बिस्तर के नीचे, तकिये के गिलाफ और कोट की आस्तीन में भी उन्हें सांप की कल्पना आती है। इस प्रकार का एक रोगी बनारस हिन्दू-यूनिवर्सिटी के टीचर्स ट्रेनिंग कालेज में आठ वर्ष पहले आया था। बेचारा विद्यार्थी इस डर के मारे रात को कमरे के बाहर नहीं निकलता था और दिन को भी उसे अपने बिस्तर को बार-बार झाड़ना पड़ता था।

इस प्रकार के भयों के अध्ययन से पता चला कि रोगी के वास्तविक भय का कारण दूसरा ही है। बाहरी पदार्थ उसका प्रतीक मात्र है। छिपकली-चूहों से, कीड़े-पतंगों से, तथा सांप-छछूंदर से अत्यधिक डरनेवाले व्यक्तियों में काम-वासना का अत्यधिक दमन पाया जाता है। वे उसे घृणा की दृष्टि से देखते हैं। ऐसे व्यक्तियों के आन्तरिक मन में सदा आदर्शवादी और भोगवादी वासनाओं का अन्तर्द्वन्द्व चला करता है। काम-वासना को घृणा की दृष्टि से देखने के परिणामस्वरूप वह मनुष्य के व्यक्तित्व के लिए डर की वस्तु बन जाती है। यही भय कुछ ऐसी वस्तुओं पर आरोपित हो जाता है जो स्वयं निर्दोष हैं परन्तु जिनका किसी प्रकार से भय के पदार्थ से सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध को मनुष्य का चेतन मन नहीं समझता। यदि इससे समझाया भी जाय तो भी वह नहीं समझेगा। वास्तव में इस प्रकार के निरर्थक भय मनुष्य में तभी तक रहते हैं जब तक मनुष्य

उनके वास्तविक अर्थ को नहीं जानता। जब कोई रोगी अपने असाधारण भय के वास्तविक अर्थ को जान लेता है तो उसका भय ही नष्ट हो जाता है।

मानसिक ग्रन्थि के रूप में पड़ा हुआ भय न केवल निर्दोष पदार्थों अथवा जीवधारियों के भय के रूप में प्रकाशित होता है, वरन् वह दूसरे प्रकार से भी प्रकाशित होता है। कितने ही लोगों को अकेले रहने का भय होता है और कितनों को बहुत से लोगों में जाने का भय होता है। कुछ लोग ऊँचे मकानों को देखकर डरते हैं। उन्हें ज्ञात होता है कि वे मकान उनके ऊपर ही गिर पड़ेंगे। कुछ को सड़क के पार जाने का भय होता है। कितने ही सुशिक्षित व्यक्ति सभा में सब कुछ जानते हुये भी कुछ बोल नहीं पाते। हमारे एक परिचित व्यक्ति करोड़पति हैं, वे विद्वान् भी हैं। अतएव सभा में उन्हें सभापति का आसन दे दिया जाता है। परन्तु वे जब सभा में बोलने लगते हैं तो उनके हृदय की धड़कन इतनी बढ़ जाती है कि वे दो चार शब्द भी नहीं बोल पाते। सभा के मन्त्री को ही सारा बोलने का काम करना पड़ता है। स्वयं महात्मा गांधी को कई वर्षों तक सभा में बोलने का भय तंग करता रहा। विलायत से जब वे बैरिस्टरी पास करके आ रहे थे और उन्हें दावत दी जा रही थी, तो वे उस सभा में दो शब्द भी न कह पाये। इसी प्रकार फिरोजशाह मेहता द्वारा आयोजित बम्बई की सभा में वे अफ्रीका के कामों के विषय में अपना लिखित भाषण भी ठीक से न पढ़ पाये।

इस प्रकार के भावों का कारण अपने पिछले जीवन में घटित आत्म-ग्लानि उत्पन्न करनेवाली घटनाएँ होती हैं। इन घटनाओं का स्मृति पर आना मनुष्य के आत्म-सम्मान को ठेस पहुँचाता है, अतएव मनुष्य उन घटनाओं के स्मरण से डरता है। फिर वे अपने सच्चे स्वरूप में चेतना की सतह पर न आकर प्रतीक रूप से आती हैं। अतएव मनुष्य उन प्रतीकों से ही डरता है। जिस व्यक्ति ने नैतिकता के नियमों के विरुद्ध कोई आचरण किया है, वह इस प्रकार के अनाचार के लिए दंड पाने से डरता है। इसके कारण एक ओर उसका आचरण कठोरतापूर्वक नियमबद्ध हो जाता है और दूसरी ओर वह उन बातों से डरने लगता है जो नियम के तोड़ने के प्रतीक हैं। जिस व्यक्ति ने अकेले छूट जाने पर किसी प्रकार का व्यभिचार किया है अथवा व्यभिचार की भावना मात्र मन में लाया है, उसे अकेले रहने का भय हो जाता है। जो घर के बाहर जाकर अथवा समाज में मिलकर किसी अनैतिक आचरण को करने की इच्छा रखता है, उसे उसकी धर्म-बुद्धि घर के बाहर ही नहीं जाने देती। व्यभिचार की ऐसी प्रबल

इच्छा जिसे स्वयं व्यक्ति नहीं जानता, अच्छे पदार्थों के प्रति डर का भाव उत्पन्न कर देती है। ऐसे डर उन लोगों को होते हैं जो बचपन में कठोर नैतिकता की शिक्षा पाते हैं; और जो संगत में पड़कर कुछ अनैतिक आचरण कर डालते हैं। यदि ऐसे व्यक्तियों के बचपन में कठोर नैतिकता की शिक्षा न हो, तो ऐसे डर उन्हें न हों। ये डर तब तक मन से नहीं जाते जब तक मनुष्य के आन्तरिक मन में उसकी भोगवासनाओं और आदर्शवादी स्वत्व में समन्वय स्थापित नहीं होता। अपने मन के अन्तर्पटल को जानकर ही यह समन्वय स्थापित किया जा सकता है। इसके लिए एक ओर भोग-प्रवृत्ति का दमन कर उसका परिष्कार करना पड़ता है और दूसरी ओर नैतिकता को भी व्यवहार्य बनाना पड़ता है।

पहले बताये गये सभी प्रकार के भय मनुष्य के असन्तुलित जीवन के परिणाम हैं। कितने ही लोगों के जीवन में भोग-वासना का अत्यधिक दमन होता है। बहुत से नवयुवक समय के पूर्व आदर्शवादिता में पड़कर काम-वासना को घृणा की दृष्टि से देखने लगते हैं। वे उसे अपने जीवन के विकास का सबसे बड़ा शत्रु मानने लगते हैं। फिर यही वासना उन्हें स्वप्न में अनेक प्रतीकों के द्वारा तंग करती है। उन्हें ढंग के स्वप्न, पानी में गिरने के, पहाड़ से फिसलने के, पीछा किये जाने के, आग में पड़ने के, ऐसे अनेक भयावने स्वप्न होते हैं। जो वासना उन्हें सुख और शान्ति दे सकती है, जो उनके जीवन को सुन्दर और वैभवशाली बना सकती है, वही घृणा के भाव से तिरस्कृत होने पर अनेक प्रकार के भयों का कारण बन जाती है। ऐसे मनुष्य का भीतरी मन दो भागों में बँट जाता है और उसका एक भाग दूसरे भाग के साथ निरन्तर संघर्ष करता रहता है। ऐसे लोगों को न केवल अकारण भय ही सताते हैं वरन् उन्हें अकारण ही आत्मभर्त्सना होती रहती है। उनका मन सदा चिन्तायुक्त रहता है। वे किसी बात के बारे में सरलता से निर्णय नहीं कर पाते। वे करने जाते हैं कुछ, पर हो जाता है कुछ और।

असंतुलित व्यक्ति कभी-कभी विषय-लोलुपता के चंगुल में पड़कर कुछ नैतिक भूलें कर डालते हैं। ऐसे लोगों को आन्तरिक शान्ति नहीं रहती। मनुष्य जब कभी अपने नैतिक स्वत्व के विरुद्ध कार्य करता है तो उसे दण्ड अवश्य मिलता है। यह दण्ड चाहे राजकीय हो या सामाजिक, अथवा अपने आप से ही दिया गया। हम दूसरों से मिलनेवाले दण्ड से बच सकते हैं, परन्तु अपने आप से मिलनेवाले दण्ड से नहीं बच सकते। दूसरों की आँखों में धूल झोंकना सरल है, परन्तु अपनी आँख में धूल झोंकना सरल नहीं। मनुष्य इसका प्रयत्न अवश्य करता है, परन्तु वह जितना ही अधिक अपने आपको धोखा देने की चेष्टा करता

है उसे ब्याज सहित दण्ड मिलता है। उसे अकारण भय, चिंता, निराशा और अनेक प्रकार की अभद्र कल्पनाएँ सताने लगती हैं।

हमारे एक मानसिक रोगी को भ्रम हो गया था कि उसकी बातों को सुनकर सभी लोग हँस देते हैं। वह चाहे जितनी सावधानी से किसी के प्रश्न का उत्तर क्यों न दे, उसके मन में कल्पना आ जाती थी कि उसने उत्तर में कोई भूल कर दी है। वह सोचने लगता कि उत्तर सुननेवाला व्यक्ति उसे मूर्ख मानने लगा है। इस भ्रम के कारण वह समाज से सदा दूर रहने की चेष्टा करने लगा। वह बी० ए० कक्षा का विद्यार्थी था। उसे सब पढ़ी-लिखी बातें भूलने लगीं। वह जीवन से इतना निराश हो गया कि वह आत्म-हत्या की चेष्टा करने लगा। इसके मनोविश्लेपण से पता चला कि वह एक बार एक सुन्दर व्यक्ति के रूप पर मोहित हो गया था। उसके मन में उस समय व्यभिचार की भावना जाग उठी थी। फिर उसकी नैतिक बुद्धि ने उसकी भर्त्सना की, तब से वह अपने आपको मूर्ख मानने लगा और विद्यार्थी-समाज में जाने से घबड़ाने लगा।

इस तरह कितने ही विद्यार्थियों को परीक्षा के भय हो जाते हैं। इनके कारण वे परीक्षा के समय रोगी बन जाते हैं अथवा पढ़ा-पढ़ाया पाठ ही भूल जाते हैं। इस भय-वृत्ति का विश्लेपण करने पर पता चलता है कि इन विद्यार्थियों के मन में आत्म-विश्वास की कमी हो गई है। भय का कारण परीक्षा की तैयारी में कमी नहीं वरन् उनकी कोई नैतिक कमी है। जिस व्यक्ति की परीक्षा की कम-तैयारी होती है उसे परीक्षा से भय होना स्वाभाविक है। मनुष्य को किसी संकट-पूर्ण घटना के प्रति सामान्य भय होना उसे लाभकारी सिद्ध होता है, अतएव प्रत्येक जीवन के लिये महत्व की घटना का सामना करने के पूर्व मनुष्य को उसके प्रति कुछ भय हो जाता है। परन्तु जब किसी घटना के प्रति किसी व्यक्ति को असाधारण भय हो जावे तो हमें समझना चाहिए कि भय का कारण कुछ दूसरा ही है। ऊपरी भय आन्तरिक मन का प्रतीक मात्र है। आधुनिक मनोविज्ञान की खोजों से पता चलता है कि जिन लोगों के मन में आन्तरिक संघर्ष चलते रहते हैं, उन्हें घर के बाहर जाने, अकेले रहने, पानी में घुसने, कीड़े-मकोड़ों को देखने आदि से विशेप प्रकार का प्रबल भय होता है। इस प्रकार का भय अस्वास्थ्य भय (न्यूरोटिक फियर) कहलाता है। परीक्षा में उपस्थित होने का असाधारण भय इसी प्रकार का भय है।

लेखक के एक विद्यार्थी को परीक्षा में बैठने का असाधारण भय था। वह ट्रेनिंग कालेज का छात्र था। देखने में बोलचाल में और पढ़ने-लिखने

में बड़ा योग्य दिखाई देता था। परन्तु उसे कक्षा में जाने से और सुपरवाइजर से असाधारण भय लगता था। जब वह कक्षा में पढ़ने को जाता तो उसका हृदय धड़कने लगता था। कभी-कभी इसके कारण बोलने में कुछ गड़बड़ी हो जाती थी। वह कई साल से पढ़ना इसलिये छोड़ चुका था कि परीक्षा में बैठने के पूर्व वह बीमार हो जाता था। इस विद्यार्थी के मनोविश्लेषण से पता चला कि किशोरावस्था में उसे हस्तमैथुन की प्रबल आदत थी। रूपवान बालक होने के कारण उसे समलिंगी प्रेम में भी पड़ना पड़ा था। इसके लिये उसकी भारी आत्म-भर्त्सना हुई थी। वह इसे भुला चुका था। परन्तु अब यही पुरानी आत्म-भर्त्सना उसको आगे बढ़ने में रुकावट डालने लगी थी। दूसरों की आलोचना का भय अथवा परीक्षा का भय अपनी ही अन्तरात्मा की आलोचना की प्रतीक थी। वह विद्यार्थी सचमुच में बाहरी परीक्षा से नहीं डरता था। उसे आन्तरिक परीक्षा का डर था, जिसे उसने भुला रखा था। बाहरी परीक्षा अथवा आलोचना के समय उक्त दबा भय उत्तेजित हो जाता था और इसी के कारण वह व्यक्ति बाहरी परीक्षा अथवा आलोचना से आवश्यकता से अधिक भयभीत हो जाता था। पुराने भय का सम्बन्ध अनेक आचरण से होने के कारण वह चेतना की सतह पर नहीं आता था। जब प्रेम और प्रोत्साहन का वातावरण उपस्थित करके उक्त भय को चेतना की सतह पर लाया गया और उसकी निरर्थकता बता दी गई तो विद्यार्थी का परीक्षा का भय जाता रहा और उसने उच्च श्रेणी में अपनी परीक्षा पास कर ली।

एक दूसरे विद्यार्थी को अपनी परीक्षा के पूर्व सदैव कोई-न-कोई रोग हो जाता था। उसे अपने कालेज की एम० ए० तक की सभी परीक्षाएँ बीमार अवस्था में ही पास करनी पड़ीं। पिछली बार उसकी आँख से अचानक साफ दिखाई देना बंद हो गया। आँख की परीक्षा कराने पर कोई रोग न मिला। इस विद्यार्थी के मनोविश्लेषण से पता चला कि उसे कामवासना-सम्बन्धी विशेष पाप की कल्पना त्रास देती रहती थी। उसने एक बछिया को उसकी योनि में अँगुली लगाकर किशोरावस्था में खूब तंग किया था। इससे उसे कामुक आनंद मिलता था। पीछे वह बछिया मर गई। युवक के मन में धारणा हो गई कि वह गो-हत्या का भागी है। इस घटना को उसने सभी लोगों से छिपाकर रखा परन्तु यह उसे समय-समय पर त्रास देती रही। इसी कारण वह अपने से बड़े लोगों के सामने आने में भी झेंपता था। वह इसका कारण नहीं जानता था

एक महिला को परीक्षा में बैठने का इतना भय होता था कि वह परीक्षा-भवन में जाते ही बेहोश हो जाती थी। वह कुछ लिख नहीं पाती थी। पढ़ने-लिखने में बहुत परिश्रम करती थी और यदि वह एक बार भी परीक्षा में बैठ लेती तो अवश्य पास हो जाती। वह तीन बार बी०ए० कक्षा की परीक्षा में बैठी। चौथी बार में उसने किसी प्रकार परीक्षा पास की। इस महिला को हिस्टीरिया का रोग था। उसके जीवन के अध्ययन से पता चला कि उसका प्रेम अनैतिक दिशा में हो गया था।

लेखक के एक मित्र को एम० ए० परीक्षा में बैठने में एक भारी कठिनाई यह हो गई कि परीक्षा के समय उनकी आँख आ जाती थी। उन्हें दो बार आगरा से वापस आना पड़ा। दूसरी बार उन्हें इतना दुःख हुआ कि वे रेल से कटकर मर जाना चाहते थे। इसके बाद वे जब कभी पढ़ने बैठते उनकी आँख आ जाती। उनकी आँख की विचित्र दशा थी। वे यदि बल्ब के नीचे बैठते तो उन्हें एक बल्ब की जगह अनेक बल्ब दिखाई देने लगते। इस प्रकार के अनुभव उन्हें घबड़ा देते थे। इनका रूप रंग सुन्दर है और शरीर से वे हट्टेकट्टे हैं। उनका मनोविश्लेषण नहीं किया गया। उनकी चिकित्सा आत्म-निर्देश विधि और मैत्री भावना के अभ्यास से की गई थी। उन्हें अपने पुराने सभी प्रकार के संस्कारों का स्मरण और फिर शिव-भावना का अभ्यास करने को कहा गया था। उनका जीवन ऊँचे नैतिक स्तर का था, अतएव अनुमान किया जाता है कि अपनी अन्तरात्मा की, प्रबल आलोचना का अनुभव होता होगा जिसका ज्ञान उन्हें नहीं था।

एक बी० ए० कक्षा के विद्यार्थी को भी परीक्षा का भारी भय हो गया था। उसके मन में बार-बार विचार आता था कि वह परीक्षा में फेल हो जायगा। वास्तव में उक्त विद्यार्थी प्रतिभावान् था। उसकी बुद्धि असाधारण रूप से प्रबल थी। इसका मनोविश्लेषणात्मक अध्ययन पहले किया जा चुका था। उसे समाज में उपस्थित होने का, अपने से बड़े लोगों से मिलने का असाधारण भय था। उसके मन में कल्पना हो गई थी कि उसकी सारी मानसिक शक्ति नष्ट हो गई और उसका पढ़ना-लिखना असंभव है। इस विचार से परेशान होकर वह आत्म-हत्या कर लेना चाहता था। लेखक के समक्ष उसने अपने कृत्यों की आत्म-स्वीकृति की। उसके मन में समलिंगी प्रेम और हस्तमैथुन की प्रवृत्ति की प्रबलता थी। उसने वेश्यागमन करने की भी चेष्टा की थी, परन्तु वह इसमें अस-फल रहा। इन प्रवृत्तियों के विरुद्ध उसने कुछ जाना और अपनी पुरानी प्रवृ-

त्तियों का कठोरता से दमन किया। परन्तु उनका आवेग नष्ट नहीं हुआ था और परीक्षा के समय उसकी आत्म-भर्त्सना की मनोवृत्ति जाग जाती थी। जब उसने अपने इस भय का रहस्य समझ लिया तो उसका परीक्षा का भय जाता रहा।

जिन व्यक्तियों के जीवन में अपने आपको छिपाने की बहुत सी बातें रहती हैं, जो अपने कृत्यों को भुला देना चाहते हैं उन्हें परीक्षा के असाधारण भय हो जाते हैं। ऐसे लोग इस भय के कारण परीक्षा में बैठते ही नहीं अथवा परीक्षा में बैठने पर फेल हो जाते हैं। जो लोग परीक्षा में बैठने का प्रयत्न करते ही रहते हैं वे फिर इस भय को हटाने में समर्थ होते हैं। परन्तु इस भय को हटाने का सरल उपाय अपने आपको समझना और उन कृत्यों को करने से अपने आपको रोकना है जिनके लिये मनुष्य की अन्तरात्मा उसे दुतकारती है। छिपाने की भावना लेकर किसी काम को करने से मनुष्य का मन निर्बल हो जाता है। जब छिपी बातें प्रकाश में आ जाती हैं तो मनुष्य का मन सब आन्तरिक वेदनाओं से मुक्त हो जाता है। जिस बात को हम दूसरों के समक्ष स्वीकार करने में डरते हैं उसे हम अपने आप के समक्ष भी स्वीकार नहीं करना चाहते। हम ऐसी बातों को भुला देना चाहते हैं। ऐसी ही अवस्था में हमें परीक्षा का भय होता है। जो व्यक्ति अपने गुप्त भाव दूसरों के समक्ष प्रकाशित करने में जितना अधिक डरता है, वह परीक्षा से भी उतना ही अधिक डरता है। इस प्रकार के भयों को आधुनिक मनोविज्ञान में अन्तरात्मा की त्रास के रोग (डिजीजेज आफ कान्सेन्स) कहा जाता है। जिस मनुष्य का मन साफ रहता है, जिसे अपनी छिपी बातों के बाहर आने का डर नहीं रहता उसे परीक्षा का भय भी नहीं रहता।

तैंतालीसवाँ अध्याय

स्वप्नों की उपयोगिता

स्वप्न मनुष्य के मन की आन्तरिक स्थिति का द्योतक है। जिस मनुष्य को मधुर स्वप्न होते हैं उसका आन्तरिक मन सरल और सुन्दर होता है और जिस व्यक्ति को भयावने स्वप्न होते हैं, गन्दगी अथवा पीड़ा से पीड़ित स्वप्न होते हैं; उसके आन्तरिक मन में अशान्ति और क्लेश रहता है। स्वप्न के द्वारा मनुष्य को जितना आत्म-ज्ञान हो सकता है, उतना और किसी प्रकार से नहीं हो सकता। स्वप्न वह कुंजी है, जिसके द्वारा मानसिक चिकित्सक किसी भी व्यक्ति के अन्तर्मन तक पहुँचता है और उसे जानकर उसको परिवर्तित करने की चेष्टा करता है। मानसिक चिकित्सा का कोई भी ठोस कार्य रोगी के स्वप्न के ज्ञान के विना नहीं हो सकता।

सभी प्रकार के रोगियों के स्वप्न अप्रिय होते हैं। रोग की बढ़ी हुई अवस्था में स्वप्न भयावने भी होने लगते हैं। जब शारीरिक स्वास्थ्य बिगड़ा हुआ रहता है, तब रोगी को प्राय: डरावने स्वप्न होते हैं। कभी-कभी डरावने स्वप्न इस बात के प्रतीक होते हैं कि व्यक्ति का मानसिक रोग ही वास्तविक है और शारीरिक रोग उसका लक्षण मात्र है। परन्तु शारीरिक विकार भी मस्तिष्क को प्रभावित करते हैं और वे भयावने स्वप्न का कारण बन जाते हैं। शरीर मन का बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध होने के कारण एक के विकृत होने का प्रभाव दूसरे पर पड़ता है।

अभी हाल की बात है कि काशी विश्वविद्यालय का एक विद्यार्थी मनोविज्ञानशाला के उसी कमरे में सो रहा था जिसमें मैं सो रहा था। इस विद्यार्थी का शारीरिक स्वास्थ्य ठीक नहीं था। सोते समय उसने एक बड़ा भयानक स्वप्न देखा। वह स्वप्न में डर के मारे चिल्ला रहा था। लेखक ने उठकर उसे जगाया। लेखक के उठाते ही उसकी आँखें खुल गईं और उसने समझा कि उसके छात्रावास के कमरे में, जिसे वह बन्द करके सोया था, कोई भूत-प्रेत सींकचे से होकर घुस आया है और छुरे से उसे मार डालना चाहता है। वह बड़े जोर से चिल्लाकर वेहोश हो गया। बड़ी कठिनाई से उसे होश में लाया गया। दूसरे दिन भी उसे एक भयानक स्वप्न हुआ। दोनों दिनों के स्वप्नों में उसने देखा कि कोई व्यक्ति उसको मार डालना चाहता है। दूसरे दिन के स्वप्न में बलात्कार किये जाने का दृश्य था।

कभी-कभी हम अपने आपको गाड़ी में जाते हुए पाते हैं और रेल की दुर्घटना का स्वप्न देखते हैं। कभी इस दुर्घटना से हम बच जाते हैं, और कभी हम उससे क्षतिग्रस्त होते हैं। कभी रेल की दुर्घटना को देखते हैं, स्वयं रेल में नहीं रहते।

अभी हाल में एक व्यक्ति ने तालाब में तैरने की अपनी स्थिति का स्वप्न देखा। तालाब के आस-पास ऊँची-ऊँची दीवारें थीं, तैरनेवाले व्यक्ति को दूसरी ओर से दो भैंस मारने के लिये आ रही थीं। तालाब के किनारे पर खड़े हुए लोग उसे उन भैंसों से बचने के लिये प्रोत्साहित तो कर रहे थे, परन्तु वे स्वयं कोई सहायता नहीं दे रहे थे। रोगी बड़ी ही भयभीत मानसिक अवस्था में था। इसी बीच उसकी नींद टूट गई।

एक दूसरे रोगी ने हाल ही में स्वप्न देखा कि उसका एक पुराना मित्र उसे पीट रहा है। उसके और सम्बन्धी उसके पास ही हैं। वह उनसे मदद माँगने के लिए चिल्लाता है, परन्तु मुह से आवाज ही नहीं निकलती और उसके संबन्धी उसे पिटते देखते हैं, पर उसे बचाते नहीं। मित्र उसे सम्भवतः किसी अनैतिक कार्य के लिये, जिसे वह भूल चुका है, पीटता है। कितने ही किशोर बालक किसी बलवान शत्रु द्वारा पीछा किये जाने का स्वप्न देखा करते हैं। वे जगह-जगह भागकर जाते हैं, परन्तु शत्रु उनका पीछा नहीं छोड़ते। किशोर बालकों द्वारा मोटे-मोटे साँपों से घिरे जाने के स्वप्नों का देखा जाना साधारण-सी बात है। एक रोगी अपने एक मरे हुए मित्र का स्वप्न देखता है। इस मित्र ने अन्तिम घड़ी में उसे बुलाया गया था, और उससे केला लाकर खिलाने को कहा था। जब वह केवल दो ही केले खा पाया था और जब यह व्यक्ति थोड़ी देर के लिये कमरे से बाहर गया था, तभी उसकी मृत्यु हो गई। उस मित्र को क्षय रोग हुआ था। अतएव उसकी मृत्यु का स्मरण भी इसे अप्रिय लगता है। फिर उस मित्र के कहने से इस व्यक्ति ने अपने एक नजदीक सम्बन्धी की स्त्री से व्यभिचार किया था। इस अनैतिक घटना से मित्र का संबन्ध रहने के कारण वह उसे भुला देना चाहता है; परन्तु मित्र की स्मृति मस्तिष्क से नहीं जाती। उसका मित्र स्वप्न में अनेक रूप से दिखाई देता रहता है। यह व्यक्ति जब स्वप्न में उस मित्र को देखता है, तब भी डरता है, और जागने पर भी डरता है। स्वप्न में उसे ज्ञात होता है कि यह मित्र मर चुका है और सम्भवतः प्रेत बनकर आया है।

उपर्युक्त अनेक प्रकार के अप्रिय तथा भयावने स्वप्न केवल मनुष्य की पुरानी स्मृतियों को ही नहीं दुहराते, और न केवल शारीरिक अस्वास्थ्य तथा विशेष

प्रकार के अनुभव के कारण उत्पन्न होते हैं, बल्कि उनका उद्देश्य कुछ और होता है। मनुष्य को भयावने स्वप्न तभी होते हैं, जब उसकी कोई प्रबल प्राकृतिक अथवा नैतिक प्रवृत्ति का दमन होता है, और वह प्रवृत्ति इस दमन के लिये व्यक्ति से बदला लेना चाहती है। जिन व्यक्तियों का जीवन एकांगी होता है, जो अपने जीवन में अत्यधिक कठोरता को व्यवहार में लाते हैं, जो व्यक्ति काम-वासना के किसी भी प्रतीक को बड़ी घृणा की दृष्टि से देखते हैं, जिनके जीवन में माधुर्य-भाव की कमी रहती है, ऐसे व्यक्ति ही भयावने स्वप्न देखते हैं। उपर्युक्त सभी भयावने स्वप्नों में काम-वासना के प्रति शत्रुता का भाव पाया जाता है। साँप, भालू, बन्दर, भैंसा, साँड़, अस्त्र लिये हुए व्यक्ति द्वारा पीछा किया जाना अथवा त्रस्त किया जाना, काम-वासना द्वारा त्रस्त किये जाने का प्रतीक है। ऊपर से नीचे गिरने का स्वप्न नैतिक पतन के भय का द्योतक है। गाड़ी की दुर्घटना का स्वप्न आन्तरिक मन के इस भय का द्योतक है कि कहीं जीवन में कोई दुर्घटना न हो जाय। इस प्रकार के स्वप्न मनुष्य के दमित भय का रेचन करते हैं। काम-वासना के प्रतीकों के स्वप्न काम-वासना के भय को कम कर देते हैं। सभी प्रकार के भयावने स्वप्न मानव-जीवन के लिये बड़े उपयोगी होते हैं। भयावने स्वप्न देखने से मनुष्य के अचेतन मन में उपस्थित भय के भाव का रेचन हो जाता है। इस भाव के रेचन हो जाने से मनुष्य अपनी वर्तमान परिस्थिति का सामना धैर्यपूर्वक करने में समर्थ होता है। कभी-कभी भयावने स्वप्न मनुष्य को आने-वाली दुर्घटनाओं के प्रति आगाह कर देते हैं। यदि मनुष्य अपने भयावने स्वप्नों को जानकर अपने आपको सुधारने की चेष्टा करे तो उसके जीवन में ऐसी आपत्तियाँ न आवें जो अन्यथा आती हैं।

कभी-कभी मनुष्य भूत-पिशाच के स्वप्न देखता है। इस प्रकार के स्वप्न अपनी किसी प्रबल इच्छा के दमन के परिणाम-स्वरूप होते हैं। यह इच्छा प्रायः अनैतिक अथवा व्यभिचार की होती है। फ्रायड महाशय के कथनानुसार बला-त्कार किये जाने का स्वप्न वास्तव में काम-वासना की अतृप्ति का द्योतक है। मनुष्य की अनैतिक इच्छा जब अपनी तृप्ति का नैसर्गिक मार्ग नहीं पाती, तो वह विकृत होकर भय का रूप धारण कर लेती है। कामेच्छा दमित होकर बलात्कार का भय बन जाती है, और फिर यह अनेक प्रकार के बलात्कार तथा दूसरे प्रकार के डरावने स्वप्नों की सृष्टि करती है। ये स्वप्न एक ओर तो मनुष्य की आंतरिक बेचैनी को प्रकाश में लाते हैं, और दूसरी ओर वे उसका अन्त भी करते हैं। यदि प्रबल उत्तेजनाओं के अन्तरिक मन में उपस्थित रहते हुए भी किसी व्यक्ति

को डरावने स्वप्न न हों, तो ऐसा व्यक्ति नींद से ही हाथ धो बैठता है। किसी जघन्य पाप के करने के पश्चात् मनुष्य अपनी नींद को खो देता है; और दीर्घ काल तक नींद के खो देने पर मनुष्य का जीना कठिन हो जाता है। इस प्रकार देखने से किसी प्रकार का स्वप्न मनुष्य की निद्रा और स्वास्थ्य का विनाशक नहीं वरन् उनका रक्षक और सहायक है।

प्रत्येक व्यक्ति दो प्रकार के अप्रिय स्वप्न किसी-न-किसी अवसर पर अवश्य देखता है। एक किसी की असफलता का स्वप्न और दूसरे मृत्यु का स्वप्न। विद्यार्थी को परीक्षा में फेल हो जाने के स्वप्न प्रायः होते हैं। स्वयं लेखक ने परीक्षा में परसेण्टेज कम हो जाने के कारण उसमें न बैठने का स्वप्न कई बार देखा था। इस प्रकार के स्वप्न स्वयं परीक्षार्थी के लिए बड़े उपयोगी होते हैं। लेखक का एक शिष्य परीक्षा होने के पूर्व हर समय स्वप्न में परीक्षा में कुछ-का-कुछ लिखने का, परीक्षा-भवन में देर से पहुँचने का, अथवा फेल होने का स्वप्न देखता है; परन्तु वह किसी भी परीक्षा में असफल नहीं हुआ। परीक्षा में इस प्रकार के फेल होने के स्वप्न परीक्षा के भय का रेचन करते हैं, और विद्यार्थी को परीक्षा में सफल बनाने में सहायक सिद्ध होते हैं। प्रौढ़ावस्था में परीक्षा में फेल होने के स्वप्न उस समय होते हैं जब कि मनुष्य किसी संकट में पड़ा रहता है, और उसे अपनी परिस्थिति पर विजय प्राप्त कर सकने में संदेह रहता है। परीक्षा में फेल होने के स्वप्न इस समय मनुष्य को यह निर्देश देते हैं कि जिस प्रकार वह पिछली परीक्षाओं में फेल होने से डरता था, परन्तु पास हो गया, उसी प्रकार प्रयत्न करने से वर्तमान परिस्थितियों को भी परास्त कर सकता है। मनुष्य प्रायः उन परीक्षाओं में फेल होने का स्वप्न देखता है जिनमें वह पास हो चुका है; जिन परिक्षाओं में वह वास्तव में फेल हो चुका रहता है, उनका स्वप्न नहीं देखता। लेखक के एक मित्र एल० एल० बी० परीक्षा में फेल हो गये थे और एम०ए० की परीक्षा में पास हो गये थे। उन्होंने जिस परीक्षा को पास कर लिया था उसी में बार-बार फेल होने का स्वप्न वे देखते थे, परन्तु जिस परीक्षा में वे वस्तव में फेल हुए थे, उसमें फेल होने का स्वप्न उन्होंने कभी नहीं देखा। इस मित्र को संकट-काल में ही परीक्षा में फेल होने का स्वप्न हुआ करता था।

यह पुरानी कहावत है कि किसी व्यक्ति की मृत्यु का स्वप्न देखने से उसकी आयु बढ़ जाती है। यदि यह स्वप्न प्रतीक रूप से नहीं, वरन् प्रत्यक्ष रूप से हो तो उपर्युक्त कथन बहुत कुछ सत्य है। अपने प्रियजन की मृत्यु का स्वप्न देखने पर उसकी मृत्यु के विषय में दमित भय के भाव का रेचन हो जाता है, और

इससे प्रिय-जन की आयु बढ़ जाती है। यदि हम किसी व्यक्ति के विषय में भययुक्त होकर किसी प्रकार का चिन्तन करें और इस भय के भाव को दबाने की चेष्टा करें तो इससे उस व्यक्ति की हानि होने की सम्भावना रहती है। जिस बात से मनुष्य अत्यधिक डरता है—इतना अधिक कि वह डर को भी भुला देना चाहता है, उसके घटित होने की सम्भावना रहती है। निर्भीकता न केवल अपने स्वास्थ्य को बढ़ाती है, वरन् यदि वह दूसरे के सम्बन्ध में है, तो वह उसके स्वास्थ्य को भी बढ़ाती है।

अपनी मृत्यु का स्वप्न देखना अपनी आयु को अवश्य ही बढ़ाता है। जिन लोगों को क्षय-रोग हो जाने का भय हो जाता है, वे यदि क्षय-रोग से पीड़ित होकर अपनी मृत्यु का स्वप्न देखें, तो ऐसे स्वप्न से उनकी मृत्यु का भय समाप्त हो जाता है। भय को भुलाने की चेष्टा करने से वह वास्तविकता में परिणत होने लगता है। भय का सामना करना उसे विनष्ट करने का सर्वोत्तम उपाय है और भय के नष्ट होने पर वह घटना भी नहीं होती जिसके सम्बन्ध में भय रहता है।

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि मनुष्य के भयावने स्वप्न उतने बुरे नहीं हैं जितने बुरे उन्हें हम मान लेते हैं। ऐसे स्वप्न मनुष्य की आन्तरिक अशान्ति को समाप्त करते और उसके प्राणों की रक्षा करते हैं। फिर ऐसे स्वप्नों को अपने किसी स्नेही व्यक्ति से कह देना और अधिक लाभकारी होता है। प्रकृति स्वयं स्वप्न देखनेवाले को इस प्रकार की प्रेरणा देती है। भयानक स्वप्नों को सुनने वाला व्यक्ति उन्हें सुनकर यदि स्वयं भयभीत नहीं होता तो वह स्वप्न के कहने-वाले का अनायास ही अकथनीय लाभ करता है। किसी भी मानसिक रोगी के स्वप्नों को शान्त-भाव से प्रति दिन नियमपूर्वक सुनते-सुनते हम उसे उसके रोग से मुक्त कर सकते हैं। आधुनिक मनोविश्लेषण-चिकित्सा का एक प्रधान अंग रोगी के स्वप्नों को सुनना है। इन स्वप्नों के अर्थ के विषय में संसार के प्रमुख मानसिक चिकित्सकों में बड़े मतभेद हैं। परन्तु प्रत्येक मानसिक चिकित्सक ने रोगी के स्वप्नों को सहानुभूतिपूर्वक सुनना उसके आरोग्य-लाभ के लिये उसी प्रकार अनिवार्य माना है, जिस प्रकार बचपन की स्मृतियों को सुनना रोगी के बचपन की स्मृतियों को कहते-कहते ऐसे स्वप्नों की कमी अपने आप ही हो जाती है। अब यदि रोगी के द्वारा प्राणिमात्र के प्रति मैत्री भावना का अभ्यास कराया जाय, तो भयावने स्वप्नों का होना पूर्णतः समाप्त हो जाता है। जब मनुष्य अपनी ही प्रवृत्तियों के प्रति साक्षीभाव स्थापित कर लेता है, और जब वह संसार के सभी प्राणियों के प्रति मैत्रीभाव का अभ्यास करता है, तो वह

आत्म-समन्वय अर्थात् मानसिक एकीकरण प्राप्त कर लेता है। ऐसी अवस्था में भयावने स्वप्न का होना अनावश्यक हो जाता है। जिस मनुष्य के मन में आत्म-समन्वय है; उसे प्रसन्नता बढ़ानेवाले स्वप्न ही होते हैं

स्वप्न हमारे अचेतन मन का कार्य है। साधारणतः अचेतन मन की क्रियाओं पर चेतन मन का कोई हाथ नहीं है। हम जैसा चाहते हैं, वैसा स्वप्न देख नहीं सकते। हमारी जाग्रतावस्था का अनुभव एक प्रकार का होता है, और स्वप्न का अनुभव दूसरे प्रकार का। स्वप्न अपने आप निर्मित होता है। जाग्रतावस्था की चेतना उसके निर्माण में कोई भी कार्य नहीं कर सकती। अब प्रश्न यह है कि क्या हम स्वप्न-दर्शन को बिलकुल बन्द कर सकते हैं, अथवा अपने दुःखदाई स्वप्नों में परिवर्तन कर सकते हैं; और क्या इस प्रकार के स्वप्नों का निरोध अथवा परिवर्तन हमारे मानसिक स्वास्थ्य के लिए लाभकर है। कुछ मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि स्वप्नों का निरोध किया जा सकता है। जिस प्रकार हम जाग्रता-वस्था के विचारों का अभ्यास से निरोध कर लेते हैं, उसी प्रकार स्वप्न-निरोध भी सम्भव है। जाग्रतावस्था के विचारों का निरोध अथवा नियन्त्रण भी उतना सरल कार्य नहीं है, जितना कि मन की क्रियाओं से अनभिज्ञ लोग समझते हैं। हमारे बहुत से विचार ऐसे होते हैं कि हम जितना ही उन्हें मन में आने से रोकते हैं, वे उतनी ही प्रबलता से आते हैं। मानसिक शुद्धि और अभ्यास के परिणाम-स्वरूप विचारों पर नियन्त्रण अथवा उनका निरोध सम्भव होता है। अभ्यास से स्वप्न-निरोध अथवा नियन्त्रण सम्भव है।

स्वप्न का निरोध आत्म-निर्देश के द्वारा किया जा सकता है। इस तरह अचेतन मन पर आत्म-निर्देश का प्रभाव होता है। इसका अनुभव हम निश्चित समय पर जागने के बारे में करते हैं। यदि हम यह निश्चय करके सोएँ कि हम अमुक समय पर अवश्य जग जायँगे और यदि हमारा संकल्प दृढ़ हो, तो हम अवश्य ही उस समय जग जाते हैं। वास्तव में सभी प्रकार का निर्देश अचेतन मन में काम करता है। जिस तरह निर्देश के द्वारा निश्चित समय पर जागा जा सकता है, उसी तरह निर्देश के द्वारा स्वप्न को रोका भी जा सकता है। कितने ही लोग भयंकर स्वप्न होने के पूर्व जाग जाते हैं। अभ्यास से यह भी सम्भव है कि हम काम-वासना सम्बन्धी स्वप्नों से भी अपना पिंड छुड़ा लें।

किन्तु स्वप्नों के इस प्रकार के निरोध से स्वप्नों का कारण नष्ट नहीं होता। कारण के रहते हुए स्वप्न का होना मानसिक स्वास्थ्य के लिए लाभकर नहीं है। स्वप्नों का कारण प्रबल मानसिक उत्तेजना ही होती है। इस उत्तेजना का दमन

जाग्रतावस्था में होता रहता है। अतएव यह स्वप्नों के रूप में प्रकट होती है। हमारी अनैतिक इच्छाएँ अपना रूप बदलकर स्वप्नों के रूप में प्रकट होती हैं। यदि इन इच्छाओं को स्वप्नों के रूप में प्रकट न होने दिया जाय, तो वे भयंकर मानसिक उत्पात मचावें। हमारी यह धारणा भ्रमात्मक है कि स्वप्न नींद को भंग करते हैं। वास्तव में स्वप्न नींद की रक्षा करते हैं। ब्राऊन महाशय का कथन है कि यदि हमें स्वप्न न हों तो नींद भी न हो। हमारी प्रबल मानसिक उत्तेजना हमें सदा जाग्रतावस्था में ही बनाये रक्खे। स्वप्न के द्वारा इन उत्तेजनाओं की शक्ति प्रकट होकर कम होती है। इसलिए नींद का होना सम्भव होता है। यदि आत्म-निर्देश के द्वारा हम स्वप्नों के निरोध में सफल हो जायँ तो सम्भव है कि हम निद्रा का उपभोग न कर सकें।

बहुत से लोग कहा करते हैं कि हमें स्वप्न नहीं होते। इस कथन को हमें सत्य न समझना चाहिए। वास्तव में अनेक स्वप्नों को हम जागते ही भूल जाते हैं। जो प्रतिबन्धावस्था स्वप्नों के अनेक रूपों के बनने में कारण होती है, वही अवस्था स्वप्नों के अनुभवों को भुलाने का कारण बन जाती है। अतएव यदि हम थोड़े दिनों के अभ्यास के पश्चात् यह सोचने लगें कि हमें कोई स्वप्न नहीं होते, तो हमें अपने को स्वप्न-निरोध में सफल न मान लेना चाहिए। सम्भव है कि हमें स्वप्न होते रहें, किन्तु हमें उनका स्मरण न रहे।

लेखक के एक मित्र को एक बार सीढ़ी से उतरते समय गिरने का स्वप्न हुआ। उसी दिन उनके जीवन में एक भारी घटना घटित हुई। वे एक स्थान पर पीटे गये। उन्हें इस प्रकार के स्वप्नों से बड़ा भारी भय हो गया; इसलिए जब वे सीढ़ी से उतरने का स्वप्न देखते हैं, तब जाग उठते हैं। किन्तु इस प्रकार के स्वप्न उन्हें बार-बार होने लगे हैं। इन स्वप्नों के होते ही उनकी निद्रा भंग होती है। इस मानसिक परिस्थिति का परिणाम यह हुआ कि उनके लिए निश्चित होकर सोना दुर्लभ हो गया है, और अब वे किसी दिन ठीक से नहीं सो सकते। इससे उनके मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य पर भी बड़ा बुरा प्रभाव पड़ा है। उनकी स्मरणशक्ति कम हो गई है। वे नगर के उच्चाधिकारी हैं। उन्हें प्रत्येक बात को याद रखने के लिए लिख लेना पड़ता है। यदि किसी सभा में कोई निश्चय हुआ तो उस निश्चय के शब्द उन्हें ठीक-ठीक स्मरण नहीं रहते। उन्हें बार-बार कागजों को देखना पड़ता है। उनके मन में सदा बेचैनी रहती है। उपर्युक्त दृष्टान्त से यह स्पष्ट है कि स्वप्न-निरोध मानसिक स्वास्थ्य के लिए लाभकर नहीं है। स्वप्न-निरोध होने पर नींद-भंग की अथवा

स्मृति के ह्रास होने की सम्भावना है। इसी तरह अनेक प्रकार के शारीरिक और मानसिक रोग उत्पन्न हो सकते हैं। स्वप्न-निरोध करने की चेष्टा करना, अपने आपको भुलाने की चेष्टा है। स्वप्न अपने आपको समझने का एक उपाय है। बहुत से सन्त लोग स्वप्नों में अपने आपको कामी, विषयी, लोलुप अथवा क्रूर व्यक्ति पाते हैं। उन्हें इन स्वप्नों को देखकर आत्मसुधार करने की चेष्टा करनी चाहिए। ये स्वप्न उनकी आन्तरिक भावनाओं के प्रतीक हैं। जबतक आन्तरिक इच्छाओं में परिवर्तन नहीं होता; तबतक अप्रिय स्वप्नों का होना आत्मज्ञान के लिये आवश्यक है।

स्वप्नों में परिवर्तन आन्तरिक भावनाओं के परिवर्तन के द्वारा हो सकता है। बहुत से दुःखद स्वप्न मैत्री-भावना के अभ्यास द्वारा नष्ट किये जा सकते हैं। मैत्री-भावना एक अभ्यास है। यदि इस अभ्यास को किया जाय तो दुःख-दायी स्वप्नों का आना बन्द हो जाय। सोते समय यदि हम अपने आपसे यह कहकर सोएँ कि हम सभी के मित्र हैं, सबका कल्याण हो, संसार के सभी प्राणी सुखी हों, तो यह भावना थोड़े ही दिनों में दुःखद स्वप्नों का आना बन्द कर दे। इस प्रकार की भावना से मनुष्य के शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य पर बड़ा अच्छा प्रभाव पड़ता है। प्रति दिन सोते समय मैत्री-भावना का अभ्यास करने से मनुष्य के आचरण में भी मौलिक परिवर्तन हो जाता है। मैत्री-भावना का अभ्यास जब तक चेतन मन तक ही सीमित रहता है, तब तक उसका स्वप्नों में परिवर्तन करने का कार्य नहीं देखा जाता। जब मैत्री-भावना का अभ्यास आत्म-निर्देश का रूप धारण कर लेता है, अर्थात् जब हम मैत्री-भावना का अभ्यास दृढ़ विश्वास के साथ करते हैं, तब स्वप्नों पर उसका प्रभाव अवश्य ही पड़ता है। बौद्धों के धर्म-ग्रंथों में मैत्री-भावना की बड़ी महत्ता बताई गई है। मलिन्द राजा के प्रश्न (मलिन्द पन्हा) नामक पुस्तक में निम्नलिखित प्रयोग उल्लेखनीय है।

कोई चार वर्ष पहिले लेखक को बार-बार हिन्दू-मुसलिम दंगों के स्वप्न दिखाई देते थे। इन दंगों में लेखक अपने आपको बड़े संकट की अवस्था में पाता था। उन स्वप्नों को लेखक ने, स्वप्नों की चर्चा करते समय, अपने एक विद्यार्थी से कहा। उस विद्यार्थी ने यह बताया कि उसका कारण मुसलमानों के प्रति लेखक की द्वेष-भावना ही थी। उस विद्यार्थी ने मुसलमानों के बहुत से सद्गुणों की ओर मेरा ध्यान आकर्षित कराया। मैं स्वयं इस बात को स्वीकार करने को राजी नहीं हुआ कि मैं किसी मुसलमान से घृणा करता हूँ। मेरे विचार कांग्रेसी

विचारों से ही अधिक प्रभावित हैं। कांग्रेसवाले देश के कल्याण के लिए हिन्दू-मुसलिम एकता अनिवार्य मानते हैं। भला कौन कांग्रेसी हिन्दू यह मानने को तैयार होगा कि उसके हृदय में (चाहे अनजाने ही) मुसलमानों के प्रति द्वेष-भावना है। किन्तु उस विद्यार्थी के कथन का एक विशेष प्रभाव मेरे मन पर पड़ा, और मैंने आत्मनिरीक्षण करना आरम्भ कर दिया। मलिन्द राजा के प्रश्न में वर्णित मैत्री-भावना से होनेवाले लाभ को लेखक ने कुछ ही दिन पहले पढ़ा था। अब दूसरे प्रयोग का अवसर मिला। लेखक ने मुसलिम लीग-विरोधी बातें करना और सुनना बन्द कर दिया। रात को सोते समय सभी मुसलमानों के प्रति सद्भाव का ध्यान करता। श्रीमुहम्मदअली जिन्ना महाशय के दुर्गुणों पर विचार न कर, उनके सद्गुणों का चिंतन करने लगा। एक मुसलमान फकीर, जिसे देखकर अनेक प्रकार की दुर्भावनाएँ मन में आतीं, को कुछ दक्षिणा देना आरम्भ कर दिया। इस प्रकार के अभ्यास का परिणाम यह हुआ कि उस समय से हिन्दू-मुसलिम दंगे का कोई भी स्वप्न नहीं देखा। इतना ही नहीं, अपितु अनेक प्रकार के भयानक और दूसरे प्रकार के दुखद स्वप्नों का होना भी कम हो गया। वास्तव में हम एक को ही अनेक रूपों में देखते हैं। एक मनुष्य के प्रति हमारी दुर्भावना अथवा सद्भावना प्राणिमात्र के प्रति उसी प्रकार की भावना-सी प्रतीत होती है। किसी व्यक्ति-विशेष के प्रति मैत्री भावना के विचार कर, हम विश्व से मैत्री-संबंध स्थापित कर लेते हैं। वास्तव में चेतन और अचेतन मन का बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है। चेतन मन ही कार्य करने का क्षेत्र है। इसी के द्वारा अचेतन मन की भावना का सुधार हो सकता है। अचेतन मन की ही भावना स्वप्न का कारण है। ये भावनाएँ जैसी होती हैं, स्वप्न भी वैसे ही होते हैं। किन्तु अभ्यास के द्वारा जिस तरह इन भावनाओं को दृढ़ बनाया जाता है, उसी तरह इनमें परिवर्तन भी अभ्यास के द्वारा सम्भव है। यह परिवर्तन एका-एक नहीं होता। कई दिनों तक अभ्यास करने पर ही हमारे चेतन मन का कोई विचार अचेतन में जाता है, और उसमें परिवर्तन करता है। विश्वास के साथ किया गया कार्य प्रभावशाली होता है। किसी बात में मनुष्य को विश्वास तभी होता है, जब कि अचेन मन उस बात को ग्रहण करने लगता है। इसके ग्रहण करने से अचेतन मन की भावनाओं में मौलिक परिवर्तन हो जाते हैं।

चौवालीसवाँ अध्याय

हमारे मन की अलौकिक शक्तियाँ

मनुष्य की शक्तियां दो प्रकार की होती हैं। एक साधारण अथवा लौकिक; दूसरी असाधारण अथवा अलौकिक। मनुष्य अभ्यास के द्वारा इन दोनों प्रकार की शक्तियों को बढ़ा सकता है। मनुष्य की साधारण शक्तियां चित्त की एकाग्रता, धारण-शक्ति की प्रवीणता, स्मरण की तीव्रता, बुद्धि की प्रखरता और इच्छा-शक्ति की दृढ़ता है। इन सभी शक्तियों के बढ़ाने के लिए मनुष्य को दो प्रकार के अभ्यास करने पड़ते हैं—एक जानबूझकर इन शक्तियों का व्यायाम करना और दूसरे शरीर और मन की शैथिलीकरण की अवस्था में इन शक्तियों की वृद्धि के लिए आत्मनिर्देश देना। प्रथम प्रकार का अभ्यास हमारे विद्यालयों के द्वारा कराया जाता है। दूसरे प्रकार के अभ्यास के लिए कुशल मनोवैज्ञानिक की देखरेख, उसकी सलाह और उसके पथप्रदर्शन की आवश्यकता होती है। अपने चेतन मन की शक्तियों को बढ़ाना अर्थात् साधारण मानसिक शक्तियों को अधिक-से-अधिक विकसित करना प्रत्येक मानव का कर्तव्य है। हर एक सुन्दर शिक्षा-प्रणाली का यही उद्देश्य होता है।

जहां तक अलौकिक अथवा असाधारण मानसिक शक्तियों की बात है, इन्हें प्राप्त करने की चेष्टा करना खतरे से खाली नहीं। अलौकिक शक्तियां वे हैं, जिन्हें प्राप्त करके हम कुछ ऐसी बातें कर सकते हैं जिन्हें भौतिक विज्ञान की प्रणाली से समझाया नहीं जा सकता। मनुष्य के मन में ऐसी शक्तियां हैं इसमें किसी भी गम्भीर चिंतन करनेवाले व्यक्ति को सन्देह नहीं है। उदाहरणार्थ मनुष्य अपने मन में ऐसी शक्ति को विकसित कर सकता है कि उसकी आंख पर पट्टी बँधी हो और वह किसी गांव के सभी गली-कूँचों में घूम जाय। आज से २० वर्ष पूर्व लेखक के एक छात्र ने कालेज की विदाई के समय ऐसा ही एक चमत्कार दिखाया था। उसकी आंख पर पट्टी बांध दी गई थी। फिर उसके पीछे १० फुट दूरी पर रखे हुये एक श्यामपट पर कालेज के प्रिंसिपल ने कुछ वाक्य अंग्रेजी में लिखे। इन वाक्यों को इस विद्यार्थी ने ठीक जैसे का तैसा बता दिया। यहां इस विद्यार्थी की अलौकिक शक्ति के विषय में कोई सन्देह का स्थान ही नहीं था। यह विद्यार्थी लेखक का भलीप्रकार से जाना-पहचाना व्यक्ति था, और उसी के द्वारा वर्ष भर तक पढ़ाया गया था। उनकी आंख पर पट्टी कालेज

के ही एक अध्यापक ने बाँधी थी। श्यामपट उसके मुँह की ओर न रहकर पीठ की ओर था और उस पर लिखा गया वाक्य उसके किसी साथी के द्वारा लिखा न होकर कालेज के प्रिंसिपल के द्वारा लिखा गया था। वाक्य भी ऐसा नहीं था, जिसके विषय में वह विद्यार्थी अन्दाज लगा सके। वाक्य के पढ़ने में उसने एक भी शब्द की गलती नहीं की। जब विद्यार्थी लेखक से विदाई ले रहा था, तब उसने इस अलौकिक शक्ति के बारे में पूछा तो विद्यार्थी ने यही कहा, 'चित्त की एकाग्रता के अभ्यास से मनुष्य को दूसरे व्यक्ति के मस्तिष्क में चलनेवाले विचारों का पता चल जाता है।' उसने आगे यह भी कहा, 'आपको चित्त की एकाग्रता का अभ्यास बहुत अच्छा है। अतएव शीघ्र ही आप इस शक्ति को प्राप्त कर सकते हैं।

जिस प्रकार दूसरे व्यक्ति के मन में चलनेवाले विचारों को हम अपने अलौकिक प्रयास से जान सकते हैं, उसी प्रकार भविष्य में होनेवाली घटनाओं की रूप-रेखा भी हमें ज्ञात हो सकती है। इस प्रसंग में काशी मनोविज्ञानशाला में हिन्दू स्कूल के भूतपूर्व हेडमास्टर डा० ओटो उल्फ द्वारा दिया गया भाषण, जो मनोविज्ञान के मार्च १९५२ के अंक में प्रकाशित हुआ है, उल्लेखनीय है। 'भविष्य में होनेवाली घटनाओं का चित्र कभी-कभी मनुष्य के मन में उसकी जागृत अथवा स्वप्नावस्था में उसी प्रकार आ जाता है, जिस प्रकार ये बाद को घटित होती हैं। जिन लोगों से हमारा विशेष स्नेह होता है उनके जीवन में यदि कोई दुर्घटना होनेवाली है, तो उसका चित्र हमारे अचेतन मन में आ जाता है। यदि किसी व्यक्ति का मन निर्मल है, तो यह घटना दिवास्वप्न में चित्रित हो जाती है।' मेरी माता के जीवन में होनेवाले इस प्रकार के दो-एक अनुभव उल्लेखनीय हैं। एक बार मेरी माँ ने देखा कि एक नवयुवक जो उस समय फौज में काम कर रहा था, एक इञ्जन के पास असावधानी की अवस्था में खड़ा हुआ है, इसी बीच इञ्जन फट पड़ा और नवयुवक को बहुत चोट लगी। मेरी माँ इस नवयुवक को स्नेह की दृष्टि से देखती थी। उसने तुरन्त ही उस युवक को बुलाया और अपना स्वप्न सुनाकर उसे भावी दुर्घटना के विषय में सचेत कर दिया। इसके तीन मास पश्चात् यह युवक वास्तव में एक मशीन के पास खड़ा काम कर रहा था, उसी समय उसे एक विलक्षण-सी आवाज सुनाई पड़ी, मेरी माँ की कही हुई बात उसे इस समय याद आ गई और वह मशीन से दूर भागकर मकान के बाहर चला आया। वह बाहर आया ही था कि मशीन फट गई।

इसी प्रकार एक बार माँ ने अपने स्वप्न में देखा कि दूध की गाड़ी ले जानेवाले घोड़े पागल हो गये हैं और वे दूध की गाड़ी को इधर-उधर दौड़ाने लगे हैं। इस गाड़ी में दूध बेचनेवाला फँस गया और मरते-मरते बचा। माँ ने जब अपना स्वप्न दूसरे लोगों से कहा, तो वे हँसने लगे। परन्तु वह नहीं मानी और उसने दूधवाले को बुलाकर इस प्रकार की घटना से सचेत किया। इस कथन के कुछ समय बाद ही वास्तव में स्वप्न में देखी गयी घटना घटी और समय पर चेतावनी मिल जाने के कारण दूधवाला अपनी जान बचा सका।

डा० ओटो उल्फ ने कुछ उदाहरण देकर इसी व्याख्यान में यह भी बताया कि जिस प्रकार बिना किसी भौतिक साधन के हम दूसरे व्यक्ति के मन के विचार जान सकते हैं और दूर की घटनाओं का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं; उसी प्रकार अपने प्रिय व्यक्ति के सम्बन्ध की बातें भी हमें ज्ञात हो जाती हैं। कभी-कभी जानवरों के मन की बातें भी उनको प्यार करनेवाले स्वामी जान लेते हैं। डा० ओटो उल्फ ने अपने बचपन की कुछ घटनाओं का उल्लेख करते हुए बताया—'मैं कभी-कभी रात को देर करके घर लौटता था। मैं अपने कमरे की ताली कभी-कभी किसी ऐसी जगह रख देता था जहाँ मेरा हाथ नहीं पहुँचता था। एक दो बार मुझे अपने घर के दरवाजे पर देर तक ठहरना पड़ा। इसी बीच मैंने कल्पना की कि मैं सीढ़ी से चलकर दूसरी मंजिल पर पहुँच गया हूँ और वहाँ पर बरांडा पार करके अपनी माँ के कमरे के किवाड़ को खटखटा हूँ और धीरे-धीरे माँ-माँ कहता हूँ। इस कल्पना का परिणाम यह होता कि मेरी माँ अपने बिस्तार से उठकर कमरे के बाहर आती और सीढ़ी से उतरकर नीचे कमरे के किवाड़ खोलती जहाँ मैं उसे खड़ा मिलता।'

'अभी हाल की बात है कि एक दिन मैं अपने कमरे में किसी फाइल को ढूँढ़ने गया। जब मैं कमरे के बाहर आया तो अनायास मुझे पीछे हटकर देखने की प्रेरणा हुई। मैंने वहाँ देखा कि कमरे के दरवाजे में अधर पर मेरा कुत्ता टँगा हुआ है। मुझे देखकर आश्चर्य हुआ कि कुत्ता अधर में कैसे टँग गया। मैं जग रहा हूँ कि सो रहा हूँ। फिर विचार आया कुत्ते को ढूँढ़ूँ वह कहाँ है। कुत्ता घर में नहीं दिखाई दिया। इसी बीच एक बन्द आलमारी से कुछ आवाज-सी आई। उसे खोलकर देखा गया, तो कुत्ता उसमें बन्द था। पीछे ज्ञात हुआ कि जब आलमारी खुली हुई थी तब कुत्ता उसमें बैठ गया था और कुछ दूसरी बातों में ध्यान फँसे रहने के समय ही आलमारी का ताला बन्द कर दिया गया था। बन्द आलमारी में बैठा हुआ कुत्ता जब घबड़ाने लगा, तो संभवतः

उसने अपने विचार अपने मालिक को भेजे, इसी के कारण कुत्ता एक दिवा-स्वप्न में दरवाजे में टँगा हुआ दिखाई दिया।'

दूर की घटनाओं को जान सकने के दो उदाहरण डा० विलियम ब्राउन ने अपनी 'साइकोलाजी एण्ड साइकोथ्रेपी' नामक पुस्तक में दिये हैं। प्रथम उदाहरण स्वीडेनबोर्ग का है। एक बार स्वीडेनबोर्ग इमैनुअल काण्ट के साथ बर्लिन की एक पार्टी में बैठे हुए थे; इसी समय वे अचानक कुछ बेचैन-से हो गये। कुछ देर बेचैन रहने के बाद वे शांत हो गये। वहाँ पर उपस्थित लोगों ने जब उनके इस प्रकार बेचैन और फिर शान्त होने का कारण पूछा तो उन्होंने बताया कि स्टाकहोम में आग लग गई थी और वह उनके मकान के पास आ गई थी, इसीलिये वे बेचैन हो गये थे। परन्तु मकान में लगने के पूर्व ही आग बुझा दी गई। अतः वे शान्त हो गये। पता चलाने पर घटना सत्य सिद्ध हुई। इसका वर्णन काण्ट ने अपनी 'आत्मजीवनी' में किया है। दूसरी घटना डा० विलियम ब्राउन द्वारा किये गये एक सैनिक की है। इस सैनिक को फ्रान्स के एक अस्पताल में सम्मोहनावस्था में लाकर अपने घर का ध्यान करने को कहा गया और वहाँ जो कुछ उस समय हो रहा था उसका वर्णन करने को कहा गया। उस सैनिक ने जो वर्णन किया, पीछे खोज करने पर वह सत्य पाया गया।

अब प्रश्न यह है कि मनुष्य को क्या अपने मन की ऐसी अलौकिक शक्तियों को भी जाग्रत करना चाहिये, जिनसे वह दूसरे व्यक्तियों के मन की बात जान ले, दूर की घटनाओं का ज्ञान कर ले, और भविष्य में होनेवाली घटनाओं का भी दिग्दर्शन कर ले। इस विषय में हमें आधुनिक मनोविज्ञान से जो प्रकाश मिलता है, उसकी अवहेलना नहीं की जा सकती। मनुष्य में ये अलौकिक शक्तियाँ उसकी सामान्य मानसिक अवस्था में नहीं आतीं; केवल असाधारण मानसिक अवस्था में मनुष्य की सामान्य चेतना और उसकी अन्तश्चेतना में विभाजन हो जाता है। इस प्रकार का विभाजन हिस्टीरिया के रोग में प्रायः देखा जाता है। अतएव हिस्टीरिया का रोगी बहुत कुछ ऐसी बातें कह देता है जिसे सामान्य व्यक्ति नहीं जान सकते। कभी-कभी उसकी भविष्यवाणी ठीक हो जाती है। कभी वह किसी व्यक्ति की छिपी बात को बता देता है और कभी दूर की बातों को कह देता है। परन्तु इन सब बातों के करने पर उसका कोई अधिकार नहीं रहता, यह सब अनायास अथवा उसकी इच्छा के प्रतिकूल होता है। इसीलिए हिस्टीरिया के रोगी के विषय में कहा जाता है कि उसके शरीर में कोई विशेष प्रकार का भूत-प्रेत आ गया है। भूत-प्रेत की शक्ति मनुष्य की सामान्य

चेतना की शक्ति से कहीं अधिक होती है। आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से मनुष्य की यह भूत-प्रेत की शक्ति उसकी अचेतन मन की शक्ति ही है जो भूत-प्रेत की कल्पनाओं में आरोपित होकर प्रकाशित होती है। जिस शक्ति की उपस्थिति मनुष्य की चेतना साधारण नियमों के परे देखती है, उसके आने के लिए किसी असाधारण तत्त्व की कल्पना भी करनी पड़ती है।

जिस प्रकार हिस्टीरिया के रोगी में मानसिक विभाजन की अवस्था उसकी इच्छा के प्रतिकूल ही उत्पन्न होती है, उसी प्रकार यह अवस्था अभ्यास के द्वारा मनुष्य अपनी इच्छा से भी कर सकता है। इसका उदाहरण ओझाओं में और भूत-प्रेत बुलानेवाले प्लैन्चेट के खेल दिखानेवालों में पाया जाता है। अपने मन और शरीर के शैथिलीकरण की अवस्था में यदि मनुष्य किसी विशेष प्रकार की शक्ति आने की कल्पना करे, तो वह इस शक्ति को कुछ दिन के अभ्यास के बाद पा लेता है। इस शक्ति को सामान्य चेतना की शक्ति नहीं कहा जा सकता। अतएव इस प्रकार का अभ्यास करनेवाले लोग ऐसी शक्ति को देवी-देवता आदि की शक्ति कहते हैं। ओझा लोगों में उसी प्रकार का मानसिक-विच्छेद हो जाता है जैसा हिस्टीरिया के रोगियों को हो जाता है। परन्तु जहाँ प्रथम प्रकार का मानसिक विच्छेद व्यक्ति की इच्छा के प्रतिकूल होता है, वहाँ द्वितीय प्रकार का विच्छेद स्वेच्छा से होता है। उसका निश्चित समय और स्थान भी होता है। अब यदि इस प्रकार का विच्छेद कोई व्यक्ति बार-बार करने लगे और इससे वह विशेष प्रकार का लाभ उठाने लगे तब उसकी इच्छा के प्रतिकूल भी यह विच्छेद होने लगता है। इसलिए भूत-प्रेतों को बुलानेवाले, देवी-देवताओं का चमत्कार दिखानेवाले व्यक्ति अपने जीवन में सुखी न रहकर दुखी हो जाते हैं। उनके भूत-प्रेत या देवी-देवता उनका लाभ न कर उनकी हानि ही करने लग जाते हैं। ऐसे लोगों को विशेष प्रकार के टोना-टोटका आदि करना ही पड़ता है।

इस तरह मनुष्य की ये अलौकिक शक्तियाँ उसकी आत्मा का प्रसार न कर उसे अन्धकार में डालती हैं। इसीलिए पुराने योगियों ने इन अलौकिक शक्तियों के प्रादुर्भूत करने के प्रति साधकों को सचेट किया है। इन ऋद्धि-सिद्धिओं को जगाकर मनुष्य आत्मज्ञान से वंचित रह जाता है और इनसे वह स्थायी लाभ प्राप्त न कर हानि ही प्राप्त करता है। मनुष्य की सबसे बड़ी हानि अपनी सामान्य चेतना को खो देना है। जो चेतना सभी प्राप्तियों का मूल्यांकन करती है यदि हम उसी को खो दें तो हमारे पास रह ही क्या जायगा?

मनुष्य अपनी चेतना का प्रसार करके ही उस वास्तविक अलौकिक शक्ति का अपने आपमें साक्षात्कार कर सकता है। चेतना का प्रसार चेतना को हटाकर

नहीं हो सकता, जैसे कि हिस्टीरिया के रोगियों अथवा देवी-देवताओं के साधकों की मानसिक अवस्था में होता है, इन लोगों में सामान्य चेतना हटकर दूसरी चेतना आ जाती है। इससे व्यक्ति का कोई लाभ न होकर उसकी हानि होती है। यदि मनुष्य अपनी सामान्य चेतना को उसकी समकक्षी दूसरी चेतना के बदले न छोड़े, वरन् वह उसे एक महान् चेतना से मिला दे, तो एक ओर उसकी सामान्य चेतना का लोप हो जायगा और दूसरी ओर उसका असीम प्रसार भी हो जायगा। परन्तु यह तभी हो सकता है जब मनुष्य चेतना में सीमा उत्पन्न करनेवाली सभी प्रकार की वासनाओं का—चाहे वह चेतन मन में उपस्थित हों अथवा अचेतन मन में—परित्याग करने में समर्थ हो। यह कार्य अत्यन्त कठिन है। जब तक मनुष्य पूर्णतः निरीह नहीं हो जाता, तब तक उसके व्यक्तित्व-द्वारा प्रकाशित अलौकिक शक्तियाँ उसका लाभ न कर अन्त में हानि ही करती हैं। कहा जाता है कि ईश्वर की शक्ति का उपयोग ईश्वर ही कर सकता है। अलौकिक शक्तियाँ ईश्वरीय शक्तियाँ हैं। जब हम अपने आप को आध्यात्मिक तत्त्व से मिला देते हैं, अर्थात् जब हमारी कोई अपनी इच्छा नहीं रह जाती; तभी हमारे व्यक्तित्व-द्वारा प्रकाशित अलौकिक शक्तियाँ अपने आपका और लोक का कल्याण करती हैं। इस प्रकार जो व्यक्ति जितना ही अधिक अपनी अन्तरात्मा की समीपता पाता है, वह अपने आपमें अलौकिक शक्तियों का उतना ही अधिक साक्षात्कार करता है। इसके लिये मनुष्य को मानसिक शुद्धि की आवश्यकता होती है अर्थात् उसे एक ओर अपनी चेतन और अचेतन वासनाओं का त्याग करना पड़ता है और दूसरी ओर इस त्याग के अभिमान का परित्याग करना पड़ता है। जो अपने आपको शून्य रूप बना देता है, उसी की शक्ति असीम हो जाती है।

डाक्टर विलियम ब्राउन का कथन है कि मनुष्य के मन में जितनी शक्ति है उसका न तो उसे कभी ज्ञान हो पाता है और न वह उसका उपयोग कर पाता है। जितनी शक्ति हमारे मन में है उसका क्षुद्र भाग ही हम जानते हैं और उसी से हम अपना काम चलाते हैं। एक मनुष्य और दूसरे मनुष्य के व्यक्तित्व में और कोई भी भेद नहीं है, भेद केवल अपनी शक्तियों का साक्षात्कार करने का है। हम जितनी शक्ति प्रकृति से माँगते हैं उतनी शक्ति हमें मिलती है और जितनी हम नहीं माँगते उतनी नहीं मिलती। परन्तु प्रकृति हमारी माँग के साथ-साथ यह भी देखती है कि उस शक्ति का उपयोग क्या करेंगे? कहा जाता है कि 'खुदा गंजे को नाखून नहीं देता।' इसी प्रकार प्रकृति उस व्यक्ति को अलौकिक शक्ति नहीं देती जो उसका सदुपयोग करना नहीं जानता। जो व्यक्ति

अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के लिये ही अपनी सारी मानसिक शक्तियों को काम में लाना चाहता है वह उन शक्तियों को अपने आपमें जागृत नहीं कर पाता। जिस व्यक्ति के कार्यों का लक्ष्य जितना महान् होता है; उसके मन में अनायास उतनी ही अधिक शक्ति आ जाती है।

संसार का यह अटल नियम है कि देने और लेने का पलड़ा सदा बराबर रहता है। जहां कुछ खर्च और त्याग नहीं होता वहां प्राप्ति भी नहीं होती। जो मनुष्य अपना धन दूसरों की सेवा में खर्च करता है वह लोक-सम्मान और लोक-ख्याति को प्राप्त करता है। लोक-सेवा लोक-प्रियता लाती है। इसी प्रकार संसार के साधारण सुखों का त्याग मनुष्य में अलौकिक मानसिक शक्ति का जागरण करता है। हमारे त्याग से लौकिक सफलता और लौकिक सुख सुलभ हो जाते हैं। परन्तु जो व्यक्ति अपने आपको इन सुखों और सफलता में भुला देता है वह फिर अपनी उस शक्ति को खो देता है जिसके कारण ये सुलभ हुये।

मनुष्य का जितना त्याग होता है उसकी शक्ति भी उतनी ही अधिक होती है। बिना किसी त्याग के किसी प्रकार की मानसिक शक्ति का विकास नहीं होता। विद्या में लगन मनुष्य को विद्वान् बनाता है, धन में लगन धनवान, इसी प्रकार आत्मज्ञान में लगन रखनेवाले व्यक्ति को आत्मज्ञान होता है। सभी बातों की प्राप्ति के लिए त्याग की आवश्यकता होती है। बहुत से लोगों में संकल्प-सिद्धि होती है। यह सिद्धि उन्हीं लोगों में पाई जाती है जिन्हें कोई व्यक्तिगत स्वार्थ नहीं रहता। मनुष्य की वैयक्तिक इच्छाएँ उसके मन में अनेक प्रकार के संकल्प-विकल्प पैदा करती हैं। इन संकल्प-विकल्पों में उसकी शक्ति नष्ट हो जाती है। जब तक मनुष्य की शक्ति एक ओर केन्द्रित नहीं होती वह कोई भी बड़ा कार्य करने में समर्थ नहीं होता। परन्तु अपनी शक्ति को एक ओर केन्द्रित करने के लिए अपने लक्ष्य को व्यापक और ऊँचा बनाना आवश्यक है।

विचार की शक्ति से मनुष्य अपने अनेक प्रकार के कष्टों से मुक्त हो जाता है। वह अनेक प्रकार के रोगों का अन्त कर सकता है। इससे वह अपनी स्मरण-शक्ति को अतुलित बना सकता है। वह दूसरे लोगों के विचारों को भी जान सकता है। वह अपने दैनिक जीवन की समस्याओं को सरलता से ही हल कर सकता है। परन्तु इन सब बातों के लिए त्याग की आवश्यकता होती है। जहां त्याग नहीं वहां किसी प्रकार की प्राप्ति भी नहीं होती। मनुष्य का मन त्याग से बली होता है और ग्रहण से निर्बल होता है। जब मनुष्य का मन भोगासक्त हो जाता है तो उसमें निर्बलता आ जाती है। ऐसे व्यक्ति को अनायास कोई अभद्र

विचार आ घेरता है। फिर इन विचारों के अनुसार व्यक्ति संसार में यन्त्रणा पाने लगता है। मनुष्य जब अनेक प्रकार के कष्ट भोगता है तो उसमें त्याग की मनोवृत्ति अपने आप ही आ जाती है। इस मनोवृत्ति के आने पर मन का भार उतर जाता है। फिर मन में वह बल आ जाता है जिसके कारण वह शुभ निर्देशों को ग्रहण कर सके। निर्बल मन के व्यक्ति को बुरे विचार ही सूझते हैं और प्रबल मन के व्यक्ति को भले विचार सूझते हैं।

मनुष्य के मन की अलौकिक शक्ति को उसके रोग के उत्पादन और उसके विनाश में देखा जाता है। कितने ही मनुष्य ऐसे रोगों के भय से मर जाते हैं जो उन्हें अन्यथा घातक न होते। प्लेग के भय से जितने लोग मरते थे उतने प्लेग से नहीं मरते थे। फिर कितने ही लोग अपने आपके जीने के दृढ़ निश्चय से घातक रोगों से बच जाते हैं। पर इस प्रकार का दृढ़ निश्चय वैयक्तिक इच्छामात्र से नहीं आता। इसके लिए समष्टि की इच्छा की आवश्यकता होती है। जिस व्यक्ति का जीना उससे सम्बन्ध रखनेवाले अनेक लोग चाहते हैं वह मृत्यु के मुख से भी बच जाता है और जिसकी मृत्यु उससे सम्बन्ध रखनेवाले सभी लोग चाहने लगते हैं वह देवलोक चला जाता है। उसका अपना चाहना भी उसी ढङ्ग का हो जाता है, जिस प्रकार का उसके विषय में दूसरे लोगों का चाहना होता है। यह चाहना कभी-कभी फल का रूप धारण कर लेती है। इस प्रकार मृत्यु का भय भी आन्तरिक मन की इच्छा का है।

मनुष्य अपने अभद्र विचारों से सरलता से मुक्त नहीं होता। इसके लिए भी त्याग की आवश्यकता होती है। जो व्यक्ति जितना ही अधिक त्याग करता है वह अपने विचारों को उतना ही अधिक सृजनात्मक बना लेता है। जीवन के सभी संकल्पों और इच्छाओं का त्याग कर देना मनुष्य को दैवी शक्ति प्रदान करता है। परोपकार के निमित्त लाये गये विचारों में जो बल होता है वह स्वार्थयुक्त विचारों में नहीं रहता। यही कारण है कि किसी भी सन्त महात्मा के दर्शन का एक लाभ यह होता है कि हममें भी उसी प्रकार के त्याग की शक्ति आ जाती है जो महात्मा में होती है। जिस प्रकार मनुष्य के दुर्गुण संक्रामक होते हैं उसी प्रकार उसके सद्गुण भी संक्रामक होते हैं। चतुर और चालाक मनुष्य अपने आसपास के लोगों में चतुराई और चालाकी के विचार फैला जाता है, और सरल चित्त का उदार व्यक्ति अपने आसपास के लोगों में सरलता और उदारता फैला जाता है।

पैंतालीसवाँ अध्याय

आत्म-समन्वय

मनुष्य के मन में दो प्रकार की प्रवृत्तियां हैं—एक उसके भौतिक जीवन से सम्बन्ध रखती है और दूसरी आध्यात्मिक जीवन से। भौतिक जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली प्रवृत्तियां मनुष्य को स्वार्थी और भोगेच्छुक बनाती हैं; आध्यात्मिक जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली प्रवृत्तियाँ उसे परोपकारी और त्यागी बनाती हैं। इन दो प्रकार की प्रवृत्तियों से सदा अन्तर्द्वन्द्व चलता रहता है। मानवता का विकास आध्यात्मिक प्रवृत्तियों का भौतिक प्रवृत्तियों पर विजय प्राप्त करने में है। विजय की स्थिति में भौतिक जीवन-सम्बन्धी प्रवृत्तियों का दमन नहीं होता, उन्हें प्रकाशित होने का अवसर दिया जाता है। परन्तु उनका प्रकाशन आध्यात्मिक प्रवृत्तियों के लक्ष्य की प्राप्ति में साधक बनता है। जब तक मनुष्य अपने स्वभाव पर इस तरह का विजय प्राप्त नहीं कर लेता कि उसका सामान्य स्वत्व आदर्श स्वत्व के लिये कार्य करे, तब तक उसके जीवन में सुख-शान्ति नहीं रहती।

जब भौतिक प्रवृत्तियां प्रबल होती हैं, तब मनुष्य कुछ ऐसे काम कर डालता है जो उसके उस समय के आदर्श के प्रतिकूल होते हैं। इस प्रकार के कार्यों से उसे आत्म-ग्लानि होती है। जिन लोगों के जीवन में कोई आदर्श ही नहीं वे तो पशु के समान ही हैं। ऐसे लोगों को आत्मग्लानि भी नहीं होती। आत्म-ग्लानि आदर्शवादी व्यक्ति को ही होती है। जो मनुष्य अपने आपको ऊँचा उठाने की चेष्टा करता है, वह जब कभी अपने प्रयत्न में विफल हो जाता है तो उसे भारी मानसिक संताप होता है। यह दुःख ही आत्मग्लानि है। धन-संचय करनेवाले व्यक्ति को धन खोने से, यश-संचय करनेवाले व्यक्ति को यश के खोने से और चरित्र का संचय करनेवाले व्यक्ति को चरित्र के खोने या चरित्र में किसी प्रकार की त्रुटि हो जाने से दुःख होता है।

यदि मनुष्य अपने दुःख को ही सदा स्मरण करता रहे, तो वह जीवन में कुछ भी न कर पाये। अतएव वह दुःख भुलाने का प्रयत्न करता है। वह ऐसी घटना की स्मृति ही भूल जाता है, जिसमें उसे दुःख हुआ है। तब उसका मन पुरानी भूल के लिये सचेत हो जाता है और वह अपने चरित्र में उन बातों को बढ़ाता है, जिनका पहले ह्रास हो गया था। जिस प्रवृत्ति के कारण उसे आत्मग्लानि की अनुभूति हुई, उसे वह अनजाने ही दबाता है। अब उसके

जीवन के आदर्श पुरानी भूल के विरुद्ध बन जाते हैं। परन्तु इससे वह उस प्रवृत्ति की पाशविक शक्ति के उपयोग से वंचित हो जाता है। दबी हुई प्रवृत्ति अप्रकाशित रहने से भीतर ही अपनी शक्ति का संचय करती रहती है। वह उस अवसर की खोज में रहती है, जब कि वह प्रकाशित हो सके। अतएव मनुष्य की असावधानी की अवस्था में भी ऐसी प्रवृत्ति प्रकाशित हो जाती है। सांकेतिक चेष्टाओं के द्वारा, भूलों के द्वारा, कुछ विशेष प्रकार की टेवों के द्वारा, यह दबी प्रवृत्ति प्रकाशित होती रहती है। वह भीतर-ही-भीतर कुछ ऐसे षड्यंत्र भी करती रहती है, जिससे मनुष्य अपने आचरण में कुछ भूलें कर दे और इससे वह अपने व्यावहारिक जीवन में संकट में पड़ जाय। जब मनुष्य बाहरी परिस्थिति को सुलझाने में चिन्तित रहता है और उसकी शक्ति इस प्रकार खर्च होती रहती है, तब उसकी दबी हुई प्रवृत्ति को प्रकाशित होने का अवसर मिलता है। वह उसकी बाहरी चिन्ता को और भी बढ़ाती है। जब मनुष्य का चेतन स्वत्व बाहरी चिन्ता से थक जाता है और उसका विवेक बेठिकाने हो जाता है, तब उसकी दबी हुई प्रवृत्ति फिर उसकी चेतना के प्रतिबंध को तोड़कर बाहर आ जाती है। मन की चिन्ताग्रस्त अवस्था में ही मनुष्य को अनेक प्रकार के मानसिक रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

कितने ही विद्यार्थियों को परीक्षा के समय अनेक प्रकार के मानसिक रोग होते हैं। कभी-कभी जब मनुष्य रोजगार के बिना हो जाता है और प्रयत्न करने पर भी कोई सफलता नहीं पाता, तब उसे मानसिक रोग हो जाता है। जब बाहरी परिस्थितियां काबू में रहती हैं तब मनुष्य अपने आपको सम्हालने में भी समर्थ रहता है। जब बाहरी परिस्थितियां इतनी प्रतिकूल हो जाती हैं कि मनुष्य उनको वश में लाने की हिम्मत खो देता है, तो वह अपने आपको भी नहीं सम्हाल पाता। फिर उसके दबे हुए भाव बाहर आ जाते हैं और मनुष्य विक्षिप्त का-सा व्यवहार करने लगता है। जो बाहरी परिस्थितियां मनुष्य के धैर्य को विचलित करती हैं उनका भीतरी परिस्थिति अर्थात् मनुष्य की दबी हुई प्रवृत्तियों से घनिष्ट सम्बन्ध रहता है। मनुष्य की दबी हुई प्रवृत्तियां ही बाहरी प्रतिकूल प्रवृत्तियों को अपना बल प्रदान कर देती हैं। इस प्रकार जब वे मनुष्य के अभिमान से सीधे लड़ने में असमर्थ होती हैं तो गुप्त रूप से लड़ती हैं। मनुष्य की बाहरी परिस्थितियों से हार अपने आपसे युद्ध में हार जाने का प्रतीक है।

मनुष्य के पाशविक स्वत्व पर विजय उसकी शक्ति की अवहेलना करके नहीं की जा सकती, अपितु उसके उपयोग से ही की जा सकती है। जब मनुष्य अपनी

भोगेच्छाओं को पापमय मान लेता है और इसके कारण वह उनका दमन करता है, तो वे फिर उसी प्रकार की हो भी जाती हैं। जब हम किसी लड़के को बुरे नाम से पुकारने लगते हैं, तो वह बुरा बन जाता है। बार-बार लड़के को चोर कहने से वह चोर बन जाता है और बार-बार उद्दण्ड कहने से वह उद्दण्ड बन जाता है। इसी प्रकार अपनी किसी पाशविक प्रवृत्ति अथवा भोगेच्छा को बुरी कहने से वह वास्तव में बुरी हो जाती है। जिस तरह बुरा नाम देकर किसी बालक का सुधार नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार किसी प्रवृत्ति को बुरा कहकर उसका सुधार अथवा उसकी शक्ति का सदुपयोग नहीं किया जा सकता। मनुष्य की मूल प्रवृत्तियों का विकास उनकी शक्ति के उदात्तीकरण से होता है। परन्तु जब तक हम अपनी किसी प्रकार की मानसिक शक्ति को घृणा की दृष्टि से देखते हैं और उसे अछूत बनाये हुये हैं; तब तक उस मूल प्रवृत्ति की शक्ति का उदात्तीकरण भी सम्भव नहीं। जिस प्रकार सामाजिक जीवन में घृणा से पारस्परिक खिंचाव बढ़ता है, उसी प्रकार अपनी किसी प्रवृत्ति की घृणा से आन्तरिक खिंचाव बढ़ जाता है। तब मनुष्य के व्यक्तित्व में विच्छेद उत्पन्न हो जाता है। जिस घर में स्त्री-पुरुष में प्रेम नहीं, वह सफल नहीं होता, इसी प्रकार जिस मन में आदर्श स्वत्व और भोगेच्छाओं में समन्वय नहीं है, वह भी सफल नहीं होता। ऐसा घर तथा ऐसा मन निराशा से आच्छादित रहता है। यदि पुरुष अपने असाधारण पुरुषार्थ से कुछ काल तक सफलता प्राप्त भी कर ले, तो यह सफलता पीछे विफलता में परिणत हो जाती है। इसी प्रकार जिस व्यक्ति के जीवन में आदर्श स्वत्व और पाशविक प्रवृत्तियों में समन्वय स्थापित नहीं हुआ; वह कुछ समय के लिए संसार में कुछ चमत्कारिक कार्य करने में समर्थ हो सकता है, परन्तु उसके जीवन का अन्त निराशा में ही होता है।

कोई भी मनुष्य अपने जीवन में तब तक सफल नहीं होता जब तक वह अपने आपसे अर्थात् अपने आदर्श स्वत्व और भोगेच्छुक स्वत्व से एकत्व स्थापित नहीं कर लेता। इसके लिए मनुष्य के अपने आदर्श को व्यावहारिक बनाना आवश्यक है। जिस प्रकार छोटे बच्चे को धीरे-धीरे सरल शब्दों में रोचक कहानियों के द्वारा शिक्षित किया जाता है, जिस प्रकार उसकी खेल की प्रवृत्तियों की अवहेलना न करके उनके द्वारा ही बालक को ऊँचा उठाने की चेष्टा की जाती है; उसी प्रकार अपने भोगेच्छुक मन को भी ऊँचा उठाया जाता है। उसे बुरा कहकर दबा देने से उसकी शिक्षा नहीं होती। ऐसी अवस्था में वह मनुष्य का दुश्मन बन जाता है।

देखा गया है कि संसार के कुछ महान् विद्वान् अथवा विख्यात पुरुष अपनी सन्तान को विद्वान् अथवा भला बनाने में असफल रहे। वे उनको जितना ही भला बनाने की चेष्टा करते थे, उनके बालक उतने ही दुराचारी अथवा मूर्ख बन गये। इसका कारण बालकों के प्रति उचित दृष्टि-कोण का अभाव ही था। जगत में उनकी ख्याति ने ही उन्हें अपने बालकों की शिक्षा देने में अयोग्य बना दिया। जो बालक को शिक्षित बनाना चाहता है और जिसने उसकी शिक्षा का भार अपने ऊपर लिया है उसे अपनी ख्याति और विद्वत्ता को भूल जाना होगा। उसे बालक के मानसिक स्तर पर उतरना होगा। इसी प्रकार अपने बाल-मन को शिक्षित बनाने के लिये आदर्शवान पुरुष को बाल-मन के स्तर पर उतरना आवश्यक है। कोरी आदर्शवादिता मनुष्य के अभिमान को बढ़ाती है। जिस मनुष्य को अपनी आदर्शवादिता का अभिमान है, वह आन्तरिक मन में अशिक्षित रहता है। उसकी भोग-वासनाएँ विकसित न होकर पाशविक अवस्था में ही बनी रहती हैं। अतएव आदर्शों का ढिंढोरा पीटनेवाला व्यक्ति भीतर से खोखला होता है। इस प्रकार की आदर्शवादिता आन्तरिक कमी का परिचय देती है। जब मनुष्य में दूसरों की आदर्शवादिता की इच्छा प्रबल होती है, तब उसमें आत्म-दमन की स्थिति बढ़ी हुई रहती है। दूसरों की नैतिकता की शिक्षा के लिए उत्सुक व्यक्ति को वास्तव में अपने आपको इस प्रकार की शिक्षा देने की सबसे अधिक आवश्यकता होती है। आदर्शवादी समझा जानेवाला व्यक्ति केवल चेतन मन में ही आदर्शवादी होता है। उसका अचेतन मन अपनी पाशविक स्थिति में बना रहता है। वह स्वार्थी और भोगेच्छुक बना रहता है।

अपने मन के आदर्शवादी भाग और भोगेच्छुक भाग में समन्वय स्थापित करने के लिये मनुष्य को निरभिमान होने की आवश्यकता है। जब किसी प्रकार के सद्गुण के लिये मनुष्य की ख्याति हो जाती है, तब उसे उसका अभिमान भी हो जाता है। मनुष्य के पास जो कुछ रहता है और जो कुछ वह करता है, उसका उसे अभिमान होता है। यदि किसी मनुष्य ने किसी प्रकार के सद्गुणों की प्राप्ति की चेष्टा की है, तो उसे उन सद्गुणों का अभिमान हो जाता है। धनी को धन का, ऊँची जातिवाले को जाति का, विद्वान को विद्या का और आदर्शवान अथवा चरित्रवान को अपने आदर्श और चरित्र का अभिमान होता है। फिर यही अभिमान मनुष्य के विनाश का कारण बन जाता है। जब मनुष्य एक बार किसी प्रकार के अभिमान का आदी हो जाता है, तब वह अपनी वास्तविक कमी को पहचानने की चेष्टा नहीं करता। जिस मनुष्य को सत्यवादी

होने का अभिमान हो गया है, वह जब कभी इसके प्रतिकूल कार्य करता है, तब अपनी भूल को देखने में असमर्थ रहता है। वह फिर अपने आचरण के लिये कोई कारण खोज लेता है। इस प्रकार एक ओर मनुष्य आदर्शवादी बना रहता है और दूसरी ओर वह नीचा भी बना रहता है। वह अपने आपको सदा धोखा ही देता रहता है। इस प्रकार वह कभी-न-कभी भारी संकट में पड़ जाता है। वह अपने संकट का कारण अपने आपमें न खोजकर किसी बाहरी परिस्थिति के सिर इसका दोष मढ़ता है। मनुष्य की सभी सहायक और बाधक परिस्थितियाँ उसके व्यक्तित्व से ही निकलती हैं, अपने आपको धोखा देनेवाले व्यक्ति में इस सत्य को पहचानने की क्षमता ही नहीं रहती।

अभिमान मनुष्य को शान्ति प्राप्त नहीं करने देता। उसके कारण मानसिक विच्छेद उत्पन्न होता है। जिस प्रकार धन का अभिमानी व्यक्ति गरीबों की अवहेलना करता है, विद्वान् पुरुष अशिक्षितों की, एवं चरित्र का अभिमान रखनेवाला व्यक्ति सामान्य भोगेच्छुक पुरुषों की अवहेलना करता है और उन्हें हेय दृष्टि से देखता है, उसी प्रकार आदर्श का अभिमान करनेवाला व्यक्ति अपनी पाशविक भावनाओं के दमन में ही अपना परम पुरुषार्थ समझने लगता है। फिर जिस प्रकार निर्धन लोग धनी को, अशिक्षित विद्वान् को और भोगेच्छुक चरित्र के अभिमानी को घृणा की दृष्टि से देखने लगते हैं, उसी प्रकार मनुष्य का भोगेच्छुक स्वत्व आदर्श स्वत्व को घृणा की दृष्टि से देखने लगता है। वह उसके प्रति षड्यंत्र करने लगता है। अतएव यदि कोई मनुष्य शान्ति लाभ करना चाहता है तो उसे न केवल चरित्र के अनेक गुणों को प्राप्त करना आवश्यक है; वरन् उसे निरभिमान होना भी आवश्यक है। इस प्रकार अभिमान की उत्पत्ति ही आन्तरिक मन की अशिक्षा का परिचायक है। आत्म-शिक्षा का कार्य इतना बड़ा है कि उसे जन्म भर करते रहने पर भी वह पूरा नहीं होता। मनुष्य विद्वान् बनकर तथा बूढ़ा होकर भी आन्तरिक मन से अशिक्षित और बालक ही बना रह सकता है। बाहर से मनुष्य देवता-तुल्य दिखाई देकर भी भीतर से पशु बना रह सकता है। यह तथ्य नारद, पाराशर, श्रृङ्गी ऋषि आदि के जीवन से प्रमाणित होता है। संसार के अनेक विद्वानों ने साठ और सत्तर वर्ष की अवस्था में नव-युवतियों से विवाह किया। वे अनेक लोगों के गुरु बन गये पर अपने आपको शिक्षित न बना पाये।

किसी प्रकार का अभिमान मानसिक खिंचाव की अवस्था को व्यक्त करता है। इस खिंचाव की अवस्था में भीतरी संघर्ष चलते रहता है। इससे मन की

शक्ति का ह्रास होता है। जब मन का आदर्शवादी भाग अनादर्शवादी भाग से संघर्ष करते करते थक जाता है तो वह क्रियाहीन हो जाता है। वह फिर दबे भावों को चेतना के स्तर पर आने से रोकने में असमर्थ हो जाता है। ऐसी स्थिति में मनुष्य बाध्य होकर वही करने लगता है जिससे वह सदा अपने आप को बचाते रहा है। किसी प्रकार की एकान्तता इसलिये ही बुरी है कि वह कालान्तर में विरोधी प्रवृत्तिओं को मनुष्य के आचरण और विचारों में ले आती है।

मनुष्य के जीवन में सद्विचारों और आदर्शों का होना वहीं तक अच्छा है जहां तक ये सहज रूप से बने रहते हैं। ऐसी अवस्था में मनुष्य को इनका ज्ञान ही नहीं रहता। जब मनुष्य को इनका ज्ञान होने लगता है, जब मनुष्य अपनी ही भालाई का बार बार चिन्तन करने लगता है तब वह अपने भले गुणों को खो देता है।

जब तक मनुष्य अभिमान का त्याग नहीं करता, तब तक उसे अपने आंतरिक मनका ज्ञान नहीं होता। उसका भोगेच्छुक मन उसके अभिमानी स्वत्व के समक्ष आने से सदा डरता ही रहता है। जब तक भगवान बुद्ध को अपनी तपस्या का अभिमान रहा, वे अपने आपको न जान सके। उन्हें तब तक मार दर्शन नहीं हुआ अर्थात् वे अपनी दबी हुई भोगेच्छाओं का प्रत्यक्षीकरण न कर पाये। जब उन्होंने अभिमान का त्याग किया और सुजाता की खीर खाई तथा वे शरीर से तगड़े हुए, तभी उनकी भोगेच्छाएँ उनके चेतन मन के समक्ष आईं।* तब वे अपने आपको पहचान कर अपनी दबी मानसिक शक्तियों का अर्थात् मार की शक्ति का सदुपयोग कर सके। जो व्यक्ति जीवन का प्रयोजन केवल तपस्या करना मान लेता है वह आत्म-ज्ञान से वंचित रह जाता है। उसका मन सदा खिंचाव

---

* भगवान् बुद्धका सुजाता की खीर को स्वीकार करना मानवी प्रेम को स्वीकार करना था। यहाँ खीर प्रेम का प्रतीक है। जो प्रेम नीचे स्तर में कामभावके रूप में प्रगट होता है, वही उच्च स्तर में विश्वप्रेम के रूप में प्रगट होता है। प्रेम की माँगों को पूरा किये बिना शान्ति-पद प्राप्त नहीं होता। मनुष्य की आदर्शवादिता का प्रेम की माँगों से समन्वय स्थापित होने पर ही उसे शान्ति मिलती है। जहाँ आदर्शवादिता प्रेम की माँग की अवहेलना करती है, वहाँ वह मनुष्य का अहंकार बढ़ाती है। इस प्रकार की आदर्शवादिता उसका आध्यात्मिक विकास न कर उसका ह्रास करती है। इससे मनुष्य के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का उत्थान नहीं होता, उसका एक अंग बढ़ जाता है, परन्तु दूसरे अंग अपुष्ट रह जाते हैं।

की अवस्था में ही बना रहता है। इस खिंचाव के कारण उसके प्रत्येक कार्य में एकांगिता और विच्छिन्नता रहती है। वह फिर असाधारण भूलें भी कर बैठता है, जिसके कारण उसे और उसके अनुयाइयों को भारी कष्ट सहना पड़ता है।

अतएव मनुष्य के जीवन की सफलता न केवल सद्गुणों की प्राप्ति में है, वरन् उनके अभिमान के त्याग में है। इस प्रकार के अभिमान के त्यागे बिना कोई भी सद्गुण स्थायी नहीं रहता। कोई भी सद्गुण सहजावस्था में ही स्थायी रह सकता है, मानसिक खिंचाव की अवस्था में नहीं। परन्तु जब तक मनुष्य अपने आन्तरिक मन को शिक्षित नहीं बनाता, तब तक उसके मन के खिंचाव की अवस्था का अन्त कैसे हो सकता है? जब मनुष्य निरभिमान हो जाता है, तब वह अपने आपको सरलता से पहचान लेता है। अभिमान की कमी की अवस्था में मनुष्य अन्तर्मुखी हो जाता है। फिर उसकी अनेक दबी हुई गुप्त वासनाओं का उसे ज्ञान हो जाता है। इन वासनाओं का ज्ञान कर लेने पर वह उनकी शक्ति का शोध करने में समर्थ होता है। अभिमानी मनुष्य अपने विषय में वैसा ही सोचता है, जैसा दूसरे लोग उसके बारे में सोचते हैं; यह बहिर्मुखता है। इस प्रकार की मनोवृत्ति आत्म-समन्वय स्थापित करने में बाधक होती है। संसार की दृष्टि में भला बने रहने की चेष्टा अन्त में दुःखद परिणाम लाती है। जब तक मनुष्य आत्म-समन्वय की स्थिति प्राप्त नहीं कर लेता, तब तक दूसरों की दृष्टि में उसकी सम्मानित होने की अभिलाषा नहीं जाती।

मनुष्य अभिमान को कैसे खोये—यह एक बड़ा जटिल प्रश्न है। क्या चरित्र के अभिमान को खोकर मनुष्य पतित नहीं हो जायगा? मनुष्य को चरित्र के सद्गुणों को प्राप्त करना आवश्यक है। परन्तु उनके विषय में अभिमान करना मन की असंतुलित अवस्था का प्रतीक है। मनुष्य के सच्चे सद्गुण वे ही हैं, जिनके विषय में वह उसी प्रकार नहीं सोचता जिस प्रकार वह अपने शरीर के अवयवों के बारे में नहीं सोचता। हम अपने हाथ-पैर आँख आदि का अभिमान नहीं करते। इसी प्रकार सच्चा सद्गुणी व्यक्ति अपने सद्गुणों के बारे में अनभिज्ञ-सा ही रहता है। ऐसा व्यक्ति ही आत्म-समन्वय स्थापित करने में सफल होता है। जिस व्यक्ति की शिक्षा भली भाँति हुई है और जिसके व्यक्तित्व का विकास उचित ढंग से हुआ है, उसे स्वभावतः ही अपने सद्गुणों का अभिमान नहीं होता। जिस व्यक्ति का जीवन किसी प्रकार एकाङ्गी है; उसी को अपने गुणों का अभिमान होता है।

अभिमान की उत्पत्ति होने पर उसका विनाश करना कठिन है। यह वह मानसिक रोग है, जो अन्य मानसिक रोगों को ढांकता है। इसके विनाश के लिए संसार के महान् पुरुषों के बताये हुये मार्गों की शरण लेनी पड़ती है। संसार की अनित्यता की भावना का अभ्यास अभिमान के विनाश करने का एक उपाय है। इसे भगवान् बुद्ध ने बताया है। किसी महान् सत्ता के प्रति आत्म-समर्पण करना, अपने आपको शून्य-रूप मानना अभिमान-विनाश के दूसरे उपाय हैं। अभिमान-विनाश के लिये ही मनुष्य को आत्म-ज्ञान अथवा धर्म की आवश्यकता पड़ती है।

मनुष्य को अभिमान तभी होता है जब वह किसी प्रकार अपने जीवन को एकांगी बनाता है। जब मनुष्य अपने सभी काम सहज भाव से करता है तब उसे किसी प्रकार का अभिमान नहीं होता। जो लोग अपने ऊपर कठोर व्रत लाद लेते हैं, जो नंगे समाज में घूमते हैं, जो नख बढ़ाते रहते हैं, हाथ ऊँचा किये रहते हैं अथवा जो लंगटीधारी बन जाते हैं उन्हें अपने तप और त्याग का अभिमान सदा बना ही रहता है। उन्हें तब तक शान्ति नहीं मिलती जब तक वे अपने आपको समाज का विशेष व्यक्ति न मानें। उनकी इस प्रकार शांति-प्राप्ति की चेष्टा उन्हें सदा मानसिक खिंचाव में ही बनाए रखती है।

संसार के अनेक लोग दूसरों के सुधार करने में लगे रहते हैं। दूसरों को सुधारे बिना जिन्हें चैन नहीं मिलती वे वास्तव में न तो दूसरों का सुधार कर पाते हैं और न अपने आपका। जिस प्रकार के सुधार वे दूसरों में करना चाहते हैं उस प्रकार के सुधारों की वास्तव में उन्हीं में आवश्यकता रहती है। उनका अभिमान उनकी कमियों को उनकी दृष्टि से ओझल रखता है। ऐसे लोग जीवित अवस्था में मानसिक बेचैनी में रहते हैं और अपना अन्त निराशा में ही करते हैं। दूसरों का वास्तविक सुधार वे ही लोग कर पाते हैं जो अपना जीवन सहज रूप से व्यतीत करते हैं। दूसरों के सुधार का ठेका लेना एक ऐसी भूल है जिसमें समाज के सम्मानित लोग अनिवार्य रूप से पड़ जाते हैं और फिर वे अपना ही विनाश कर लेते हैं।

सर्वोत्तम जीवन सन्तुलित जीवन है। इस प्रकार के जीवन में मनुष्य की स्वार्थमयी वृत्तियों और परोपकारी वृत्तियों में समन्वय रहता है। जो व्यक्ति अपनी इन्द्रियों का दमन के लिये ही दमन करता है, जो अपने शरीर को व्यर्थ त्रास देता है, वह उसी प्रकार निन्दनीय है जिस प्रकार सदा भोग-लिप्सा में लगा हुआ व्यक्ति निन्दनीय है। इसी प्रकार जिन लोगों को केवल समाज की ही

चिन्ता रहती है और घर की जिम्मेदारी को जो भुला देते हैं वे भी सदा अशांति में रहते हैं। उन्हें उनका लोकसेवा का अभिमान ही खा डालता है। अतएव त्याग, तप, लोकसेवा उतनी ही ठीक है जो सहजरूप से की जा सके। जो मनुष्य अपने आपको सदा रचनात्मक कार्यों में लगाये रखते हैं, चाहे उनसे अपना लाभ हो अथवा दूसरों का, वे इस सहजावस्था को अनायास प्राप्त कर लेते हैं। मनुष्य को अपनी भलाई के लिये दूसरों की भलाई करनी ही पड़ती है और दूसरों की भलाई करने में अपनी भलाई अनायास हो जाती है।

छियालीसवाँ अध्याय

मानसिक शक्ति का साक्षात्कार

प्रत्येक व्यक्ति के मन में अनंत शक्ति है। जब मनुष्य के मन में शक्ति होती है तो उसे अपने आप में विश्वास होता है। मनुष्य का विश्वास उसके संकल्पों को सफल बनाने का आधार है। हम अनेक प्रकार के संकल्प प्रतिक्षण किया करते हैं। कितने ही संकल्पों के फलित होने में हम विश्वास करते हैं और कितने ही के विषय में हमारा विश्वास नहीं होता है। जिस प्रकार का हमारा विश्वास होता है उसी प्रकार का अदृश्य जगत् में कार्य होने लगता है और फल भी उसी प्रकार का होता है।

शक्ति के संग्रह के लिए एक ओर शक्ति की प्राप्ति अथवा उत्पादन और दूसरी ओर उसका संग्रह आवश्यक है। मानसिक शक्ति की प्राप्ति दो प्रकार से होती है—एक बाहर से और दूसरी भीतर से। मानसिक शक्ति भौतिक शक्ति से पृथक् वस्तु है। भौतिक शक्ति का आधार भौतिक सामग्री है और मानसिक शक्ति का आधार विचार है। मनुष्य को विचार दो प्रकार से मिलते हैं, एक बाहरी पदार्थों, पुस्तकों तथा ज्ञानी व्यक्तियों से सम्पर्क होने अथवा परामर्श करने से और दूसरे स्वतंत्र चिन्तन करने, ध्यान की एकाग्रता करने तथा मनोवृत्तियों को भीतर की ओर ले जाने से। मानसिक शक्ति का रूप निश्चय है। जिस मनुष्य का निश्चय जैसा होता है उसकी शक्ति उसी प्रकार की होती है। विद्या अध्ययन और विचार, सत्संग और साधना निश्चय को दृढ़ बनाने के साधन मात्र हैं। निश्चय के दृढ़ होने पर मनुष्य अपने आप में निश्चय के अनुसार परिवर्तन होते हुये स्वतः पाता है। अपने निश्चय के अनुसार मनुष्य में न केवल बाह्य परिस्थितियों में परिवर्तन हो जाता है, वरन् उसके शरीर और शरीर के भीतर चलने वाली क्रियाओं में भी परिवर्तन हो जाता है।

मान लीजिए, किसी व्यक्ति को दृढ़ निश्चय हो गया कि वह संसार में कोई भारी काम करने आया है, उसकी बुद्धि विलक्षण है, तथा उसे अपूर्व सफलता अपने काम में मिलेगी, तो उसे उसी प्रकार की परिस्थितियाँ मिलने लगती हैं। वास्तव में मनुष्य को बनाने और बिगाड़ने वाली परिस्थितियों में कोई मौलिक भेद नहीं होता। जो परिस्थिति एक व्यक्ति को बना देती है वही परिस्थिति दूसरे व्यक्ति को बिगाड़ देती है। मनुष्य के जैसे विचार होते हैं वह

परिस्थितियों में भी उसी प्रकार की बातें देखता है। जब मनुष्य के विचार अपने ही प्रतिकूल होते हैं तो वह परिस्थितियों में भी प्रतिकूलता पाता है और जब उसके विचार अनुकूल होते हैं तो वह परिस्थितियों में भी अनुकूलता पाता है और उनसे लाभ उठाने के लिए तत्पर रहता है।

किसी भी बात को बारबार सोचने से मनुष्य के आन्तरिक स्वभाव में परिवर्तन हो जाता है। यदि कोई व्यक्ति अपने आप को निर्बल सोचता है तो वह निर्बल हो जाता है और यदि वह अपने आप को बलवान् सोचता है तो वह कालान्तर में बलवान हो जाता है। जो मनुष्य यह समझता है कि वह अपने मन को अपने वश में कर सकेगा तो वह उसे वश में करने में समर्थ होता है, इसके प्रतिकूल जो यह सोचते रहता है कि वह अपने मन को वश में करने में असमर्थ रहेगा तो वह उसे कदापि वश में न कर सकेगा। सभी प्रकार के सद्गुणों का आविर्भाव दृढ़ निश्चय से होता है। मनुष्य में कोई सद्गुण एकाएक नहीं आ जाता। प्रत्येक सद्गुण अभ्यास से आता है और इस अभ्यास का आधार निश्चय है। जो व्यक्ति अपनी कमजोरियों पर ही चिन्तन किया करते हैं वे अपने आप को ऊँचा उठाने में कभी समर्थ नहीं होते। इसी प्रकार अपने मित्रों की, कुटुम्ब की, अथवा समाज की कमजोरियों पर चिन्तन करने से हम उन्हें ऊँचा नहीं उठा सकते; उनके विषय में रचनात्मक बातें मन में लाकर ही हम उन्हें उठा सकते हैं। हम अपने अथवा दूसरे लोगों के विषय में जैसे विचार मन में लाते हैं हम अपने आप को तथा दूसरों को उसी प्रकार का बनाने में सहायता देते हैं। हमारे बारबार आने वाले विचार हमारे अचेतन मन में स्थान कर लेते हैं। हमारा आचरण अचेतन मन पर ही निर्भर करता है, अतएव यदि हम अपने विषय में कोई शुभ विचार नहीं लाते तो हमारे आचरण में कोई सुधार नहीं होता। जिस प्रकार अपने आचरण के विषय में नित्यप्रति के विचारों से मौलिक परिवर्तन होता है उसी प्रकार समाज के आचरण में भी नित्यप्रति के विचारों से मौलिक परिवर्तन होता है।

मनुष्य में शारीरिक परिवर्तन भी नित्यप्रति के विचार से हो जाता है। मनुष्य की कल्पनायें उसके निश्चय के अनुरूप होती हैं। जैसी जैसी कल्पनायें मनुष्य के मन में उठती हैं उसी प्रकार का उसके स्वास्थ्य और शरीर में परिवर्तन हो जाता है। प्रबल कल्पना से गोरा मनुष्य काला हो जाता है और काला मनुष्य गोरा हो जाता है। स्त्री और पुरुष के वर्ण में इस प्रकार परिवर्तन हो जाता है। प्रबल कल्पना से जो बीमारियां हमारे शरीर में नहीं हैं वे उत्पन्न हो

जाती हैं। इसी प्रकार बीमारियों के रहने पर स्वास्थ्य की कल्पना करते करते मनुष्य स्वस्थ हो जाता है।

मानसिक शक्ति का ह्रास विषयभोग से और मानसिक अन्तर्द्वन्द्व से होता है। जिस मनुष्य में इन्द्रियों के रोकने का अभ्यास नहीं है उसकी मानसिक शक्ति बिखरी हुई रहती है। जिस प्रकार बल्ब से प्रकाश हो जानेपर बिजली की शक्ति कम होती है अन्यथा संचित रहती है, इसी प्रकार मन को विषयभोग से रोकने से मन की शक्ति संचित रहती है। जो मनुष्य अपनी भोग-इच्छाओं पर जितना अधिकार रखता है उसकी मानसिक शक्ति उतनी ही अधिक रहती है। ऐसे व्यक्ति की इच्छा-शक्ति दृढ़ होती है। पर यह संचित शक्ति मानसिक अन्तर्द्वन्द्व में नष्ट हो जाती है। मन को विषयों से रोकना तप है। तप शक्ति का उत्पादक है, पर वह अभिमान, क्रोध, द्वेष आदि भावनाओं के कारण नष्ट हो जाता है। शक्ति के संचित होने पर मनुष्य को अपनी शक्ति का अभिमान हो जाता है। इस शक्ति के कारण मनुष्य के व्यक्तित्व की महत्ता बढ़ जाती है। अब मनुष्य अपने आप को विशेष व्यक्ति समझने लगता है। यदि कोई व्यक्ति उसका विरोध करता है तो वह उसे नष्ट कर डालने की इच्छा करता है। पर अपनी शक्ति का इस प्रकार का उपयोग करने से स्वयं उसका ही मानसिक ह्रास होता है।

तप करने के साथसाथ मानसिक शुद्धि करना आवश्यक है। मानसिक शक्ति अपने व्यक्तित्व को सर्वात्मा में लीन करने से होती है। मनुष्य की किसी प्रकार की संचित शक्ति बिना काम के नहीं रहती। जब मनुष्य अपनी शक्ति को लोक-कल्याण में लगाता है तो उसकी शक्ति दिन प्रतिदिन बढ़ती जाती है। किन्तु जब वह अपनी शक्ति को किसी वैयक्तिक भावना की पूर्ति में लगाने लगता है तो एक समय के बाद उसके मन में मानसिक अन्तर्द्वन्द्व उत्पन्न हो जाता है। ऐसी अवस्था में व्यक्ति अपने आप को ही कोसने लगता है। अपने आप को कोसना आत्मपतन की पूर्व अवस्था है।

असफल मनुष्य को आत्म-भर्त्सना की भावना होती है। पर यह भावना प्रायः बाहरी किसी पदार्थ पर अथवा व्यक्तियों पर आरोपित हो जाती है। दूसरे लोगों को अपनी असफलता का कारण मानना अथवा उन्हें किसी बात के लिए दोषी ठहराना यह आत्मग्लानि की भावना का आरोपण मात्र है। असफलता की भावना से भरे मनुष्य को प्रतिकूल परिस्थितियां ही दिखलाई देती हैं। वह यदि कहीं चलता है तो उसे असगुन हो जाता है। दुष्ट लोग किसी न किसी प्रकार उसके काम में विघ्न डालने के लिए उद्यत रहते हैं।

जब मनुष्य निराशावादी बन जाय, जब वह किसी भी काम के लिए अपने भाग्य को अथवा दूसरे लोगों को कोसे, तो हमें यह समझ लेना चाहिए कि उसका आध्यात्मिक पतन हो चुका है। आध्यात्मिक पतन के कारण ही मनुष्य को मानसिक दुःख होता है। इसी के कारण मनुष्य का स्वभाव क्रोधी और चिड़चिड़ा हो जाता है। मानसिक दुःख अपनी मानसिक परिस्थिति के अतिरिक्त और किसी कारण से नहीं होता। पर इस परिस्थिति का आरोपण बाहर किया जाता है।

मान लीजिये, कोई राजनैतिक नेता अपने तप, संयम और त्याग के द्वारा समाज का सर्वमान्य व्यक्ति हो गया है। यह उसकी मानसिक शक्ति के संचय का परिणाम है। जब मनुष्य की मानसिक शक्ति संचित रहती है तो वह सभी लोगों को उत्साह और उमंग से भरे रहता है। ऐसी अवस्था में वह जो बात दूसरे लोगों को समझाता है वे उसे सही मानने लगते हैं। जब उसकी मानसिक शक्ति का ह्रास हो जाता है तो वह न कोई उत्साह अथवा उमंग की बात अपने अनुयाइयों से कहता है और न उसका अपने अनुयाइयों के मन पर अधिकार रहता है। जनता उसकी बातों को अन्ध-विश्वास के कारण, अथवा पूर्व श्रद्धा के कारण, अथवा भय के कारण मानती रहती है। पर उसकी नुक्ताचीनी करने वाले लोगों की संख्या बढ़ती जाती है। इन नुक्ताचीनी करने वाले लोगों से वह चिढ़ने लगता है। वह बरबस लोगों को चुप करने की चेष्टा करता है। भय के कारण लोग चुप हो जाते हैं। पर धीरे धीरे असंतोष की मात्रा बढ़ती जाती है। अब नेता से भूलें भी अधिक होने लगती हैं। इन भूलों के कारण उसके प्रति और भी जनता की श्रद्धा उठ जाती है। जब उसकी भूलें उसे बताई जाती हैं तो वह उन्हें सुधारने के बदले झल्ला उठता है। मानसिक शक्ति की ह्रास की अवस्था में मनुष्य में आत्म-निरीक्षण की क्षमता रह ही नहीं जाती। जिस व्यक्ति में जितनी अधिक मानसिक शक्ति की कमी रहती है उसमें आत्म-निरीक्षण की उतनी कम योग्यता होती है। देश के बड़े बड़े नेताओं में आत्मसुधार की शक्ति जब नहीं रहती तो या तो समाज उन नेताओं का त्याग कर देता है अथवा समाज ही नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है।

जिस मनुष्य में जितनी ही मानसिक शक्ति का ह्रास होता है उसका अभिमान भी उतना ही बढ़ा होता है। मनुष्य के अभिमान का आधार उसका पुराना कृत्य होता है और उसकी मौलिकता का आधार उसकी वर्तमान मानसिक शक्ति होती है। शक्तिमान व्यक्ति में विनय व शान्ति और शील रहता है। वह अपनी शक्ति को अपनी न मानकर सर्वात्मा की शक्ति समझता

है। और वह अपने पुराने कृत्यों का स्वयं अभिमान न कर उसका श्रेय सर्वात्मा को ही देता है। जो मनुष्य अपने पुराने कार्यों का जितना कम अभिमान करता है वह उतना ही वर्तमान समय में शान्त व शक्तिशाली रहता है। अभिमान की उत्पत्ति एक प्रकार की मानसिक बीमारी है। अत्यधिक अभिमान की वृद्धि पतन की पूर्वावस्था है। अभिमानी मनुष्य का मन सदा अशान्त रहता है। वह अपनी अशान्ति का कारण नहीं जानता। प्रायः वह दूसरे लोगों के षड्यन्त्र को अपनी अशान्ति का कारण ठहराता है। कुछ समय के बाद वह सोचने लगता है कि उसके आसपास सभी लोग षड्यन्त्र कर रहे हैं और उसके प्रयत्न को विफल करने की चेष्टा में लगे हुये हैं। वह इस प्रकार के षड्यन्त्र के प्रमाण भी पाता है। इस प्रकार की मनोवृत्ति पागलपन है जो मानसिक शक्ति के ह्रास को दर्शाती है।

ऊपर कहा जा चुका है कि मनुष्य अपनी शक्तियों को अपनी भावना के अनुसार विकसित करता है। जो व्यक्ति अपने विषय में जैसा विचार करता है वह अपने आप को वैसा ही बना लेता है। जिस व्यक्ति का जैसा निश्चय है वह उसी रूप का है। अपना निश्चय मनुष्य के आत्मनिर्देश का कारण बन जाता है। यह आत्मनिर्देश मनुष्य को उसी ओर ले जाता है और उसकी शक्तियों को उसी प्रकार से विकसित करता है जिस तरह का निश्चय होता है।

निश्चय का आधार अपने आप के विषय में ज्ञान है। अज्ञान की अवस्था में किया गया कोई भी निश्चय निर्मूल अथवा व्यर्थ होता है। जितना ही हम अपने आप के विषय में जानकारी बढ़ाते हैं, हमारा अपने विषय में उतना ही अधिक उत्तम निश्चय होता है और हमारी मानसिक शक्तियाँ उसी के अनुसार विकसित होती हैं। जो व्यक्ति अपने आप को जानने की चेष्टा नहीं करता और संसार के साधारण झंझटों में स्वयं को फँसाये रखता है उसके अपने आप के विषय में कुछ भी स्थिर विचार नहीं रहते। वह अपने आप के विषय में वैसा ही सोचने लगता है जैसा कि दूसरे लोग उससे सोचवाते हैं। अपने विचारों पर उसका कुछ भी नियंत्रण नहीं रहता। जब दूसरे लोग उसके विषय में सोचने लगते हैं कि वह बड़ा पतित है, दयनीय है, अथवा दुखी है तो वह भी अपने विषय में वैसा ही सोचने लगता है। बहुत से मनुष्य समय के पूर्व इसलिए मर जाते हैं कि वे अपने विषय में बाहर से आनेवाले निर्देशों का सामना नहीं कर पाते। उनकी इच्छाशक्ति निर्बल रहती है। जैसी कल्पनाएँ दूसरे लोग उनके मन में उठाना चाहते हैं वैसी ही कल्पनायें उनके मन में उठने लगती हैं। इस तरह वे अपने आप को

दुखी, पागल तथा अल्प आयु बना लेते हैं। जब तक मनुष्य अपना आत्मज्ञान नहीं बढ़ाता उसका निश्चय निराधार और डवांडोल रहता है। अतएव मानसिक शक्ति के साक्षात्कार के लिये मनुष्य को बार-बार अपने विषय में चिन्तन करना आवश्यक है।

आधुनिक विज्ञान ने अणु की शक्ति की खोज की है। संसार का सबसे बड़ा अस्त्र अणु-बम्ब है। पिछली लड़ाई का अन्त दो ही अणु-बम्ब ने कर दिया। यदि अणु-बम्ब जापान के शहरों पर न डाले जाते तो लड़ाई और चलती। इस अणुशक्ति की खोज बहुत दिनों से हो रही थी। वैज्ञानिकों को यह अन्दाज लगा था कि अणु में इतनी अधिक शक्ति है कि उसके द्वारा संसार का कोई भी कार्य सरलता से किया जा सकता है। यदि अणु को तोड़ दिया जाय तो इस शक्ति का उदय हो जाता है। प्रत्येक अणु का विशेप प्रकार का संघटन है। एक अणु एक सूर्यमण्डल के समान है। जिस प्रकार से सूर्यमण्डल में एक सूर्य होता है और उसके आसपास नक्षत्र स्वयं घूमा करते हैं, इसी तरह एक अणु के भीतर एक न्यूक्लियस होता है। यह स्थिर रहता है और अपनी कील पर ही घूमता है। उसके आसपास घूमनेवाले 'एलेक्ट्रन' नामक परमाणु होते हैं। अणु भिन्न भिन्न प्रकार के होते हैं। किसी अणु में अधिक संख्या में और किसी अणु में कम संख्या में परमाणु होते हैं।

अणु के संगठन को तोड़ना अति कठिन है। इसके लिए वैज्ञानिकों ने विशेप प्रकार की "साइक्लोटोन" नामक मशीनों का आविष्कार किया है। अणु के शक्ति की पहचान पहले-पहल जर्मन वैज्ञानिकों ने की। लड़ाई के समय अणु को तोड़ने के अनेक प्रयोग वहाँ होते रहे। अमेरिका के वैज्ञानिक भी इस प्रयोग को उसी समय कर रहे थे। अणु को तोड़ कर ही उनकी शक्ति का लाभ उठाया जा सकता है। अनेक प्रयोगों के बाद अनेक सुविधाओं के कारण अमेरिका के वैज्ञानिक ही अणु के शक्ति को अपने उपयोग में ला सके। यह शक्ति इतनी अधिक है कि यदि उसे विनाशकारी काम में लाया जाय तो संसार भर के सभी बड़े नगरों का विनाश दो ही दिन में हो जाय और यदि इस शक्ति का सदुपयोग किया जाय तो संसार के लोग दुर्लभ वस्तु को प्राप्त कर लें। अभी तक विनाशकारी कामों में ही इस शक्ति का प्रयोग हुआ है; न जाने कब उसे मनुष्यों के कल्याण के काम में लाया जायगा।

अणु की शक्ति का जो भी उपयोग हो रहा है अथवा हो सकता है, इससे हमारा यहाँ विशेप प्रयोजन नहीं। अणु के शक्ति के विषय में चर्चा करने

का इतना ही प्रयोजन है कि हम अपने आप के विषय में और अपनी शक्ति से परिचित हों। उपनिषद् के रचयिता ऋषियों ने आत्मा को अणु का अणु और महान से महान बताया है—"अणुतो अणीयान् महतो महीयान्"। यह हमारी आत्मा छोटी से छोटी और बड़ी से बड़ी है। जिस प्रकार अणु जिसे खुर्दबीन से भी नहीं देखा जा सकता, महान शक्तिशाली है उसी प्रकार मनुष्य का मन भी अत्यन्त शक्तिशाली है। आश्चर्य की बात यह है कि अणुशक्ति के विषय में तो वैज्ञानिकों ने इतना अधिक आविष्कार कर डाला पर मन की शक्ति के विषय में, जिसने ही वास्तव में अणुशक्ति की खोज की, कुछ भी आविष्कार नहीं किया। इतना ही नहीं, हम अपने वैज्ञानिक ज्ञान की वृद्धि के साथ अपने आपको और भूलते जाते हैं।

मनुष्य के व्यक्तित्व की शक्ति वैसी ही अमित है जैसी कि अणु की। हमारा शरीर ही अनेक अणुओं का बना है। इन अणुओं में कितनी शक्ति केन्द्रित है इसकी कल्पना कौन कर सकता है? दुबले से दुबला मनुष्य अपने शरीर के अणुओं की शक्ति से संसार भर को नष्ट कर दे सकता है। पर मनुष्य शरीर मात्र नहीं है। वह चैतन्य प्राणी है और उसमें अपने आप को क्रियमाण करने और नियंत्रित रखने की शक्ति है। इतना ही नहीं वह अपने आपको जान सकता है। ये शक्तियाँ जड़ अणु में नहीं हैं। जड़ अणु न तो स्वयं को गतिमान् कर सकता है और न उसमें स्वयं को जानने की शक्ति है। जीवित अणु में यह शक्ति है, पर उसमें अपने आप को जानने की शक्ति नहीं है। अतः उसमें आत्म-नियंत्रण की भी योग्यता नहीं है। चैतन्य अणु जो मनुष्य के रूप में रहता है न केवल शक्ति का केन्द्र है, किन्तु वह स्वयं क्रियमाण व ज्ञानवान है। अपने आप के विषय में न चिन्तन करने के कारण ही वह अपने आप को दयनीय बना लेता है। आत्म-ज्ञान के अभाव में बाहरी विचार मनुष्य के मस्तिष्क में स्थान पा लेते हैं और इन विचारों के कारण ही मनुष्य अपने आप को संसार का एक तुच्छ प्राणी समझने लगता है।

जड़ अणु की शक्तियों को बाहर निकालने के लिए दूसरे लोगों को प्रयत्न करना पड़ता है। स्वयं अणु न तो अपनी शक्ति का ज्ञान रखता है और न उस शक्ति को प्रकाशित कर सकता है। जड़ अणु की शक्तियों को प्रकाशित करने के लिए चैतन्य अणु की सहायता की आवश्यकता है पर चैतन्य अणु अपनी शक्ति अपने आप जान सकता है और उन शक्तियों को प्रकाशित कर सकता है। वह इस स्वयं को मनचाहा बना सकता है। इस

कार्य में लगन भर की अपेक्षा है। जिस प्रकार की लगन वैज्ञानिकों ने जड़ अणु की शक्ति की खोज में दिखाई उससे कहीं अधिक लगन चैतन्य अणु की शक्ति का पता लगाने में आवश्यक है।

यह चैतन्य अणु है क्या? यह मनुष्य का दृढ़ विचार ही है। हमारे विचारों में अमित शक्ति है। पर इस शक्ति का साक्षात्कार विरले ही पुरुष को होता है। अपनी शक्ति में विश्वास न रखने के कारण उस शक्ति को रखकर भी उसका लाभ हम नहीं उठाते। हमारे विचारों की शक्ति या तो व्यर्थ चली जाती है या हमारे प्रतिकूल काम करती है। हम जितना ही विचारों के विषय में अध्ययन करते हैं और विचारों की सफलता के नियमों के अनुसार उन्हें चलाते हैं उतना ही हम उनकी शक्ति से लाभ उठाते हैं। रोग और स्वास्थ्य, काम में सफलता और विफलता, दूसरे व्यक्ति पर अपना प्रभाव अथवा अप्रभाव, धन संचय और विनाश, सभी बातें हमारे विचार की गति पर निर्भर करती हैं। अतएव हमें यह जानना अत्यन्त आवश्यक है कि मनुष्य का कौनसा विचार फलित होता है और कौनसा व्यर्थ जाता है। शक्तिहीन विचार को शक्तिशाली कैसे बनाया जाय और किसी विचार की गति अपने ही प्रतिकूल हो जाने पर उसे कैसे अनुकूल दिशा में मोड़ा जाय, यह जान लेना मनुष्य का परम पुरुषार्थ है।

विचार की शक्ति उसकी एकाग्रता पर निर्भर करती है। जब कोई भी विचार सदा एक ही ओर प्रवाहित होते रहता है तो वह अवश्य ही फलित होता है। साधारणतः हमारा कोई विचार एकाग्र नहीं होता। विचार की एकाग्रता के लिए अपने प्रयत्न की सफलता में विश्वास होना अति आवश्यक है। पर भविष्य के विषय में कौन पहले से ही निश्चित हो सकता है कि कोई घटना एक प्रकार से घटित होगी या दूसरी प्रकार से घटित होगी। अतएव जिस घटना में मनुष्य का स्वार्थ रहता है उसके विषय में वह चिंतित रहता है। चिन्ता का अर्थ है सफलता में सन्देह। सन्देह नकारात्मक विचार है। जो कुछ सकारात्मक विचार बनाता है उसे वह नष्ट कर डालता है। मनुष्य की किसी एक बात में जितनी प्रबल इच्छा होती है उस बात के सम्बन्ध में उसके नकारात्मक विचार भी उतने ही प्रबल होते हैं। उसका चेतन मन एक प्रकार का विचार करता है, उसके ठीक प्रतिकूल उसका अचेतन मन प्रेरणा उत्पन्न करता है। मनुष्य को किसी कार्य में सफलता तभी मिलती है जब कि उसके और अचेतन मन में एकता रहती है, अर्थात् जब मनुष्य का अचेतन मन वही करने लगता है जो

उसका चेतन मन चाहता है। किसी काम को करने की शक्ति मनुष्य के अचेतन मन में है, उसके चेतन मन में राय देने अथवा चिन्तन करने मात्र की शक्ति है। जो बात मनुष्य का अचेतन मन नहीं चाहता वह नहीं होती। जब किसी कार्य को मनुष्य का अचेतन मन नहीं चाहता तो वह अनेक प्रकार की शंकायें उत्पन्न करता है। इसके कारण चेतन मन की विचारधारा एकमुखी होकर बहु-मुखी हो जाती है और इस प्रकार वह किसी भी काम को पूरी लगन से नहीं कर पाता।

मनुष्य के चेतन और अचेतन मन में अनुरूपता और विरूपता दोनों प्रकार का सम्बन्ध है। चेतन मन का सम्पर्क बाह्य जगत से है। उसके अचेतन मन का सम्बन्ध अन्तर जगत से है। मनुष्य का चेतन मन ज्ञाता है। उसका अचेतन मन शक्ति को धारण करता है। व्यक्ति का चेतन मन भोक्ता है और अचेतन मन भोगों का निर्माणकर्ता है। विचार चेतन मन में उठते हैं उनको फलित अचेतन मन ही करता है। किसी भी विचार के दो सिरे होते हैं। एक सिरा तो सकारात्मक होता है और दूसरा नकारात्मक। विचार का नकारात्मक सिरा अन्तर जगत से सम्बन्धित रहता है। एक चेतन मन में रहता है तो दूसरा अचेतन मन में। जो विचार मनुष्य के अचेतन मन तक पहुँचता है वही फलित होता है। पर अचेतन मन तक पहुँचने तक विचार अपने विपरीत अवस्था में परिणत हो जाते हैं। चेतन मन में किसी भी विचार के उठते ही अचेतन मन में विरोधी विचार उठ जाता है। इस विरोध के कारण कोई विचार ही फलित नहीं होता। इतना ही नहीं, विरोधी विचार फलित होने के लिए अधिक तत्पर हो जाता है। विचार को फलित होने के लिए यह आवश्यक है कि विरोधी विचार मन में न उठें। पर विरोधी विचार किसी भी विचार के साथ इस तरह जुड़े हैं कि जिस प्रकार किसी वस्तु के दो सिरे।

जब मनुष्य किसी प्रकार की इच्छा करता है और उसके प्रतिकूल भी वह चिन्ता करने लगता है तो उसकी इच्छा फलवती नहीं होती। कितने ही लोग अपनी सफलता के विषय में आत्म-निर्देश देते हैं पर उनके निर्देश सन्देह-रहित नहीं होते। अतएव वे सफल नहीं होते। इतना ही नहीं, इन निर्देशों के कारण वे कई प्रकार के संकटों में पड़ जाते हैं। आत्म-निर्देश रोगों से मुक्त होने का एक बड़ा अचूक उपाय है। परन्तु साधारणतः आत्मनिर्देश से रोगों का नाश न होकर उनकी वृद्धि होती है। थोड़े ही समय में निर्देश की शक्ति में ही मनुष्य का विश्वास चला जाता है। इस प्रकार की स्थिति का कारण

संशय की मनोवृत्ति का आ जाना होता है। चेतन मन की इच्छा के साथ साथ मनुष्य के सन्देह उसके अचेतन मन में कार्य करने लगते हैं। सन्देह उसके आत्म विश्वास को नष्ट कर डालते हैं। इस तरह मनुष्य को सफलता की जगह विफलता ही मिलती है।

मनुष्य को सन्देह क्यों उठते हैं ? सन्देह उठने का प्रमुख कारण अपनी शक्ति के विषय में अज्ञान है। जो मनुष्य जितनी ही भोग-इच्छायें रखता है वह अपनी शक्तियों से उतना ही अज्ञ रहता है। इच्छायें मनुष्य की देहात्म-बुद्धि को दृढ़ करती हैं। मनुष्य की देहात्मबुद्धि जितनी अधिक दृढ़ होती है उसके सन्देह भी उतने ही दृढ़ होते हैं। इच्छाओं की कमी देहात्म की भी कमी करती है। मनुष्य की इच्छायें जितनी ही अधिक विकसित होती हैं वह उतना ही अपना स्वरूप जानता है और उसकी शक्ति भी उतनी ही अधिक होती है। जब मनुष्य वैयक्तिक इच्छाओं को फलित होने के लिए प्रयत्न करता है तो वह अपने आप में उतनी ही शक्ति का अनुभव करता है जितना कि वैयक्तिक जीवन के लिए आवश्यक है। इससे अधिक शक्ति की जब आवश्यकता होती है तो उसे इसके अस्तित्व में विश्वास नहीं होता। पर जब मनुष्य ऐसी इच्छाओं की पूर्ति करना चाहता है जिससे उसके वैयक्तिक लाभ के साथ-साथ दूसरे लोगों का लाभ भी हो तब वह अपने आप में अधिक शक्ति का अनुभव करता है। उसे अपने समाजकल्याण की भावनाओं के सफल होने में सन्देह नहीं होता। जब कोई मनुष्य अपनी सभी प्रकार की इच्छाओं का नाश करके दूसरे लोगों के कल्याण के लिए ही अपना जीवन बिताने लगता है तो उसके संकल्प की शक्ति अतुल हो जाती है। दूसरे के कल्याण के लिए किये गये विचार में सन्देह की मात्रा नहीं रहती। दूसरे के कल्याण के विषय में निःस्वार्थ भाव से चिन्तन करना अपने आप को परमात्मा से ऐक्य करना है। जिस मनुष्य में जितना ही कम स्वार्थभाव होता है उसके विचारों की शक्ति उतनी ही अधिक होती है।

विचारों की शक्ति के साक्षात्कार के लिए स्वार्थ-भाव का त्याग करना अत्यन्त आवश्यक है। इससे विरोधी विचार की उत्पत्ति नहीं होती। कहा जाता है कि वैद्य घर के रोगी को अच्छा नहीं कर सकता। जब वह स्वयं बीमार पड़ता है तो उसे बाहर से वैद्य बुलाना पड़ता है। उसकी दवाइयां शक्तिहीन हो जाती हैं। इस प्रकार की स्थिति का कारण वैद्य की सन्देह की मनोवृत्ति होती है। अपने आप अथवा अपने घर के लोगों के विषय में वैद्य

सबसे अधिक चिन्तित हो जाता है। चिन्ता नकारात्मक विचार है। यह विचार मनुष्य के प्रयत्न को फलित नहीं होने देता। जब रोगी के विषय में वैद्य अधिक चिन्तित नहीं होता तभी वह रोगी को आरोग्यता प्रदान करने में सफल होता है। लोभी वैद्य रोगी को स्वास्थ्य प्रदान करने में विफल रहता है। वैद्य जितना ही अधिक निःस्वार्थ भाव से रोगियों की चिकित्सा करता है उसकी चिकित्सा उतनी ही अधिक सफल होती है। कितने ही लब्ध-कीर्ति मानसिक चिकित्सक व वैद्य अपने जीवन के अन्तिम समय में शक्तिविहीन हो जाते हैं। इसका कारण उनके मन में स्वार्थ-भाव की वृद्धि है। स्वार्थ की वृद्धि होने पर मनुष्य की उपयोगी निर्देश देने की शक्ति क्षीण हो जाती है। उसे अपनी शक्ति में ही विश्वास नहीं रहता। इसलिए ही चिकित्सक धनी लोगों की अपेक्षा गरीब लोगों की चिकित्सा में अधिक सफल होता है। वैद्य जितने निःस्वार्थ भाव से गरीब लोगों की चिकित्सा कर सकता है उतने निःस्वार्थ भाव से वह धनी लोगों की चिकित्सा नहीं करता। धनी लोग चिकित्सक को खरीद लेने की ही चेष्टा करते हैं। वे चाहे जिस रूप में चिकित्सक को द्रव्य दें उसका प्रभाव चिकित्सक के मन पर अवश्य पड़ता है। इससे चिकित्सक की कार्यक्षमता अथवा आध्यात्मिक शक्ति नष्ट हो जाती है।

मनुष्य की विचारशक्ति उतनी ही होती है जितनी कि वह उसके विषय में धारणा रखता है। जो व्यक्ति अपने विचार को व्यर्थ की शक्तिवाले कामों में खर्च कर डालते हैं वे उन लोगों के सदृश दरिद्र बने रहते हैं जो अपनी पैत्रिक सम्पत्ति का अपव्यय करके दरिद्र बन गये हैं। हमारा प्रत्येक विचार मानसिक शक्ति को संचय करता है अथवा उसका खर्च करता है। सांसारिक विषयों के बारे में आनेवाला विचार मनुष्य की मानसिक शक्ति का अपव्यय करता है। अपने स्वरूप के विषय में आया हुआ विचार मनुष्य की शक्ति का संचय करता है। विचार के विषय में विचार करने से विचार की शक्ति का संचय होता है। जिस कल्पना को विचार पकड़ता है वह वास्तविकता में परिणत हो जाती है। पर इस तरह कल्पना के वास्तविकता में परिणत होने में विचार की शक्ति खर्च होती है। जब मनुष्य की मानसिक शक्ति खर्च हो जाती है तो उसे अनेक प्रकार की चिन्तायें घेरने लगती हैं। वह उनका आगमन नहीं रोक पाता। इससे उसके विचार की शक्ति का और भी ह्रास हो जाता है। चिन्ता-ग्रसित मनुष्य क्रोधी व चिड़चिड़े स्वभाव का हो जाता है। कुछ दिन में ही उसे शारीरिक अथवा मानसिक रोग पकड़ लेता है। वह अन्त में अपने जीवन को

भाररूप बनाकर ढोने लगता है। इस तरह उसकी सफलता ही उसके दुख का कारण बन जाती है। इस स्थिति से बचने के लिए विचार के विषय में विचार करते रहना अत्यन्त आवश्यक है। इस प्रकार मनुष्य अपनी शक्ति को संचित रखता है।

विचार की शक्ति को संचित रखने के लिए सम्यग् स्मृति का अभ्यास करना अत्यन्त आवश्यक है। मन में आनेवाले सभी विचारों के प्रति सतर्क रहने से विचारों की शक्ति का संचय होता है। जागरूकता सिद्ध-संकल्पता उत्पन्न करती है। मनुष्य को संकल्प-सिद्धि के लिए व्यर्थ विचारों को मन में न आने देना नितान्त आवश्यक है। इसके लिए अपने व्यवहारों और वाणी पर भी नियंत्रण रखना आवश्यक है। जैसे लोगों के सम्पर्क में हम आते हैं तथा जिस प्रकार की बातचीत करते हैं, हमारे विचार भी उसी प्रकार के बन जाते हैं। कितने ही लोग व्यर्थ बकवाद किया करते हैं। इस प्रकार का बकवाद करने से मानसिक शक्ति का ह्रास होता है और आत्म-नियंत्रण न रखने की आदत पड़ जाती है। बकवाद से बुरा है निन्दा करना, चुगली करना और गाली-गलौज करना। इससे जो शक्ति का अपव्यय होता है वह बहुत ही भारी है। इस प्रकार वाणी पर संयम न रखने से मनुष्य का आत्म-विश्वास नष्ट हो जाता है। जो मनुष्य अधिक बोलता है उसे न अपने आप पर अथवा अपनी बातों पर भरोसा होता है और न दूसरे लोगों की बातों पर उसे भरोसा होता है। इस प्रकार वह अपना विश्वास खो देता है।

अपने संकल्प को सफल बनाने के लिए कुछ समय के लिए मन को संकल्प हीन बना देना अत्यन्त आवश्यक है। संकल्प के साथ साथ विरोधी भाव की उत्पत्ति होना अनिवार्य है। जब कोई संकल्प मन में आवे तो उसपर मन को अधिक देर तक न ठहरने देना उसे सफल बनाने के लिए अत्यन्त आवश्यक है। देर तक किसी भी संकल्प के रहने से उसके प्रतिकूल विचार अपने आप ही उत्पन्न होता है। जितना प्रबल संकल्प होता है विरोधी विचार भी उतना ही प्रबल होता है। अतएव जिस विधि से विरोधी संकल्प न हो वही विधि संकल्प को सफल बनाने की विधि है। बीमारी की अवस्था में रोगी के मन में अनेक विरोधी संकल्प उठा करते हैं। एक ओर रोगी रोग से मुक्त होना चाहता है और दूसरी ओर उसकी धारणा रहती है कि वह रोग से मुक्त नहीं हो सकेगा। यदि रोगी केवल आत्म-कल्याण के विचार मन में लावे तो वह स्वस्थ हो जाये। परन्तु विरोधी विचार [illegible]

रहते नहीं। अतः रोग से मुक्त होने के लिए शुभ कामना करके मन को विचारहीन करना आवश्यक होता है। इसके लिए कूये महाशय संमोहन का प्रयोग करते थे। रोगी को संमोहित करने के पहले वे उसे शुभ निर्देश देते थे। इससे उनके अचेतन मन में शुभ निर्देश चला जाता था और प्रति-निर्देश नहीं जाता था। रोगी का अचेतन मन शुभ निर्देश के ही अनुसार काम करने लगता था और एक ओर ही इस प्रकार पूरे मन के लग जाने से रोगी रोग-मुक्त हो जाता था। यदि कोई व्यक्ति अपने आप को किसी प्रकार शुभ निर्देश देने के पश्चात् चेतनाहीन बना सके तो उसका संकल्प सफल हो जावे। पर यह करना बड़ा ही कठिन है। जहाँ संकल्प आया वहाँ विकल्प आ ही जाता है। इस तरह चेतनाहीन होना अत्यन्त कठिन होता है। अतः किसी संकल्प को मन में न आने देना ही पूर्व संकल्पों को फलित करने का सर्वोत्तम उपाय है। रोगी मनुष्य को रोग से मुक्त करने के लिए इतना ही करना आवश्यक है कि वह रोग के विषय में उदासीन अथवा निश्चिन्त हो जावे और अपने आप को चेतना-शून्य बनाने की चेष्टा करे। इस प्रकार के यत्न करने से रोगी की आरोग्य लाभ की इच्छा फलित होती है।

प्रत्येक धर्म के साधक ईश्वर से प्रार्थना करते हैं "हे भगवान तेरी इच्छा पूरी हो"। इस प्रकार की प्रार्थना ही अपनी इच्छा को फलित बनाने का सर्वोत्तम उपाय है। अपनी इच्छाओं के विषय में जब मनुष्य उदासीन हो जाता है तो उनके फलित होने में सन्देह भी मिट जाता है। तब उसकी इच्छायें फलित हो जाती हैं। जब रोगी किसी रोग को ईश्वर की इच्छा मानकर भोगने को तैयार हो जाता है तो उसका रोग नष्ट हो जाता है। जब रोग के प्रति भी मैत्री-भावना का रोगी अभ्यास करने लगता है तो रोग अपनी भयंकरता छोड़ देता है। इस प्रकार असाध्य रोग भी साध्य हो जाता है। स्वामी रामतीर्थ को जब पेट का दर्द होता था तो वे उसके ऊपर कविता बनाने लगते थे। रोग के विषय में भूल जाना, अथवा उसे जीवन का आवश्यक अंग जान लेना उसके प्रति मैत्री-भावना का अभ्यास है। इससे मनुष्य रोगमुक्त हो जाता है। जो व्यक्ति जितना ही अधिक रोग से डरता है और उससे ऊब उठता है वह उतना ही दृढ़ता से उसे पकड़े रहता है।

मनुष्य का मन सदा सहजावस्था में रहना चाहता है। सभी शक्तियाँ मन की सहजावस्था की शक्तियाँ हैं। किसी प्रकार की प्रबल इच्छा इस सहजावस्था की विनाशक है। इस अवस्था को प्राप्त करने के लिए नकारात्मक विचार अथवा सन्देह

उत्पन्न होते हैं। इच्छा का पूरक सन्देह है। इच्छा के फलित होने के लिए यह आवश्यक है कि वह साम्यावस्था की शक्ति को प्राप्त करे। पर इसके प्राप्त करने के लिए इच्छा का पहले नाश हो जाना ही आवश्यक है। जो इच्छा जितनी उद्वेगपूर्ण होती है उसके साथ-साथ उतना ही प्रबल सन्देह रहता है। यह सन्देह इच्छा का विनाश कर डालता है। जब इच्छा उद्वेगपूर्ण नहीं होती तो सन्देह भी प्रबल नहीं होता। ऐसी अवस्था में एकाग्र मन से मनुष्य प्रयत्न कर सकता है और उसकी इच्छा सफल होती है। वैयक्तिक इच्छायें उद्वेगपूर्ण ही होती हैं। लोक-कल्याण की इच्छायें उद्वेगपूर्ण नहीं होतीं; अतः लोक-कल्याण की इच्छायें वैयक्तिक इच्छाओं की अपेक्षा अधिक सफल होती हैं। यही कारण है कि सब के हित में लगा हुआ व्यक्ति अपने जीवन में चमत्कार के कार्य करने में सफल होता है।

सैतालीसवाँ अध्याय

मानसिक शक्तियों का प्रतिपूर्तिकरण

डाक्टर विलियम ब्राऊन का कथन है कि मनुष्य के मन में जितनी शक्ति है उसका बहुत थोड़ा ही भाग वह अपने काम में ला पाता है। उसकी अधिक शक्ति आपसी मानसिक संघर्ष में ही खर्च हो जाती है। संसार के प्रमुख आध्यात्मिक चिन्तकों ने कहा है कि अपने विचारों को भले बनाओ और तुम्हारी सारी दुनियाँ परिवर्तित हो जावेगी।*

अब प्रश्न यह है कि हम अपने विचारों को ऐसा कैसे बना लें ताकि उनकी शक्ति अपनी उन्नति के लिए काम करे और विनाश के लिए काम न करे। प्रत्येक मनुष्य अपना भविष्य सुधारना चाहता है, वह अपना कल्याण ही करना चाहता है और इसके होते हुये वह कैसे इस प्रकार का कुचिन्तन करने लगता है कि उसका भविष्य बिगड़ जाता है। मनुष्य अपने अभद्र विचारों को अपने मन से अलग रखने में समर्थ क्यों नहीं होता।

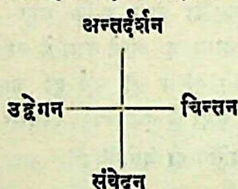
इस बात को समझने के लिए हमें आधुनिक मनोविज्ञान के एक बड़े महत्त्व के नियम को समझना होगा। यह नियम प्रतिपूर्तिकरण का नियम है** इस नियम को सबसे पहले संसार के आधुनिक काल के सबसे बड़े मनोवैज्ञानिक चार्ल्स युङ्ग महोदय ने बताया है। इस नियम के अनुसार मनुष्य जब अपनी एक प्रकार की मानसिक शक्ति का अतिप्रकाशन करता है तो उस शक्ति की विरोधी शक्ति का दमन होता है। किसी भी मानसिक शक्ति, योग्यता अथवा गुण की उसके उपयोग से केवल वृद्धि नहीं होती, वरन् उसकी समाप्ति भी होती है। अतएव जब उपयोग में आनेवाली शक्ति का अधिक उपयोग होने के कारण कमी हो जाती है तो फिर विरोधी शक्ति चेतना के स्तर पर अपने आप ही चली आती है। रोकनेवाली शक्ति की ताकत कम हो जाने के कारण, वह अपनी विरोधी शक्ति को चेतना पर आने से रोक नहीं पाती।

---

* Let all thy thoughts be fair,
They have a vital past and share,
In shaping words and moulding fate,
God's system is so intricate,

** Law of Com-plimentariness

मनुष्य के मन में चार्ल्स युङ्ग के अनुसार चार प्रमुख शक्तियाँ हैं—संवेदन (Sensation), उद्वेगन (Emotion), चिन्तन (Thinking) और अन्तर्दर्शन (Inituition), इनमें से प्रथम और अन्तिम शक्ति का विरोध है। और तीसरी चौथी शक्ति का विरोध है। यह नीचे दिये चित्र से स्पष्ट होता है—



जिन लोगों का पूरा जीवन अधिक चिन्तन में ही गया है, वे बुढ़ापे में अपने चिन्तन से ही ऊब जाते हैं। वे मानसिक शान्ति को खो देते हैं। उन्हें आवश्यकता होती है कि वे छोटे बच्चों को खिलावें, उनकी क्रीड़ा-कलाप में रस लें और उनके किल्लोलित जीवन से नवप्राणित हों। यदि वे अपने हृदय की इस माँग को ठीक से पूरे करने में समर्थ हुये तो वे फिर अपने खोये मानसिक संतुलन को प्राप्त कर लेते हैं, अन्यथा वे विक्षिप्तता की गोद में आ जाते हैं।

आज से दस वर्ष पूर्व लेखक के एक वयोवृद्ध, चिन्तनशील मित्र को न्यूरेसथेनिया का रोग हो गया था। वे स्वयं काशी के कुशल वैद्य हैं और उन्होंने अनेक प्रतिष्ठित परिवारों की न केवल शारीरिक वरन मानसिक चिकित्सा आयुर्वेदिक औषधियों के उपयोग से की है। परन्तु वे अपने आप को स्वयं नहीं सम्हाल सके। उनकी सम्पूर्ण जीवनी तथा स्वप्नों के अध्ययन से तथा दूसरे प्रकार से मनोविश्लेषण करने से पता चला कि उनकी भावात्मक वृत्तियाँ दमित और अविकसित अवस्था में ही पड़ी हुई हैं। मनुष्य की उन्हीं शक्तियों का विकास होता है जिन पर वह ध्यान देता है और जिनका विवेकपूर्ण वह उपयोग करता है। जिन शक्तियों का वह उपयोग नहीं करता और जिन्हें वह हेय समझकर दमित अवस्था में ही रखता है उनका विकास ही नहीं होता। ऐसी अवस्था में मनुष्य चेतनावस्था में ज्ञानी रहकर भी, और शरीर से वयोवृद्ध होने पर भी अपने अचेतन मन में अविवेकशील बच्चा ही बना रहता है। ऐसे व्यक्ति को अनेक प्रकार के अकारण भय सताने लगते हैं। कुछ हठी विचार भी उसे तंग करने लगते हैं। इस मित्र को यह हठी विचार सताने लगा था कि उसका और सारे परिवार का सर्वनाश हो जावेगा और कोई भी व्यक्ति उसे इससे बचा नहीं सकता।

उक्त मित्र के मनोविश्लेषण से पता चला कि उनकी रागात्मक मानसिक शक्तियों का विकास ही नहीं हुआ। वे एक ओर तो समाज के विद्वानों और प्रतिष्ठित व्यक्तियों में से थे और दूसरी ओर आन्तरिक मन से बच्चे ही बने हुये थे। यदि ऐसा व्यक्ति अपने आपको सुधारना चाहता है तो उसे अपने चेतन मन से भी वही होना पड़ता है जो वह अपने अचेतन मन में है। यदि ऐसा व्यक्ति अपने अचेतन मन में उपस्थित बच्चे मन को ठीक तरह से प्रकाशित होने का अवसर देता है तो फिर उसका जीवन न केवल उसके लिए ही वरन् पूरे समाज के लिये आदर्श जीवन बन जाता है। विवेकयुक्त रसपूर्ण जीवन ही आदर्श जीवन है। अतएव इस मित्र को बच्चों को पढ़ाने और उनके साथ वार्तालाप करने, उनको खिलाने और मनोरंजन के लिए अनेक काम करने की सलाह दी गई। इसके परिणामस्वरूप उनका एक प्रकार से नवजीवन ही हो गया। उसके सभी अकारण भय समाप्त हो गये और निराशावादी से वे अब आशावादी बन गये।

महर्षि व्यास के जीवन में भी इसी प्रकार का एक विशेष संक्रामक काल आया था। वे जीवनभर बड़े ज्ञानी चिन्तनशील व्यक्ति रहे। अनेक दर्शन तथा पुराणों का उन्होंने निर्माण किया। जीवन के ढुलते काल में उन्हें विलक्षण मानसिक अशान्ति का अनुभव होने लगा। इस अशान्ति को उनका चिन्तन और तत्व दर्शन समाप्त न कर सका। संसार के सहज कल्याणकर्त्ता नारद ऋषि अनायास उनकी ओर उस समय आ गये। उनकी मनोस्थिति देखकर उनको उनपर दया आई और नारद जी ने उन्हें उपदेश दिया कि वे भगवान् कृष्ण की बाल-लीला को संगीत और रसमय ढंग से वर्णन करें अर्थात् वे चिन्तन को छोड़ अब भावों के जगत में रमण करें। व्यास जी ने अपनी चिन्तनशीलता का अभिमान त्याग दिया और फिर वे भगवान् कृष्ण की बाल-लीला के द्वारा उनके रसमय अवरुद्ध मानसिक भावों को कलामय ढंग से प्रकाशित करने लगे। इससे न केवल उनकी मानसिक अशान्ति (जिसे आधुनिक मनोविज्ञान की भाषा में न्यरेसथेनिया कहा जाता है) समाप्त हो गई वरन् संसार के अनेक संभाव्य मानसिक रोगियों की औषधि श्रीमद्भागवत का निर्माण हुआ। पण्डित मदन मोहन मालवीय जी अपने मरण काल तक पूर्ण रूपेण संतुलित मानसिक स्थिति में रहे। उनका बदन सदा शान्तिपूर्ण और प्रसन्न रहा। उन्हें किसी प्रकार की निराशा और चिन्ता ने नहीं घेरा। इसका प्रमुख कारण उनका श्रीमद्भागवत का प्रतिदिन का अभ्यास था। व्यास जी ने अपने जीवन की पूर्णता अपने दार्शनिक चिन्तन

से नहीं, वरन् अपने हृदय की रस-सरिता को कलामय ढंग से प्रवाहित करके प्राप्त की।

चिन्तनशीलता का मनुष्य के जीवन में अपना ही स्थान है। जो मनुष्य चिन्तन नहीं करता वह न केवल अचेतन मन से वरन् चेतन मन से भी बच्चा ही बना रहता है। चिन्तनशील व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को ऊँचा उठाने की चेष्टा करता है। वह समाज में सम्मानित होने के लिए समाज को अपनी मौलिक निधि देता है। चिन्तनशील व्यक्ति ही सम्पत्ति कमाने में समर्थ होता है, राष्ट्र-निर्माण की नई योजनायें बना सकता है और उन्हें कार्यान्वित करने व कराने में समर्थ होता है। ऐसा ही व्यक्ति अच्छा दार्शनिक और वैज्ञानिक बनता है। समाज में सम्मान प्राप्ति के लिए चरित्र का ऊँचा रहना आवश्यक है अतएव वह ऐसी आदतें अपने आपमें डालता है और ऐसे काम भी करता है जिससे वह समाज में प्रतिष्ठित बना रहे। समाज का सम्मान चरित्र से प्राप्त होता है। अतएव वह चरित्रवान भी बनता है।

इतना सब होने पर भी ऐसा व्यक्ति भीतरी मन से शान्त नहीं रहता। यह हमारे देश के अनेक चिन्तनशील और ऊँचे माने गये लोगों के जीवन में देखा गया है। संसार के अनेक महापुरुषों का अन्तिम काल भारी मानसिक अशान्ति में बीतता है। यदि वे दार्शनिक रहे तो उन्हें अनेक ऐसी दार्शनिक समस्यायें उलझा देती हैं जिनसे वे परेशान हो जाते हैं और यदि वे राजनैतिक और लोकसेवक रहे तो जीवन के अन्त में अपने आपको खोटे सिक्के के रूप में अनुभव करने लगते हैं।

ये लोग अपने आपको सुधारने में भी उस प्रकार समर्थ नहीं होते जिस प्रकार व्यास जी समर्थ हुए। मनुष्य जो कुछ सदा करते रहता है और जिसकी लौकिक ख्याति उसे प्राप्त हो जाती है उसका उसे अभिमान हो जाता है। वह इस अभिमान को फिर छोड़ नहीं सकता। इसको छोड़ना उसे आत्म-विसर्जन के समान ही लगता है। उसे यह स्वीकार करना कि उसने जीवन में कोई भूल की है असंभव है। वह जीवन के एक क्षेत्र में सब का गुरु बन जाता है। अब यह कैसे संभव है कि वह दूसरे को अपना गुरु बनावे। यदि ऐसा व्यक्ति दार्शनिक ज्ञानी, संत अथवा महात्मा के रूप में प्रसिद्ध हो गया तब तो उसके अहम-सुधार का कोई मार्ग ही नहीं रह जाता। उसका अभिमान उसका विनाश करके ही जाता है।

संसार में इस प्रकार के आत्म-विनाश के अनेक दयनीय उदाहरण हैं। आधुनिक मनोविज्ञान की सबसे बड़ी सेवा यही है कि वह मनुष्य को अपनी किसी प्रकार की एकाङ्गिता से सतर्क बनाता है और इस प्रकार उसके अभिमान को सीमित रखता है। जो मनुष्य अपने भीतरी मन की विलक्षण क्रियाओं के बारे में जितना ही अधिक ज्ञान प्राप्तकर लेता है वह आत्म-नियंत्रण में उतना ही अधिक समर्थ होता है और उसका किसी भी प्रकार की योग्यता का अभिमान उतना ही अधिक सीमित रहता है।

मनुष्य के सम्पूर्ण व्यक्तित्व की शक्तियों का प्रतिपूर्तिकरण उसके गंभीर अचेतन मन में उपस्थित उस शक्ति से होता है जो एक ओर सूक्ष्म से सूक्ष्म है और दूसरी ओर सर्वव्यापक है। अपनी सूक्ष्मता के कारण उसे संसार के प्रमुख चिन्तक समझ नहीं पाते। अतएव उसका अस्तित्व स्वीकार करना भी उन्हें कठिन हो जाता है। उसमें पारस्परिक विरोधी गुण उपस्थित हैं, और वह बुद्धि की ग्रहण क्षमता के परे है। मनुष्य की बुद्धि ठोस और समान गुणों वाली वस्तु को ग्रहण कर सकती है। अत्यन्त सूक्ष्म और विरोधी गुणों को अपने में समविष्ट करने वाले तत्त्व को समझ सकना उसकी शक्ति के बाहर की बात है। अतएव आधुनिक बुद्धिप्रधान दर्शन उसके अस्तित्व को ही स्वीकार नहीं करता। इसके परिणाम स्वरूप मनुष्य अपने व्यक्तित्व का अभिमान जीवन भर बना रहता है और वह उसकी सीमा के बाहर कभी नहीं जाता।

प्रत्येक मनुष्य का व्यक्तित्व सीमित है और प्रतिपूर्तिकरण का नियम यह बताता है कि प्रत्येक व्यक्ति को इन सीमाओं को खोना भी आवश्यक है। जो व्यक्ति अपनी सीमाओं को स्वयं ही खो देता है, अर्थात् जो अपने को सर्वात्मा में लीन कर देता है, उसे जीवन में मानसिक रोगों को तथा अनेक प्रकार की निराशाओं को नहीं भोगना पड़ता, अन्यथा उसे अनायास ही अकारण भय, निराशा, चिन्तायें, काम में असफलतायें आती हैं। ये मानसिक रोग और असफलतायें जीवन की अवांछनीय बातें मानी गई हैं। परन्तु मनुष्य के अन्तिम कल्याण की दृष्टि से ये उसके हित के लिए ही आते हैं। चार्ल्स युङ्ग का कथन है कि मानसिक रोग मनुष्य का शत्रु नहीं, अपितु उसका मित्र है। यह उसके झूठे अभिमान को समाप्त करता है तथा उसके जीवन में सन्तुलन लाता है। इस प्रकार उसे स्थायी शान्ति प्रदान करता है। यही काम जीवन की दुर्घटनाओं का भी है। यह मनुष्य के स्वभाव में निहित—प्रतिपूर्तिकरण के नियम के अनुसार होता है। वास्तव में यह प्रतिपूर्तिकरण का नियम आत्मा की पूर्णता

का परिचायक है। इसके कारण मनुष्य अपने सीमित व्यक्तित्व के अभिमान को त्याग उस असीम तत्व का ज्ञान करता है जो सभी मनुष्यों की अन्तरात्मा में वर्त्तमान है और जो छोटे से छोटे और बड़े से बड़े पदार्थ की क्रियाओं का संचालन करता है।

मनुष्य को जैसे-जैसे अपने गम्भीर स्वत्व का ज्ञान होता, वह अपनी कार्यक्षमता सुख और शान्ति उतनी ही अधिक बढ़ाता है। अपनी सीमाओं को खोकर मनुष्य आत्म-विनाश नहीं करता, वरन् वह असीम का अंग बन जाता है। फिर वह उसकी शक्ति प्राप्तकर अपने सामान्य कार्य को भी अनन्त काल के लिए उपयोगी बना देता है। अपने सभी कार्यों को भला बनाने में ऐसा ही व्यक्ति समर्थ होता है। इसीलिए व्यक्तित्व का अभिमान रखनेवाला व्यक्ति स्वयं को ही नहीं जानता, अतएव वह अपने किसी प्रकार के विचार पर अधिकार भी नहीं रख पाता। यदि भले विचार उसके मन में उठे तो वह अपना अथवा दूसरों का भला करने में समर्थ होता है, और यदि अनायास बुरे विचार उसके मन में उठे तो वह अपना और दूसरों का विनाश कर डालता है।

